आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

शोध संक्षिप्तिका

अनुसंधित्सु
शेखरज्योति शील

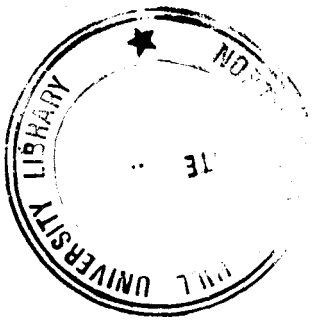

हिन्दी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग - 793022
मेघालय
2011

Hindi (Theses)

NEHRU LIBRARY
Acc. No. 104409
Acc. 8
Date 5/12/12
Class
Sub -
Enter by.

आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

शोध-निर्देशक
डॉ. माधवेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
उपाचार्य, हिन्दी विभाग

अनुसंधित्सु
शेखरज्योति शील

हिन्दी विभाग
मानविकी संकाय
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग - 793022

शोध संक्षिप्तिका

अतीत की गौरवोज्ज्वल आधारों से शक्ति संचित कर ही नवोन्मेषणात्मक काव्य का प्रस्फुरण होता है। समाज में श्रेष्ठ संस्कृति का अभिव्यंजक, पोषक, संरक्षक और दिशावाहक होता है। समरसता और समन्वय से ही समाज-संस्कृति-साहित्य पुष्पित-पल्लवित होते हैं।

समाज,संस्कृति और साहित्य को एकसूत्रता में बाँधने वाली प्रमुख शक्ति है परम्परा। परम्परा के माध्यम से ही इन तीनों के संबंधों की जटिलता की मीमांसा होती है। परम्परा कदाचित सामाजिक परिस्थितियों से निष्पक्ष नहीं रह सकती। वह पल्लवित होते हुए युगानुरूप सामाजिक और मानवीय मूल्यों पर हस्तक्षेप करती है। यदि परम्परा निरंतर प्रगतिशील और समाज सापेक्ष नहीं रहती तो जनमानस उसे बहिष्कृत कर विकास के नूतन पर्याय का अन्वेषण करता है। समय की क्रोड़ में अंतहीन परम्परा की थाती भारतीय संस्कृति और समाज के हर अणु में व्याप्त है। इस विशद् परिव्याप्तता का सुदृढ़ परिचायक हमारी कला, संस्कृति है जो चिर् पुरातन होकर भी नित्य नूतन है। संस्कृत साहित्य से प्रवाहित धाराएँ आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल से गुजरती हुई अद्यतन साहित्य को कभी प्रकट तो कभी गुप्त रूप से प्रभावित करती आई है।

आदिकालीन चर्यागीतों की भावपूर्ण धारा अपनी कलात्मक सौष्ठव और गीतात्मक अभिव्यंजना के साथ भक्तिकालीन काव्य को भी आप्लावित करती हुई आगे बढ़ी। आदिकालीन काव्य धारा के अनेक सूत्र सगुण साहित्य में परिलक्षित होती हैं। सन् 1907 ई. में नेपाल के राजकीय ग्रंथागार में हरप्रसाद शास्त्री द्वारा चर्यापदों को खोज निकालने के बाद साहित्य के क्षेत्र में एक नवीन आलोड़न की सृष्टि हुई। शास्त्री महोदय ने चर्यागीतों की भाषा पर बंगला भाषा की मुहर लगाई। परंतु राहुल सांकृत्यायन ने इसकी भाषा को पुरानी हिन्दुस्तानी कहा। इसी प्रकार एक भाषिक द्वंद्व में आबद्ध चर्यापदों के कथ्य का अर्थोद्धार न हो सका।

इधर हिन्दी साहित्य के कालविभाजन विषयक विवाद के चलते कई विद्वानों ने चर्यापदों को साहित्यिक काल सीमा से निष्कासित कर दिया था। परवर्ती शोधों के बाद कुछ विद्वानों ने सातवीं-आठवीं शताब्दी में रचित इन साहित्यिक कृतियों की भाषा को उत्तर अपभ्रंश या अवहट्ठ नाम दिया और यह घोषणा की कि उत्तर अपभ्रंश ही पुरानी हिन्दी है। तथ्य यह है कि किसी भी महान साहित्य का प्रभाव अपने परवर्ती युग में पड़ना एक स्वयंक्रिय कार्य-व्यापार है। अत: जब इस रूप में चर्यापदों का आकलन किया जाता है तो हम देखते हैं कि जैनों, नाथों के अलावा कबीर में विद्यमान खंडन-मंडन की तीव्र भाषा पर भी बौद्धों का स्पष्ट प्रभाव है। हिन्दी साहित्य की इन प्रवृत्तियों को देखने पर हमें पता चलेगा कि इस चिंतन का उत्स बौद्धों के साहित्य में विद्यमान हैं। अत: बौद्धों साहित्य को मात्र धार्मिक साहित्य कहकर छोड़ देना उचित न होगा। एतदर्थ साहित्य दृष्टि से बौद्धों पर शोध करना एक आवश्यक विषय है। हालांकि चर्यापदों पर कुछ काम अवश्य हुए पर उनका साहित्यिक मूल्यांकन अब तक सुचारु और विस्तृत रूप से न हो पाया था। इस अनुक्रम में प्रस्तुत शोध एक संक्षिप्त भूमिका निभाएगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध 'आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' छह अध्यायों में विभक्त है जिनमें चर्यापदों के परिचय के साथ हिन्दी साहित्य पर पड़े उसके सामग्रिक प्रभाव को दिखाने का प्रयास किया गया हैं।

प्रथम अध्याय 'चर्यापदों का परिचय' के अंतर्गत सर्वप्रथम 'चर्या' शब्द की व्युत्पत्ति विषयक चर्चा की गई। चर्या शब्द चर धातु से बना है जिसका अर्थ है चलना। अत: ऐसा देखा गया है कि यह चर्यापद पूर्ववर्ती साधकों द्वारा रचित एक आचार-संहिता की भाँति है, जो परवर्ती साधकों के लिए दिशाबोधक बन गया है। इसके पश्चात चर्यापदों का रचनाकाल, आविष्कार इत्यादि का सामग्रिक वर्णन किया गया है। दरअसल चर्यापदों के रचनाकार सिद्ध गण किसी एक काल विशेष से बद्ध नहीं थे बल्कि उनका समय सातवीं से नौवीं शताब्दी के बीच का था। इस

सुदीर्घ अंतराल में मूल चर्यागीतों की शब्दावली में कई हस्तक्षेप हुए होंगे, परंतु उस रूप को खोज पाना असंभव है। शोध से ज्ञात हुआ कि किसी लिपिकार ने चर्यागीत और उसकी टीका को दो अलग पुस्तकों से उतारा था। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में बौद्धों के विविध संप्रदायों का परिचय दिया गया है। तांत्रिक पद्धति में चर्यापदों का आकलन करते हुए चर्यापदों में संकेतित तांत्रिक आचारों को देखा गया। दरअसल क्रिया, योगाचार और अनुत्तर तंत्र के साधकों ने अन्य मतों की अपेक्षा अपने मत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इस क्रम में उन्होंने बौद्ध एवं बौद्धेतर संप्रदायों पर कटाक्ष किया है। ऐसे गीतों में उलटबासियों का सुंदर संयोजन देखा जा सकता है। वहीं कुछ गीतों में शुद्ध रूप से क्रिया, योगाचार और अनुत्तर तंत्रों की साधनाओं का भी संगुंफन देखा जा सकता है। इसी आधार पर तांत्रिक पद्धति में चर्यापदों का आकलन किया गया है। बौद्ध पूर्व तंत्र की आवधारणा का विश्लेषण करते हुए तंत्र की लोकजीवन व वैदिक वाङ्मय से होते हुए बौद्धों में उसके प्रवेश के बाद, हिन्दुओं में फैले मातृसत्तात्मक शाक्त तंत्र, वैष्णव पांचरात्र और शैवों के विविध संप्रदायों की भी चर्चा की गई है। तदुपरांत गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ संप्रदाय के साथ सिद्धों का साम्य वैषम्य देखा गया है। उल्लेख्य है कि गोरख के गुरु पहले बौद्ध थे और वे अवलोकितेश्वर के अवतार माने जाते हैं। यहाँ तक कि मत्स्येन्द्र और गोरख की गणना चौरासी सिद्धों में भी की गई है।

सिद्धों की साधना पद्धति के अंतर्गत चर्या, क्रिया योगाचार और अनुत्तर तंत्र का परिचय और उनकी नाना विध् साधना पद्धतियों का वर्णन किया गया। आज सुधि समाज में प्रसिद्ध वज्रयान ही अनुत्तर तंत्र है। बाद में अनुत्तर तंत्र में प्रविष्ट भ्रष्ट साधकों के कारण ही बौद्धों का पतन हो गया।

चर्यापदों के महत्व का आकलन शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से किया गया है। चर्यापदों में व्याप्त कापालिक साधना के सूत्र और मुनिदत्त की टीका में निहित कापालिक साधना का भी

उल्लेख किया गया है। अंतत: चर्यापदों के रचनाकारों का परिचय दिया गया। हालांकि इनके विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ भी कह पाना असंभव है तथापि इनके साथ जुड़े मिथकों में ही इनका जीवन छिपा है।

द्वितीय अध्याय- 'चर्यापदों का साहित्यिक विवेचन' के अंतर्गत बौद्ध दर्शन का मूल उत्स, चर्यापदों का साहित्यिक विवेचन, चर्यापदों में निहित समाज चिंतन, बौद्ध तंत्र का दर्शन, रस विवेचन, प्रकृति वर्णन, भाषा, शब्द योजना, प्रतीकात्मकता, अलंकार योजना, छंद योजना, रागविचार जैसे बिन्दुओं पर चर्चा की गई।

बौद्धों के पहले चार्वाक, सांख्य जैसे निरीश्वरवादी दर्शन भी भारत में थे। संभवत: गौतम बुद्ध इन्हीं दर्शनों से प्रभावित हुए होंगे। उक्त दर्शनों में व्याप्त तीक्ष्ण व्यंग्य और युक्तियुक्त बातों का प्रभाव बौद्धों पर लक्षित किया जाता है। बुद्ध के निरीश्वरवादी सिद्धांत की व्याख्या करते हुए आर्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित माध्यमिका योग और शून्यता की व्याख्या के क्रम में आए नैरात्म्य सिद्धांत का भी विश्लेषण किया गया है।

चर्यापदों में वर्णित समाज में दरिद्र समाज की निराशा, खाल बिखाला से भरे क्षेत्र, अस्पृश्य डोम्बी युवती, शुंडिनी की दुकान, मृतवत्सा स्त्री, शबर -शबरी का व्याभिचार सब कुछ समाहित हो गया है।

आगे बौद्ध तंत्र के दर्शन की विशद चर्चा करने के बाद यह तथ्य सामने आया कि बौद्धों में सहजयान नाम की कोई शाखा नहीं थी। केवल बंगाली सहजिया वैष्णवों से इनका संबंध स्थापित करने के उद्देश्य से कुछ विद्वानों ने पुस्तकों में इस नवीन यान को जन्म देकर मृत या लुप्त घोषित कर दिया है।

बौद्धों के अनुसार यह जगत अस्तित्वहीन है। इसी बात को केंद्र में रखकर चर्यापदों में वर्णित प्रकृति का विश्लेषण किया गया है। अब तक चर्यापदों की भाषा को संधा भाषा कहा गया था। मेरे शोध से यह ज्ञात हुआ कि चर्यापदों की भाषा प्रहेलिकामय है परन्तु संधा भाषा नहीं। चर्यापदों के केवल पद संख्या 28 में 'कापुर' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो एक मात्र संधा शब्द है।

इसके अतिरिक्त शब्द योजना में चर्यापदों में आगत तत्सम तद्भव व देशज शब्दों को देखा गया है। सिद्धों द्वारा सृजित प्रतीकों का विश्लेषण करने के बाद उसका नाथों और कबीर तक पड़े प्रभाव का आकलन किया गया। अलंकार योजना और छंद योजना के अंतर्गत सिद्धों द्वारा अनायास प्रयुक्त अलंकारों और छांदसिक लालित्य की चर्चा की गई। अंतत: इनके रागों पर विचार किया गया। दरअसल सिद्धों के गीत लोकगीतों के अधिक करीब हैं। अत: आरंभ में इनका शास्त्रीय रागों से कोई सरोकार न रहा होगा परन्तु बाद में इन्हें शास्त्रीय रागों से संयुक्त किया गया होगा। यहाँ पितृ तंत्र और मातृ तंत्र के पार्थक्य पर भी सुविस्तृत रूप से विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय 'आदिकालीन साहित्य पर प्रभाव' के अंतर्गत आदिकालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है। इस क्रम में सिद्धों का नाथों और जैनों पर पड़े प्रभाव या अंतर्संबंधों को स्पष्ट किया गया है। उल्लेख्य है कि जैनों का विकास सिद्धों के समानांतर हुआ और नाथों का उदय सिद्धों की ढहती नींव का सहारा लेकर हुआ। अत: यह पाया गया कि इन दोनों बौद्धेतर संप्रदायों में भी लगभग बौद्धों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ

सिद्ध : मन्त ण तन्त ण धेउ ण धारण, सब्बहि रे बढ़ बिब्भम कारण।

जैन : मन्तु ण तन्तु ण धेउ ण धारणु, ण वि उच्छासइ किज्जुइ कारणु।

पाहुड़ दोहा और बौद्धों के दोहा कोशों में शब्दावली के साथ कथन भंगिमा का भी अद्‌भुत साम्य देखा गया है। सिद्धों के योगाचार तंत्र के दर्शन के साथ नाथ संप्रदाय का मेल है। अत: योगाचारी सिद्धों के साथ नाथ संप्रदाय के साहित्य की समानता भी देखी जा सकती है। सिद्धों से ही नाथों में भी उलटबासियों की परंपरा चली। सिद्धों द्वारा व्यवहृत अनेक प्रतीकों का साधर्म्यमूलक प्रयोग विशेषकर नाथों ने किया है। जैसे बौद्धों के 'खसम' को नाथों ने 'गगनोपम' कहा, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना को दोनों ने गंगा, यमुना और सरस्वती कहा है।

आगे अमीर खुसरो और विद्यापति पर पड़े बौद्ध प्रभाव पर भी चिंतन किया गया है। विशेषकर अमीर खुसरो पर बौद्ध प्रभाव का आकलन करना संभवपर प्रतीत नहीं होता परंतु एक बड़ा कवि अपने समसामयिक परिस्थितियों और साहित्य से तत्त्व संग्रह करता है। संभवत: इसी क्रम से उन्होंने बौद्धों के उलटबासियों के आधार पर पहेलियाँ रची होंगी। हालांकि इसे प्रभाव कहना खुसरो की प्रतिभा पर प्रश्नचिह्न लगाना होगा, तथापि प्रहेलिकामय काव्य सृजन के उत्स में बौद्धों को अवश्य ही रखा जा सकता है। उड़िसा में सहजिया वैष्णवों का उदय बौद्धों के महाबोधि संप्रदाय की नींव पर हुआ। जयदेव ने अपने राधा-कृष्ण के माध्यम से उसी संप्रदाय के दर्शन को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया था। इसी क्रम में 'अभिनव जयदेव' विद्यापति के गीतों को भी देखा जा सकता है। ऐसा लगता है मानों बौद्धों की शबरी, डोम्बी विद्यापति की राधा के रूप में विकसित हुईं।

इस अध्याय के निष्कर्ष स्वरूप यह ज्ञात हुआ कि आदिकालीन काव्यों पर बौद्ध प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है क्योंकि इस अवधि में जैनों और नाथों के समानांतर विकास के साथ अनुत्तर तंत्र के आधार पर उड़िया के आस-पास के क्षेत्रों में सहजिया वैष्णवों का उदय हुआ। जयदेव, चंडीदास, विद्यपति जैसे कवियों का उससे संलग्न होना इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि तत्कालीन समाज में बौद्धों का प्रभाव काफी था जिसने अज्ञात रूप में साहित्य को प्रभावित किया है।

चतुर्थ अध्याय 'भक्तिकालीन साहित्य पर प्रभाव' के अंश संभूत भक्तिकालीन पारिस्थितिक अवस्थाओं का ब्योरा प्रस्तुत करते हुए भक्त की धारा के विकास से संबद्ध तथ्यों का विश्लेषण किया गया है। भक्तिकालीन काव्य पर पड़े बौद्ध प्रभाव का आकलन करते हुए भाव और कलापाक्षिक प्रभावों की चर्चा की गई। भावपरक पक्ष में वैष्णव पांचरात्र संहिताओं के चतुष्पाद- ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद की समानता बौद्ध क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगाचारतंत्र और अनुत्तरतंत्र से देखी गई। चक्रधर विष्णु और वज्रधर बुद्ध के पूजनादिक की भी समानता दृष्टिगोचर हुई। देवता के आगमन-निगमन पर भी ध्यान दिया गया है। विशेषकर इस स्थान में राधा के विकास विषयक विस्तृत चर्चा भी की गई है।

कलापाक्षिक प्रभावों के अन्तर्गत मुक्तकों की परंपरा, सूर के कूटपदों के उत्स आदि विषयों पर भी चर्चा की गई। संभवत: सूर के कूटपदों की भंगिमा का विकास प्रहेलिकामय चर्यापदों से ही हुआ होगा, ऐसा मेरा अनुमान है। इस अध्याय से संपृक्त निष्कर्ष यह है कि बौद्ध साहित्य की धारा का प्रत्यक्ष और तीव्र प्रभाव निर्गुणवादी संतों विशेषकर कबीर पर पड़ा। कबीर की कथन भंगिमा उनके प्रतीक और शब्दावली पर पूर्ण रूप से बौद्ध प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। विशेष कर कबीर की खंडन-मंडन की प्रक्रिया और उलटबासियों पर बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। हालांकि अब तक यह माना जाता रहा है कि कबीर पर यह प्रभाव नाथों के माध्यम से आया है पर गौर से देखने से लगता है कि बनारसवासी कबीर और सारनाथ के बौद्ध श्रमणों के बीच अवश्य ही संबंध रहे होंगे। इस दृष्टि से देखने पर कबीर के व्यक्तित्व का एक अन्य लुप्त दिक् भी उन्मोचित होने की आशा की जा सकती है। सूफी प्रेम काव्य की उत्स भूमि भले ही ईरान के आस-पास के प्रांत रहे हो। पर उसे परिपक्क्वता भारत में मिली। सूफियों के अनलहक़ (मैं खुदा हूँ) की भावना का बौद्ध चर्यातंत्र के साथ अद्‌भुत साम्य देखा जा सकता है।

सगुणवादी वैष्णवों साहित्य के कृष्ण काव्य धारा में राधा के विकास पर और राम काव्य में रसिक संप्रदाय के उद्‌भव पर भी बौद्ध प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ तक कि तुलसी के रामचरित्र के गठन में भी त्रिकाय-बुद्ध की अवधारणा देखी जा सकती है। राम का निर्गुण स्वरूप बुद्ध की धर्मकाया, उनका अवतारी रूप बुद्ध की निर्माण काया और उनका महाविष्णुत्व रूप बुद्ध के संभोग काया का प्रतिरूप लगता है। भक्तिकाल में यह बौद्ध प्रभाव यह विशिष्ट रूप से उभरकर आया है।

पंचम अध्याय 'रीतिकालीन साहित्य पर प्रभाव' में रीतिकालीन परिस्थितियों का आकलन करते हुए इस साहित्य पर पड़े बौद्ध प्रभाव का विश्लेषण किया गया। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि रीतिकाल में बौद्ध प्रभाव तीव्र रूप में तो नहीं मिल पाता क्योंकि इस समय के कविगण राजाश्रय में रहते हुए सौन्दर्य और राजप्रशस्ति पर ही गीत रचने में व्यस्त थे। तथापि केशव, मतिराम, देव, सेनापति, बिहारी, घनानन्द, बोधा जैसे कवियों के वर्णन क्रम में चर्यापदों का प्रभाव देखा जा सकता है। केशव दास जैसे कवि में बौद्ध तंत्रों का प्रभाव पाया जाना अत्यन्त आश्चर्यकर विषय है। परंतु केशव कृत 'विज्ञानगीता' में यह प्रभाव विद्यमान है। उदाहरणार्थ

जो तू राधा कुंड की माटी मानत इष्ट।

तौ तू मेरो सिष्य है देखै बस्तु अदृष्ट॥

एक अद्‌भुत मंत्र तामहि साधत कोय।

जो त्रिकोटि जपै सुमंत्रहि नारियै तब होय॥

इन पंक्तियों में बौद्ध अनुत्तरतंत्र और हिन्दुओं की उत्तरकौलिक साधना के गुप्त बीज छिपे हैं। कवि मतिराम ने भी बौद्ध परिदृश्य में गृहित काम और वासना के पार्थक्य का वर्णन मिलता है। रीतिमुक्त कवि घनानंद, बोधा आदि के स्वच्छन्द प्रेमाभिव्यक्ति में भी यत्किंचित रूप

में बौद्धों के प्रेम का पर्यावसान नजर आता है। यहाँ तक कि बिहारी सतसई में भी चर्यापदों के भाव संगुंफित होते नजर आए हैं। आरंभ में यह सरसरी दृष्टि से देखने पर रीतिकालीन कविताओं में बौद्ध प्रभाव तो दृष्टिगत नहीं होता, परन्तु उनमें प्रतीकात्मक और काव्यिक रूप में अंतर्निहित भावों को देखने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

सम्भवत: बौद्धों का चिंतन व्यापक और सर्वभारतीय चिंतन के रूप में उभर चुका था। जिस कारण उनका दूरगामी प्रभाव परवर्ती साहित्य पर भी पड़ा है। उल्लेख्य है कि रीतिकालीन साहित्य में स्थान-स्थान पर बौद्धों के भावों का भी भावुक काव्यिक विकास नजर आता है। यह प्रभाव अनायास ही हिन्दी साहित्य में परिव्याप्त हो गया है। साथ ही रीतिकालीन नायिका भेद को देखें तो वहाँ भी बौद्धों की डोम्बी, मातंगी, सबरी, शुंडिनी के प्रभाव यत्किंचित रूप में नजर आते हैं। इसे प्रभाव की अपेक्षा विकास कहना श्रेयष्कर है क्योंकि साहित्य के क्षेत्र में भाव, भाषा और अभिव्यंजना का आदान-प्रदान एक स्वयंक्रिय कार्य-व्यापार है।

षष्ठ और अंतिम 'आधुनिक साहित्य पर प्रभाव' शीर्षक के अंतर्गत आधुनिक काल की विविध परिस्थितियों और वादों की चर्चा की गई है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य में बौद्धों दर्शन देखा जा सकता है। बौद्धों जिस प्रकार प्राणायाम की क्रियाओं का मानवीकरण किया, उसी प्रकार छायावादियों के प्रकृति चित्रण को लिया जा सकता है। बौद्धों ने समाज के उपेक्षित पात्रों को अपने काव्य-कर्म के अंगीभूत किया जिस कारण उन्हें प्रथम स्तर के प्रगतिवाद का पुरष्कर्ता माना जा सकता है। साथ ही अपने काव्यों में नव्य प्रयोग व प्रतीक योजना करने की दृष्टि से वे प्रयोगवादी ठहरते हैं। तथ्य यह है कि आदिकाल और आधुनिक काल के बीच एक सुदीर्घ अंतराल अवश्य है। परंतु आधुनिक काल में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भावना उभरी जिससे कि कवि और लेखकगण अपनी पुरातन संस्कृति की ओर मुड़े। एतदर्थ आधुनिक काल में यह लुप्त बौद्ध धारा स्पष्ट रूप से सामने उभरकर आई। इस काल

की कई रचनाएँ जैसे प्रसाद कृत 'कामायनी', निराला कृत 'राम की शक्ति पूजा', दिनकर कृत 'उर्वशी', बच्चन कृत 'मधुशाला' और अज्ञेय कृत 'असाध्य वीणा' पर बौद्ध प्रभाव देखे गए। कामायनी की श्रद्धा और इड़ा, बौद्धों की रूप काया और धर्म काया है। राम की शक्ति पूजा में राम के द्वारा की गई शक्ति की 'मौलिक कल्पना' में बौद्ध प्रभाव विद्यमान है। दिनकर के पुरुरवा की अवस्था शून्यता की उपलब्धि के बाद बौद्ध-साधक की अवस्था-सी है। उर्वशी के आगमन से वह विलासमय जीवन में पुन: प्रविष्ट हो तथागत बनता है। असाध्य वीणा का वज्रकीर्ति, किरीटि तरु स्वयं सिद्ध रूप से बौद्ध नाम है। असाध्य वीणा और चर्यापदों के हेरुक के वीणा में भी अथाह साम्य है और अंत: वहाँ महामौन की परिव्याप्ति भी बौद्ध विपासना के माध्यम से आगत मौन की ओर इंगित करता है।

आधुनिक काल में बौद्धों का जो प्रभाव लक्षित हुआ। उसके पीछे कारण यह था कि समग्र भारतीय मनीषा अपने विगत हिरण्याभ वैभव के प्रति जागरूक हुआ। जिसके चलते उन्होंने अपनी पुरातन संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का भरपूर प्रयास किया।

अंतत: उपसंहार के अंतर्गत विविध कालों में पड़े बौद्ध प्रभाव की चर्चा करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया।

बौद्ध धर्म का आरंभ भारत में हुआ और भारत में ही यह लुप्तप्राय हो गया। परंतु इसके अवशेष और प्रभाव यत्किंचित रूप में इतस्तत: प्रसरित हो गए। इस बौद्ध प्रभाव पर विस्तृत विवेचन बौद्ध साहित्य व हिन्दी काव्य में अदृष्ट योगसूत्र को समझने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी।

अनुसंधित्सु का विवरण

नाम	: **शेखरज्योति शील**
शिक्षा	: एम.ए. (हिन्दी)
शोध प्रबंध का विषय	: आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव
प्रवेश शुल्क की भुगतान तिथि	: 16.4.2007

शोध प्रस्ताव की संस्तुति

(i) बी.पी.जी.एस.	: 10.8.2007
(ii) स्कूल बोर्ड पंजीयन संख्या एवं तिथि	: 1301 दिनांक : 5.9.2007

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग

104409
5/12/12
Enter by.

आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

अनुसंधित्सु

शेखरज्योति शील

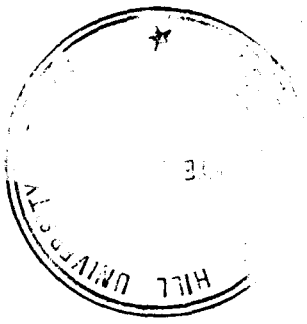

हिन्दी विभाग

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय

शिलांग - 793022

मेघालय

2011

Hindi (Thesis)

NEHRU LIBRARY
A... 104409
A... 5/12/12
D...
C...
Su...
Enter by...

आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

अनुसंधित्सु

शेखरज्योति शील

द्वारा

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय के हिन्दी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलासफी
उपाधि के लिए अपेक्षित आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रस्तुत

आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

शोध-निर्देशक
डॉ. माधवेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
उपाचार्य, हिन्दी विभाग

अनुसंधित्सु
शेखरज्योति शील

हिन्दी विभाग
मानविकी संकाय
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग - 793022

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय

जुलाई, 2011

घोषणा

मैं ***शेखरज्योति शील*** एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि इस शोध-प्रबंध की विषय-सामग्री मेरे द्वारा किए गए कार्यों का परिणाम है। इस शोध-सामग्री के आधार पर न तो मुझे, और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, किसी अन्य को पहले उपाधि प्रदान की गयी है और न ही यह शोध-प्रबंध मेरे द्वारा कोई अन्य शोध-उपाधि प्राप्त करने के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय/संस्थान में प्रस्तुत किया गया है।

इसे पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय के सम्मुख हिन्दी विषय में डॉक्टर ऑफ फ़िलॉसफी की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

अध्यक्ष

02.8.11

अध्यक्ष/Head
हिन्दी विभाग/Hindi Deptt.
पू.प.प.वि., शिलांग-२२
N.E.H.U., Shillong-22

निर्देशक

028.11

शोधार्थी

प्राक्कथन

भारत वैविध्यों से परिपूर्ण क्षेत्र है। समय-समय पर नव्य वैचारिक चिंतनों से आप्लुत होकर विभिन्न मनीषियों ने 'जम्बूद्वीपे भारतखंडे' अवतार ग्रहण किया। उनके विचारों ने एक प्रकार से समस्त भारतीय जनमानस के हृत्तंत्री के तारों को झंकृत कर दिया जिसकी अनुगूँज सदियों बीत जाने के बाद भी अपनी प्रासंगिकता का वहन करते हुए अद्यतन पीढ़ी की भी मानसिकता को प्रभावित किए हुए है। इनमें से सशक्ततम महापुरुष बुद्ध थे। बुद्ध ने भारतीय आर्ष ग्रंथों और आप्त वाक्यों को चुनौती देकर एक नवीन वैचारिक आंदोलन का सूत्रपात किया। उन्होंने ईश्वर की अस्मिता पर भी प्रश्नचिह्न लगाकर एक नवीन दृष्टिकोण का प्रचार किया। बुद्ध के वचनों से प्रभावित होकर सैकड़ों लोग उनके अनुगामी बने। तप:स्फूर्त तेज से अतिमानवीय गुणों से विभूषित होने के कारण बुद्ध को हिंदुओं ने विष्णु के नवम अवतार के रूप में परिगणित किया। कहा जाने लगा कि वैदिकी हिंसा को रोकने और जीवमात्र के प्रति करुणा का भाव दिखाने के लिए विष्णु ने शुद्धोधन और मायावती के घर में जन्मग्रहण किया।

बौद्धों के विविध संप्रदायों का प्रचार परवर्ती युग में हुआ। कुछ कविस्वभाव के साधकों ने अपने हृद्गत भावों की अभिव्यक्ति काव्यात्मक रूप से की। यही गीतिपरक अनुभवों के छंद चर्यापद नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रख्यात भारतीय विद्वान महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री सन् 1907 में नेपाल गए। यह इनकी तृतीय नेपाल यात्रा थी। उन्होंने नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में चर्यापद नामक पंचाशत गीतों का आविष्कार किया। उसके नौ वर्ष बाद उन्हें नेपाल के दरबार पुस्तकालय में कतिपय अतिरिक्त पोथियाँ मिलीं। बाद में सन् 1916 ई. में उन्होंने इन आविष्कृत पुस्तकों का लिप्यांतरण कर बंगीय साहित्य परिषद से 'हाजार बत्सरेर पुरानो बांलाय बौद्धगान ओ दोहा' नाम

से प्रकाशित करवाया। इनमें एक पुस्तक दोहाकोष, द्वितीय चर्यापद और तृतीय डाकार्णव था। शास्त्री महाशय के इस आविष्कार ने चारों ओर आलोड़न की सृष्टि की। इन तीनों रचनाओं में चर्यापद या चर्यागीत विशेष उल्लेखनीय है। करीब 23 सिद्धों की रचना का फल यह चर्यागीत हैं।

अपने कथन का इंद्रिय ग्राह्य प्रमाण दे पाने वाले या अतीन्द्रिय शक्ति का स्वामी ही 'सिद्ध' कहलाते हैं। बौद्धों में चौरासी सिद्धों का संघटन हुआ। ये सिद्ध अद्‌भुत क्रिया-कलाप करते थे जिस कारण ये सामाजिकों के लिए भयमिश्रित श्रद्धा के पात्र बन गए थे। इन्हीं सिद्धों द्वारा रचित गीत चर्यापद कहलाते हैं। मुनिदत्त नामक किसी अख्यात बौद्ध विद्वान ने इस पर एक टीका लिखी थी। शास्त्री जी ने मुनिदत्त की टीका के आधार पर ही इन चर्यागीतों की व्याख्या कर डाली। दरअसल चर्यागीतों के आदि व्याख्याता मुनिदत्त ने योगाचार तंत्र के आधार पर ही समस्त गीतों की व्याख्या कर डाली जबकि वस्तुस्थिति कुछ और थी। चर्यागीतों के रचक केवल एक ही तंत्र मार्ग का अवलंबन नहीं करते थे।

बौद्ध तंत्र में क्रिया, चर्या, अनुत्तर व महाअति तंत्र का विधान है। प्रत्येक तंत्र का दर्शन एक दूसरे से भिन्न हैं। इनमें से मात्र अनुत्तर तंत्र, जो कि वज्रयान की शाखा था, में पंचमकार की साधना मिलती है। चर्या, क्रिया और योगाचार सात्विक प्रवृत्ति के थे।

चर्यागीतों के रचनाकार केवल योगाचार तंत्र के अनुगामी नहीं थे, अत: समस्त गीतों को एकपक्षीय दृष्टिकोण से देखना भी उपयुक्त नहीं था क्योंकि तंत्र चतुष्टयों के दार्शनिक मानदंड भी अलग अलग थे। उदाहरणत: 'कूर्ममुद्रा' शब्द की व्याख्या योगाचार के अनुसार कुंभक समाधि है, क्रियातंत्र के अनुसार 'मैं बुद्ध हूँ' की भावना है और अनुत्तर तंत्र के अनुसार यह साधना संगिनी से मिलन की अवस्था है। अत: उक्त शब्द की व्याख्या के पहले यह देख लेना आवश्यक है कि यह किसने और किस प्रसंग में कहा है।

योगाचार तंत्र के अनुसार व्याख्या करने के क्रम में जहाँ भी मुनिदत्त को कठिनाई हुई वहीं उन्होंने संधा या संध्या भाषा का सहारा लिया। चर्यापदों के साथ सबसे बड़ी विडंबना यह थी कि इसकी भाषा उस समय के विकसनशील आर्य भाषाओं की जननी स्वरूप थी। अत: असमिया, हिन्दी, उड़िया, मराठी व बांग्ला के कुछ विद्वान इसे अपने साहित्य में खींचने का प्रयास करते रहे हैं। इस भाषीय द्वन्द्व और क्षेत्रीयतावादी मानसिकता के चलते इनका शुद्ध रूप में अर्थोद्धार भी न हो सका।

किमबहुना इन चर्यापदों या बौद्ध वाङ्मय का प्रभाव हिंदी साहित्य में भी लक्षित किया जा सकता है। इसे प्रभाव की अपेक्षा विकास कहना उपयुक्त होगा। कुल मिलाकर देखें तो हमें चर्यापदों का एक लुप्त योगसूत्र (Missing Link) सामग्रिक रूप से हिन्दी साहित्य में देखने को मिलता है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध-'आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' का आधार उसी विकसित और विलुप्त परंपरा को खोज निकालने का प्रयास है। आदिकालीन साहित्य में जैनों व नाथों पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। जैन संप्रदाय का विकास बौद्धों के समानांतर हो रहा था और नाथों का उदय बौद्धों की गिरती नींव का आश्रय लेकर हुआ। अत: बौद्ध शब्दावलियों और भावों की कथन भंगिमा इनमें न्यूनाधिक रूप से साम्य रखती है। वहीं विद्यापति जैसे लोक कवि द्वारा सृजित प्रेम की धारा का आकलन करते हुए उसमें बौद्ध मूलीय तत्त्व भी दृष्टिगोचर हुए। भक्तिकालीन परिसर में कबीर के साथ समग्र निर्गुण साहित्य के कवियों के वक्र व बोध्य कथ्यों का मेल भी चर्या पदों से देखा जा सकता है। केवल यही नहीं वरन् जायसी के प्रेम में, तुलसी के रामचरित्र के गठन में, सूर के यथार्थवादी समाजसापेक्ष वर्णन व कृष्ण लीला के अंतराल में इन्हीं चर्यागीतियों के भाव लक्षित होते हैं। हालांकि रीतिकाल में चर्यापदों का विशद प्रभाव को देखा नहीं जाता तथापि वहाँ इसी परंपरा का विकसित काव्यिक रूप नजर आता है। केशव, मतिराम, बिहारी, घनानंद जैसे कवियों ने अज्ञात रूप से ही अपनी पूर्वस्थ बौद्ध परंपरा के सूत्र को 'घुणाक्षर न्याय' की भाँति ग्रहण किया। आधुनिक काल में जब एक वैप्लविक परिस्थिति

ने जन्म लिया और कविगण अपनी पुरातन संस्कृति की ओर ध्यान केंद्रित करने लगे तो वहाँ पर यह बौद्ध परंपरा मानो पुनरुज्जीवित-सी होकर विविध काव्य संभार में कल्लोल करने लगी। प्रसाद कृत 'कामायनी', निराला कृत 'राम की शक्ति पूजा', बच्चन जी की 'मधुशाला' इत्यादि अन्यान्य काव्यों में बौद्धों के विविध दार्शनिक मतों का परिरंभन देखा जा सकता है।

भारत में जनकवियों का विशेष आदर-सम्मान रहा था। बौद्ध सिद्धों ने भी जनभाषा में लोक-व्याप्त व्यथाओं, दौर्मनस्य, समस्या, स्फुरत् मुस्कान को केंद्र में रखकर ही अपने काव्य की रचना थी और उनके द्वारा सृजित साहित्य को समाज का दर्पण कहना अत्युक्ति न होगी। इसी कारण इस बौद्ध साहित्य का क्षरित व विकसित स्वरूप परवर्ती साहित्य में न्यून रूप में ही सही, पर देखा जा सकता है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध कुल छह अध्यायों में विभक्त है जिसमें क्रमशः चर्यापदों का परिचय, चर्यापदों में बौद्ध धारणा, आदिकालीन साहित्य पर प्रभाव, भक्तिकालीन साहित्य पर प्रभाव, रीतिकालीन साहित्य पर प्रभाव एवं आधुनिक साहित्य पर प्रभाव विषयक अध्ययन किया गया।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध अनेक विद्वत्जनों की अभिज्ञताओं का सार पाकर पूर्णता को प्राप्त हुआ। इनमें सर्वप्रथम मेरे गुरु डॉ. माधवेन्द्र प्रसाद पाण्डेय (विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग) का नाम उल्लेख्य है जिन्होंने 'चरैवेति-चरैवेति' के सिद्धांत से मुझे अत्यंत प्रभावित किया और शोध के स्पष्टतम अर्थ को मेरे समक्ष प्रस्तुत किया। केवल पुस्तकों में ही नहीं वरन् साचक्षु बौद्ध श्रमणों से मिलने की हिदायत देकर कई अविस्मरणीय यात्राएँ भी करवाईं। उनके बहुमूल्य गहन विचारों ने और प्रेम के आहूत स्पर्श ने बारम्बार मेरे त्रोट्यमान मनोबल को पुनर्गठित किया। उनके द्वारा निर्दिष्ट बिंदुओं और प्रेरणास्पद उक्तियों से मेरा यह शोधकार्य पूरा हो पाया है। साथ ही मैं हिन्दी विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. दिनेश कुमार चौबे

का भी आभारी हूँ। जिन्होंने इस शोध प्रबंध का अनुमोदन ही नहीं किया वरन् समय-समय पर अपने सुझावों से मुझे प्रेरित करते रहे। बौद्ध साहित्य के विद्वान डॉ. प्रणव ज्योति डेका (अवसर प्राप्त अध्यक्ष, भूतत्त्व विज्ञान विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय), ऐलेक्स पार्दो (बौद्ध श्रमण) व माला चौधरी (बौद्ध साधिका) का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। इनके अतिरिक्त और कई बौद्ध आचार्यों और मेरे गुरुतुल्य व्यक्तियों को मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिनके मतों ने मुझे चर्यापदों को समझने के लिए नवीन दृष्टि दी। मैं श्री राजनाथ पाल व संगीता पाण्डेय का भी आभारी हूँ कि जिन्होंने टंकन कार्य द्वारा मेरे शोध प्रबंध के कायिक संरचना को रूप दिया। इसके अतिरिक्त मैं अपने परिवार के सदस्यों और मित्रों का आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में मेरी सहायता की। विशेषकर सारनाथस्थ बौद्ध संस्थान के पुस्तकालय, गया महाबोधि पुस्तकालय, गुवाहाटी जिला पुस्तकालय के अज्ञातनामा बांधवों का भी आभारी रहूँगा।

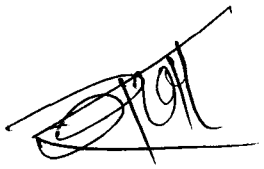

दिनांक : जुलाई, 2011

शेखरज्योति शील
शोध छात्र
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग

आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

अनुक्रमणिका

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन		I-V
अध्याय 1	**चर्यापदों एवं चर्याचार्यों का परिचय**	1-120
	1. क. 'चर्या' शब्द का अर्थ, परिभाषा, व्युत्पत्ति एंवं विविध रूप	
	1. ख. बौद्धों के विविध संप्रदाय-	
	i. हीनयान - स्थवीरवाद	
	ii. महायान - महासंघिका	
	1. ग. सिद्धों का परिचय	
	1. घ. तांत्रिक पद्धति में चर्यापद	
	i. बौद्धपूर्व तंत्र की अवधारणा	
	ii. बौद्ध तांत्रिक विश्वास	
	iii. पंच मकार की साधना	
	iv. यौगिक साधना	
	1. ङ. नाथ एवं सिद्धों में भेद	
	1. च. साधना पद्धति	
	i. साधना में विशृंखल अवस्था	
	ii. तांत्रिक आचारों का पतन	
	1. छ. चर्यापदों का महत्व	
	1. ज. चर्यापदों में कापालिक साधना	
	1. झ. चर्याचार्यों का परिचय	
अध्याय 2	**चर्यापदों का साहित्यिक विवेचन**	**121-252**
	2. क. भाव सौंदर्य	
	i. भक्ति सौंदर्य	
	ii. भाव दर्शन	
	iii. रस विवेचन	
	iv. प्रकृति वर्णन	

2. ख. कला सौंदर्य
i. भाषा
ii. शब्द योजना
iii. बिंब विधान
iv. प्रतीकात्मकता
v. अलंकार योजना
vi. राग विचार
vii. छंद योजना

अध्याय 3 **आदिकालीन साहित्य पर प्रभाव** **253-320**

3. क. आदिकालीन साहित्य : सामान्य विवेचन
i. साहित्यिक रूप
ii. प्रमुख प्रवृत्तियाँ
3. ख. आदिकालीन साहित्य पर चर्यापदों का प्रभाव
i. भाव की दृष्टि से
ii. कला की दृष्टि से
3. ग. आदिकालीन लौकिक साहित्य पर प्रभाव
i. खुसरो पर बौद्ध प्रभाव
ii. विद्यापति पर बौद्ध प्रभाव

अध्याय 4 **भक्तिकालीन कविता पर प्रभाव** **321-439**

4. क. भक्तिकालीन कविता : सामान्य विवेचन
i. साहित्यिक रूप
ii. भक्ति की भाव भूमि
iii. दार्शनिक आधार
4. ख. सगुण काव्यधारा पर चर्यापदों का प्रभाव
i. भाव की दृष्टि से
ii. कला की दृष्टि से
4. ग. निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा पर चर्यापदों का प्रभाव
i. भाव की दृष्टि से
ii. कला की दृष्टि से
4. घ. प्रेमाश्रयी शाखा (सूफी) पर चर्यापदों का प्रभाव
i. भाव की दृष्टि से
ii. कला की दृष्टि से

4. ङ. रामचरितमानस पर चर्यापदों का प्रभाव

4. च. सूरसागर पर चर्यापदों का प्रभाव

अध्याय 5 **रीतिकालीन कविता पर प्रभाव** **440-529**

5. क. रीतिकालीन कविता : सामान्य विवेचन
   i. प्रवृत्तियाँ
   ii. रीतिकवियों के विविध वर्ग
5. ख. रीति काव्य पर चर्यापदों का प्रभाव
   i. भाव परक प्रभाव
   ii. कला परक प्रभाव
5. ग. चर्यापदों का मतिराम पर प्रभाव
5. घ. केशव दास पर चर्यापदों का प्रभाव
5. ङ. अन्य रीतिबद्ध कवियों पर चर्यापदों का प्रभाव
5. च. रीतिमुक्त कवियों पर चर्यापदों का प्रभाव
5. छ. रीतिसिद्ध कवि बिहारी पर चर्यापदों का प्रभाव

अध्याय 6 **आधुनिककालीन कविता पर प्रभाव** **530-608**

6. क. आधुनिककालीन कविता : सामान्य विवेचन
   i. प्रवृत्तियाँ
   ii. आधुनिककाल की विविध युग
6. ख. कामायनीय पर बौद्ध प्रभाव
6. ग. उर्वशी पर चर्यापदों का प्रभाव
6. घ. मधुशाला पर चर्यापदों का प्रभाव
6. ङ. राम की शक्तिपूजा पर चर्यापदों का प्रभाव
6. च. असाध्य वीणा पर चर्यापदों का प्रभाव

उपसंहार **609-618**

अध्याय-1

चर्यापदों एवं चर्याचार्यों का परिचय

अध्याय-1

चर्यापदों एवं चर्याचार्यों का परिचय

चर्यापदों का परिचय, आविष्कार एवं रचनाकाल :

एक नद्यधार का वैशाल्य ग्रहण कर युगीन परिप्रेक्ष्य की मृत्तिका को ढोते हुए साहित्य की वाग्धारा अकथित कालों तक बहती रहती है। मृत्तिका के बालुकामय कणों में सामाजिकों के हृदय का स्पंदन, अश्रुजल धौत नेत्रों की छवि, तिमिस्र नैराश्य के क्षण, क्रोधान्वित रक्ताभ नेत्रों के स्फुल्लिंग, उत्सवमय प्रांगण की धूलिका, हास्याश्रित उज्जवल कपोल की लालिमा, लज्जावनत नेत्रों की अकथ्य भाषा, प्रेममय विगलित अश्रु, खंडित स्वप्नों का मकड़जाल और पूरित वांछाओं की हर्षसिक्त अभिव्यंजनाएँ समाहित रहती हैं। इस धारा के पुण्यमय तटों में गढ़ उठते हैं मान्यताओं, विश्वासों और केंद्रीभूत आस्थाओं के तीर्थ जो नदी की ओजस्विता, शुचिता और प्राणसंचरिणी शक्ति से उद्वेलित होकर नव्य भावोच्छवास की सृष्टि करता है। बौद्धों का साहित्य भी कुछ इसी प्रकार के कथ्य एवं तथ्य वहन करते हुए आदि काल से प्रवाहित होता आया है। भले ही आज उसकी स्वच्छल धारा सहज दृष्टिगोचर नहीं होती परंतु एक अंत: सलिला धारा की तरह वह आज के साहित्य क्षेत्र को भी सिंचित मार्जित करती हुई बह रही है। अपने उद्‌गम से निकलकर वह धारा विपरीत परिस्थितियों के अवरोधों को काटती हुई बह रही है। धार्मिक साहित्य होकर भी सिद्धों ने अपने पदों में प्रकारांतर से तत्कालीन जीवन यात्रा के प्रत्येक क्षणों को मूर्त किया है। उसी मूर्तिमान जीवन के परिदृश्यों ने परवर्ती साहित्यकोष में भी मुक्ताओं को जड़ दिया। यदि यह साहित्य आविष्कृत न होता तो हिंदी साहित्य के महती वाङ्मय की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने में काव्य मर्मज्ञाचार्यों को काठिन्य अनुभूत होता।

इस बौद्ध साहित्य को संयोगवश खोज निकालने का महती श्रेय भारतीय विद्वान महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री को जाता है। सन् 1907 ई. में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी तृतीय नेपाल यात्रा में वहाँ के राजकीय पुस्तकालय में चर्यापद विषयक पुस्तक का आविष्कार किया था। उसके नौ वर्ष बाद उन्हें नेपाल के दरबार पुस्तकालय में और तीन पोथियाँ प्राप्त हुईं। बाद में 1916 ई. में उन्होंने इन ग्रंथों को ''हाजार बत्सरेर पुरानो बांग्लाय बौद्धगान ओ दोहा'' नाम देकर बंगीय साहित्य परिषद से प्रकाशित करवाया। शास्त्री महोदय ने 'बौद्धगान ओ दोहा' पुस्तक की भूमिका में लिखा था कि- ''1907 में नेपाल जाकर मैंने कई पोथियाँ देखीं। इनमें से एक का नाम 'चर्याचर्यविनिश्चय' था, इसमें कीर्तन के कई गीत हैं और उसकी संस्कृत टीका भी थी। यह गीत वैष्णवों के कीर्तन की भाँति हैं और इनका नाम 'चर्यापद' है।'' इसके अतिरिक्त उन्हें कुछ और भी पुस्तकें मिलीं जिन्हें उन्होंने 'बौद्धगान ओ दोहा' में संकलित किया। दरअसल इस पुस्तक का कोई नाम नहीं था। केवल प्रारंभ में मंगलाचरण परक एक श्लोक में एक नाम का झलक मिलता है यथा-

श्री लुई चरणादिसिद्धरचितेहप्याश्चर्य चर्याचये।

अद्वत्मोवगमाय निर्मलगिरां टीकां विधास्ये स्फुटम्॥

'आश्चर्यचर्याचय' शब्द के अलावा इन पदों का और कोई भी नामोलेख नहीं मिलता।[1]

बंगीय विद्वान तारापद मुखोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'चर्यागीति' में यह अनुमान लगाया है कि इन गीतों की रचना दसवीं से बारहवीं सदी के आसपास हुई होगी। टीकाकार मुनिदत्त ने तिब्बत और नेपाल में रह रहे सहजिया बौद्धों के बोधार्थ चर्यागीतों में से पचास निर्वाचित गीतों का अनुवाद किया और उनकी टीका व्याख्या के माध्यम से एक मिश्र संस्कृत भाषा की परम्परा का आरंभ बौद्ध समाज में किया जो उसके बाद दीर्घ काल तक प्रचलित रहा।[2] उन्होंने आगे कहा है कि चर्यागीत ग्रंथ की टीका व्याख्या में व्यवहृत संस्कृत भाषा के साथ भी इस मिश्र संस्कृत की

काफी समानता है। अत: उन्होंने शास्त्रीजी द्वारा आविष्कृत पुस्तक का रचनाकाल तेरहवीं सदी के आसपास धार्य किया है। इस समय तक असमिया, मैथिली, उड़िया, बंगला की लिपियों में विशेष अंतर नहीं था।[3]

उल्लेख्य है कि मुनिदत्त की टीका में से केवल सैंतालिस गीत ही मिल पाए हैं बाकी लुप्त हैं।

आ. हरप्रसाद शास्त्री ने चर्यागीतों की लिपि का कालविचार करते हुए यह दावा किया कि ''13वीं शताब्दी के आस-पास तिब्बती बौद्ध, संस्कृत ग्रंथों का अपनी भाषा में अनुवाद कर रहे थे और चर्यागीति ग्रंथ भी उसी समय अनुदित हुआ होगा।'' [4] आधुनिक भाषा वैज्ञानिक सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय ने इसकी रचना काल नौवीं-दसवीं सदी धार्य किया है।[5]

सिद्धाचार्य लुईपाद को चर्याकारों में सबसे प्राचीन माना गया है। इसी कारण लुईपाद की चर्या ''काआ तरुवर पंच वि डाल'' गीतिकोश में सबसे पहले रखी गई है। तिब्बती इतिहास के अनुसार लुईपाद 'अभिसमय विभंग' नामक एक तांत्रिक ग्रंथ के भी रचनाकार थे और इसकी रचना में दीपंकर श्रीज्ञान ने उनकी मदद की थी। श्रीज्ञान का ग्यारहवीं शताब्दी में तिब्बत जाने का उल्लेख मिलता है।[6] यदि लुईपाद और श्रीज्ञान समकालीन थे तो लुईपाद का जीवन काल भी ग्यारहवीं सदी मानना पड़ेगा।

सुकुमार सेन और प्रबोध चन्द्र बागची के अनुसार लुईपाद और भी पूर्ववर्ती हैं। नेपाल दरबार में मिली पुस्तकों के अनुसार 221 नेपाल संवत् अर्थात् 1101 ई. में दिवाकर चंद्र ने सरहपाद की रचनाओं को नष्ट होता देखकर उसे पुस्तक के रूप में संकलित किया। अत: यह मान लेना होगा कि सरहपाद ने अपने दोहे ग्यारहवीं सदी के प्रथम भाग में लिखे होंगे। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि लुईपाद और सरहपाद समकालीन होंगे। अत: सुकुमार सेन ने यह अनुमान लगाया है कि दीपंकर श्रीज्ञान ने लुईपाद की कृति 'अभिसमय विभंग' की रचना में प्रत्यक्ष

रूप से सहायता नहीं की होगी वरन् श्रीज्ञान ने लुई द्वारा रचित 'अभिसमय' नामक मूल ग्रंथ का 'विभंग' नाम से परिशिष्ट की रचना की होगी।[7]।

बंगीय विद्वान राखालदास बंदोपाध्याय के अनुसार कान्हपाद ने गोविंदपाल देव के राजत्वकाल में 'हेवज्रतंत्र' की टीका 'योगरत्नमाला' की रचना की थी। गोविंदपाल देव का राजत्वकाल बारहवीं सदी के अंत की ओर था। अत: कान्हपाद का अवतरण काल भी उसी के आस-पास है।[8]

शार्ङ्गदेव कृत संगीत रत्नाकर (1210-47 ई.) में चर्यागीतों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-

पद्धड़ी प्रभृतिच्छंदा: प्रदान्त प्रास शोभिता:।

अध्यात्म गोचरा चर्या स्व्याद द्वितीयादि तालत: ॥

यह चर्यागीत इतने प्रसिद्ध थे कि संगीत शास्त्र में भी उनका उल्लेख मिलता है।[9]

पंडितों के अनुसार आचार्य मुनिदत्त ने आनुमानिक चौदहवीं सदी के पहले चर्यागीतों की संस्कृत टीका की रचना की थी। इन गीतों की जनप्रियता और महत्व के कारण ही मुनिदत्त ने पदों का भाष्य लिखा था।[10]

पंडितों एवं भाषा वैज्ञानिकों के मतों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि चर्यागीतों के रचनाकारों की एक सुदीर्घ परम्परा रही थी क्योंकि चर्यागीतों के रचनाकार कवियों के जीवित काल में काफी अंतर रहा है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि चर्यागीतों का रचना काल आठवीं-नौवीं सदी से लेकर बारहवीं सदी के अंत तक रहा होगा।

भाषा को आधार बनाकर चर्यागीतों के रचनाकाल को निश्चित करने में भी समस्या है। प्रथमत: यह कि, नेपाल दरबार में प्राप्त पांडुलिपि कवियों ने अपने हाथों से नहीं लिखी थी। यहाँ

तक कि टीकाकार मुनिदत्त ने भी इस पांडुलिपि को नहीं लिखा। दरअसल मूल गीतियों की रचना के साथ ही टीकाकार ने टीका नहीं लिखी।[11] विविध ग्रंथों में प्राप्त चर्यागीतों के विभिन्न पाठ भेदों से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। संभवत: मूल गीतियों के रचनाकाल और मुनिदत्त की टीका लेखन के काल तक काफी अंतराल रहा होगा। इस कालांश में यह जनप्रिय गीत विभिन्न गायकों के सुरों से सज्जित होकर ही हो या फिर विविध लिपिकारों के कलमों से प्रोथित होते हुए प्रचारित हुए होंगे। अत: चर्यागीतों की भाषा अपने मूल रूप से हटकर आ गई होगी जिससे भाषा में परिवर्तन आना भी स्वाभाविक प्रतीत होता है। अत: चर्यागीतों की मूल भाषा और लिपि का अनुमान लगाना थोड़ा कठिन है।

द्वितीयत: चर्यागीत के पद समसामयिक कवियों द्वारा रचित नहीं हैं। यह भी संभव है कि चर्याकारों में या तो गुरु शिष्य परंपरा या वंश परंपरा के चलते एक दूसरे से जुड़े हुए होंगे। संभवत: एक कवि के अवतरण काल से दूसरे कवि तक कुछ समय का व्यवधान जरूर रहा होगा। भाषा में आए परिवर्तन का उदाहरण इन पदों में तो नहीं उभरता। कुछेक सामान्य परिवर्तन के बाद भी चर्यागीतों की भाषा लगभग वही है। उल्लेख्य है कि इस समय भाषा तेजी से अपना रूप परिवर्तन कर रही थी परंतु चर्यागीतों की भाषा में यह भाषीय परिवर्तन स्पष्टत: उभरकर नहीं आता। इससे यह सहज अनुमेय है कि प्राचीन और नव्य चर्याकारों में दो सौ वर्षों का अंतराल रहा होगा। कतिपय सामान्य भाषीय अंतर के बावजूद इन गीतों की रचना एक विशिष्ट रीति से हो रही थी। विद्वानों का मानना है कि परवर्ती कवियों ने इसी कृत्रिम भाषा में काव्य रचना की थी।[12] इन चर्यापदों में दशम, एकादश सदी की भाषा के भी लक्षण प्राप्त होते हैं।

चर्या शब्द का अर्थ, परिभाषा, व्युत्पत्ति एवं विविध रूप :-

चर्या शब्द के कई अर्थ हैं। मूलत: यह संस्कृत $\sqrt{\text{चर्}}$ धातु से बना है जिसका अर्थ है चलना, कार्य करना, आचरण, देखना, व्यस्त होना, यथावत् रहना, भेजना इत्यादि।[13] परन्तु चर्यागीतों

में इस शब्द का अर्थ 'आचरण' ही सम्यक् प्रतीत होता है। वैसे तो 'चर्या' शब्द का पारिभाषिक अर्थ भी आचरण ही है तथापि यहाँ लौकिक आचरण की बात नहीं की गई है, बल्कि यहाँ योगसाधनपरक आचरण का उल्लेख है। चर्यागीतों के प्रथम टीकाकार मुनिदत्त ने 'महारागनय चर्या', 'कपाल चर्या' या कापालिकों के लिए 'चर्याधर' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध तंत्र में 'चर्यातंत्र' भी एक प्रकार का भाग है परंतु यह उल्लेख्य है कि चर्यागीत का कोई भी गीत इस तंत्र से संबंध नहीं रखता। मुनिदत्त की टीका में 'चर्यापाद' नामक व्यक्ति का भी उल्लेख मिलता है।[14]

इन चर्यागीतों में ही चर्या शब्द का प्रयोग मिलता है, यथा- 'अइसन चर्या कुक्कुरिपाएँ गाइउ' अथवा टीका में 'चर्यान्तरं' जैसे पदों का उल्लेख मिलता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इसे पुराने जमाने का कीर्तन बनाने का आग्रह किया है। इन गीतों का कीर्तन के रूप में गायन होता था कि नहीं यह चर्चा का विषय है परंतु नेपाल मे लोकगीतों के रूप में ये अद्यपि गाए जाते हैं और इन गीतों को 'चचागीत' कहते हैं।[15] ध्यातव्य है कि संगीत शास्त्र में गायन की एक शैली विशेष को भी चर्या कहते हैं।[16] इससे कई लोगों में यह भ्रांति फैल गई थी कि चर्या शब्द का अर्थ गीतों की एक रीति है, जो कि सही नहीं है। दरअसल चर्यागीतों की जनप्रियता के कारण ही संगीत शास्त्र में इसे एक विशेष दर्जा दिया गया। राहुल सांस्कृत्यायन, डॉ. शशिभूषण दासगुप्त एवं आर्नाल्ड बुके ने नेपाल के चचा गीतों के आधार पर कई गीतों का संकलन किया था।[17] । यह गीत नहीं बल्कि कतिपय गीतों के भग्नांश मात्र थे। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि चर्या शब्द का अर्थ आचरण है। इन गीतों में कवियों ने अपनी अनुभूतियों को निबद्ध किया था। इनमें उनकी साधना और रहस्यघन वातारण का संगुम्फन स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है।

चर्यापद ग्रंथ का परिचय एवं सांगोपांग चर्चा :

हरप्रसाद शास्त्री महोदय को यह ग्रंथ नेपाल राजदरबार में प्राप्त हुआ था। उन्होंने मूल पुस्तक की तस्वीरें भी खींचकर रखी थीं जिन्हें उन्होंने अपने 'बौद्धगान ओ दोहा' पुस्तक में

प्रकाशित किया था। अपने ग्रंथ में उन्होंने मूल ग्रंथ के आधार पर ही पृष्ठसंख्या अंकित किया था जिससे कि यह पता चल सके कि मूल ग्रंथ के किस पृष्ठ में कितनी बातें कही गई हैं। परवर्ती काल में डॉ. नीलरतन सेन द्वारा प्रकाशित मूल ग्रंथ की तस्वीरों से इस ग्रंथ के मूलरूप का अनुमान होता है।

ताड़ पत्र में लिखे इस ग्रंथ के हर पृष्ठ का माप लगभग 33 सें.मी.×4½ सें.मी. ग्रंथ के नामपत्र में लिखा 12¾"×1⅞" लिखा हुआ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उस ग्रंथ में 70 पृष्ठ थे। वर्तमान ग्रंथ में से 35, 36, 37, 38 एवं 66 पृष्ठसंख्या लुप्त हैं। संभवत: अंतिम पृष्ठ भी नहीं मिला है। पृष्ठ के दोनों ओर लिखा गया था और उनमें पत्र संख्या भी अंकित मिलता है। हर पृष्ठ में 5 पंक्तियाँ लिखी गई हैं। विकृत हुए 'पृष्ठों में तीन संपूर्ण गीत और एक गीत का आधा हिस्सा लुप्त हो गया। इस कारण पदों की संख्या साढ़े सैंतालिस रह गए हैं। तिब्बती अनुवाद से इन लुप्त गीतों के भाव का अनुमान किया जा सकता है।[18]

तिब्बती अनुवाद :

डॉ. प्रबोध चंद्र बागची ने चर्यापदों के तिब्बती अनुवाद की खोज की थी एवं सन् 1938 में Journal of Department of Letters के माध्यम से इसका परिचय कराया। कालांतर में प्रबोचन्द्र बागची एवं शान्तिभिक्षु शास्त्री ने संपादित कर विश्वभारती से सन् 1956 के नवंबर में इस पुस्तक को प्रकाशित करवाया। इस तिब्बती अनुवाद से मुनिदत्त कृत चर्यापदों के इस ग्रंथ के विषय में निम्न जानकारियाँ प्राप्त होती हैं -

1. हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित चर्यापद का ग्रंथ मूलत: गीति संग्रह नहीं बल्कि यह उसकी टीका थी।
2. टीका के रचनाकार का नाम शाब्दिक अनुवाद है। शास्त्री महोदय द्वारा आविष्कृत ग्रंथ

खंडित था अत: वहाँ कहीं भी मुनिदत्त का नाम नहीं मिल पाया था। संभवत: मुनिदत्त का नाम अंकित पृष्ठ में रहा हो।

3. तिब्बती अनुवादकार का नाम महापंडित कीर्तिचन्द्र था।

4. नेपाल के स्वयंभू क्षेत्र में इस ग्रंथ का अनुवाद किया गया था।

5. तिब्बती अनुवाद से इस बात का भी ज्ञान होता है कि मूल ग्रंथ में 100 गीत थे। मुनिदत्त ने उसी में से 50 गीतों का चयन कर उनका अनुवाद किया था। तिब्बती अनुवाद भी पूर्णत: विश्वास योग्य नहीं है तथापि चर्यागीति के पाठ निर्णय एवं लुप्त गीतों के पुनरुद्धार के लिए इसकी सहायता ली जा सकती है।[19]

ग्रंथ का नामकरण :

शास्त्री महाशय ने इस ग्रंथ का नाम 'चर्याचर्यविनिश्चय:' रखा था। दरअसल नेपाल के दरबार पुस्तकालय में भी इस पुस्तक का कोई नाम नहीं दिया गया था। परवर्ती काल में 'चर्याचर्य विनिश्चय' नाम पर काफी प्रश्न उठाए गए। डॉ. बागची में तिब्बती अनुवाद के आधार पर मुनिदत्त कृत ग्रंथ का नाम 'चर्याश्चर्य विनिश्चय' बताया। डॉ. सुकुमार सेन के अनुसार इस ग्रंथ का मूल नाम 'चर्याश्चर्य' था। लिपिकार की गलती से यह चर्याचर्यविनिश्चय हो गया। परंतु इस कथन का कोई ठोस प्रमाण नहीं है। मूल ग्रंथ में भी 'चर्याश्चर्य विनिश्चय' नाम नहीं मिलता।[20]

P. Cordier कृत तेंगुर ग्रंथों की तालिका से यह जाना जाता है कि मुनिदत्त द्वारा रचित ग्रंथ का नाम 'चर्यागीतिकोषवृत्ति' है। अधिकांश बौद्ध ग्रंथों का तिब्बती अनुवाद हो चुका है। तिब्बत में इन ग्रंथों को दो भागों में विभक्त किया गया है। जिनमें बुद्ध के वचन अवधृत हों उन्हें 'केंगुर' कहा जाता है और बुद्ध के वचनों से भिन्न बौद्धधर्म विषयक अन्याय ग्रंथ 'तेंगुर' या

'तांजुर' कहलाते थे। 13वीं सदी में तिब्बती भाषा में अनुदित ग्रंथों की तालिका का संकलन तिब्बती लामा-बु-तोन ने किया था।[21] P. Cordier के अनुसार कीर्तिचन्द्र ने चर्यागीतिकोशवृत्ति का तिब्बती अनुवाद किया था। मुनिदत्त द्वारा रचित ग्रंथ का नाम 'चर्यागीतिकोषवृत्ति' रहा होगा, यह भी केवल अनुमान ही लगता है। वृत्ति या वार्तिक लिखना एक परंपरा है परंतु लेखक ने कहीं भी इस शब्द का उल्लेख रचना में नहीं किया।[22]

ऐसी प्रतीत होता है कि नेपाल राजदरबार पुस्तकालय के अध्यक्ष को यह खंडित ग्रंथ प्राप्त होने पर उन्हें वहाँ किसी नाम का निर्देश नहीं मिला तो उन्होंने 'चर्याचर्यविनिश्चय' नाम लिख दिया होगा। संभवत: उन्हें 'चर्यागतिकोषवृत्ति' नाम पता नहीं था और क्योंकि उक्त खंडित ग्रंथ में मुनिदत्त का नाम न पाने के कारण संपर्क बिठा नहीं पाए हों। अभी नेपाल के राष्ट्रीय पुस्तकालय (National Archives) में रखे ग्रंथ में किसी ने आधुनिक देवनागरी अक्षरों में 'चर्याचर्यटीका' नाम लिखा हुआ था।[23] यह सहज अनुमेय है कि यह नाम अत्यंत आधुनिक है। इस प्रकार का स्पष्ट नामकरण होने पर हरप्रसाद शास्त्री महोदय को नामकरण करने में कोई पेरशानी नहीं होती।

शास्त्रीजी को लगा कि पुस्तकालय में प्राप्त ग्रंथ काव्यसंग्रह है इसलिए उन्होंने इसका नामकरण चर्याचर्य विनिश्चय किया। नामकरण के लिए चर्यागीतों के प्रथम श्लोक में ही इसके नाम का आभास मिलता है- 'आश्चर्यचर्याचय: ।[24]' अर्थात् अद्‌भुत चर्याओं का संग्रह। इन सारे चर्या गीतों की भाषा और अभिव्यक्ति दुर्बोध्य होने के कारण ये अद्‌भुत लगते हैं अत: इस पुस्तक का नाम आश्चर्यचर्याचय होना ही उपयुक्त लगता है। मेरे शोध के अनुसार इसी नाम के 'आश्चर्य' शब्द पर जोर देकर शास्त्रीजी ने आश्चर्य विनिश्चय का अर्थ अपूर्व अर्थ-निर्धारण या व्याख्या लगाया। ऐसा लगता है कि मुनिदत्त को चर्यागीतों की अभिव्यक्ति देखकर या फिर यहाँ निहित उलटबासियों को देखकर आश्चर्य हुआ होगा। लगभग प्रत्येक चर्याओं में इसी प्रकार के आश्चर्यजनक

भाव भरे हुए हैं जो कि केवल सूक्ष्मदर्शी एवं विज्ञ व्यक्तियों के लिए ही बोधव्य है। अत: ऐसा कहा जा सकता है कि चर्याचर्यविनिश्चय या चर्यागीतिकोष की अपेक्षा 'आश्चर्यचर्याचय' नाम अधिक युक्तिसंगत है क्योंकि यह नाम मंगलाचरण सूचक प्रथम श्लोक में भी पाया जाता है।

मुनिदत्त :

चर्यापदों के टीकाकार मुनिदत्त के विषय में किसी भी प्रकार का अंत:साक्ष्य या बहिर्साक्ष्य नहीं मिलता। यहाँ तक कि शास्त्री महोदय द्वारा प्राप्त ग्रंथ में भी मुनिदत्त का नाम नहीं मिल पाता। बल्कि प्रबोधचन्द्र बागची एवं शांति भिक्षु द्वारा प्रकाशित चर्यापदों के तिब्बती अनुवाद में ही मुनिदत्त का नाम आता है। मुनिदत्त की टीका बहुत जनप्रिय रही होगी जिस कारण इसके तिब्बती अनुवाद में ही मुनिदत्त का नाम आता है। कतिपय विद्वानों का मानना है कि तंत्र के प्रति आकर्षण के कारण मुनिदत्त ने इसकी व्याख्या में काफी बदलाव या गलतियाँ कीं।[25] कहीं-कहीं यह सत्य प्रतीत होता भी है परंतु मुनिदत्त की टीका को महत्वहीन कहा नहीं जा सकता। चर्यापद की आरंभिक व्याख्या मुनिदत्त की टीका को आधार मानकर ही की गई थी। हालांकि टीका के अक्षर पुराने हो जाने के कारण उसका पाठोद्धार सही रूप में नहीं हो पाया जिस कारण अर्थ दुर्बोध्य हो गया है। परंतु मूल एवं अनुवाद को ध्यान से देखने पर वह सहज प्रतीत होता है। मुनिदत्त किस धर्म के थे यह तो जाना नहीं जा सकता परंतु यह अवश्य है कि वे एक असाधारण विद्वान थे। उनकी टीका के माध्यम से इस कथन का यथातथ्य अनुमान मिल जाता है। टीका में उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा का व्यापक प्रयोग किया है। उनका विभिन्न धर्मों व उसके दर्शन से भी अच्छा परिचय था। परदर्शन को शास्त्रविरुद्ध मानने वाले बौद्ध होते हुए भी उन्होंने शैव व नाथ दर्शन के सूक्तों को भी अपनी टीका में उद्धृत किया। इन गुणों के चलते मुनिदत्त का पांडित्य और उदारता उनकी रचित टीका में साफ झलकती है।[26]

बौद्धों के विविध सम्प्रदाय

(i) हीनयान या स्थवीरवाद :

गौतमबुद्ध की मृत्यु के बाद उनके द्वारा प्रचारित मूल सूत्रों की व्याख्या को लेकर शिष्यों में काफी विवाद खड़े हुए। इन विवादों एवं मतभेदों को दूरीभूत कर धर्म में ऐक्यमत बनाए रखने की अभिप्सा से कई बार धर्मसंघ की सभा आयोजित की गई। ऐसा कहा जाता है कि अजातशत्रु के शासनकाल में वैशाली में आहूत धर्मसंघ के द्वितीय सम्मेलन के अवसर पर विवाद इतना प्रगाढ़ हो गया कि प्रतिपक्ष के श्रावकों ने स्वयं को महासंधि का नाम देकर एक स्वतंत्रधर्मसंघ बनाने का आह्वान किया। उन दोनों पक्षों में विवाद इतना हो गहरा गया कि दोनों ही पक्षों में विभाजन आ गया और वे दो यानों में विभक्त हो गए। वे दल थे हीनयान या प्राचीन स्थवीरवादी बौद्ध धर्म एवं महायान या आधुनिक पंथ के बौद्ध। कनिष्क के समय तृतीय धर्म संघ का आयोजन किया जिसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने की और उसी ने हीनयान और महायान नामकरण किया।[27]

हीनयान नाम से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह नाम प्रतिपक्ष का ही दिया हुआ है अन्यथा कौन सा पंथ स्वयं को 'हीन' शब्द से रूपायित करना चाहेगा ? अत: इस दल के श्रावक स्वयं को स्थवीरवादी या थेरवादी कहलाते हैं। हीनयान और महायान में मूलभूत अंतर उनके धर्म के लक्ष्य को लेकर है। दरअसल स्थवीरवादियों की दृष्टि थोड़ी संकीर्ण थी। वे केवल बुद्ध के वचनों का पालन करते हुए उनके आचार-विचारों का अनुसरण करते थे। इसी आत्मत्याग या आत्मशुद्धि के द्वारा पुण्य अर्जित करना चाहते हैं। वे निर्वाण प्राप्ति के लिए शून्यता की साधना को श्रेयस्कर मानते थे। इसके लिए अपने दैहिक अस्तित्व को भूलकर अनस्तित्व में विलीन करने का प्रयास करते थे। अत: इस यान में आरूढ़ श्रावकों में ऐकांतिक निष्ठा का होना परम आवश्यक है। हीनयान में निर्वाण प्राप्ति की अवधारणा तो थी परंतु बुद्धत्व प्राप्ति के लक्ष्य से वे दूर थे। इस प्रकार

के मत वाले सम्प्रदाय को 'श्रावकयान' कहते थे। हीनयानियों में ही परवर्ती काल में एक ऐसे दल का विकास हुआ तो कि बुद्धत्व प्राप्ति के लिए इच्छुक बना। परंतु वे केवल आत्म तक ही सीमित रहे। अत: इनका सम्प्रदाय 'प्रत्येक बुद्धयान' कहलाया।[28]

(i) महायान या महासंघिका :

हीनयानियों के विपरीत महायानियों की दृष्टि थोड़ी उदार थी। वे केवल अपने लिए बुद्धत्व प्राप्ति के लक्ष्य को तुच्छ मानते थे। उनके अनुसार जिस प्रकार बुद्ध ने समस्त विश्व के कल्याण के लिए स्वयं का उत्सर्ग किया था उसी प्रकार वे भी परोपकार के द्वारा आत्मोत्सर्ग कर बुद्धत्व की प्राप्ति करना चाहते हैं। उनका मानना है कि हीनयानियों की निर्वाण साधना या अस्तित्व को अनस्तित्व में पर्यवसित करने वाली शून्यता की साधना एकमात्र सत्य नहीं है। निर्वाण की कामना की अपेक्षा, बुद्धत्व लाभ का प्रयास श्रेयस्कर है। बुद्धत्व या बोधित्ति की अवस्था शून्यता और करुणा का समन्वित रूप है। बुद्धत्व प्राप्ति की कामना, साधक केवल अपने लिए नहीं करता बल्कि विश्व के सभी प्राणियों के लिए यह साधना की जानी चाहिए। सभी प्राणियों में सम्यक्-सम्बुद्धत्व की संभावना विद्यमान है एवं शून्यता व करुणा में अभिन्नता स्थापित करने पर बोधिचित के माध्यम से बुद्धत्व की प्राप्ति हो सकती है।[29]

शून्यता को इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है, कि जगत के किसी भी वस्तु का कोई निजस्व धर्म या स्वरूप नहीं है। प्रत्येक तत्व अपने वर्तमान स्वरूप के लिए किसी दूसरे पर निर्भर है अत: वह तत्व अस्तित्वहीन है- इसी ज्ञान या बोध को शून्यता कहते हैं।[30] जगत के प्रत्येक प्राणी का उपकार और उसके माध्यम से सभी की मुक्ति की चेष्टा को करुणा कहते हैं। इन दोनों भावों के समन्वित रूप को बोधिचित कहते हैं (शून्यता करुणाभिन्नम् बोध चित्तम्)। इसी के द्वारा महायानी साधक बुद्धत्व प्राप्ति की कोशिश करता है।[31]

महायान सम्प्रदाय ऐतिहासिक बुद्ध में विश्वास नहीं रखते थे। उन्होंने त्रिकाय बुद्ध की परिकल्पना की थी। त्रिकाय बुद्ध तीन प्रकार के हैं- धर्मकाय, निर्माणकाय और सम्भोगकाय। बुद्ध जब पारमार्थिक सत्य का अवलम्बन करते हैं तब वे धर्मकाय होते हैं। जब वे बोधिसत्वों के निकट गूढ़ धर्म के अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं तो वे सम्भोगकाय में विचरण करते हैं एवं जब बुद्ध साधारण व्यक्तियों को धर्मसूत्र आदि दान करते हैं तो निर्माणकाय में स्थित होते हैं।[32]

पहले ही कहा जा चुका है कि महायानी श्रावक प्रत्येक जीव के बोधिसत्व प्राप्ति पर विश्वास करते हैं। बोधिसत्व भाव को चित्त में चिरस्थायी बनाए रखने के लिए आचार्यों ने कई पारमिताओं अर्थात् करुणा, मैत्री इत्यादि की परिकल्पना की। करुणा, मैत्री आदि ऐसे गुण हैं जिनमें स्थिर रहने पर साधक का हृदय दयार्द्र होता है। सभी जीवों में बुद्ध की कल्पना, सबकी मुक्ति के लिए परोपकार और आत्म उत्सर्ग की भावनाओं ने बौद्धमत को जनप्रिय बनाया। इसी जनप्रियता के चलते महायान मत में विचित्र नीतियाँ भी प्रविष्ट हो गईं। उल्लेख्य है कि जनप्रियता के चलते महायान में तंत्र का प्रवेश नहीं हुआ है। परवर्ती काल में 'पारमितानय' की तरह मंत्रनय की भी उत्पत्ति हुई। यही मंत्रनय या मंत्रयान कालक्रम से विभिन्न बौद्धतांत्रिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति का कारण बना।[33]

बौद्धों में सर्वप्रथम तंत्र का सूत्रपात किसने किया था यह विवादास्पद है साथ ही और एक विवाद है कि तंत्र मूलत: बौद्धों से आया था हिंदुओं से। विद्वानों के अनुसार बौद्धों के उद्भव के भी बहुत पहले भारत में तंत्र का प्रचलन था। यहाँ तक कि अथर्ववेद में भी तांत्रिक आचार देखे जा सकते हैं।

सहजयान नाम से किसी भी तंत्रयान में कोई भी मौलिक शास्त्र उपलब्ध नहीं होता। प्रत्येक यान को सहजसिद्ध बताने के लिए सहजयान नाम का प्रयोग हुआ होगा तंत्र के सभी सम्प्रदायों का लक्ष्य एक ही है- अविचलित मन:स्थिति, प्रशांति और अक्षय, सुख लाभ जिसे कुल

मिलाकर बोधिचित्त कहा गया है। उनका दार्शनिक मत भी प्राय: एक ही है जिनमें सांसारिक नश्वरता एवं ऐहिक सुखों के त्याग की बात की गई। इसके द्वारा मन में आत्मपरिचय का भाव एवं अविचलित सुखों का उदय होता है। सच पूछें तो इस प्रकार मन को निर्लिप्त रखना अत्यंत कठिन है। वज्रसिद्धि प्राप्त करने वाले महासिद्धों के मन में भी संशय, भय, लोभ, क्रोध, आशा आदि विकार हो सकते हैं उसी समय साधक का मन अस्थिर हो जाता है।[34]

इसके समर्थन में डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने धर्मवीर भारती के मत को उद्धृत कर कहा है कि ''.... अनुत्तर में आस्था रखने वाले सिद्ध अन्य पद्धतियों का तिरस्कार नहीं करते थे। केवल वे सहज स्वभाव की साधना करनेवाले के लिए मंत्र-तंत्र आदि का कोई महत्त्व नहीं मानते थे। इसलिए वे सहज पर अधिक बल देते थे। इस प्रकार सहजयान को वज्रयान से अलग कोई शाखा मानना अथवा सहजयान को वज्रयान के अंतर्गत कोई स्वतंत्र शाखा मानना अथवा सहज साधना में देवता, मंत्र, तंत्र योग, मैथुन तथा अतिचार्य का अभाव मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि वज्रयान, मंत्रयान, तंत्रयान आदि नामों का तंत्र बौद्ध तांत्रिक ग्रंथों में तो प्रचुर प्रयोग है किंतु एक सम्प्रदाय के रूप में सहजयान आदि नाम का प्रयोग नहीं मिलता है।''[35]

तांत्रिक बौद्ध साधना के विद्वानों ने सामान्यतया उक्त चार विभाजन ही स्वीकार किए हैं, किंतु काजी दवासुम डुप ने चक्रसम्भार तंत्र की भूमिका में क्रिया, चर्या, योग, अनुत्तरयोग और अतियोगतंत्रयान नामक वर्गों में विभाजन किया है। काजी महोदय ने किस स्रोत के आधार पर यह विभाजन किया उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने इस विभाजन पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा है-

"It is not however, known on what authority this classification was based; and there is little hope of knowing it, as the reverend Kaji Saheb is now decased. It is to be painted out in this connexion that this elaborate

104409 DATE

system of classification was unkown in India, where only the Kriyatantra, Charyatantra, Yogatantra, Anuttarayogatantra were known.[36]

शैव, वैष्णव इत्यादि धर्ममतों के नामानुसार शैवतंत्र, बौद्धतंत्र इत्यादि नाम प्रचलित हो गए। बौद्ध धर्म में तंत्र के प्रवर्तक का निर्णय करना कठिन है। अनेक लोग तो बुद्ध को ही तंत्र का प्रवर्तक मानते हैं। दूसरे मत के अनुसार असंग ही बौद्धतंत्र के प्रवर्तक हैं। कतिपय विद्वान नागार्जुन (दूसरी सदी) को ही तंत्र का प्रणेता मानते हैं। असंगत कृत 'महायान सूत्रालंकार' में परावृत्ति नामक तांत्रिक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है। इसी से असंग का तंत्र के प्रति झुकाव का स्पष्ट पता चलता है। असंग ने अपने मत को योगाचार मत कहा है पर यह तांत्रिक आचार प्रतीत होता है। अत: यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि असंग ने ही बौद्ध धर्म में तंत्र का बीजवपन किया था।[37]

आज नागार्जुन के नाम पर जो 'सिद्ध नागार्जुन कक्षपुट' नामक ग्रंथ उपलब्ध है उसे देखकर यह सहज संदेह होता है कि यह आर्य नागार्जुन द्वारा रचित है भी या किसी अन्य नागार्जुन की रचना है। इस ग्रंथ में कहीं भी बौद्ध देवताओं का उल्लेख या बौद्ध तंत्र के आचारों का उल्लेख नहीं मिलता।[38]

बौद्ध धर्म में संभवत: प्रथमत: धरणी मंत्रों द्वारा ही तांत्रिकता का सूत्रपात हुआ था। धरणी मंत्रों से मुद्रा उपादान के साथ, मंडल, अभिक्षेप एवं यौन-यौगिक-साधना-पद्धति भी प्रविष्ट हो गयी। उसी समय इसका नाम 'वज्रयान' पड़ा। यही वज्रयान बहुधा विभक्त है जैसे- क्रिया तंत्र, चर्यातंत्र, योगतंत्र, अनुत्तर तंत्र व महा अति तंत्र। तांत्रिक बौद्धधर्म को वज्रयान, कालचक्रयान, के रूप में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। दरअसल विभिन्न नाम होते हुए भी ये तत्त्वत: भिन्न सम्प्रदाय नहीं हैं। ये तंत्रयान के ही विविध मतवादों के नाम हैं।[39]

चर्यापदों के भाव एवं भाषा को समझने के लिए वज्रयान के अनुभागों को समझना भी आवश्यक हैं-

क्रियातंत्र : क्रियातंत्र के दो स्तर हैं निम्न या उच्च अथवा लौकिक या लोकोत्तर। प्रत्येक तंत्र में साधना एक निश्चित मानदण्ड का होता है परंतु उत्तरोत्तर उसमें अंतर समाप्त होता जाता है।

क्रियातंत्र का साधक प्रथमत: संकल्प ग्रहण करने के बाद गुरु का चयन करता है और स्वयं को समयीन (Pledge giver) घोषणा करता है। फिर स्नान, आचमनादि बहिर्शुद्धि के कर्म करने के बाद साधना शुरू करता है। यहाँ मूलत: तीन साधना पथों का उल्लेख किया गया है। (i) जप-ध्यान (ii) जपहीन ध्यान एवं (iii) सेवा द्वारा सिद्धि लाभ।

विद्वानों के अनुसार बौद्ध क्रियातंत्र एवं हिन्दू वैष्णवों के बीच में अधिक पार्थक्य नहीं है। जप को प्रधानता देने वाला क्रिया तंत्र मूलत: हिन्दू वैष्णवों के मत को ही पुष्ट करता है। बोधिसत्व की प्राप्ति और दास्यभाव की भक्ति में सविशेष अंतर नहीं है। क्रियातंत्र के साधकों का लक्ष्य अपने इष्ट देवता की भक्ति द्वारा अपने अस्तित्व को भूलकर इष्ट देव में ही विलीन होकर सुख की प्राप्ति करना है। निम्नक्रिया तंत्र बाह्याचार की पूजा पर आधृत है और उच्च क्रिया तंत्र हिन्दू धर्म के औपनिषदिक दर्शन के समकक्ष है।[40]

क्रिया तंत्र का चर्यापदों से संबंध :

क्रिया तंत्र में व्यवहृत प्राणायाम या श्वसन पद्धति का वर्णन 1,3,7,8,11 ,17,19,21,36,49 संख्यक गीतों में है। इस प्रणायाम के चार चरण हैं- पूरक -कुम्भक -रेचक -शून्य। बुद्धगुह्य भाष्यकृत वैरोचन तंत्र में इस क्रिया का उल्लेख मिलता है। श्वसन क्रिया द्वारा विकृत चिंताओं की

निवृत्ति करना ही इसका उद्देश्य है। ऊर्ध्व और अधो वायु को खींचकर नाभि में रोक कर मन को विकृत करने वाले तत्वों को ध्वंस कर शुभ अनुभूतियों को हृदय में भरा जाता है। अपने मन को देवता में स्थिर कर धीरे-धीरे वायु का रेचन किया जाता है। चर्या संख्या 3 में बिरुवापाद ने इस क्रिया का वर्णन किया है।[41]

चर्यातंत्र :

चर्यातंत्र एक उल्लेखनीय चरण होते हुए भी चर्यापदों का एक भी पद चर्यातंत्र के विषय में रचित नही हैं वहीं चर्यातंत्र न समझने पर योगाचार तंत्र और अन्य चर्यागीतों को समझा नहीं जा सकता। चर्यातंत्र के मूल ग्रंथ- महावैरोचन अभिसम्बोधी तंत्र और वज्रपाणि अभिषेक तंत्र हैं। चर्यातंत्र में तीन कुल हैं - तथागत, पद्म और वज्र। तथागत कुल के द्वारा आत्म तत्व का लोप होता है, पद्मकुल के द्वारा माया या विभ्रम का लोप होता है एवं वज्र कुल द्वारा हिंसा, द्वेष आदि का लोप होता है। चर्या संख्या-4 में इस पद्धति का उल्लेख इस प्रकार मिलता है- 'कमल कुलिश घाण्टे करहुँ बिआली।'

चर्यातंत्र की साधना दो रूपों मे की जा सकती है- (1) सन्निमित्त- यहाँ देवमूर्ति के माध्यम से ध्यानावस्थित होने का प्रयास किया जाता है। (2) अनिमित्त - यहाँ निराकार ब्रह्म या शून्य पर ध्यान लगाया जाता है।

क्रिया तंत्र में ईश्वर के लिए दास्यभाव होता है परंतु चर्यातंत्र में या तो सख्यभाव प्रदर्शित होता है नहीं तो 'अहम्ब्रह्मास्मि' भाव रखा जाता है। चर्यातंत्र का प्राणायाम क्रिया तंत्र की भाँति ही है केवल उच्च स्तरों में चाण्डाली प्राणायाम किया जाता है।[42]

योगाचार तंत्र :

चर्यागीतों में से अधिकांश गीतों में योगाचार तंत्र का निदर्शन मिलता है। मूलत: ये गीत योगाचारी साधकों द्वारा रचित है जिनमें अनुत्तर तंत्र के साधकों के मत का खंडन किया गया है। योगाचार तंत्र के नियमों एवं क्रियाओं की सूक्ष्म जानकारी न होने पर इन गीतों को समझना भी मुश्किल है। योगाचार तंत्र की उत्पत्ति, बौद्ध माध्यमिका का दर्शन से निकलकर आए हुए साधकों ने की। यही सम्प्रदाय चीन में 'चान' और जापान में 'जेन' नाम से प्रतिष्ठित है। शून्य की भावना ही इस तंत्र में परिव्याप्त है। माध्यमिका में शून्य आपेक्षिक (Relative) है और यहाँ संवृति। योगाचार तंत्र का विकास गौतम बुद्ध की मृत्यु के अनेक वर्ष बाद हुआ। यह आसंग, बुद्धगुह्य, शाक्यमित्र, आदि दार्शनिकों द्वारा प्रतिष्ठित है और वज्रशेखर, तत्वसंग्रह आदि इसके मूल ग्रंथ हैं। इनके मत के अनुसार- जगत नश्वर, परिवर्तनशील और आसार है। यहाँ व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है तो उसकी अनुभूति का अस्तित्व कहाँ से हो। इन्होंने शून्य या शून्यताबोध के सोलह आयाम प्रस्तुत किए हैं। अनुत्तर तंत्र में इन्हीं सोलह शून्यों को चार भागों में विभक्त किया है- शून्य, अतिशून्य, महाशून्य, प्रभास्वर शून्य या सर्वशून्य। भादेपाद ने चर्यासंख्या 35 में-

'पेखामि दह दिह सर्वइ शून। चिअ विहुन्ने न पाप न पुन्न।' कहा है इसका अर्थ यही है कि अपने चित्त का कोई भी प्रभाव न होने पर साधक को समस्त सृष्टि ही शून्य परिलक्षित होती है।[43]

अनुत्तर तंत्र :

अनुत्तर शब्द का अर्थ है जिससे कोई और श्रेष्ठ न हो या इसे अनुसरण या इसका मुकाबला कर पाने वाला कोई न हो। इन दोनों ही अर्थों को ध्येय मानकर अनुत्तर तंत्र के साधक स्वयं को बौद्ध तंत्र सम्प्रदायों में श्रेष्ठ घोषित करते हैं। बौद्ध तंत्र ग्रंथों में यह सम्प्रदाय कई अन्य नामों से भी अभिहित है। जैसे अनुत्तर योग तंत्र, महायोग तंत्र एवं अतियोगतंत्र। अत: यह सहज

ही अनुमेय है कि अनुत्तर तंत्र, योगाचार तंत्र के साथ 'विकर्षणेन' जड़ित है। महाअति तंत्र और अनुत्तर तंत्र में इतना सूक्ष्म अंतर है जिसे कि सामान्य लोग समझ नहीं सकते।

अनुत्तर तंत्र की जड़ बुद्ध पूर्व तंत्र में भी देखा जा सकता है। गौतमबुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद दस वर्षों में ही कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करने में अशक्त एक क्षुद्र समूह ने महासंघिका की ओट लेकर 'उत्तरपथी' नाम लिया। इन्होंने धार्मिक कार्य के नाम पर यौनाचार का आश्रय लिया। यह आर्य नागार्जुन के माध्यमिका दर्शन के आपेक्षिक शून्यतावाद पर आधारित है और यही संप्रदाय अबोधगम्य 'वज्रयान' के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। अन्य बौद्ध सम्प्रदाय जहाँ कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करता है वहीं अनुत्तर तंत्र साधना संगिनी को साथ रखकर 'प्रज्ञोपाय' भाव से साधना करने का समर्थन करता था। ये स्वयं को 'एकाभिप्पायी' या एकाभिप्रायी कहते थे। इनके अनुसार 'हमारा एक ही अभिप्राय है, लक्ष्य है अत: हम एकत्रित रूप से रहकर साधना करेंगे।' इसी से इस तंत्र को मातृतंत्र कहा गया है। चर्या संख्या 28, 33 और 50 में योगाचारी तांत्रिकों ने अनुत्तर तंत्र के साधकों का परिहास किया है।[44]

सिद्धों का परिचय :

'तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धा:'

'उद्वेलिता वृष्टिभिराश्रयंते शृंगाणियस्यातपवंति सिद्धा:'[45]

अपने कथन या मत की पुष्टि में इन्द्रियग्राह्य प्रमाण दे पाने में समर्थ व्यक्ति सिद्ध कहलाता है। अतीन्द्रिय शक्ति का स्वामी ही सिद्ध कहलाता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''साधारणत: जागतिक द्वन्द्वों से अतीत, मानापमान-विवर्जित, पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों,

सहजयानियों और योगियों का है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तांत्रिक मतों में 'अवधूती वृत्ति' नामक एक विशेष प्रकार की यौगिक वृत्ति का उल्लेख मिलता है।[46]

आठवीं शताब्दी के बाद से नालंदा, विक्रमशिला, ओदंतपुरी आदि विद्यायतनों में जो बौद्धधर्म प्रचलित हुआ वह एक नवीन ढंग का तांत्रिक और योगक्रिया मूलक धर्म था। इस नवीन तांत्रिक मत में तीन प्रधान मतों का संधान पाया जाता है-

सहजयान, वज्रयान और कालचक्रयान। इन मतों की अधिकांश पुस्तकें आज तिब्बती अनुवाद के रूप में ही सुरक्षित हैं।..... शास्त्रीजी ने जो चर्यापद प्रकाशित कराए हैं उनमें आर्यदेव, भूसुक, कान्ह, सरह, लुई आदि आचार्यों के पद हैं, जिन्हें तिब्बती साहित्य में सिद्धाचार्य कहा गया है। ये आचार्यगण सहजावस्था की प्राप्ति करते हैं। बुद्धत्व को प्राप्त करने के बाद के ही साधक अवधूत होता है। कान्ह सहज-रूप पद्मवनों में प्रवेश करके मधुपान से मत्त होने की बात करते हैं-

कान्ह विलसअ आसव माता।

सहज नलिनीवन पइसि निविता ॥ चर्या 9-4

वे कहते हैं कि यदि तुम्हारा चित्त 'सहज-शून्य' से परिपूर्ण हो गया हो तो पंच स्कंधों या संस्कारों से भ्रष्ट होने की चिंता मत करो -

चिअ सहजे-सुन्न-संपुन्न।

काँध बियोए मा होहि विसन्ना॥ 42-2 चर्या

इसी प्रकार भूसुकपाद (काँध बियोए मा होहि विसन्ना) सहजानंद-लीला से ही मिलन का रहस्य समझ सकने की घोषणा करते हैं-

भूसुक भनइ मइ बूझिअ मेलैं।

सहजानंद महासुह लीलें॥ 27-10 चर्या

सरहपाद कहते हैं कि ऐ नाविक, चित्त स्थिर कर नदी के किनारे अपनी नैया चलाए जा, रस्सी से खींचता चल दूसरा उपाय नहीं है-

चीअ थिर करि धरहु रे नाही।

आन उपाये पार णजाइ॥

बाही नौका टाणअ गुणे।

मेलि-मेल सहजैं जाउ ण आणे॥ 38-4 चर्या

..... ये लोग बाह्य अनुष्ठानों में एकदम विश्वास नहीं करते थे; ब्राह्मण याज्ञिक, त्रिदंडी, जटाधारी और क्षपणक आदि सभी का उपहास करते थे। और किसी प्रकार की पूजा-अर्चा में विश्वास नहीं करते थे। वे कहते हैं भला ध्यान-धारणा से, पूजोपचार से और शास्त्रपाठ से कहीं मुक्ति होती है?

मोक्ख की लब्भइ ज्झानपविट्ठा।

किन्तह किज्जइ किन्तह णिवेज्जं

किन्तह किज्जइ किन्तह सेव्वं॥

इसलिए सरपाद ने अपने चित्त को संबोधित करके कहा है कि 'ऐ मेरे चित्त, वहाँ चलकर विश्राम करो जहाँ सूर्य और चंद्र की भी गति नहीं, जहाँ मन और पवन भी संचरित नहीं होते; जहाँ आदि भी नहीं, अंत भी नहीं; मध्य भी नहीं; जन्म भी नहीं, मरण भी नहीं; अपना भी नहीं; पराया भी नहीं- जो महासुख है, जो सहजावस्था है-

जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि नाह पवेश।

तहि वट चित्त विशाम करु सरहें कहिअ उवेश॥

आइ न अंत न मज्झ णउ, णउ भव, णउ णिव्वाण।

एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण॥[47]

शंकराचार्य द्वारा विरचित निर्वाणषटक स्तोत्र में 'शिवत्वबोध' की जो व्याख्या की गई है उसके साथ बौद्धों की 'सहजानंद वृत्ति' का साम्य है।

मनोबुद्धध्यहंकार चित्तानि नाहम्

न च श्रोत्र जिह्वे न च घ्राण नेत्रे।

न च व्योमभूमिरन तेजो न वायु:

शिवानंद रूप: शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥ १ ॥[48]

समस्त तत्त्वों से परे होने पर ही इस आनंदघन शिवत्वबोध की स्थिति तक पहुँचा जा सकता है यही निर्वाषट्क की घोषणा है। यह भाव औपनिषदिक दर्शन एवं बौद्ध शून्यवाद के निकट है।

इन सिद्ध कवियों की परम्परा सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक मानी जाती है। जैसे कहा जा चुका है कि वज्रयान में शून्यवाद प्रमुख तत्त्व है, जिसमें शून्य विज्ञान और महासुख की कल्पना की गई। वज्र शून्यता का भौतिक प्रतीक है। योगियों के लिए वे सभी कार्य क्षम्य माने जाते हैं जिनमें निरत होने से साधारण जन नरकगामी होते हैं। तत्पश्चात् उन्होंने तीनों लोकों को अपने आनंद के लिए ही उत्पन्न हुआ बताया। मंत्रों की आश्चर्यमयी शक्ति में विश्वास बढ़ा और उन्हें गुप्त तथा रहस्यमय रूप प्रदान किया गया। वज्रयानी सर्ववाद की भावना में विश्वास रखता है। वे देवमूर्ति, इंद्रिय और यहाँ तक कि ज्ञान-सम्पन्न शरीर और बाह्य जगत की वस्तुओं, को भी असत्य मानते हैं। केवल बोधिचित्त का अस्तित्व ही सत्य है। अनेक उद्देश्यों के लिए शून्य का आह्वान किया जाता है और ध्यान किए गए बीजमंत्रों के अनुसार साधक भी देवस्वरूप हो जाता है। इस साधन मार्ग में अनेक सिद्धियों की प्राप्ति भी साधकों का उद्देश्य हो गया था। सिद्धि प्राप्त साधक 'सिद्ध पद' को पहुँच जाता है। सिद्धियों के अतिरिक्त वज्रयानी साधक अन्य असाधारण

शक्तियों-शांति, वशीकरण आदि-की प्राप्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहता था। आगे अनेक आचार इस सम्प्रदाय में आ गए। पंच मकारादि- मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा और मैथुन को किसी न किसी प्रकार उचित बताकर प्रतिष्ठित किया गया। इन सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है। राहुल सांकृत्यायन तथा 'वर्ण रत्नाकर' (रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता, 1940) के आधार पर इनकी संख्या चौरासी है। यह एक तिब्बती परम्परा है और नामों में भेद भी मिलते हैं। भिक्षु अदत्तश्री के शिष्य भिक्षु स्मोन् डुब शेस् रब् ने चौरासी सिद्धों की जीवनियाँ तिब्बती में लिखी थी।[49] उसके आधार पर सिद्धों के नाम इस प्रकार हैं -

लुहिपा, लीलापा, विरूपा, डोम्बिपा, शबरपा, सरहपा, कंकारिपा, मीनपा, गोरक्ष, चौरंगीपा, वीणापा, शांतिपा, तन्तिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कृष्णपा, आर्यदेव, शकनपा, नरोपा, श्यालिपा, तिल्लिपा, चत्रपा, भद्रपा, धुखन्तिपा, अयोगीपा, कल-कलपा, धोबीपा, कंकनपा, कम्बलपा, डिंगिपा, भद्देपा, तन्देपा, कुकुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महिपा, अचिन्तपा, भवहिपा, नलिपा, भुसुकपा, इन्द्रभूति, मेकोपा, कुदालिपा, कमरिपा, जालन्धरपा, राहुलपा, धर्मपा, धोकरिपा, मेधिनपा, पंकजपा, घंटपा, जोकिपा, चालुकिपा, गोधुरिपा, लुचिकपा, नगुणपा, जयानंद, पचरिपा, चम्पकपा, भिखनपा, घिलिपा, कम्भरिपा, चपरिपा, योगिनी मणिभद्रा, योगिनी कनखला, कलकलपा, कन्तलिपा, धगुलिपा, उडलिपा, कपलिपा, करिपालपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधि, दारिकपा, पतलिपा, पनहपा, कोकिलपा, अनंगपा, योगिनी लक्ष्मींकरा, समुद्रपा, व्यालिपा।

इनमें से अनेक सिद्धों की कृतियाँ भी उपलब्ध हैं। राहुलजी के अनुसार इन कवियों में सर्वप्रथम सरहपा हैं और उनका जीवित काल आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और नौवीं शताब्दी का पूर्वाद्ध माना जाता है।[50] परंतु तिब्बती परम्परा के अनुसार लुइपा प्रथम सिद्ध थे इसी कारण चर्यापदों में सर्वप्रथम इन्हीं की चर्या रखी गई है और सिद्धों की जीवनियों में इनकी जीवनी ही प्रथम है। इन सिद्धों का कालक्रमानुसार गुरु-शिष्य-संबंध नहीं था। बल्कि जिस व्यक्ति को सिद्धि

मिली वही सिद्ध कहलाया। आगे चलकर भक्तिकाल में कबीर ने इनके आचारों को लेकर इनकी कटु आलोचना की है, तो भी वे उनकी शब्दावली और सांकेतिक भाषा, अक्खड़पन और वैराग्य भावना आदि ग्रहण किए बिना न रह सके। सिद्ध कवियों ने संभवत: प्रत्यक्षत: सामाजिक विद्रोह की भावना को उजागर किया यही भावना आगे चलकर संत कवियों में पाई जाती थी। उन्होंने धर्म के नाम पर चल रहे बाह्यिकता और रूढ़िबद्धता का विरोध किया। संत होने के कारण इंद्रिय संयम के वे पक्षपाती अवश्य ही रहे। उन्होंने जीवन के सहज और नैसर्गिक प्रणाली को ही महत्व दिया इसी से वे सहजयानी कहलाए। वे भोगों को त्याज्य नहीं मानते थे परंतु उनमें लिप्त रहकर चित्त को कलुषित करने से बचने का उपदेश देते थे। उन्होंने मन को मुक्त करने को अपना परम कर्तव्य बताया। उन्मुक्त मन ही सबसे बड़ी साधना का परिणाम है। हिन्दू तांत्रिकों में भी इसी प्रकार की भावना सहजत: दृष्टिगोचर होती है-

यत्र अस्ति भोग: न च तत्र मोक्ष: यत्र अस्तिभोग: न च तत्र मोक्षो

श्रीसुन्दरीसाधन तत्परानाम् भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

तांत्रिक पद्धति में चर्यापद :

गौतम बुद्ध ने जब अपने धर्म का प्रचार किया था तब उन्होंने यही मूलभूत उपदेश दिया था कि - इस संसार में किसी भी वस्तु की कामना करना ही दु:ख कारक है, उसे पाने की कोशिश भी क्लेशकर है, यदि उसकी प्राप्ति हो जाए तो सामायिक रूप में आनंद अवश्य मिलता है। यह प्राप्ति का आनंद अस्थायी है एवं उसे खोने पर फिर दुख मिलता है। समस्त दुखों की जड़, इच्छा है। इसी इच्छा के चलते जीव पुनर्जन्म लेता है। अत: समस्त इच्छाओं का त्याग ही जन्ममृत्यु के बंधन से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है। यदि व्यक्ति किसी भी वस्तु को अपना न समझे तभी

इच्छा का त्याग संभव है। (जासु णाहि अप्पा तासु परेला काहि- चर्या 43) यहाँ तक कि अपना अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। इसी भाव को 'अनात्ता' (अनात्म) कहते हैं। कालांतर में अनात्म भाव ने ही नैरात्म देवी का स्थूल रूप अधिग्रहण किया। [51]

गौतम बुद्ध ने केवल मौखिक रूप से उपदेश दिए थे। उनके महापरिनिर्वाण के बाद उनके प्रधान शिष्यों, खासकर आनंद, उपालि व महाकाश्यप ने अपनी स्मृति, अनुभव एवं अन्य श्रमणों के मुख से सुनी बातों को लिपिबद्ध किया। बुद्ध के जीवनकाल में ही देवदत्त के नेतृत्व में कुछ लोगों ने बुद्ध के कथनों में सामंजस्य न होने का आरोप लगाया था। गौतम बुद्ध की मृत्यु के बाद प्राय: पाँच सौ शिष्यों ने, ज्येष्ठ श्रमण पुराणा ने गाभामपति द्वारा लिखित 'अनुशासन' के साथ अपना अनुभव न मिलने की घोषणा की।[52]

दरअसल सिद्धार्थ द्वारा बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्ति की बात की जाती है परंतु सत्य तो यह है कि आयु के बढ़ने के साथ-साथ बुद्ध के विचारों में भी परिपक्क्वता आती गई। इसी के साथ वे अपने मौलिक दर्शन एवं अनात्म या निर्लिप्त रहने के उपायों की व्याख्या विभिन्न तरीकों से करने लगे। उनके शिष्यों ने इसे अपनी समझ के अनुसार लिख डाला।[53]

बुद्ध के समक्ष जिन लोगों ने स्वयं को सिद्धि प्राप्त बताया, उन्हें बुद्ध ने यही उपदेश दिया कि अपना निर्वाण लाभ ही साधक का एकमात्र लक्ष्य नहीं होना चाहिए बल्कि सभी के लिए मन में करुणा का भाव होना भी वांछनीय है। यही 'लंकावर्तसूत्र' का मूलभूत कथ्य है और इसी को आधार मानकर महायान बौद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा हुई थी। उनके अनुसार दूसरों को क्षति पहुँचाए बिना पालन किए जाने वाला प्रत्येक धर्म पथ ही शुद्ध है। महायानियों के अनुसार यह 'सद्धर्मपुण्डरीक' (पद्मसूत्र) का उद्देश्य है। इसी के फलस्वरूप बौद्ध धर्म में यौनाचार का प्रवेश हुआ।

बौद्ध-तंत्र दर्शन के साथ बुद्ध द्वारा प्रचारित धर्म का कोई सादृश्य नहीं था। यहाँ तक कि तंत्र शास्त्रों में गौतम बुद्ध के नाम के स्थान पर शाक्यमुनि या बुद्ध तथागत नाम का प्रयोग अधिक हुआ। है। विभिन्न काल्पनिक बोधिसत्वों को बुद्ध के समान ही महत्त्व दिया जाने लगा। यहाँ तक कि बुद्ध के पुत्र राहुल को भी उनका मानस पुत्र कहकर उनको भी तथागत के समान ही महत्त्व दिया जाने लगा। बौद्ध तंत्र के दर्शन को बिना समझे चर्यागीतों को समझना संभव नहीं है।[54]।

बौद्ध-तंत्र, शाक्त-तंत्र और शैव-तंत्र में अंतर है। शाक्त-तंत्र में व्यवहृत मद्य, मांस, मैथुन, एकाध सम्प्रदायों को छोड़कर अन्य सम्प्रदायों में निषिद्ध है। शैव-तंत्र का भांग, गाँजा, आदि भी बौद्धों में निषिद्ध है। तांत्रिकता के लक्ष्य में भी बौद्ध एवं हिन्दू तंत्रों में भेद है।[55]

बौद्ध तंत्र में उच्च मार्ग के साधक कुलकुण्डलिनी के जागरण की चेष्टा करता है। ऐसे तंत्र को कौलिण या कुलिण तंत्र कहते हैं-

'अंते कुलिण जण माझें कावाली' **(चर्या नं- 18)**

चर्या सं-13 की व्याख्या में अष्टमहासिद्धियों के बारे में कहा गया है। बौद्ध तंत्रों में अणिमादि अष्ट सिद्धियों को 'गौण सिद्धि' कहा गया है। श्री समाज या गुह्यसमाज तंत्र में अष्ट सिद्धियों की उपेक्षा करने वाले साधक को ही 'रत्न सदृश व्यक्तित्व' कहा गया है। चर्या सं. 13 में कृष्णपाद ने 'ति शरण णावी किअ अठकमारी' अर्थात् त्रिशरण यान के होते हुए अष्टसिद्धियों की आकांक्षा क्यों की जाए? चर्या संख्या 22 में सरहपाद ने 'जा एथु जाम मरणे वि सङ्का। सो करओ रस रसानेरे कंखा।' अर्थात्, जो जन्म मरण के भय से शंकाग्रस्त है वही अमरत्व और चिर यौवन दायक रस रसायन की सिद्धि की आकांक्षा करता है।[56]

बौद्ध तंत्रों में भी भौतिक सुखों की सिद्धि के आयाम विद्यमान हैं। मूलत: बौद्ध तंत्र द्विधा विभक्त है- लौकिक एवं लोकोत्तर। लौकिक तंत्र के द्वारा साधक भौतिक उन्नति कर सकता है।

यह पौष्टिक तंत्र के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे पाँच प्रकार के तंत्र हैं जिन्हें समष्टिगत रूप से 'पंचककुल' तंत्र कहते हैं। मणिकुल तंत्र (मणिकुले बहिआ उड़ियाणे समाअ, चर्या-4) शब्द को मुनिदत्त एवं परवर्ती विद्वानों ने गलती से 'मणिमूल तंत्र' लिखा। ऐसे तंत्रों को द्युतक्रीड़ा तंत्र भी कहते हैं। ऐसे तंत्रों में उच्च मार्ग के साधकों को भौतिकता से दूर रहने का उपदेश दिया है साथ ही भौतिकता से दूर होने के उपाय स्वरूप चाण्डाली प्राणायाम करने को कहा है (गअबरें तोलिआ पांचजणा घोलिउ-चर्या-12)[57]

बौद्धपूर्व तांत्रिक विश्वास

मनुष्य ने जब पाशव-प्रवृत्तियों को छोड़कर सभ्य मननशील समाज गठित कर रहना सीखा तभी से उसके मनस् में इस अखिल ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता और नियंता के विषय में प्रश्न उत्थापित हो रहा है। इसके पूर्व भी मानव ने अपने आखेटक जीवन की बेलिका में सदैव ही संहारक शक्तियों के सामने झुकना सीखा। उसने अपनी बुद्धि चातुर्य से जिस उपकरण को वशीकृत किया वही उपयोगी सिद्ध हुआ। तथापि उसे वनज दावाग्नि की दाहकता, नद्यधार में आई बाढ़ के प्रचण्ड वेग, आकाश में घुमड़ते कृष्ण मेघ खंडों के बीच त्वरित गति से चमत्कृत दामिनी, तृण तक को उखाड़कर ले जाने वाले वायु वेग ने सदैव उसके हृत्तंत्रियों को भी प्रकम्पित किया हो। समाज में बसने के बाद मानव ने सूर्य, चंद्र के साथ इन ध्वंसात्मक शक्तियों के प्रति भयमिश्रित भक्ति से पूजा अर्चना करना शुरू कर दिया। इसी से जीववाद या आत्मवाद (Animism)[58] का आरंभ हुआ। कुल मिलाकर इस विषय में नृतत्त्ववेत्ताओं ने अपना एकमत प्रस्तुत किया है।

बौद्धपूर्व तंत्र की अवधारणा :

यजुर्वेद में अनेक कर्मकांडों का सन्निवेश हुआ है। ऋग्वैदिक युग में मंत्रद्रष्टा ऋत्विकों ने देवताओं से दया, ममत्व, ऐश्वर्य आदि प्राप्त कर आशीष धन्य होने के लिए देवताओं को हवि का भाग दिया था। परंतु यजुर्वेदिक मनीषियों ने ईश्वर को हविर्भुक इसलिए बनाया जिससे कि वह विवश होकर यजमान के मनस्थ इच्छाओं की पूर्ति करें।[59]

इन कर्मकांडों को फलप्रसू और लाभप्रद बताया जाने लगा तो लोकमानस में उसकी छाप पड़ना अनिवार्य है। इसी से ईश्वर मीमांसक ऋचाओं में रहस्यवाद भी सन्निविष्ट होता गया। अथर्ववेद में समस्त आर्य और आर्येतर विश्वासों को संकलित किया गया।[60] मनुष्य ने इन्हीं उर्जस्वित शक्तियों को अजस्त्र शक्ति का पुंज माना और अदृश्य देवता द्वारा उसकी प्रार्थना स्वीकृत होने के चिह्न दिखाए। वेदों में '**निर्णावचांसी**' शब्द आया है अर्थात् प्रत्येक वैदिक ऋचाओं में मूल अर्थ का सम्यक रूप से दोहन करना पड़ता है। बाद में मनुष्य के मन में इन शक्तियों में निहित रहस्यों का अन्वेषण करने की उद्दाम लालसा ने विविध उपासना मार्गों को जन्म दिया। वेदों में ही अभिचार, टोना-टोटका, पुष्टिकर्म और मारणादि षट-कर्मों के मंत्र संकलित हैं। आरोग्य लाभ, कुष्ठरोग निरामय, पीलिया, जलोदर आदि से परित्राण पाने के मंत्र भी वेदों में पाए जाते हैं।[61] दानवों के दलन, शत्रुओं पर विजय प्राप्ति और राज्य के कल्याण के मंत्र वेदों के विविध मंडलों में लिपिबद्ध हैं। 'ब्राह्मणों' में समस्त जगत् को ही कर्मकांडों का फल माना है। 'वृहदारण्यक उपनिषद' में स्त्री को यज्ञ का प्रतीक माना है। उसका अंक यज्ञवेदी, उसके केश कुश के समान है उसका चर्म सोम है। उससे संभोग साक्षात यज्ञ है।

घोषा वा अग्निगौतम। तस्या उपस्थ एवं समित्, लोमानि धूमो। योनिरर्चि:। यदन्त: करोति तेहंगारा, अभिनन्दा विस्फुलिंगा:। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुष: संभवति। स जीवति यावज्जीवत। अथ यदा म्रियते।[62]

छांदोग्य उपनिषद में भी स्त्री को यज्ञीय अग्नि और उससे उत्पन्न शक्ति को यज्ञीय हवि माना है–

उपमन्त्रयते स हिङ्कारो ज्ञपयते स प्रस्ताव : स्त्रिया सह शेते स उद्गीथ: प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहार : कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद् वामदेव्यम् मिथुने प्रोतम्।[63]

कौशितकी उपनिषद के अनुसार यज्ञ पाप को दूरिभूत करने, समृद्धि लाने, आयुवर्धन एवं स्त्री या पुरुष के वशीकरण के लिए किये जाते हैं। यहाँ वशीकरण एक उपाय दिया है जो इस प्रकार है–

अथातो दैव: स्मर: –यस्य प्रियो बुभुषेद् यस्यै वा एषां वै तेषाम् एकैवस्मिन् पर्वण्यग्निम् उपासमाधाय एतया एवावृतैता आज्यहूती र्जु होति। वाचं ते भयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्राणां ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्रज्ञां ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा इति। अथ धूमगंधं प्रजिघ्राय आज्यलेपेन अंगानि अनुविमृज्य वाचं यम: अभिप्रव्रज्य संस्पर्श जिगमेषद् अपि वाताद्धा संभाषमानस्तिष्ठेत्। प्रियो हैव भवति स्मरन्ति हैवस्य॥ 4॥[64]

उपुर्यक्त तथ्यों से हमें बौद्धपूर्व आर्य एवं अनार्य विश्वासों का ज्ञान होता है।

बौद्ध धार्मिक विश्वास :

षष्ठ एवं पंचम ई.पू. में जब गौतम बुद्ध ने धर्म प्रचार करना शुरू किया था, उस समय समस्त भारतीय मनीषा इन्हीं रहस्यपरक वैदिक कर्मकांडों में डूबा हुआ था। इन समस्त यज्ञीय क्रिया–कलापों में विविध पशुओं के बलिदान का भी विधान था और रूढ़िवादी ब्राह्मण्य धर्म के अनुगामी इसका पूर्ण समर्थन करते थे।[65]

जातिप्रथा और ब्राह्मणों द्वारा अपने धर्म में ईश्वरत्व के आरोपण की लालसा अपनी चरम सीमा में पहुँच चुका था। गौतम बुद्ध ने इन्हीं धार्मिक सामाजिक नियमों को तोड़ा और लोगों को सही मार्ग दिखाने का प्रयास किया। ऐसा माना जाता है कि स्वयं बुद्ध ने कई 'बिज्जों' और 'तिरच्छानों' को घृणित और अनर्थक बताया था।[66]

यह सर्वविदित है कि बुद्ध और उनके शिष्य इस प्रकार के अंधविश्वासों का खंडन किया था। परन्तु परवर्ती बौद्ध साधकों ने बुद्ध को ही रहस्यवादी आवरण में घेर लिया था।[67]

'महासंघिकाओं' ने बुद्ध व बोधिसत्त्वों को अतिमानवीय अलौकिक गुणों से परिपूर्ण माना था।[68] महावास्तु ग्रंथ को अपना विनय-पिटक मानने वाले लोकोत्तरवादियों ने भी बुद्ध को अतिमानवीय गुणों से अलंकृत करने का प्रयास करते हुए बताया कि उन्हें न भूख सताती थी न प्यास। साथ ही वे उन समस्त स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्तियों से भी दूर थे जिससे हरेक व्यक्ति बँधा हुआ रहता है।[69] महावास्तु ग्रंथ में बुद्ध को लोकोत्तर और अलौकिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा मिली। केवल 'लोकानुवर्तन' या मानवीय धर्मों को निभाने के लिए ही बुद्ध एक सामान्य मानव जैसा व्यवहार करते थे।[70]

सायलोन में प्राप्त 'दाठा धातु वंश क्षेम थेर' के अनुसार कलिंग के राजा ब्रह्मदत्त को बुद्ध के अवशेष दिए गए थे जिसे उन्होंने दंतपुरा में एक विशाल स्तूप बनाकर रखा था।[71] ऐसा माना जाता है कि दंतपुरा में संरक्षित बुद्ध के दाँत में पारलौकिक शक्ति है। उसी के प्रभाव से पाटलीपुत्र के राजा पांडू तीसरी सदी ई.पू. में बौद्ध बन गए थे। इन तथ्यों से यह पता चलता है कि बौद्ध धर्म के आरंभिक दिनों में भी बुद्ध एक अलौकिक क्षमता सम्पन्न व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित थे।[72]

सर्वविदित्त है कि स्वयं बुद्ध ने ही ईश्वरवाद का खंडन किया था। परन्तु कालान्तर में बुद्ध स्वयं ही एक सशक्त देवता माने जाने लगे और उनके साथ असंख्य अन्य छोटे-बड़े देवताओं का

समावेश हो गया। मात्र इतना ही नहीं इन देवताओं की बुद्ध के समानांतर पूजा भी होने लगी। इसी के साथ कई अन्य गुह्य साधनाएँ भी विकसित होती गईं। सात्त्विक बौद्ध धर्म में तामसिक कर्मकांडों का प्रचलन आरंभ हो गया। कतिपय विद्वानों के अनुसार बुद्ध एक अनुभवी संगठक थे। समाज में अपने धर्म का प्रभुत्व बढ़ाने के लिए उन्होंने स्वयं ही अपने धर्म में अलौकिक कर्मकांडों की शुरुआत की थी।[73]

विद्वानों में इस भ्रमात्मक विचार का विकास कतिपय बौद्ध वाङ्मयों में सन्निविष्ट प्रक्षिप्तगंधी कथाओं के कारण हुई है। बुद्ध के देहावसान के बाद स्मृति के आधार पर उनके उपदेशों का संकलन किया गया इसी के चलते सद्धर्म में कई संदिग्ध अंश भी प्रविष्ट हो गए। उदाहरणार्थ- विनय-पिटक के अनुसार बुद्ध ने अपने शिष्य भरद्वाज के चमत्कारी कृत्यों का खंडन किया था।[74]

'दीघ निकाय' के अनुसार बुद्ध को इन चमत्कारी कार्यों की प्रविष्टी के चलते अपने धर्म में मँडराने वाले आसन्न विपदाओं का पूर्वानुमान था। इसी कारण उन्होंने अपने शिष्यों के मन में इस प्रकार के कृत्यों के प्रति अनास्था और तिरस्कार का विकास किया।[75]

विद्वानों के अनुसार बुद्ध के निषेध के बाद भी अनेक शिष्यों ने जादुई चमत्कारों का अभ्यास जारी रखा। इन चामत्कारिक कृत्यों के प्रति अपनी दुर्बलता के कारण इन शिष्यों ने बुद्ध को ही इन कर्मकांडों के प्रवर्तक रूप में प्रतिष्ठित करने की आप्राण चेष्टा की। उन्होंने विविध कथाओं में बुद्ध को ही इन विद्याओं में निपुण दिखाया है।

'ब्रह्म निमन्तनिका सूत्तांत' के अनुसार बुद्ध एक बार ऋद्धियों की शक्ति का प्रयोग कर अदृश्य हो गए थे जिससे ब्रह्मा एवं उनके पार्षदों को केवल बुद्ध की आवाज ही सुनाई पड़ रही थी।[76]

दीघ निकाय के 'समाचफल सूत्त' में कई ऋद्धियों का वर्णन है। इसी पुस्तक के 'केवट्ट सूत्त' में 'गांधारी विद्या' का उल्लेख मिलता है जिसकी सिद्धि होने पर साधक स्वयमेव ही अन्यान्य ऋद्धियों का स्वामी बन जाता है। इस ग्रंथ में बुद्ध द्वारा गांधारी विद्या के प्रयोग से ऋद्धियों को भी नीचा दिखाने की कथा का वर्णन है।[77]

बौद्धों में यह विश्वास है कि बुद्ध ने कई जन्म लिए थे। इन जन्मों में बुद्ध द्वारा की गई सिद्धियों के कारण ही उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई है। बौद्धों का मानना है कि बुद्ध द्वारा की गई सिद्धियों को प्राप्त करने पर कोई भी साधक बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है इसी विश्वास के चलते बौद्धों में रहस्य साधना ने जोर पकड़ा और महायानी शाखा में कई तांत्रिक कर्मकांडों का अभ्यास आरंभ हो गया। प्रत्येक व्यक्ति को अपने यान में सवार कराकर निर्वाण दिलाने का दावा करने वाली महायानी शाखा में कई तांत्रिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। बौद्ध भिक्षुओं ने रहस्यवादी साधना पद्धति को सर्वजन सुलभ बनाने का प्रयास किया और अपने चामत्कारिक कृत्यों द्वारा सामाजिकों में अपना प्रभाव फैलाना शुरू कर दिया। इस क्रम में सिद्धाचार्यों ने समाज के एक वृहद भाग में अपना प्रभुत्व जमा लिया।

जिस समय 'जातक' और 'अवदान' साहित्यों ने निकृष्ट प्राणियों द्वारा भी बुद्धत्व प्राप्ति की घोषणा की उस समय हीनयान के विविध सम्प्रदायों में साधक बुद्धत्व प्राप्ति के लिए तत्पर हो गए। जातक साहित्य में पशुओं को भी बौद्ध आदर्शों का पालन करने के कारण बोधि प्राप्ति करते दिखाया गया है। बौद्ध साहित्य के अनुसार बोधिसत्व स्तर बोधि और निर्वाण का सजीव रूप है। परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो बोधिसत्व एक जीवित व्यक्ति है जो भविष्य में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध बन जाता है।[78]

श्रावस्तीवादी श्रमण भी बोधिसत्व भाव पर विश्वास रखते हैं परंतु उनका विश्वास थोड़ा अलग है। महासंघिका के साधक बोधिसत्व को एक अलौकिक पुरुष मानते थे।[79]

श्रावस्तीवादी श्रमण उन्हें 'पृथक जन' मानते थे जिसमें बुद्ध पर शायद ही अलौकिक तत्त्व आरोपित किया गया हो।[80]

पंचमकार की साधना

हिन्दू तंत्रों की भाँति बौद्ध तंत्रों में भी अधिकार भेद के आधार पर ही पंचमकार साधना का अधिकार मिलता है। वैसे तो चर्यापदों में कहीं भी प्रत्यक्षत: पंचमकार साधना की बात नहीं आती परंतु कृष्णवज्राचार्य द्वारा रचित पदों में (चर्या सं. 10,11,18,19) इसका संकेत अवश्य ही मिलता है।

हिन्दू तांत्रिक साधना में सामान्यत: दो आचार मिलते हैं दक्षिणाचार और वामाचार। इन आचारों का विभाजन साधना प्रक्रिया को देखते हुए किया गया। वामाचार तंत्र में साधक की योग्यता और पात्रता को देखते हुए उसे पशु, वीर और दिव्य में तथा उसके आचार को पाश्वाचार, वीराचार और दिव्याचार में विभक्त किया है। इसके लिए साधकों को अभिषेक एवं प्रयोगों से गुजरना पड़ता है। प्रथमत: वैदिक दीक्षा और शाक्ताभिषेक तक साधक पाश्वाचारी होता है। पूर्णाभिषेक के पश्चात् वह वीराचारी होता है। क्रमदीक्षा, साम्राज्य दीक्षा व महासाम्राज्य दीक्षाओं के अभिषेकों के बाद वह दिव्यभावापन्न होता जाता है। 'महानिर्वाणतंत्र' ने तीन भावों और सप्त आचारों का संकेत दिया है। तीन भाव हैं पशु, वीर एवं दिव्य। सप्त आचार-वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धांताचार तथा कौलाचार हैं ये सातों आचार पूर्वोक्त त्रिभावों से संपृक्त हैं। भाव मानसिक अवस्था हैं एवं आचार बाह्य आचरण या साधनाधिकार हैं। वैदिक,

वैष्णव, शैव और दक्षिणाचार पशुभाव के लिए हैं जो कुल मिलाकर समयाचार कहलाता है। वाम तथा सिद्धांत वीरभाव के लिए एवं आचारों में श्रेष्ठ कौलाचार दिव्य भाव के साधकों के लिए है। वामाचार से ही पंचमकार की साधना का अधिकार मिलता है। सिद्धांताचार के अनुसार कुछ भी अशुद्ध नहीं होता सभी द्रव्यों का मंत्रों से शोधन किया जा सकता है। कदाचित यहाँ 'म' कारों की संख्या बढ़कर अष्टमकार बनता है। ये हैं- मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन, मल, मूत्र एवं मज्जा। कौलाचार पूर्ण अद्वैत की स्थिति है इस स्तर पर कर्दम और कांचन में कोई भेद नहीं रह जाता। साधक स्वयं को एवं सचराचर विश्व को ही ब्रह्ममय देखता है।

पशु वह है जिसमें अद्वैत की भावना लेशमात्र भी नहीं हैं। वह अज्ञान की रज्जू से बँधा है इसलिए उसे पशुपाश कहते हैं। वीर यत्किंचित रूप में अद्वैत का बोध अवश्य करता है और अज्ञान-पाश-मुक्त होने का प्रयास करता है। दिव्य साधक पूर्णत: अद्वैतभाव में स्थित होकर अंतत: इष्ट देवता और स्वयं में सामरस्य का अनुभव कर अद्वैतानंद में उपनीत होता है।[81]

बौद्ध महायान सम्प्रदाय में पारमितानय, वज्रयान, काल चक्रयान हैं। कुछ लोग मंत्रयान के अंतर्गत ही पारमितानय को छोड़कर शेष यानों को विकसित मानते हैं। पारमितानय भी तांत्रिक यान माना जाता है। वज्रयान कालचक्रयान के भेदक तत्त्वों को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है वज्रयान की साधना में मंत्र का प्राधान्य रहता है। इसी कारण कभी-कभी वज्रयान और मंत्रयान को एकरूप मान लिया गया है। वज्रयान और कालचक्रयान की योगसाधना में मंत्र की महत्ता ही अधिक है।

वज्रयान में अभिचारों के साथ-साथ पंचमकारों का प्रयोग भी आरंभ हो गया परंतु इसका प्रयोग बोधिचित्त प्राप्ति के लिए किया जाता है जिससे कि समस्त प्राणियों का उद्धार हो सके। वज्रयान में पंचमकार और यौनयौगिक साधना को बड़ा बल मिला। यहाँ मुद्रा शब्द का अर्थ यौन साधना में सहयोग करने वाली शक्ति या योगिनी स्त्री का पर्याय मान लिया गया। यहाँ भी मंत्र,

मंडलादि का विधान है परंतु इनका प्रयोग यौनयौगिक साधना के उपकरण के रूप में होता है। सहजयान में मंत्रों का पूर्णत: अभाव इसके अद्वैतवादी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। इसी कारण डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने अपनी पुस्तक ऑब्स्क्योर रिलीजियस कल्ट्स् में वज्रयान को वीराचार और सहजयान को दिव्याचार कहा है।

हेवज्रतंत्र में पंचमकार के विविध प्रयोगों का वर्णन प्रत्यक्ष रूप में मिलता है। हेवज्रतंत्र के अनुसार साधक मदन (मद्य) का पान और मांस का भक्षण करता है। इतना ही नहीं कापालिक साधक गुरु की वंदना कर मद्य पूरित कपाल निवेदन करता है और उसे स्वयं भी पान करता है। यहाँ मैथुन की विविध क्रियाओं का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिनमें बोलकक्कोल चुंबन आदि का उल्लेख है। हेवज्रतंत्र में ही इन तत्त्वों के प्रतीकार्थ दिए गए हैं। अनुत्तरयोग तंत्र के कारण इस तंत्र में कथित प्रत्येक सूत्र प्रतीक के रूप में उपस्थापित होता है।[82]

हेवज्रतंत्र के द्वितीय कल्प के तृतीय पटल में इन प्रतीकार्थों के विषय में कहा गया है। उदाहरणार्थ : मदन मद्य है, मांस बल है, मलयज मिलन है, शव आश्रय है, अस्थ्याभरण निरंशुक अर्थात् नग्न है। कपाल का अर्थ पद्मभाजन है, मूत्र कस्तूरिका है, सिल्हक रक्त है कर्पूर शुक्र है और शालिज महामांस (नरमांस) है। बोल, वज्र या पुरुष शक्ति का और कक्कोल, पद्म या स्त्री शक्ति का द्योतन करते हैं। यहाँ पर इन पंचमकारों के अर्थ निरूपण का प्रयास किया जाएगा।

मद्य :

हेवज्रतंत्र या अन्य तांत्रिक ग्रंथों में इसे मदन कहा गया है। 'मादक' अर्थ के विस्तार के लिए इसे मदन कहते हैं। इसका अपभ्रंश रूप 'मअण' है, कृष्णपाद 'योगज महासुख' कहते हैं। साधनमाला में मदन से अनेक यंत्रों और मंडलों की रचना का उल्लेख मिलता है। गुह्यसमाज तंत्र

में पंचामृत में अन्न, विट्, मूत्र, शुक्र, रक्त और मांस के भक्षण के साथ महापान का स्पष्ट निर्देश मिलता है। क्रिया और चर्यातंत्रों में इसे निषिद्ध माना गया है। चर्यापदों में वारुणी या मदिरा को सुखप्रदाता या संवृति बोधिचित दायक माना है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसे 'तथतामद' कहा गया है जिसका योगी पान करता है। इसे ही 'बोधिचित्तामृत' कहते हैं। यहाँ कमलरस का अर्थ सहस्रार स्थित अमृत से है। सहस्रारस्थ अमृत या उष्णीष कमल का मधु पान करने वाला साधक महासुख में लीन रहता है।[83]

मांस :

अहिंसावादी बौद्धधर्म में मांस का प्रयोग एक आश्चर्यकर कार्य है। 'ज्ञानरवि परिपृच्छा' ग्रंथ के अनुसार मांसभक्षण यदि किसी महान कार्य के लिए अथवा औषधि के रूप में किया जाए तो वह निषिद्ध नहीं है। 'साधनमाला' ग्रंथ में 'गोकुटदहनम्' का उल्लेख मिलता है। यह सांकेतिक शब्द के जीवों के नाम के प्रथमाक्षरों के आधार पर बनाया गया है जिनका मांस साधना में प्रयुक्त होता है। जैसे गो, कुक्कुर, टिट्टिभ, दन्ती, हय एवं नर। मुनिदत्त कृत टीका में भी ग्यारहवें चर्या के अंतर्गत इस सूत्र का उल्लेख मिलता है-

'श्रीपद्मं मदनं च गोकुलदहनं कुर्वन् यथा गौरवात्॥[84]

मांस शब्द का प्रयोग चित्त शब्द के लिए किया गया है। हरिण अपने मांस के कारण, चांचल्य के कारण मारा जाता है। यही चांचल्य दोष चित्त में भी है। अविद्या, मात्सर्य, चांचल्य आदि दोष ही मांस है। इसी कारण हरिण वधयोग्य है। हाथी अविद्या का प्रतीक है। उसके दमन का उपदेश है, भक्षण का नहीं।

मत्स्य :

बौद्ध तंत्रों में मत्स्य के किसी विशेष प्रयोग का उल्लेख नहीं मिलता। संभवत: इसको मांस के अंतर्गत ही परिगणित किया है। केवल साधनमाला में एक स्थान पर पंचरक्षा साधन के अंतगर्त दक्षिण दिशा में सुरापूर्ण कृष्ण तिल, दग्ध मीन, मांस और प्याज से बलि देने का निर्देश दिया है।[85]

मुद्रा :

हिन्दू तंत्र के अनुसार चोष्य, चर्ब्य, लेह्य खाद्य पदार्थों को मुद्रा कहा गया है। बौद्ध तंत्रों के अनुसार शरीर की विशेष स्थिति या अंगुलियों की विशिष्ट भंगिमा को मुद्रा कहते हैं। यह मुद्राएँ स्पर्शविद्या और आकृति के रहस्यों को सुरक्षित रखती हैं। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त ने 'श्रीमत् शाक्यराज-सर्व-दुर्गतिपरिशोधन मुख्या आख्यान-प्रथमादि-योग-नाम-समाधि' नामक हस्तलेख के आधार पर 150 मुद्राओं का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ हाथों और अंगुलियों की विविध स्थितिाँ हैं, कुछ वज्र-पद्म घंटा आदि को धारण करने की विधियाँ हैं और कुछ पुष्पाषण, जलार्पण, दीपदान, वाद्य-वादन आदि की भी मुद्राएँ हैं।

'मुद्' शब्द का अर्थ है हर्ष महासुख देने के कारण इसे मुद्रा कहते हैं। तांत्रिक आचारों में सहायता करने वाली स्त्री को भी मुद्रा कहते हैं। इसी को वज्रकन्या या वज्रयुवती भी कहते हैं। योनि उसका प्रतीक मात्र है। हेरुकनिधानपंजिका (हस्तलिखित) में काय-वाक्-चित्त का मुद्रण करने के कारण मुद्रा को प्रमदा कहा गया है।[86]

अंतत: यह कह सकते हैं कि तांत्रिक बौद्ध नारी, शक्ति, अंगुलियों की स्थितियों, आकृतियों, योगगत क्रियाओं आदि के रूप में मुद्रा को स्वीकृति देता है। हिन्दू तंत्रों में भी नारी या

भैरवी के शोधन एवं उपयोग में मुद्राओं का प्रयोग होता है। बौद्धों में चर्यातंत्र, योगतंत्र आदिक के आधार पर मुद्राओं के नामों में भी बदलाव आता है। मुद्राओं के प्रदर्शन के पीछे घनिष्ठ दार्शनिक चिंतन का संगुंफन भी परिलक्षित होता है।

मैथुन :

बौद्धतंत्र में मैथुन को युगनद्ध साधन, द्वीन्द्रिसमापत्तियोग, कुन्दुरयोग, प्रज्ञोपाययोग, वज्राब्जयोग, बालकक्कोलयोग, वज्रकपालयोग, अद्वययोग, कुलिशाब्जसंयोग जैसे नामों से अभिहित किया गया है। यह शब्द केक्ल बौद्ध तंत्र में ही मिलता है हिन्दू तंत्र में इसे लता साधना या कुल साधना कहा गया है।[87]

बौद्धों में त्रिरत्न की परिकल्पना की गई है, वह हैं- बुद्ध, धर्म और संघ। महायान में इन्हीं त्रिरत्नों का सूक्ष्म अर्थ निर्धारित करते हुए उन्हें क्रमश: प्रज्ञा, उपाय और बोधिसत्त्व कहा जाने लगा। बुद्ध उपाय है, धर्म प्रज्ञा है और संघ बोधिसत्त्व। कालांतर में प्रज्ञा बुद्ध की शक्ति बन गई क्योंकि 'उपाय' पुल्लिंग शब्द है और 'प्रज्ञा' स्त्रीलिंग। इन दोनों के संयोग से ही बोधिसत्व की उत्पत्ति मानी गई है। तथापि प्रज्ञा और उपाय दोनों ही निष्क्रिय माने गए हैं क्योंकि दोनों के मिलन का प्रयोजन विषयानंद निरोध माना गया है। निष्काम और निष्क्रिय होने पर सृष्टि, स्थिति और लय नहीं हो सकता इसी कारण सकाम, सक्रिय बोधिसत्व की उपासना की जाने लगी। इसी के बाद सकाम, सक्रिय शक्तियों की देवताबोध से पूजा की जाने लगी। अनेक बोधिसत्वों को ईश्वर के स्तर तक पहुँचाया गया। इनमें आर्य अवलोकितेश्वर प्रमुख हैं क्योंकि यही वर्तमान कल्प के प्रमुख देवता हैं।[88]

यहीं से पुरुष और प्रकृति के तत्त्वों का आविष्कार हुआ। ध्यानीबुद्ध अमिताभ और उसकी शक्ति पांडुरा के संयोग से ही अवलोकितेश्वर का जन्म हुआ है। यही प्रज्ञा-उपाय, शिव और शक्ति के पर्याय बनते गए।

वेदांतों में ब्रह्मानंद को संगम सुख की अपेक्षा सातगुना अधिक आनंदकर बताया था। बौद्धों ने संगम सुख को ही ब्रह्मानंद सहोदर मान लिया।

चर्यापदों में स्थान स्थान पर डोम्बी, अवधूतिका का संग करने के संकेत मिलते हैं। इनका अभिप्रेरितार्थ भले ही कुछ और हो परंतु स्त्री संगिनी या स्त्री शक्ति के बिना तंत्र साधना की अपूर्णता स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है।

हेवज्रतंत्र में ऐसा उल्लेख मिलता है कि व्याघ्रचर्म का परिधानकर पंचामृतों का पान कर पाँच वर्षों तक स्वच्छंद विहार करना हेरुकयोग के साधकों के लिए अत्यंत आवश्यक है। साथ ही विविध उपचारों से वज्रसत्व को प्रसन्न करने के बाद कुन्दुरयोग से अनुराग रखने का भी उपदेश दिया है। आगे ऐसा भी निर्देश दिया गया है कि राजशालि का बार-बार भोग करने के बाद मातृपूजा करनी चाहिए। कृष्णपाद ने श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा आदि को माता का द्योतक माना है। ये पंच इंद्रियाँ हैं। इनके विषय शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध पंचकाम गुण हैं। श्रोत्रादि माताओं का अनेक विषय रसों से पूजन ही मातृपूजन है।

योगरत्नमाला में विविध वर्गों की स्त्री शक्तियों का वर्णन इस प्रकार मिलता है।

महासुखाकोरण विश्वास्य जननाज्जननी। संवृत्ति, परमार्थ - योर्विभागकथनात् भगिनी, रजकी, निरूत्तर बुद्धगुणानां परिपूर्णात् दुहिता, आहिकार्मिक सत्त्वै: स्थिरीकर्तुं अशक्यत्वात्, नर्तकी, इंद्रियाणां अगोचरत्वेन डोम्बीशब्दनोच्यते।

(योगरत्नमाला-पंचम पटल)

जननी हितैषिणी, भगिनी वत्सला, नटी पटुप्रचारा, रजकी शुक्लकर्मरता, वज्री नैरात्म्या, वज्री नैरात्म्य प्रज्ञा, उपायो हेवज्रः।

(योगरत्नमाला पंचम पटल)

इसके द्वारा योगरत्नमाला के टीकाकार ने विभिन्न स्त्रियों के आध्यात्मिक अर्थ की ओर संकेत किया है। उसके अनुसार जननी हितैषिणी है, भगिनी वत्सला है, नटी पटुप्रचारा है, रजकी शुक्लकर्म रता है, वज्री ध्यान निरता है, अलौकिक आनंद (रंजन) दात्री रजकी है, बुद्धगुणों का परिपूर्ण उपलब्धि कराने वाली दुहिता और इंद्रियों के गोचरधर्म से अतीत को डोम्बी कहते हैं। इन्हीं अर्थों को ध्यान में रखकर इन देवियों की पूजा की जानी चाहिए। इसी प्रकार इंद्रियों से सम्बद्ध मातृकाओं का भी द्योतन किया गया है- नट-रसना, रजक-स्पर्शेन्द्रिय, वज्र-श्रवणेन्द्रिय, चण्डाल-घ्राणेन्द्रिय तथा ब्राह्मण-चक्षु का द्योतक है। इन आर्ष ग्रंथों में मैथुनादि का इतना प्रत्यक्ष उल्लेख मिलता है तो सामान्य साधयक या अध्येता गण इसे अभिधेय अर्थ में ही ग्रहण कर मैथुन ही समझते हैं। इसी चिंतनहीनता के कारण बोधिचित्त में विकार आ गया।[89]

यौगिक साधना :

गौतम बुद्ध द्वारा प्रचारित बौद्ध धर्म में देवी देवताओं, तपस्या या मंत्र का कोई स्थान नहीं है। वहीं सिद्धार्थ गौतम द्वारा कपिलवस्तु छोड़ने से लेकर बोधि (ज्ञान) प्राप्त करने के बीच के छः सालों में बड़ी कष्टकर कृच्छ्र साधना की थी। बौद्ध ग्रंथों में इसकी कोई विस्तृत जानकारी तो उपलब्ध नहीं है परंतु जनश्रुति या समकालीन हिन्दू और जैन शास्त्रों से इस बात का उल्लेख अवश्य मिलता है कि सन्यासी अर्द्धाहार, पर्णाहार, अनाहार, निरम्बु तपस्या, अनिद्रा, पंचतपा, श्वास नियंत्रण (प्राणायाम)आदि कार्य किया करते थे। अकठोर व्रतधारी सन्यासी और साधारण

व्यक्ति पूजा, जप मंत्र, प्राणायाम और ध्यान (मन: संयम) आदि का अभ्यास किया करते थे। मंत्र, अर्थपूर्ण या अर्थहीन, सोद्देश्य या उद्देश्यहीन, स्फुट या अस्फुट, सविराम या विरामहीन रूप से उच्चारित होते हैं। मंत्रों का प्रयोग प्रागैतिहासिक युग से सभी धर्मों में और जन समुदाय में होता रहा है। गौतम बुद्ध ने मंत्रों को विशेष महत्व नहीं दिया था। तथापि बुद्ध के जीवितकाल में ही कुछ भिक्षुओं ने बुद्ध की वाणियों को ही सस्वर गाने की प्रथा शुरू की उसी से मंत्रों को बौद्ध धर्म में स्थान मिला।[90]।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके प्रधान शिष्य महाकाश्यप के अनुगामी भिक्षुओं ने बुद्ध की वाणियों और कतिपय अनुषंगिक उपदेशों को मंत्र के रूप में उच्चारण करना शुरू किया। यह बौद्ध धर्म के मंत्रयान का उत्स था। तथापि मंत्रयान नाम से किसी भी विशेष यान की उत्पत्ति न होने के पीछे यह कारण था कि स्थवीरवादियों के साथ अन्य अठारह संप्रदाय के भिक्षु मंत्र का प्रयोग न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य ही करते थे। ऐसी शाखाओं में से महासंघिका के भिक्षुओं ने बुद्ध की मृत्यु के दो सौ सालों में हजारों मंत्रों का संकलन कर 'धरणी पिटिका' की रचना की। दूसरी शताब्दी ईस्वी में समान धर्मी मंत्रों का संचय बुद्ध ज्ञान कृत मंजूश्रीमुख कल्प में भी मंत्रों का संकलन है। यही दो ग्रंथ मंत्रयान शाखा के मूल आधार स्वरूप हैं। इसी के साथ आर्य नागार्जुन के माध्यमिका दर्शन और 'प्राणायाम क्रिया' के योग से 'मंजुश्री मूल तंत्र' की रचना की गयी। इसी बिंदु से बौद्ध तंत्र में योगाचार का भी समावेश हो गया।

बौद्धों में महासुख या निर्वाण की कामना ही चरम लक्ष्य रहा है इस निर्वाण प्राप्ति के लिए ही वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं। जब चित्त महाशून्य में विलीन हो जाए तो वहीं महासुख है। बौद्ध तांत्रिकों ने इसी मुक्तदशा की प्राप्ति के लिए विविध आयामों का प्रयोग किया है। इस निर्वाण की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि यह दु:खाभावरूप, सुखरूप, अनिर्वचनीय, लोकोत्तर,

धर्मकाय और सर्वज्ञत्व प्राप्ति रूप है।[1] इसी महासुखमयी, आनंदमयी एवं अद्वयभाव की प्राप्ति ही निर्वाण है। इसे बुद्धों का सर्वोच्च स्थान कहा गया है-

भुक्ति-मुक्तिपदं दिव्यं निर्वाणाख्यं परं पदम्। चाहे स्थवीरवादी हों या महासंघिका सभी अपने आर्ष ग्रंथों में योगाचार का निर्देश देते हैं। इसका आरंभ नागार्जुन से देखा जा सकता है।

आर्य नागार्जुन ने माध्यमिका योग का प्रवर्तन किया था। वे दक्षिण भारत में द्वितीय शताब्दी में ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। माध्यमिका मत शून्यवाद को लेकर चला था। नागार्जुन ने अपनी कृति 'माध्यमिकाशास्त्र' में यह कहा कि इस समस्त ब्रह्माण्ड में कुछ भी सत्य नहीं है अत: सब शून्यमय है। ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों स्तंभ एक-दूसरे पर निर्भर है। यदि इनमें से कोई भी मिथ्या हुआ तो अवशिष्ट भी मिथ्या बन जाता है। जैसे यदि किसी पुरुष के संतान न हो तो उसका पितृत्व मिथ्या हो जाता है या फिर किसी रज्जु खंड को सर्प मान लें तो हमारा अनुमान ही मिथ्या बन जाता है। अत: वह मन जो इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान का भाव उत्पन्न करे वह भी मिथ्या ही है। सत्य स्वतंत्र होता है वह किसी पर भी निर्भर नहीं होता। वह अपने अस्तित्व प्रदर्शन के लिए किसी का अवलंबन ग्रहण नहीं करता। 'लंकावतार सूत्र' के अनुसार किसी भी वस्तु का मूल स्वभाव जाना नहीं जा सकता या उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। पर हम जो कुछ भी जानते हैं वह किसी न किसी रूप में अन्योन्याश्रित है अत: वह मिथ्या है। जिस प्रकार हवा में महल बनाया नहीं जा सकता और यह असत्य है अत: समस्त संसार ही असत्य, मिथ्या या शून्य है। शून्यता किसी भी वस्तु का अनिर्दिष्ट और व्याख्याहीन रूप है। हम जिनका अस्तित्त्व मानते हैं जब हम उसकी मूल प्रकृति को समझने का प्रयास करते हैं तो हमारी बुद्धि कुंठित हो जाती है। किसी भी ऐसे वस्तु का अस्तित्व नहीं जिसका कोई धर्म (स्वभाव) न हो या जो अपनी उत्पत्ति के लिए किसी पर निर्भर न हो अत: वह सत्य हो ही नहीं सकता अत: कोई धर्म ऐसा नहीं है जो 'शून्य'

न हो। अत: सारांशत: यह कहा जा सकता है कि शून्यता केवल वस्तु की प्रकृति है। शून्यवाद पर चर्चा करते हुए डॉ. धर्मवीर भारती ने कहा है कि 'नागार्जुन ने इस माध्यमिक मत के प्रचार का मुख्य लक्ष्य यह बताया है कि सभी जिनों को सही दृष्टि प्राप्त हो। किंतु साथ ही इससे भी अवगत है कि यही सिद्धांत सही दृष्टि की उपलब्धि में बाधक भी हो सकता है। अत: वह स्पष्ट कह देता है कि जो केवल इसी सिद्धांत में सीमित हो जाते हैं उनके भ्रम का निवारण होना कठिन है।[92] आर्यदेव इसी की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि जो रोगी है वह औषधि द्वारा स्वस्थ हो सकता है पर औषधि ही जिसका रोग बन जाए उसको आशा त्याग देनी चाहिए।[93] अपनी इसी सिद्धांत के द्वारा सभी वस्तुओं के विरोधी स्वाभावों का निरूपण करते हुए नागार्जुन ने प्रख्यात अष्ट निषेधों का सिद्धांत विकास किया था।[94] माध्यमिक पथ की ओर साधकों को आकृष्ट करने के लिए उन्होंने शून्यवाद को सृष्टि का मूल बताया था। इस शून्य सिद्धांत का प्रतिपादन उन्होंने 'प्रतीत्य-समुत्पाद' सिद्धांत द्वारा किया. था। वह सिद्धांत जो प्रत्येक वस्तु को कारणों, हेतुओं द्वारा उत्पन्न मानता है प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धांत है। चूँकि सभी वस्तुएँ हेतु पर आधारित हैं अत: उनका स्वत: कोई धर्म नहीं, कोई स्वभाव नहीं वे स्वभावशून्य हैं। इस प्रकार वस्तुओं और धर्मों के स्वभाव तथा निरपेक्षता का खंडन करने के उपरांत आचार्य नागार्जुन कार्य-कारण-संबंध का भी विरोध दिखाते हैं।[95]

नागार्जुन के अनुसार बुद्ध के धर्म उपदेश के अनुसार सत्य दो प्रकार के हैं- सम्वृत्ति सत्य जो साधारण लोगों के लिए है और योगियों के लिए परमार्थ सत्य। जो लोग इन दोनों सत्यों के भेद को नहीं समझ सकते, वे बुद्ध के रहस्यघन उपदेशों का भी अनुधावन नहीं कर सकते।[96]

दरअसल सम्वृत्ति सत्य का अवबोध होने पर ही एक उच्चस्तरीय सत्य का द्वारा उन्मुक्त होता है। इससे प्राप्त निर्वाण सुख का अनुभव अकथ्य है जो इंद्रियों के अनुभव से आगे है। अत: नागार्जुन के अनुसार जो अज्ञेय है, जिसका अर्जन नए सिरे से न किया जा सके, जो शाश्वत है,

अविनाशी है, अनिरुद्ध है, जिसकी उत्पत्ति न हो सके वह 'निर्वाण' है और जिस जीव ने इस जीवनमुक्त दशा निर्वाण की उपलब्धि की वही तथागत है। अहम और लोकोत्तर भाव का मिलन ही निर्वाण है। माध्यमिका सिद्धांत हिंदू अद्वैतवाद के निकट है। अद्वैतवादी सिद्धांत की विवेचना उपनिषदों में की गई है। गौड़पाद और शंकराचार्य ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है।

श्रीधर्मवीर भारती ने अपनी पुस्तक सिद्ध साहित्य में कहा है – 'योगाचार से मंत्रयान का' घनिष्ठ संबंध है, यह तो साधनमाला से स्पष्ट है जहाँ एकाधिक बार योगाचार को स्मरण किया गया है।[97] । टुची का मत है कि 700 ई. से पहले ही तंत्रों का विकास हो चुका था क्योंकि महामयूरी, विद्यारंजनी तथा सुवर्णप्रभा सूत्र आदि कई तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद पाँचवीं शती मे ही चीनी भाषा में हो चुका था। इतना ही नहीं वे मैत्रेय को भी केवल ..... लौकिक मानुषी आचार्य मानते हैं। इस पक्ष में उन्होंने जापानी बौद्ध विद्वान उई का मत प्रस्तुत किया है। असंग के 'महायान सूत्रालंकार' में तंत्रों की मैथुनपरक साधना के कुल स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। तथागत के विभुत्व का निदर्शन करते हुए उसने 'परावृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है।[98]। पंचेन्द्रिय परावृत्ति, मानस परावृत्ति, सार्थाग्रह परावृत्ति, विकल्प परावृत्ति और अंततोगत्वा मैथुन परावृत्ति के कारण उसमें पाँच प्रकार की विभुताएँ समाश्रित हैं। प्रो. लेवी ने मैथुन परावृत्ति का अर्थ 'मैथुन से परावृत्ति' इस प्रकार किया और स्पष्टत: उसे तांत्रिक संकेतों से पूर्ण बताया।[99] विटंरनित्ज का इससे मतभेद है और गुह्यसमाज तंत्र की समीक्षा करते हुए उन्होंने इसे 'मैथुन का तिरस्कार' इस अर्थ में लिखा है।[100] किन्तु बागची ने परावृत्ति को दस धर्म भूमियों में आठवीं अचला से सम्बन्धित करते हुए उसका अर्थ यह लिया है कि बुद्ध इसी प्रकार का आनन्द चित्तवृत्तियों के माध्यम से उपलब्ध करते थे जैसा मैथुन में प्राप्त होता है। डॉ. बागची का अर्थ अधिक प्रामाणिक ज्ञात होता है और इस प्रकार हम देखते हैं कि असंग द्वारा तांत्रिक पद्धति अंशत: ग्रहण कर ली गई थी यद्यपि वह इतनी प्रमुख नहीं थी।[101]'

आत्मनिष्ठ आदर्शवादी साधकों ने माध्यमिका के सिद्धांत को तो मान लिया पर उन्होंने मन की सत्ता को अवास्तविक नहीं माना। इस विषय पर माध्यमिका अपने ही सिद्धांतों में उलझकर रह जाता है मन को मिथ्या कहना आत्मघाती होगा। शुद्ध और परिष्कृत चिंतन को संभवपर बनाने के लिए मन की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है। विविध प्रकार की भावनाओं से संगठित मन ही एकमात्र सत्य है। आचार्य धर्म कीर्ति के अनुसार नीला रंग और उसका अनुभव दोनों समान है। प्रत्यक्षज्ञान को अनुभव से पृथक्कृत नहीं किया जा सकता। किसी भी वस्तु का परिज्ञान चेतना के बिना नहीं हो सकता अत: चेतना के अलावा किसी भी वस्तु का अस्तित्व स्वीकृत नहीं हो सकता। जिस प्रकार चंद्र तो सभी को दिखता है तथापि दृष्टि दोष से ग्रस्त व्यक्ति चंद्र को स्पष्ट रूप से देख नहीं सकता उसी प्रकार चेतना के बाहर अन्य तत्त्व नहीं है। अत: योगाचारियों के इस मत को विज्ञानवाद या आदर्शवाद कहते हैं। आसंग, वसुबंध, दिन्नाग योगाचार मत के पुष्ट स्तंभ हैं और लंकावतार सूत्र इस मत का मुख्य ग्रंथ है। सिद्ध साहित्य

कहा जाता है कि योगाचार मत के प्रथम आचार्य असंग (400-500 ई.) को तुषित नाम स्वर्ग में मैत्रेय नामक बुद्ध ने तंत्राचारों में प्रथम दीक्षा दी थी। वैडेल के मतानुसार योगाचार में लगभग 700 ई. सन् में इद्धियों, धरणियों तथा तंत्राचारों का समावेश हुआ।[102]

देहस्थ सिद्ध पीठ : बौद्ध साधकों ने अंतर्योग पर बल देते हुए बाह्य सिद्ध पीठों को देह के अंतर में भी स्थान दिया। यह तंत्रपीठ जालन्धर, कामरूप, ओडियान तथा श्रीहट्ट हैं। इनका स्थान काया के अंदर बताया गया है। चर्यापदों में केवल ओडियान और कामरूप का ही उल्लेख मिलता है। कुक्कुरिपा की चर्या में अर्द्धरात्रि को प्रज्ञाज्ञानाभिषेक के समय अवधूती रूपी वधू अभिसार के लिए कामरूप जाती है।[103] चतुर्थ चर्यापद में भी मणिकुल (मणिपुर- नाभि कमल) से उद्‌बुद्ध होकर वज्रचित्त के उड़ीयान या ऊर्ध्व महासुख स्थान में विलीन होने की साधना की ओर संकेत किया गया है (मणिकुले बहिआ उड़िआणे समाअ)

सिद्धों ने बाह्यतीर्थों का खंडन कर शरीर में निहित चक्रों को ही तीर्थ का आख्या दी है एवं उसी में पंच ध्यानी बुद्धों का वास माना है। हिन्दू तंत्रों में जहाँ देह में सात शक्ति चक्रों की अवधारणा की गई है वहीं बौद्धों में केवल पाँच चक्रों का ही विवरण है। बौद्ध तंत्र के अनुसार नाभि के नीचे व्यक्ति भोगी होता है और ऊपर योगी। अत: उन्होंने नाभि (मणिकुल/मणिपुर, मूलस्थान) को ही कुंडलिनी या 'तारा' का निवास स्थान माना है।[104] तारा मूलत: बौद्ध देवी है उनका हिन्दू तंत्रों में आगमन के बाद भी बौद्ध प्रवृत्ति नहीं छूट पायी। अत: अद्यपि तारा की पूजा हिन्दू तंत्रों में चीनाचार पद्धति से ही होती। असम के गुवाहाटी में स्थित उग्रतारा मंदिर में देवी की प्रतिष्ठा नाभि के रूप में ही हुई है। उनका प्रणाम मंत्र भी इसी रूप में है-

वशिष्ठाराधिता देवी तारिणी नाभिरूपिणी।

तस्या: स्पर्शन मात्रेन पुनर्जन्मम् न विद्यते॥[105]

हिंदू तंत्रों में शरीर के विविध चक्रों में चार पीठों का अवस्थान माना गया है। मूलाधार में कामरूप, हृदय में जालंधर, आज्ञाचक्र में पूर्णगिरि और सहस्रार में ओड्याण पीठ अवस्थित है।[106] हिन्दू तंत्रों में 'सहजोली', 'वज्रोली' जैसी क्रियाओं का वर्णन है जो निश्चित रूप से बौद्धों की हठयोग क्रियाएँ रही होंगी क्योंकि वज्र और सहज शब्दों का प्रयोग बौद्धों की साधना पद्धति में अधिक हुआ है। कतिपय विद्वानों का मत है कि 'वज्र' बौद्धमूलीय शब्द है जो कि थोड़ा अटपटा सा लगता है क्योंकि युजर्वेदांतर्गत रुद्राष्टाध्यायी में भी 'वज्र' शब्द का प्रयोग बिजली के अर्थ में हुआ है (गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्त मज्म प्रमृणन्तमोजसा (तृतीय अध्याय, श्लोक 6)

व्रजोली और सहजोली क्रियाओं का उल्लेख 'प्राणतोषिणी' तंत्र में सुगम है। वज्रोलीकथनम् व सहजोलीकथनम् के रूप में इन क्रियाओं को श्लोक बद्ध किया गया है जो कि उच्च बौद्ध यौगिक क्रियाओं के सुंदर व सुलभ्य निदर्शन हैं -

अधोभागे गतं बिन्दुमभ्यासेनोर्द्धमाहरेत्।

चालितन्तु स्वकं बिन्दुमुर्द्धमाकृष्य रक्षयेत्॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभम् यस्य कस्यचित्।

क्षीरंचैव द्वितीयंच नारी च वशवर्तिनी॥

मेद्रेण च शनैः सम्यक् कृत्वाकुंचनमभ्यसेत्।

पुरुष वापि नारी वा वज्रोणी-सिद्धिमाप्युयात्॥

प्रयत्नतः शिराजालं फुत्कारे कम्बु बर्धयेत्।

शनैः शनैः प्रकुर्याच्च वायुसंचारकारणत्॥

भार्याभगगतं बिंदुमभ्यासेनोर्द्धमाहरेत्।

बलितं पलितं बिन्दुं बिन्दुमाकृष्य रक्षयेत्॥

एवन्तु रक्षय न् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवान्।

मरणं बिंदुपातेन प्राणतोषिणी तंत्र बिंदुधारणात्॥[107]

पाश्चात्य लेखक रॉबर्ट स्वबोर्धा द्वारा लिखित पुस्तक 'अघोरा' में वज्रोली क्रिया का उल्लेख किया है जिसे उन्होंने गुरु विमलानन्द से सीखी थी -

"To learn vajroli you must first thoroughly clean out your body : eyes, nose, mouth, stomach and digestive tract. The upper body is cleaned by swallowing, churning and regurgitating water. The bowel is washed by sucking water up through the anus into the colon, churning it, and expelling it. The urinary passage is cleansed by sucking water through the penis into the bladder and through the ureters into the kidneys and then realising

it. This process is called 'Gaja Karma' because elephants (Gaja) suck up water with their trunks and playfully spray themselves for a bath.

To be able to do this you must know the method of controlling Apana Vayu, the body force which cause the expulsion of urine, feces, flatus, semen, menses and fetus. I can't tell you here how you can make Apana, which naturally moves downward, go up, but consides this : If you want to urinate and you start to strain the flow won't start, you must relax to start the stream.....

Anyway, after you have been able to suck up water through the penis and hold a bladder full of water for three hours you proceed to use milk, to cool the genital organs. Then ghee to lubricate. Honey next, it is very stickey and hard to make flow upward. Finally you do it with mercury, which is extermely heavy..... when you can hold a bladder full of mercury for three hours without spilling a drop you have reached the level of the first qualification.[108]

इस प्रकार की यौगिक क्रियाओं का बहुल प्रचलन बौद्ध तंत्रों में था। यहाँ तक कि विविध प्रकार के प्राणायामों (डोम्बी, चांडाली आदि) और ध्यान (विपासना) का बौद्ध तंत्रों में प्रयोग किया जाता है। दुर्गम और अत्यधिक शीतल प्रदेशों में स्वयं को बचाए रखने के लिए शरीर को प्राकृतिक रूप से ऊष्ण रखने के लिए विविध यौगिक क्रियाओं का विकास किया। बौद्ध तंत्र के प्रत्येक सम्प्रदायों में यौगिक क्रियाओं का समावेश है।

नाथ और सिद्धों में अंतर :

ऐसा माना जाता है कि सिद्ध सम्प्रदाय में फैल रहे व्यभिचार को देखकर गोरखनाथ असंतुष्ट थे और उन्होंने अपनी साधना का पथ अलग कर लिया। नेपाली जनश्रुति के अनुसार गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्र नाथ, अवलोकितेश्वर के अवतार थे। अवलोकितेश्वर वर्तमान कल्प के सर्वाधिक पूजित देवता हैं। नाथ संप्रदाय दलाई लामा भी इन्हीं अवलोकितेश्वर के अवतार माने जाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ ने 'कौलज्ञान निर्णय' नामक एक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में सृष्टि' प्रलय, मानस लिंग का मानसोपचार से पूजन, निग्रह-अनुग्रह-क्रामण-हरण, प्रतिमाजल्पन, घट पाषाण स्फोटन आदि सिद्धियाँ, भ्रांतिनिरसन ज्ञान, जीव का स्वरूप,जरामरण, कुल पूजन, गुरुपंक्ति पूजन, योगिनी, चक्रध्यान, पात्रचर्या, न्यासविधि, सिद्धिप्रद मुद्राएँ, देहस्थ चक्रस्था देवियाँ, कपाल भेद तथा कौलज्ञान का अवतरण विषयों पर वृहद् चर्चा की गई है।[109]

ध्यातव्य है कि कुल कुण्डलिनी की साधना करने वाला ही कौल है। रीढ़ की हड्डी के आंतरिक पथ जिससे कि कुण्डलिनी मूलाधार से सहस्रार चक्र तक जाती है उसी को कुल पथ कहते हैं। सौंदर्य लहरी कुल कुण्डलिनी के जागरण के कई उपाय हैं। या तो कठिन योगाभ्यास द्वारा इसका जागरण होता है या फिर पंचमकारों के सेवन द्वारा। 'कौलज्ञान निर्णय' में इन दोनों ही विषयों की चर्चा की गई है। हिन्दू पंचमकार साधना बौद्धवाममार्गी साधना से मेल खाती है और यौगिक क्रिया नाथों की साधना का आधार था।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाथों का मूल उत्स सिद्ध सम्प्रदाय ही रहा होगा। चौरासी सिद्धों की सूची में कई नाथ साधकों का भी नाम संकलित है। नेपाल में प्रचलित एक अनुश्रुति के अनुसार-

'मत्स्येन्द्रनाथ एक अगम पर्वत पर रहते थे। गोरखनाथ उनके दर्शनों के लिए गए पर पर्वत पर चढ़ना कष्टसाध्य जानकर उन्होंने एक उपाय सोची। नौ नागों को बाँधकर वे बैठ गए,

परिणामस्वरूप नेपाल में बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। राजा नरेन्द्रदेव के गुरु बुद्धदत्त को इसका कारण समझ में आ गया। वे अवलोकितेश्वर को ले आने का संकल्प लेकर कपोतक पर्वत पर गये। उनकी अनुनय विनय से प्रसन्न होकर अवलोकितेश्वर ने उन्हें एक मंत्र दिया और कहा कि इसके जप से वे आकृष्ट होकर जपकर्ता के पास आ जाते हैं। घर लौटकर बुद्धदत्त ने मंत्रजप शुरू कर दिया। मंत्र शक्ति से आकृष्ट होकर अवलोकितेश्वर मृग बनकर कमण्डलु में प्रविष्ट हो गए। बुद्धदत्त के संकेतक्रम से राजा नरेन्द्रदेव ने कमण्डलु का मुख बंद कर दिया। अवलोकितेश्वर नेपाल में ही बँधे रह गये और नेपाल में प्रचुर वर्षा हुई। तभी से बुगम नामक स्थान में आज भी मत्स्येन्द्रनाथ की यात्रा होती है।[110]

नेपाल के गोरखा जाति की उत्पत्ति भी गोरखनाथ से मानी जाती है। गोरखनाथ ब्रह्मचारी थे उसके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ वाममार्गी थे। इसका संकेत कई स्थानों पर मिलते हैं। प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्र ने कामरूप में कौल साधना की सिद्धि प्राप्त की थी। कामरूप में पूर्णत: वाममार्ग से ही मुक्ति मिलती है। मत्स्येन्द्र की 'कौल ज्ञान निर्णय' से यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में ही कौल साधना की थी। इसी स्थान को कदलीवन या स्त्रीदेश कहा जाता है।[111] क्योंकि यहाँ कामरूप की अधिष्ठात्री कामाख्या के कारण इस क्षेत्र में स्त्रियों का विशेष सम्मान है।

कामरूपम् देवीक्षेत्रम् कुत्रापि तत्सम्म् न च।

अन्यत्र विरलादेवी कामरूपे गृहे-गृहे॥ कालिकापुराणम्

यहाँ गुवाहाटी नगर के निकट एक पुराना राज्य हुआ करता था जिसे राज्ञी राज्य (वर्तमान 'रानी') कहत थे। यहाँ स्त्रियों का वर्चस्व था संभवत: मत्स्येन्द्रनाथ यहीं पर पद्मिनी स्त्रियों के चंगुल में फँस गए थे। इस क्षेत्र की जलवायु के कारण यहाँ केले के पेड़ खूब उगते हैं संभवत: इसी से कदलीवन की परिकल्पना का प्रस्फुटन हुआ हो।

कालिका पुराण, योगिनी तंत्र एवं रूद्रयामल में एक कथा आती है- 'वशिष्ठ को ब्रह्मा से एक गुप्त मंत्र की प्राप्ति हुई। वशिष्ठ ने अर्थवेद की विधि से इस मंत्र की साधना लंबे समय तक की पर साधना में सफलता न मिलने पर उन्होंने मंत्र की अधिष्ठात्री (बुद्धेश्वरी) को अभिशप्त करना चाहा। इस पर स्वयं देवी ने कहा की वाममार्ग के बिना इस तंत्र की सिद्धि नहीं हो सकती अत: वशिष्ठ महाचीन (तिब्बत) जाकर बुद्ध से चीनाचार सीखकर आएँ। कथानुसार वशिष्ठ बुद्ध के पास गए और उन्होंने बुद्ध को कामासक्ता नग्ना नारियों से परिवेष्टित पाया। साथ ही बुद्ध मद्य, मांस का भी सेवन कर रहे थे। इस अवैदिक साधना को देखकर वशिष्ठ घृणा से मुँह मोड़कर वापस चलने लगे। उसी समय आकाशवाणी हुई कि यही साधना का उच्चतम मार्ग है। इस पर वशिष्ठ, बुद्ध से दीक्षित हुए और कामरूप में आकर तारा की सिद्धि प्राप्त की। योगिनीतंत्रम गुवाहाटी में अद्यपि उग्रतारा देवालय विद्यमान है जिसे कि वशिष्ठ की आराध्या देवी मानते हैं। यहाँ तारा नाभिरूप में विद्यामान है। यह कथित है-

वशिष्ठाराधिता विद्या तारिणी नाभिरूपिणी।

तस्या : स्पर्शन मात्रेन पुनर्जन्मम् न विद्याते॥[112]

क्या ये राम के कुलगुरु वशिष्ठ थे? इस विषय में समस्त ग्रंथ मौन हैं। अत: मेरा विचार है कि मत्स्येन्द्रनाथ को ही यहाँ वशिष्ठ बना दिया है। या फिर यह भी संभव है कि कौल दीक्षा के बाद मत्स्येन्द्र का नाम वशिष्ठानन्द नाथ बन गया हो?

संभवत: नाथ पंथ का विकास बौद्धों से ही हुआ हो। नेपाल के बौद्धों के अनुसार गोरखनाथ पहले बौद्ध वज्रयानी साधक थे जो बाद में शैव बन गए इसी कारण नेपाल के बौद्ध लोग उन्हें अपना शत्रु मानते हैं।[113] तारानाथ ने उनका बौद्ध नाम अनंगवज्र बताया है और म. हरप्रसाद शास्त्री उनका नाम रमणवज्र बताते हैं। एक विद्वान ने तो असंग या नागार्जुन और गोरखनाथ को एक ही व्यक्ति मानने की वकालत की है।

सिद्धाचार्यों ने कई स्थानों पर 'नाथ' का प्रयोग किया है विशेषकर, सिद्ध साधक, गुरु व वज्रसत्व के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है। सरहपाद ने अपने दोहाकोश में कहा है कि-

जत्त वि चित्तहि विप्फुरइ तत्त वि णाह सरूअ।

अण्ण तरंग कि अण्ण जलु भवसम खसम सरूअ॥[114]

कृष्णपाद या कान्हपाद ने भी अपने दोहों में उसी को नाथ कहा है जिस का मन विषय वासनाओं से अनासक्त और स्थिर है-

जें णत्थु णिचलु किअउ मणु सो धम्क्खरु पास।

पवणु हि वज्झइ तक्खणेहिं विसआ होंति णिरास॥ 23॥[115]

कान्ह पाद के अनुसार वज्रधर नाथ वही है जिसने अपनी गृहिणी के साथ केलि विलास कर मन को स्थिर कर लिया है-

जें किओ णिच्चलु मण रअणु णिअ घरिणि लइ एत्थु।

सोई वज्जिरधरु णाहु मइं वुत्तउं परमत्थु॥ 31॥[116]

प्रज्ञोपाय विनिश्चय, साधनामाला तथा कतिपय अन्य बौद्ध ग्रंथों में नाथों का उल्लेख जिस प्रकार किया गया था उस आधार पर डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का मानना है कि बौद्ध परम्परा से ही वज्रयानी शाखा की उत्पत्ति हुई है, परंतु वज्रयानी साधक केवल नाम मात्र ही बौद्ध थे उनमें नाथ शब्द प्रयोग सिद्ध गुरुओं के लिए प्रयुक्त होता था। गुरु को वज्रकायाधारी, अजर और अमर माना जाता था।[117] उनका मत है कि अधिकांश बौद्ध सिद्ध विचारधारा के अनुसार नाथपंथी हैं परंतु साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार बौद्ध हैं।[118]

नाथ साधक अपने मत को सिद्धमत कहते थे क्योंकि इनके अनुसार नाथ ही सिद्ध हैं। इनके मत का अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथ 'सिद्ध सिद्धांत पद्धति' हैं। नाथ पंथियों की कृतियों से यह ज्ञान

होता है कि बहुत प्राचीन काल से ही ये अपने मत को सिद्ध-मत कहते हैं। आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार नाथ शब्द का अर्थ वह धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। 'ना' शब्द का अर्थ नाद-ब्रह्म है जो मोक्ष-दान में दक्ष है और 'थ' का अर्थ (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला।[119] यदि वज्र शब्द से इसकी तुलना की जाए तो दोनों सम पर्याय ही प्रतीत होंगे क्योंकि हर विपन्न परिस्थिति में अव्यय और अक्षुब्ध रहना ही वज्र सत्व है। अत: यह अवश्य है कि दोनों सम्प्रदायों का लक्ष्य एक ही है। गोरखनाथ तथा मत्स्येनद्रनाथ के विषय में उपलब्ध किंवदंतियों से तो यह अभिज्ञान हो ही जाता है कि वाममार्गी साधना को लेकर गुरु और शिष्य में पर्याप्त मतभेद था। मत्स्येन्द्रनाथ कृत पुस्तकों, जैसे कौलज्ञान निर्णय, अकुलवीर तंत्र, कुलानन्द तंत्र तथा ज्ञान-कारिका, में शैव भाव तो अवश्य है परंतु उनमें साधना पद्धति तांत्रिक है। साथ ही इनमें सहज शून्य, वज्र आदि वज्रयानी प्रयोग भी मिल जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखनाथ ने इन्हीं तांत्रिक पद्धतियों का बहिष्कार कर अपने मत का गठन किया था।

इस विषय में डॉ. धर्मवीर भारती का अभिमत यह है कि '..... गोरखनाथ इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं थे। वे उसके अत्यंत प्रबल प्रचारक आचार्य तथा संगठन कर्ता थे। यह नाथ परम्परा और कनफटी साधनाओं की परम्परा अत्यंत प्राचीन है और किसी न किसी रूप में पाशुपत लकुलीश मत से इसका घनिष्ठ संबंध रहा है।[120] आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक व्यवस्थित रूप दिया। उन्होंने कायायोग के साधनों को व्यवस्थित किया. आत्मानुभूतियों और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की।'[121]

कुल मिलाकर गोरखनाथ ने कृच्छ्र काया साधना या 'हठ योग' की प्रतिष्ठा की। हठ योग के 'ह' का अर्थ है सूर्य और 'ठ' चंद्र का पर्याय माना गया है-

हकार : कथित: सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।

सूर्यचंद्रसमायोगात् हठयोगो निगद्यते॥[122]

ब्रह्मानंद के अनुसार सूर्य 'ह' प्राणवायु है और चंद्र 'ठ' अपान वायु है। अत: इन दोनों का कुंभक द्वारा निरोध करना ही हठयोग है। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं और चंद्र पिंगला नाड़ी को कहते हैं। इड़ा और पिंगला नाड़ियों का निरोध कर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा बलपूर्वक कुंडलिनी को जगाना ही हठ योग है। सहस्त्रार स्थित सोम रस सूर्य चक्र तक आते आते सूख जाता है उसी का पान करना हठ योग है। इन समस्त साधनाओं के लिए कठिन साधना की आवश्यकता है। ध्यातव्य है कि हठयोग शब्द का प्रथम उल्लेख एक बौद्ध ग्रंथ 'गुह्य समाज तंत्र' में मिलता है। यहाँ बोधि प्राप्ति की विधि बताकर आचार्य ने शिष्य को यह हिदायत दी है कि यदि ऐसा करने पर बोधि प्राप्ति न हो तो हठ योग का आश्रय लेना चाहिए -

दर्शने तु कुतेऽप्येयं साधकस्य न जायते।

यदा न सिद्धयते बोधिर्हठयोगेन साधयेत्।[123]

हठात् मोक्षद्वार खोलने के कारण इसे हठयोग कहते हैं।

परंतु सिद्धों ने सहज साधना को ही साधना का अंग माना इसी कारण सिद्ध सरहपाद ने यही घोषणा की -

उजु-रे उजु छाड़ि मा लेहु से बंक।

कान्हपाद ने भी समस्त तंत्र मंत्र को छोड़कर केवल अपने मन में ध्यान लगाकर चित्तवृत्ति निरोध का संदेश दिया है-

एक्कु ण किज्जई मंतु ण तंतु णिअ घरिणिअ लइ केलि करंतु।

णिअ-घरे घरिणि जावं ण मज्जइ तावं पंच वण्णे विहरिज्जइ ॥28॥

एअ-जव-होमें मंडलकम्में अणुदिणु अच्छसि काइं अधम्में।

तइं विणु तरुणि णिरंतर णेहें वोही किं लब्भइ एण-वि देहें॥ 29॥[124]

इसी कारण सिद्धों ने बार बार सहज की आवृत्ति की है। हालांकि यौगिक बौद्ध धर्म में विविध प्रकार के प्राणायामों एवं मुद्राओं का प्रचलन है परंतु सिद्धों ने सहज साधनाओं पर ही बल दिया है। बौद्धतंत्र दो शाखाओं में विभक्त है- पितृ- तंत्र और मातृ तंत्र। पितृ तंत्र में प्राणायामादि का विधान है और मातृतंत्र वाममार्गी साधनाओं की भूमि है।[125]

जो बौद्ध तांत्रिक साहित्य संस्कृत या अपभ्रंश में लिखे गए थे उनमें शनैःशनैः शैव प्रभाव और साधनाओं का प्रवेश हो चुका था। इसी कारण नाथों द्वारा बौद्धों की परम्परा को मान लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई। गोरखनाथ की साधना का मूल आधार शील, संयम और शुद्धतावादी है, इसी कारण उन्होंने वाममार्गी साधनाओं का कड़ा विरोध किया। उनका विरोध केवल बौद्धतंत्रों से ही नहीं वरन् शाक्तों और शैवों से भी था।

साधना या देवता की दृष्टि से भेद :

साधानात्मक दृष्टि से भी देखा जाए तो नाथों और सिद्धों में भेद है। सिद्धों की साधना पंचमकार युक्त साधना है। विशेषकर वज्रयानी साधना में इस प्रकार के पंचमकार प्रयोगों की बहुलता देखी जा सकती है इसमें तारा और वज्रधर की साधना की जाती है। वज्रयानियों में गोरखनाथ को भी चौरासी सिद्धों में परिगणित किया गया है इनके अनुसार गोरखनाथ कानों में कृष्णसार मृग का सींग पहनते हैं। इसी पंच मकार साधना को बहिष्कृत कर गोरख ने अपना सम्प्रदाय चलाया था। यहाँ तक कि नाथ सम्प्रदाय में शिव की उपासना होने लगी और बुद्ध के समस्त गुण शिव में समाहित हो गए। अतः 'शक्तिसंगम तंत्र' में गोरख ने निर्गुण शिव के विषय में यही कहा है-

'शिवं च जानामि कथं वदामि।

शिवं न जानामि कथं वदामि॥'[126]

इसी प्रकार सिद्ध तिल्लोपाद ने भी सहज समाधि द्वारा बु द्धत्व प्राप्ति के अकथ्य सुख को केवल गुरुगम्य ही माना है।

वण्ण-विवज्जिआगिइ विहुण्णा सव्वाआरें जा संपुण्णा।

एउ मणु मारहो लेहो शिम्मूला तहि महमुद्द तहुअणे णिम्मला॥

अनु: इस मन को मारकर उस महामुद्रा को धारणा करो जो रूप और रंग से विहीन होकर भी सर्वतोप्रकार से सम्पूर्ण है। वह उत्सहीन और त्रिभुवन में सर्वाधिक निर्मल है।[127]

शिवतत्व और बुद्ध में धीरे-धीरे अंतर मिटते गए बौद्ध प्रतिमाओं के आधार पर हिन्दू देवताओं की प्रतिमाएँ भी गढ़ी जाने लगीं, प्रतिमा निर्माण के पहले शिव को भी कतिपय स्थानों में वज्रधर कहा जाता था-

मुक्तापीतपयोद मौक्तिकजबावर्णैर्मुखैः पंच भिस्त्र्यक्षैरंचितमीशम् ।

इन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम् शूलं टंक कृपाण वज्र दहनान्नागेन्द्रघंटांकुशान्।

पाशं भीतिहरं दधानामिति कल्पोज्ज्वलांगं भजे॥[128]

केवल यही नहीं बल्कि यजुर्वेद के अंतर्गत रूद्राष्टध्यायी में 'नमस्ताराय' (5/40) कहकर शिव को संसार से तारने की प्रार्थना की है। तो संभवत: 'तारा' नामक देवी का उद्भव बौद्धों के द्वारा नहीं बल्कि यह हिन्दू वाङ्मय से उद्भूत हुई होंगी। धीरे-धीरे बुद्ध विष्णु के दशावतार में भी परिगणित किए गए तो वैष्णवों ने इस वैषम्य को मिटाने का भरसक प्रयत्न किया-

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।

सदयहृदय दर्शित पशुघातम्॥

केशवधृत बुद्ध शरीरे जय जगदीश हरे॥ 1/13॥[129]

बुद्ध ने यज्ञ में पशुहिंसा का घोर विरोध किया और अहिंसा का मार्ग दिखाया। जिस

समय ब्राह्मण्यधर्म घोर हिंसा में डूबा था तब बुद्ध ने शांतिमय मार्ग दिखाकर धर्म को नष्ट होने से बचाया इसी कारण उन्हें वैष्णवावतार मान लिया गया।

नाथ पंथ में केवल शिव के ही निराकार स्वरूप की चिंता की गई है। आदिकाल से ही लिंगस्थ शिव निराकार ही माने जाते हैं और शिव का स्पर्श प्रत्येक वर्ण का साधक कर सकता है। बौद्धों ने जिस प्रकार वर्णवाद जातिप्रथा का खुलकर विरोध किया उसी प्रकार नाथों ने भी इस वर्णवाद का खंडन किया। साथ ही आंतरपूजा पर अधिक बल दिया। ऐसे कालखंड में बौद्ध साधना बुद्ध द्वारा परिपुष्ट सम्प्रदाय से हटकर कुछ साधकों का विरोध कर या तो उनके सम्प्रदायों को मिटा दिया या अपने पंथ में मिला लिया। यहाँ तक कि गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित पथ को स्वयं उन्हीं ने मिटा दिया। साधना के नाम पर बौद्ध जिस आचार को छोड़कर स्वेच्छाचार की ओर धवित हो रहे थे, गोरख ने उसी भोगवादी मानसिकता पर कुठाराघात किया।

नाथ योगियों का वेश :

नाथ सम्प्रदाय को और सम्प्रदायों से विशिष्ट पहचान देने के लिए गुरुजनों ने विशेष वेश अवतरित किया होगा। इसके अनुसार नाथ योगियों के पास मेखला, शृङ्गी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बाघंबर, झोला आदि धारण करते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि स्वयं मत्येन्द्रनाथ या गोपीचन्द ने कर्णमुद्रा या इन चिह्नों को पंथ में शामिल किया था। विश्वास है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने शिव के कर्णकुंडलों को देखकर उसी के आधार पर कुंडल धारण करने की प्रथा का प्रवर्तन किया। कान फाड़कर कुंडल धारण करने की प्रवृत्ति के कारण इन लोगों को कनफटा भी कहते हैं।[130]

ऐसा भी विश्वास है कि गोपीचन्द्र की प्रार्थना पर जालंधरनाथ ने इस सम्प्रदाय के लोगों को अन्यों से अलग दिखने के लिए इन चिह्नों का प्रयोग किया।

कतिपय लोक विश्वासों के अनुसार स्वयं गोरखनाथ ने भरथरी का कान पकाड़कर मिट्टी का कुण्डल पहनाया था इसी से यह परम्परा चल पड़ी। कान का फाड़ना जोखिम का काम है। इस क्रम में जिस योगी का कान खराब हो जाता है उसे सम्प्रदाय से अलग कर दिया जाता है। कान फाड़कर कुंडल धारण करने के कारण इन्हें कनफटा भी कहते हैं।[131]। बौद्धों में इस प्रकार के कठोर नियमों का पालन नहीं मिलता। हीनयानी भिक्षु भगवे रंग का चीवर धारण करते हैं जबकि महायानी भिक्षु गहरे मैरून रंग का चीवर धारण करते हैं। यह नियम बौद्धों के तृतीय धर्म संघ के बाद बने थे। प्रत्येक भिक्षु के केश मुंडित होते हैं। बौद्धों का पंथ मध्यम मार्ग या मज्झिम निकाय होने के कारण यह कृच्छ और सहज साधनाओं के बीच की अवस्था है। इसी कारण यहाँ जैनियों की तरह नग्न रहना या रोमोट्पाटन जैसी परम्परा नहीं है स्वयं सरहपाद ने इस व्यापार के लिए क्षपणकों और जैन साधुओं पर कटाक्ष किया है-

जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमुपाडणें अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह॥
पिच्छीगहने दिट्ठ मोक्ख ता करिहा तुरंगह।
रण्डी मुण्डी अण्ण वि वेसैं दिक्खिज्जई दक्खिण उद्देसे।
दीहणक्खजइ ता केवल साहइ दीहणक्खज्जइ मलिणे वेसैं।
णग्गल होइ उपाडिअ केसैं खवणेहि जाण विडंअ वेसैं
अप्पण वाहिअ मोक्ख उवेसैं।[132]

तेंजुर व केंगुर में निहित बौद्ध सिद्धों के चित्र निर्माण विधि में किसी विशेष प्रकार की साज सज्जा का उल्लेख नहीं मिलता केवल नर कपाल और नरास्थि के आभूषणों का प्रयोग भी देखा जा सकता है।[133]

दरअसल नरमुंड और नरास्थि के बने आभूषण और वाद्य यंत्रों का प्रयोग वज्रयान में मृत्यु के प्रतीक के रूप में प्रयोग किया जाता है। मृत्यु के प्रतीकों के प्रयोग के दो अर्थ हैं- प्रथम यह है कि साधक अपने जीवन की नश्वरता का सदा ध्यान रखे जिससे कि साधक अपनी सामाजिक अवस्था, अर्थोपार्जन जैसे विषयों के प्रति आकृष्ट न हो। एवं द्वितीय यह कि साधना काल में साधक अपने अहम् को मार सके। यह द्वितीय साधना आत्म-बलिदान के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का जरिया है।[134]

इन्हीं बिंदुओं के आधार पर नाथों और सिद्धों के वेश में अंतर आ जाता है। इस वेश के आधार पर मूलत: नाथों का सिद्धों से स्थूल भेद को समझा जा सकता है।

हिन्दूतंत्र और बौद्धतंत्र में तो पर्याप्त अंतर है तथापि नाथपंथ के साथ उसका भेद खोज निकालना इतना सहज नहीं है। यहाँ तक कि दोनों तंत्रों के अनेक देव-देवियों के नाम तक समश्रुत प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ सम्वर-शंभु; हेरुक-हर; चाण्डाली-चण्डी, महाकाल-महाकाल इत्यादि। साधना का पथ भी एक है और लक्ष्य भी एक है। शून्य की उपलब्धि ही उनका ध्येय है। परंतु उनका मौलिक भेद उनके साम्प्रदायिक दर्शन में स्पष्ट हो उठता है।[135]

नाथ पंथ अस्तित्ववादी है जबकि बौद्ध तंत्र अनस्तित्ववादी, नाथ संप्रदाय में एक ही परम नाथ निरंजन विद्यमान हैं। यही एकनाथ ब्रह्माण्ड के स्रष्टा धर्ता और अलख निरंजन हैं। इनका अस्तित्व न होकर भी है। यह निरंजन वेद के नैषदीय सूक्त या औपनिषदीय निराकार ब्रह्म के समान ही है। इस दृष्टि से नाथ सम्प्रदाय का दर्शन उपनिषदीय हिन्दू धर्म से सामंजस्य रखता है। वहीं दूसरी ओर बौद्ध महायान के योगाचार सम्प्रदाय में 'शून्य' अस्तित्वहीन शून्य है। परंतु माध्यमिका दर्शन के अनुसार शून्यता सम्पूर्ण नहीं हो सकता यह सदैव आपेक्षिक है। ऐसी अवस्था में माध्यमिका बौद्ध दर्शन भी हिन्दू निराकार निरंजन ब्रह्म के निकट आता है। हिन्दू दर्शन के ब्रह्म

निरंजन, निराकार, निर्विकल्प है जो शून्य होकर भी अस्तित्वपूर्ण है। नाथ सम्प्रदाय के नाथ निरंजन भी इसी के समान गुणधर्म से विभूषित है।[136]

तीनों सम्प्रदाय यह अवश्य मानते हैं कि इस ब्रह्म, निरंजन या शून्य की शिक्षा कोई भी किसी को नहीं दे सकता। बल्कि यह तो आत्मानुभूति के बल पर ही संभव बन पड़ता है।

अपने उच्च स्तर में तीनों दर्शन एकरूपता प्राप्त करते हैं। हिन्दू और नाथों के अनुसार, आत्मा परम ब्रह्म या निरंजन के साथ मिलित हो जाता है परंतु बौद्ध धर्म में बोधिचित्त की प्राप्ति को ही लक्ष्य माना गया है। बुद्धत्व या चिदानन्द दशा प्राप्त करने के बाद जीव का पुनर्जन्म नहीं होता। हिन्दू व नाथों के अनुसार जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। परंतु गौतम बुद्ध के द्वारा 'आनात्ता' या अनात्म दर्शन के प्रतिपादन के बाद ही समस्या का सूत्रपात हुआ। अनात्मा दर्शन के अनुसार बुद्ध अपने ही अस्तित्व को नकारते थे। इस समस्या के निराकरण के लिए काश्यप पंथी और बाद में सौतान्त्रिक एवं समितीया उपशाखा के आचार्यों ने पुद्गल आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया। यह पुद्गल आत्मा जन्म जन्मान्तर तक परिवर्तनहीन रहकर केवल बाहरी आवरण को ही बदलता रहता है। इसकी तुलना गीता के त्रयोदश अध्याय में वर्णित क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ से की जा सकती है।

इदम् शरीरम् कौन्तेय, क्षेत्रज्ञमित्यभिधीयते।

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥2/13

परंतु योगाचारी तंत्र इस पुद्गल आत्मा को अस्वीकार करता है। इसी से पुद्गल नैरात्म सिद्धांत की उत्पत्ति हुई।[137]

सिद्धों की साधना पद्धति

लोक में जिन्हें सिद्ध कहा जाता है वे अतिमानवीय गुणों से युक्त माने जाते हैं। वे अणिमा, लघिमा आदि अष्ट सिद्धियों के भूखे न थे। बल्कि वे अन्य प्रकार की सिद्धियों के प्रति जिज्ञासू थे। इस प्रकार की उच्च सिद्धियों के नाम 'साधनमाला' में उल्लिखित हैं। यह सिद्धियाँ हैं, अनंगवज्र (शबरीपा) की कुरुकल्ला सिद्धि या सिद्ध नागार्जुन की पादुका साधन, योगिनी साधन इत्यादि। महामोपाध्याय विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार 'सिद्ध' तांत्रिक साधनाओं से होने वाली सिद्धि के प्रापक हैं।[138]

ऐहिक सिद्धियों की प्राप्ति करने वाला सिद्ध माना नहीं जाता। सिद्ध सरहपाद ने भवलोक के मस्तक पर पैर रखकर ही परमपद पाने की घोषणा की है। भवलोक की ऐहिक इच्छाओं का पूर्णत: त्याग करना ही भवलोक के मस्तक मे पैर रखना है-

एवं सिद्धि जाइ परलोकहि एवहि सिद्धि जाइ परलोअह।

मथे पाद देइ भवलोकह माथे पाओ देइ भुअलोअह ॥48॥[139]

साधना में विशृंखल अवस्था

बंगाल के पाल राजवंश के निर्देशानुसार नालंदा विश्वविद्यालय का निर्माण हुआ था। पाँच सौ वणिकों ने दस करोड़ स्वर्ण मुद्रा देकर तथागत के वर्षावास के लिए एक आम्रकानन क्रय किया था। इसी स्थान पर बाद में नालंदा का निर्माण किया गया था।[140]

कहते हैं उत्थान और पतन प्रकृति के नियम हैं और कोई भी प्रकृति के इस धर्म से अछूता नहीं रहता। बौद्ध धर्म भी उत्थान और पतन के बीच झूलता रहा। जहाँ तथागत से लेकर अशोक तक बौद्ध धर्म का स्वर्ण युग था वहीं बाद का कालांश अतीव क्लेशदायक था। बौद्ध धर्म मानो

बुद्ध के मूल उपदेशों से बहुत दूर चला आया हो। ऐसी मान्यता है कि तथागत ने अपनी इच्छा के विरुद्ध ही संघ के तीव्र अनुग्रह को अनिच्छित रूप से स्वीकारते हुए बौद्ध धर्म के विनाश का बीज वपन करने को बाध्य हुए।

गौतम बुद्ध ने संघ में भिक्षुणी के प्रवेश पर बड़ी कठोरता से रोक लगा रखी थी। परंतु अपने अंतिम दिनों तक वे अपनी दृढ़ता पर अटल नहीं रह पाए। स्वयं बुद्ध की विमाता या मौसी परम साध्वी महाप्रजावती जिन्होंने बुद्ध का मातृवत् लालन-पालन किया था, वे भी प्रव्रज्या अवलंबन कर संघ में स्थान पाने को इच्छुक थी। परंतु बुद्ध ने अपनी नीति शिथिल नहीं की। अंतत: उनके प्रिय शिष्य आनंद ने प्रजावती की ओर से पुन: प्रार्थना की। तीसरे बार के अनुरोध को बुद्ध ठुकरा नहीं पाए। किन्तु शिष्य आनंद को उन्होंने एक मूल्यवान बात कही, देखो आनंद हमारा संघ एक हजार वर्षों तक स्थिर रहता पर स्त्री के प्रवेश के साथ उसकी आयु पांच सौ वर्ष ही रह जाएगी। जिस प्रकार श्वेतास्थिका कीट समस्त कृषि ही विनष्ट कर देती है उसी प्रकार सद्धर्म में स्त्री के प्रवेश से वह नष्ट हो जाएगा। प्रथम अवस्था में तो बौद्ध धर्म में कई आदर्श चरित्रा भिक्षुणियों ने प्रवेश किया, पर अंत में वही हुआ जिसका भय बुद्ध को था।

उसी समय एक विरोधी संघ ने भी जन्म लिया। 'एकभिप्पायी' या एकाभिप्रायी भिक्षु और भिक्षुणियों का दल। उन्होंने यही दावा किया कि, हमारा उदेश्य एक ही है, हम एक साथ साधना करेंगे। वहाँ यौन विज्ञान की भी चर्चा होगी। प्रकृत बौद्ध इन लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। परंतु धीरे-धीरे इनकी शक्ति बढ़ने लगी। इस प्रकार सहजिया मार्ग का उत्थान हुआ। तिब्बत, बौद्ध तांत्रिकों का गढ़ बन गया। वह रहस्यमय साधानाओं से घिरा पीठ स्थान था। सिद्धि प्राप्ति के लिए भिक्षुणियों के समूह सिंहल से तिब्बत की ओर जाने लगी। तिब्बत के विभिन्न संघारामों में उनका स्थायी निवास भी शुरू हो गया। इन्हीं तंत्रसिद्ध रमणियों में कई तो अलौकिक क्षमता से युक्त भी मानी जाने लगीं। मंजुश्री ऐसी एक सिद्ध भैरवी थी।[141]

आखिरकार बौद्ध तंत्रों में भी मूर्ति पूजा का चलन शुरू हो गया। बोधिसत्व ,अवलोकितेश्वर, वज्रतारा, प्रज्ञापारमिता, मंजुश्री आदि देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगीं। दरअसल बौद्ध धर्म केवल शील और विनय को ही लेकर चलता था, परंतु हिन्दुओं में देवताओं की अधिकता थी। जैसे-जैसे हिन्दू लोग बौद्ध धर्म में दीक्षित होने लगे वे अपने देवताओं को भी अपने साथ लेकर जाने लगे। उसी से बौद्धों में भी देवताओं के अवतरण ने जोर पकड़ा। महायान मत पहले तो अद्वैतवादी था। बुद्ध, धर्म और संघ ने महायान में सूक्ष्म रूप लेकर प्रज्ञा, उपाय और बोधिसत्व का नाम लिया।

प्रज्ञा तथा उपाय का एकीकृत युगनद्ध रूप की साधना और चिंतन ही सिद्धों की साधना की मूलभित्ति हो गई। उसे स्थान-स्थान पर विविध प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया। चक्रसंवर, वज्रधर, कमल-कुलिश, नैरात्मा, खसम, मणि-पद्म, शुक्र-रज, कूर्ममुद्रा आदि प्रतीकों के माध्यम से सिद्धों ने प्रज्ञोपाय के सिद्धांत को विस्तृत फलक पर प्रस्तुत किया। यह सारे प्रतीक प्रज्ञा तथा उसके अप्रस्तुत भग एवं उपाय तथा उसके अप्रस्तुत लिंग को प्रस्तुत करते हैं।

बोधिचित्तम सांवृत्तस्पन्दरूपम शुक्रम् रजोभूषितम् तन चित्त वज्रेणश्लिष्टम्।[142]

शुक्र और रज के मिलित रूप से ही बोधिचित्त की उत्पत्ति होती है। इसके अनुसार महायान की भी नवीन व्याख्या दी गई और कहा गया कि महाप्रज्ञा और महाउपाय के युगनद्ध का प्रतिपादन करने से इसका नाम महायान पड़ा।

महाप्रज्ञा महोपाय महाकृपाधिमोक्षतः।

महायानसमुद्दिष्टम् महासत्वस्य गोचरम्॥ 84॥[143]

बुद्ध उपाय के पर्याय बने, धर्म प्रज्ञा की और संघ बोधिसत्व बन गए। देखते ही देखते प्रज्ञा, बुद्ध की शक्ति बन गई। क्योंकि उपाय पुल्लिंग शब्द और प्रज्ञा स्त्रीलिंग शब्द थे। दोनों के

मिलन से बोधिसत्व की उत्पत्ति होती है। प्रज्ञा और उपाय दोनों ही निष्काम और निष्क्रिय हैं, जिससे सृष्टि, स्थिति और लय संभव नहीं उनकी पूजा केवल निर्वाणार्थियों के लिए ही माना जाने लगा। अत: ऐहिक कामनाओं और सिद्धियों के लिए सक्रिय सकाम बोधिसत्व की पूजा अधिक होने लगी। कई बोधिसत्व तो ईश्वर के समकक्ष खड़े हो गए। उनमें मुख्य अवलोकितेश्वर हैं।[144]

पुरुष और प्रकृति के तत्त्व ही ध्यानी बुद्ध अमिताभ व उनकी शक्ति बने और उनके पुत्र अवलोकितेश्वर हैं। यही बौद्धों के वर्तमान कल्प के प्रधान देवता हैं। यही उक्त युगल शिव-शक्ति या राधा-कृष्ण के रूप में प्रकाशित हुए। यहीं से तांत्रिक बौद्धधर्म की शुरुआत हुई। लोक में जिसे अश्लील कहते हैं उन्हीं मूर्तियों की पूजा यहाँ होने लगीं। यब-यम या युगनद्ध भाव के विग्रह बनने लगे। उनका दावा है कि इस पथ में निर्वाण आसानी से मिल जाता है इसलिए इसे सहजिया मार्ग कहते हैं।

तिब्बत राज च्वांगचुव ने अपने सेनापति नागचो को बुलाकर कहा कि मगध में बौद्ध धर्म का सर्वनाश हो रहा है। नीला चोगा पहनने वाले कुछ लोग बौद्ध धर्म के कलंक बनकर उभर रहे हैं। धर्म के नाम पर व्यभिचार फैल रहा है। स्त्री पुरुष के बीच प्रबल दुर्बलता को देखते हुए पंचशील के कठोर नियम बनाए गए थे। प्रवृत्ति के प्रबल स्रोत के सामने सब कुछ बह गया। भिक्षुणियाँ कमंडल में भ्रुण छिपाकर नद्यजल में निक्षेप करती थी। भैरवी चक्रों के बाद भिक्षुणियाँ गर्भवती होती थी। वत्सकुटी में जाकर वे गर्भपात कराती।

अपने अंतिम पर्याय में बौद्ध संघाराम तांत्रिक विभत्सता के केंद्र बन गए थे।[145]

उपाय या वज्र की समकक्ष स्थिति पाने वाले साधक को सिद्धों ने कई स्थानों पर 'वीर' की उपाधि दी है। कमल-कुशिल साधना की प्रणाली में गुणडरीपा ने भी स्वयं को कुन्दुरु वीर कहा है। (चर्यापद) कुक्कुरिपा ने एक चर्या में कमल-कुलिश योग का रहस्य जानने वाले को वीर

कहा है। (चर्यापद) सिद्धों का यह वीराचापरक रूप वास्तव में बौद्ध परम्परा के अंदर उपाय और प्रज्ञा के मानवीकृत रूप का उदाहरण है। पारमिताओं और बोधिसत्वों की संख्या में भी वृद्धि हुई। योगाचार में केवल छः पारमिताएँ ही मान्य थीं पर बाद में उपाय कौशल के नाम से बोधिसत्वों के रूपों को भी जोड़ते गए। समस्त महायानी बौद्ध धर्म इन बुद्धों और उनके युगनद्ध की भावना से प्रभावित थे। जैसे कहा जा चुका है धर्म, बुद्ध और संघ का त्रिरत्न भी इसी युगनद्ध के सिद्धांत में डाल दिया गया। इसके लिए दो धातुओं की कल्पना की गई। प्रज्ञा के लिए गर्भधातु और उपाय के लिए वज्रधातु। ये ही दोनों मिलकर मण्डल चक्र या सृष्टि की रचना करते हैं।[146]

इस प्रकार त्रिकाय सिद्धांत द्वारा बुद्ध के दिव्य रूप की कल्पना दृढ़ रूप में की गई। बाद के आचार्यों ने बुद्ध की तीन कायाओं से तीन धातुओं की कल्पना की थी। [147]

रूप धातु से निर्माण काया, कामधातु से सम्भोग काया और धर्मधातु से धर्मकाया की उत्पत्ति मानी गई।

प्रज्ञोपाय सिद्धांत के कारण परवर्ती सिद्धों ने स्वभावकाया, वज्रकाया, सहजकाया या महासुखकाया की प्रतिष्ठा की। इन चारों कायाओं में सहजकाया को श्रेष्ठ माना गया क्योंकि इसमें तथागत अपने उपाय और प्रज्ञात्मक रूप से एकात्म रहते हैं। यही सहजकाया युगनद्ध की काया है।[148]

साधनमाला के अनुसार साधक को सदैव वज्रात्मक सत्ता में स्थिर रहना चाहिए। जब साधक इस भावना के उत्तरण से नैरात्म्य ज्ञान की प्राप्ति करता है तो वह स्वतः बुद्ध हो जाता है। वह स्वयं को बुद्ध मानकर ही समस्त क्रियाएँ करता है। इस प्रकार साधक में पाप-पुण्य व्याप्त नहीं हो सकता।

णिम्मल सहजे पाप ण पुण्ण-तिल्लोपाणित्तरंगु-सम सहज-रूउ सअल-कलुस-विरहिउं।

पाव-पुण्ण-रहिउ कुच्छ णाहि कण्हें फुडु कहियाउं॥ 10॥[149]

परंतु सिद्धों की इस अतंर्मुखी साधना को परवर्ती काल के साधक समझ नहीं पाए। साधन संगिनी की चाह में साधक वासना में पड़कर पथ भ्रष्ट भी हो गए।

आचार्य शुक्ल के अनुसार सिद्ध सरहपाद ने दक्षिणमार्ग का त्याग कर वाममार्ग पर अग्रसर होने की सलाह दी है-

नाद न बिंदु न रवि शशि मंडल।

चिअराअ सहाबे मुकल।

उजु से उजु छाँड़ि मा लेहु रे बंक।

निअहि बोहि मा जाहु रे लंक॥[150]

पर यहाँ सिद्ध सरहपाद की भाषा समझ न आने के कारण उन्होंने ऐसा कहा है। दरअसल यहाँ आसान साधना छोड़कर वक्र पथ लेने को मना किया गया। सरहपाद पितृ-तंत्र के साधक थे। अत: उसमें स्त्री संग का उपयोग नहीं होता। जब शुक्लजी जैसे विद्वान को सिद्ध सरहपाद की भाषा समझने में कठिनाई हुई तो अल्पज्ञों की क्या कहें। इसी से साधना पक्ष में भी समस्याएँ उभरीं।

सिद्ध कण्हपा ने समस्त तंत्र-मंत्र का त्याग कर केवल अपनी ही घरणी के साथ केलि करने की सलाह दी है और अपने चित्त को उसी में विलीन करने की सलाह दी है-

एक्क ण किज्जइ मंत्र ण तंत्र। णिअ घरणी लइ केलि करंत ॥

णिअ घर घरणी जाब ण मज्जइ। ताब किं पंचबरन बिहरिज्जइ॥

जिमि लोण बिलज्जइ पाणिएहि. तिमि घरिणी लइ चित्त।

समरस जइ तक्खणे जइ पुणु ते सम नित्त॥[151]

इसके अलावा पंचवर्णी स्त्रियों के साथ भी विहार करने से सिद्धि प्राप्ति का मार्ग सुझाया। पंच वर्ण की स्त्रियों में डोमनी, रजकी, शुण्डिनी, शबरी आदि आते हैं।

नगर बाहिरि रे डोम्बी तौहोरि कुड़िया।

छई छोइ जाइ सो बाह्म नाड़िया।

आलो डोम्बि! तोए सम करिब म साङ्ग।

निघिण कण्ह कपाली जोइ लाङ्ग।

एक्क सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी।

तहिँ चढ़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी॥ (चर्या सं.10)

सास, ननद, नवोढ़ाओं को कापालिक योगियों से दूर ही रहने का उपदेश देती हैं।[152]

राग देस मोह लाइअ छार।

परम मोख लवए मुत्तिहार॥

मरिअ सासु नणन्द घरे साली।

माअ मारिआ, कण्ह भइअ कवाली॥ (चर्या सं. 11)

रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, तंत्र-मार्ग में साधनों की विशेषता है। भक्ति उपासना और प्रार्थना तंत्र मार्ग में भी हैं, किंतु तंत्र मार्ग में साधक रुदन, गायन, विलाप या प्रार्थना द्वारा देवी को प्रसन्न करने की आशा नहीं रखता। बल्कि उसका विश्वास मंत्रों के शुद्ध उच्चारण में, मंडलों, वृत्तों और नानाविधि यंत्रों के निगूढ़ रहस्य चिंतन में और योग-पद्धति के द्वारा शरीरस्थ सूक्ष्म शक्तियों के जागरण और विकास में होता है। जब साधक की कुंडलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है तो ऐसा माना जाता है कि उसका आध्यात्मिक मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है।

तंत्र-मार्ग में मंत्रों के शुद्ध पाठ पर जोर देते थे। साथ ही तंत्र में सदैव ही गुह्यता का खयाल रखा जाता है। प्रच्छन्न रूप से की गई साधना ही फलवती होती है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वामाचार को जनसाधारण हमेशा शंका की दृष्टि से देखता था। अत: साधकों को उनकी साधना गुप्त रखने की सलाह दी जाती है। यहाँ तक कि साधक अपनी इष्ट देवी का नाम प्रकट करने से भी विरत रहता है।

योग और सिद्धि के चमत्कार संभवत: बुद्ध भी जानते थे पर वे इसे लोगों के सामने अभिव्यक्त करने से दूर रहते थे। यहाँ तक कि वे अपने शिष्यों को भी ऐसा करने से रोकते थे।[153]

डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि बौद्ध भिक्षु अधिकतर युवा हुआ करते थे और युवती नारियाँ भी भिक्षुणी बनकर संघ में प्रवेश करती थीं। इन साधकों के लिए यह असंभव था कि वे ब्रह्मचर्य का निर्वाह कड़ाई से कर सकें। अपने, स्खलन को सार्थक सिद्ध करने के प्रयास में वे बौद्ध मत के बाहर प्रचलित तंत्र-मार्ग को अपनाने लगे। चूंकि उनकी क्रियाओं का समर्थन बौद्ध धर्म शास्त्र नहीं करते थे, अतएव, उन साधकों ने अपने समाज को गुह्य नाम दिया और जब गुह्य-समाजियों की संख्या बढ़ गयी, तब वे अपना धर्म-शास्त्र लेकर प्रकट होने लगे। बौद्ध तंत्रवादियों का पहला धर्मशास्त्र 'गुह्य-समाज-तंत्र' था। इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने स्वयं बुद्ध के मुँह से कहलवाया है कि तंत्र मत बौद्धधर्म विरोधी नहीं है। इस शास्त्र को इतने दिनों तक इसलिए गुप्त रखा गया था कि पहले के लोग इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। गुह्य समाज तंत्र ने खुली घोषणा कर दी कि सांसारिक सुखों से मुँह मोड़कर शरीर को दंडित करना निर्वाण की राह नहीं है। निर्वाण की सही साधना वह है जो इन्द्रियों को तृप्त रखकर की जाती है। पहले के धर्माचार्यों ने यह कहा था कि बुद्धत्व की प्राप्ति अनेक जन्मों में किए गए तपश्चरणों का परिणाम है। गुह्य-समाजियों ने कहा, बुद्धत्व एक जन्म में भी प्राप्त हो सकता है। उन्होंने शीघ्र सफलता पाने के लिए

शक्ति सेवन (नारी की पूजा या सहयोग) को अनिवार्य बताया। कहते हैं, पूजा में त्रिया सहयोगी की आवश्यकता पहले-पहल गुह्य-समाज-तंत्र में ही (तीसरी शताब्दी) बतायी गयी।[154]

वज्रयानी सिद्ध डोम्बी, नटी, रजकी, चांडाली और ब्राह्मणी का उपभोग तो करते थे, किन्तु यह कहा करते थे कि वे नारी नहीं, बौद्ध तंत्र की मनोवैज्ञानिक (Psychic)शक्तियाँ हैं। यही कारण है कि वज्रयानियों का नारी-सेवन कुरूप, कुत्सित और विभत्स हो गया। नर नारी समागम की सारी सार्थकता प्रेम को लेकर है। जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ ऐसे सारे समागम पाप हैं, छल हैं, अन्याय और दुराचरण है। वाममार्गियों और वज्रयानियों ने नारी समागम किया, यह उनकी दृष्टि में कोई बहुत बड़ा अन्याय नहीं था। अन्याय और व्यभिचार वह इसलिए हो गया कि उन्होंने नारियों को अपना प्रेम-पात्री न मानकर आध्यात्मिक उत्थान की सीढ़ी मात्र माना है।[155]

बुद्ध ने चरित्र संयम को ही अपने धर्म का आधार बिंदु माना था जिससे कि बाद के भिक्षु अयथा चिंतनों से मुक्त रहकर निर्वाणार्थी बने। साधकों द्वारा विषय वासना के चिंतन से मन भ्रमित हो सकता है। परंतु बाद के भिक्षु इस कठोरता पर अटल नहीं रह सके। चारित्रिक पतन की घटनाएँ तो बुद्ध के समय में घटित हो रही थीं पर वे मुक्त रूप से व्यक्त नहीं हो रहे थे। अनावश्यक विषयों पर चिंतन की प्रक्रिया से महायान पंथ की शुरुआत हुई और वज्रयान मे उसे सार्थक करने की चेष्टा की गई। वज्रयान शाखा सहजयान में पर्यवसित हो गया। सहजयान में बोधिचित्त की स्थिति को ही महासुख की स्थिति बताई गई है और उनका विश्वास है कि यह स्थिति प्रज्ञोपाय (नर-नारी समागम) से ही संभव है।[156]

सिद्धों ने व्यवहारत: यह देखा कि शरीर को कष्ट पहुँचाने की प्रक्रिया, अंतत:,आत्महनन की प्रक्रिया के समान है और कृच्छ्र साधनाओं का मार्ग जीवन का नहीं मृत्यु का मार्ग है। इन कठोर साधनाओं के बाद भी मन की चंचलता अवलुप्त नहीं होती बल्कि अनुकूल परिस्थितियाँ पाते ही वे

दमित चित्तवृत्तियाँ मथित होकर व्यक्त हो उठती हैं। इससे यह स्पष्ट हो गया था कि प्रकृति के वेग को रोकना कठिन कार्य है अत: सारे योग यहाँ आकर झूठ हो जाते हैं योग मे ब्रह्मानंद की परिभाषा देते हुए उसे मैथुन सुख से सौ गुना अधिक सुखकर माना है परंतु सिद्धों ने मैथुन सुख को ही 'ब्रह्मानंद सहोदर' बताया।[157] अत: ब्रह्म भाव की प्राप्ति के लिए उन्होंने भैरवी या साधना संगिनी को लेकर प्रणय- समाधि का मार्ग खोल लिया। काम और योग को एकाकृत करने का प्रयास किया गया। और इसलिए यह प्रयास किया गया कि साधक बिंदुपात से बचे और बिंदु को रीढ़ की हड्डी के माध्यम से उष्णीषकमल तक पहुँचा दे। इस कार्य मे जो भी साधक सिद्धहस्त हो उसे 'ऊर्ध्वरेता' कहते हैं। अत: माना गया-

'मरणं बिंदुपातेन जीवनम् बिंदुधारणात्।'

इस साधना से साधक को यह मानसिक तोष भी मिल जाता था कि नारी का उपभोग उसने वासना के लिए नहीं किया। [158]

अत: यह स्पष्ट रूप से देखा गया कि बौद्धों में बुद्ध के जीवित काल से ही आत्मसंयम के विविध नियम बनाए गए पर सब नियमों को ताक पर रखकर भिक्षुओं ने अनुशासित साधना को विशृंखल कर दिया। इससे साधारण लोगों में ये घृणा के पात्र बन गए। भिक्षु और भिक्षुणी की छाया के स्पर्श से भी ब्राह्मण्य धर्म में दीक्षित लोग असहिष्णु हो उठे। इस घृणा से बचने के लिए हजारों बौद्ध भिक्षु मुसलमान बन गए। बाद में चैतन्य द्वारा गौड़ीय वैष्णव धर्म प्रतिष्ठित करने पर लोग या तो फिर इस्लाम से हिन्दू बन गए या बौद्ध से हिन्दू बन गए।[159]

सिद्धों का पतन

सिद्धों ने जिस उदात्त भावना को अपने सम्प्रदाय का उपजीव्य बनाया बाद के लोगों या साधकों ने उसी में विकृति भर दी। अंतस्साधना का स्थान अदूरदर्शी, संकुचित अंधविश्वासी कर्मकांडों ने ले लिया। सिद्धों के पतन के विषय में चर्चा करते हुए उसे मूलभूत रूप में कतिपय बिंदुओं के माध्यम से विश्लेषित करने का प्रयास किया जाएगा।

1. बाहरी आक्रमण :

विरेंद्र कुमार सिंह के अनुसार जब मुस्लिम आक्रांताओं ने गांधार (कंधार) और सिंध पर आक्रमण किया तब जनता ने अपने को 'बौद्ध' कहकर युद्ध करने से इनकार किया। मुहम्मद-बिन-कासिम ने सब बौद्ध प्रदेश जीत लिए। बौद्ध मत में कालांतर में अनेक मतांतर उत्पन्न हुए। इसलिए ऐसा भ्रम होता है कि संभवत: विदेशी आक्रांताओं से कालांतर में मत विनिमय भी हुआ होगा। मुसलमान और ईसाई आक्रमणकारियों ने स्थानीय लोगों का तलवार के बल पर धर्मांतरण या तबलीग (Proselytization) करवाया होगा। बौद्ध मत भी हिन्दू समाज में एक मत था; विशाल गंगा की एक प्रमुख धारा जहाँ विचारों की स्वतंत्रता, तर्कपूर्ण शैली, त्याग तथा अहिंसा पर आधारित समग्र मानव के कल्याण की, दु:खों के निवारण की और मुक्ति की कल्पना का समावेश है।

मध्य एशिया और भारत से भी निरंतर आक्रमण के कारण बौद्ध मत का धीरे-धीरे ह्रास होता गया। राज्याश्रय गया। पेशावर और कंधार से पश्चिमी प्रदेशों में हुणों के आक्रमण के कारण क्षति प्रारंभ हुई। और जब आठवीं शताब्दी में गंधार और उड्डियान (उजबेकिस्तान) में इस मत में पुन: उभार आया तब तुर्क आक्रमण से और सिंध में अरब आक्रमण से बौद्ध समाप्त प्राय हो गए। भारत में जब विदेशी आक्रमणकारी आए तब देशरक्षा और प्रतिरोध के लिए क्षात्रशक्ति की आवश्यकता

थी। बौद्ध एवं जैन, दोनों शांतिकाल के मत हैं, युद्ध अथवा सशस्त्र संघर्ष के नहीं। ये सभ्यता के ऊँचे स्तर पर विराजमान मानवीय गुणों से विभूषित, उदात्त आध्यात्मिक चेतना के मत थे। संसार के इतिहास में अनेक बार बर्बर जातियों ने सभ्य लोगों का विनाश कर डाला। साधारण जनता के साथ बौद्ध तथा उनके विहार (मठ) भी इन मदांध आक्रमणकारियों के शिकार बने। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार 'बर्बर मुसलिम आक्रमण ही बौद्ध मत के समूल उच्छेद का कारण बने।

2. शंकाराचार्य कुमारिलभट्ट जैसे वेदांतियों का अवतरण :

भारत में बौद्ध मत के ह्रास का दूसरा कारण सार्वजनिक लौकिक जीवन से संबंध छूटना है। बौद्धों के बाकी बची धाराओं को प्रसिद्ध वेदांती शंकराचार्य ने अपनी तर्कपुष्ट मतों से मिटाने का पूरा प्रयास किया। आचार्य शंकर अद्वैत दर्शन के आचार्य हुए, आज के हिन्दू विचारों में उन्हीं का सर्वाधिक प्रभाव देखा जा सकता है। दिग्विजय के क्रम में उन्होंने समस्त भारत को मथ डाला। और विहारों की परम्परा में चार मठों की स्थापना की। जिस प्रकार बौद्धों ने कामरूप, जालंधर, पूर्णगिरि और उड्डियान पीठों की स्थापना की उसी प्रकार शंकराचार्य ने भी दक्षिण में श्रृंगेरी, पूर्व में पुरी, पश्चिम में द्वारका और उत्तर में बद्रीनाथ में चार मठों की स्थापना की। ये विहारों की परम्परा के अनुसार संचालित होते थे। इनका कार्यक्षेत्र तथा नियम भी 'मठाम्नाय' और 'महानुशासन' द्वारा निर्धारित किया जाता था। बौद्ध मठों की पद्धति पर आचार्य शंकर ने दशनामी सन्यासी और अखाड़ों का संघटन किया। इन अखाड़ों ने बौद्ध मत के लोप का बड़ा बेड़ उठाया। शंकर के दिग्विजय से भारत के अस्थिर राजनीतिक वातावरण में वेदांत पर आस्था जागी, उससे रहा सहा बौद्ध मत भारत से समाप्त हुआ। वहीं दूसरी ओर इतिहासज्ञ, शंकर के परमगुरु गौड़पाद एवं स्वयं शंकर को ही प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं।[160]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भी इस देश से बौद्धों के निर्वासन के स्थूल कारण शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट और उदयन आदि वैदान्तिक और मीमांसक आचार्यगण रहे हैं।[161] इस कथन को ऐहिसाहिक दृष्टि से असत्य अवश्य माना जा सकता है क्योंकि बौद्ध धर्म की धारा भले ही क्षीण हो गई हो उसकी अवलुप्ति नहीं हुई थी। पर यह अवश्य है कि इन आचार्यों ने बौद्ध मत का दमन करने का प्रयास अवश्य ही किया था। इन आचार्यों का व्यक्तित्व इतना प्रबल था कि इन्होंने बुद्धिजीवियों और ऊपरले स्तर के लोगों के मन से बौद्धों के दार्शनिक युक्ति-जाल की आस्था उठ गई। दरअसल इस वर्ग के लोग बौद्ध तत्त्ववाद से प्रभावित थे भक्तिवाद से नहीं। पर साधारण जनता का तत्त्ववाद से कोई संबंध न था। इसके बाद संभवत: जब राजाओं ने बौद्ध विद्वानों को वेदांती तत्त्वदर्शियों के सामने हारते देखा तो उनकी निष्ठा वेदों पर लौट आई फलत: जो बौद्ध मठ राजकीय सहायता से चल रहे थे उठ गए। पर साधारण जनता में उन्होंने जो प्रभाव विस्तृत किया था वह यत्किंचित परिवर्तनों के साथ यथावत् रह गया। बड़े-बड़े बौद्ध मठों ने शैव मठों का रूप ले लिया।[162]

3. हिन्दुओं और बौद्धों में बढ़ता वैमनस्य :

इस क्रम में कुछ ऐसे मंदिर जहाँ बौद्ध लोक गुप्त रूप से तारा की पूजा करते थे उन्हें भी बाद में हिन्दुओं ने अधिगृहित क्रिया। ऐसे उदाहरणों में कामरूपस्था कामाख्या का मंदिर है। यहाँ मूल रूप से बौद्ध देवी तारा की पूजा होती थी इसके सूत्र 'योगिनीतंत्र' और 'नीलतंत्रम्' में स्पष्ट रूप से मिल जाते हैं। नीलतंत्र में कामाख्या पीठ में तारा देवी की पूजा के संकेत मिलते हैं-

पीठानाम् परमम् पीठम् कामरूपम् महाफलम्।

तत्र य: कुरुते पूजाम् सकृद्वापि महेश्वरी ॥ 85 ॥

सफला सा पूजा लक्ष्मीस्तस्य गेहे वसेत् ध्रुवम्।

तस्मात् शतगुणम् प्रोक्तम् कामाख्या योनिमण्डलम्॥ 86॥

तेषाम् फलम् महादेवी बहु किम् कथ्यते मया।

यत्र कोटिगुणै: सार्द्धम् आद्या वसति तारिणी॥ 87॥[163]

अर्थात् कामरूप पीठस्थानों में श्रेष्ठ है और महाफलप्रद है। जो व्यक्ति एक बार भी कामरूप में देवी की पूजा करता है उसी की पूजा सफल होती है और उसके घर में लक्ष्मी का स्थायी निवास होता है। मैं इस विषय में और क्या अधिक कहूँ? उस स्थान में अनंत गुण सम्पन्ना तारिणी स्वयं वास करती है।

आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य का कामरूप आगमन हुआ उस समय बौद्ध विद्वान अभिनवगुप्त पाद चीनाचार के क्रम से कामाख्या में तारा की पूजा करते थे। बाद में हिन्दूकरण होने पर इसे हिन्दू तंत्रों की मूल देवी षोड़शी का रूप दिया गया। साथ ही यहाँ कई बौद्ध स्तूपों की पूजा शिवलिंग के रूप में की जाने लगी है।

संभवत: इसी वैमनस्य के कारण बौद्धों ने बद्रीनाथ का विग्रह नारद कुण्ड में फेंक दिया था। जिसका बाद में शंकराचार्य ने उद्धार किया। कथित है कि बद्रीनाथ का विग्रह ध्यानस्थ मुद्रा अवलम्बित किए है। तो क्या यह बुद्ध की प्रतिमा है? असम में ही हयग्रीव विष्णु का मंदिर है जो मणिकूट पर्वत पर बना है। यहाँ भी विष्णु ध्यानमुद्रा में बैठे हैं। पर्वत के नीचे एक सरोवर है जिसमें कछुए रहते हैं। कछुए की पीठ स्तूपाकृति होने से बौद्ध उसे पवित्र मानते हैं। इन्हीं बातों से यह लगता है कि यह मंदिर कभी बौद्धमठ रहा होगा। अद्यपि भूटान के बौद्ध लोग यहाँ दर्शन करने आते हैं। धर्म के आधार पर वैमन्यस्य, द्वेष और प्रचार की अंधलिप्सा ने हिन्दुओं और बौद्धों के बीच की खाई को और गहरा कर दिया। अत: हिन्दुओं से हो रहे निरंतर संघातों के चलते बौद्ध और कमजोर हो गए।

भीम भोई की घटना इसका एक सबल उदाहरण है। भीम भोई अंधा था जो सन् 1875 ई. के आसपास वर्तमान था। उसे बुद्धदेव ने स्वप्न दिया कि वह उनके धर्म का प्रचार करे। इस कार्य के शुभारंभ स्वरूप बुद्ध देव ने भीम की आँखें ठीक दीं। इसी चमत्कार से उनके हजारों शिष्य जुट गए। भीम भोई ने उनके साथ जगन्नाथ मंदिर में आक्रमण कर दिया। उनका विश्वास था कि जगन्नाथ का मंदिर पहले बौद्धों का था, बाद में किसी राजा ने बुद्ध की मूर्ति के सामने दीवार खड़ी कर दी और जगन्नाथ का विग्रह बुद्धदेव की अस्थि रखने की पिटारी है। संयोगवश उड़िसा के राजा ने इस आक्रमण को दबा दिया और भीम-भोई के शिष्य कहीं-कहीं जा छिपे। ध्यातव्य है कि जगन्नाथ के विग्रह के अंदर एक ब्रह्ममणि है जिसे कृष्ण का हृदयपिंड कहा जाता है। पर हिन्दुओं में कहीं भी मृतक की अस्थि या अवशेष की पूजा की बात नहीं आती परंतु यह प्रथा बौद्धों में अवश्य है। इसी कारण जगन्नाथ भी यदि बौद्ध सिद्ध हुए तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[164]

उत्तर भारत में हर्षवर्द्धन के बाद बहुत दिनों तक बौद्ध धर्म को कोई राजकीय सहायता नहीं मिली इसी कारण बौद्ध भिक्षु उन स्थानों की ओर चले गए जहाँ उन्हें संरक्षण मिलने की आशा थी। आठवीं शती के आसपास इसमें तंत्र मंत्र टोना टोटका इतना बढ़ गया कि लोगों का आकर्षण इसी ओर बढ़ने लगा। अभिचार आदि में ही महायान का पर्यवसान हो गया।[165]

माध्यमिका योग या शून्यवाद के प्रवर्तक (?) सिद्ध नागार्जुन द्वारा प्रयोग सिद्ध ग्रंथ 'सिद्ध नागार्जुन कक्षपुट' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में मारण, मोहन, उच्चाटन, आकर्षण जैसे षट्कर्मों के प्रयोग दिए गए हैं इसे देखकर आश्चर्य होता है कि जो बौद्ध धर्म अणिमादि सिद्धियों को भी निकृष्ट मानकर मात्र बुद्धत्व और निर्वाण की कामना करता था उसमें इस प्रकार के क्रिया-कलापों का समावेश कहाँ से हुआ ? सिद्ध 'नागार्जुन कक्षपुट' ग्रंथ में स्त्री वशीकरण के लिए ही सौ से अधिक प्रयोग दिए गए हैं-

पारावतस्य हृच्चक्षुः स्वरक्तं रोचनंम् तथा

जिह्वामल संमायुक्तमञ्जने स्त्री वशा भवेत॥ 4/1 ॥[166]

बौद्ध मत में कामिनी-कांचन एकत्र हुए और साधकों की ऊर्ध्वगामी दृष्टि धीरे-धीरे निम्नमुखी होने लगी। स्वर्गीय धर्मानन्द कोसम्बी ने लिखा है कि 'श्रमणों की अवनति का बीज उनके द्वारा स्वीकृत राज्याश्रय में था।' यह केवल इसी कारण नहीं कि राज्याश्रय पाकर श्रमण आरामतलब और आलसी हो गए, बल्कि, इस कारण भी कि राज्याश्रय की लत पड़ जाने के कारण उनकी स्वाधीनता जाती रही। उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि राजाओं को वे मिलाकर रखे एवं स्वयं भी उनसे मिलकर रहें। जो बातें राजाओं को पसंद हों उन्हें धर्म और धार्मिक कथाओं में स्थान दिया। अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य राजवंश से गद्दी छीनकर पुष्यमित्र शुंग ने वैदिक धर्म की ध्वजा फहरा दी तो बौद्ध श्रमण वायव्य दिक् से आने वाले यवन और शक राजाओं का आश्रय खोजने लगे और उनकी प्रशंसा धर्मग्रंथों तक में करने लगे। भिक्षुगण बुद्ध के समय ऐसा नहीं पाते। उदाहरण स्वरूप महायान पंथ में कुषाण वंशीय कनिष्क की महिमा विस्तृत रूप में गायी गई है। शक राजा बड़े ही शूर थे अतः उन्हें प्रसन्न करने के लिए बौद्धों ने बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओं (जातक) में अनेक रसों की कहानियाँ भर दीं जिससे जनता का मन पौराणिक कथाओं से विभोर हो जाए। बुद्ध ने जिन बातों को अनावश्यक कह कर छोड़ दिया था बाद के श्रमणों ने उन्हीं बातों की चर्चा पर जोर दिया। राजाओं, धनिकों के मन को जीतने के लिए मूल बौद्ध धर्म में जो परिवर्तन किया उसे बुद्ध का उपदेश माना कहाँ तक उचित है यह कहना मुश्किल है।

दान और देवोत्तर भू-दान के चलते संघों की आकृति प्रासादवत् बनते गए और भिक्षुओं की विलासिता बढ़ने लगी। इससे ब्राह्मण, भिक्षुओं से जलने लगे। इसी ईर्ष्या के चलते गौड़ाधिपति शशांक ने बौद्ध मठों पर प्रहार कर उसको क्षति पहुँचायी। बौद्धों का पतन केवल इन निरंतर

आक्रमणों के कारण ही नहीं हुआ बल्कि बौद्ध भिक्षुओं का चारित्रिक अधोगमन ही इस सम्प्रदाय के पतन का बीज स्वयं में समेटे खड़ा हुआ।

गुप्त साम्राज्य के पूर्वकाल से लेकर मौखरी राजवंश के प्रतापी राजा हर्षवर्द्धन के कालांश तक उन्होंने मंजुश्री-मूलकल्प, गुह्य और चक्र संवर आदि कितनी ही धरणियों (मंत्रों) की सृष्टि कर ली। मंजूश्री मूल कल्प ने तंत्र का रास्ता खोल दिया। गुह्य समाज ने अपने भैरवी-चक्र, शराब, स्त्री-संभोग तथा मंत्रोच्चारण से उसे और आसान कर दिया। आठवीं शती में लगभग भारत में वज्रयानी साधानाओं ने जोर पकड़ा और बड़ी संख्या में लोग इस सम्प्रदाय से जुड़ने लगे। क्रमश: सभी बौद्ध सम्प्रदाय वज्रयान गर्भित हो गए। ऐसा प्रतीत होता है मानो सीधी-साधी शिक्षाओं से उनका विश्वास उठ चुका था। वे बाहर से तो भिक्षु थे पर अंदर से गुह्य समाजी थे।

जब बौद्ध श्रमणों ने कुचाली और अलोकप्रिय राजाओं का वर्णन किया तो वे साधारण जनता से दूर पड़ने लगे। जिस प्रकार भोग की अतिशयता से ऊबा मन त्याग की कामना करता है उसी प्रकार अतिशय त्याग से ऊबकर पुन भोग की ओर मन आकृष्ट होता है। यही स्थिति बौद्धों के साथ भी आई। त्याग के बाद उनमें भोगवादी संस्कृति ने जोर पकड़ा। इस अतिशय भोग से परित्राण पाने के लिए त्याग का मार्ग अपनाया। इसी त्याग की भावना ने बौद्धों को पुन: संकुचित परिधि में बाँध लिया।[167]

बौद्ध तंत्र की छ: शाखाएँ हैं उन्हें क्रिया तंत्र, चर्यातंत्र, योगाचार तंत्र, अनुत्तर तंत्र, महायोग तंत्र और अतियोग तंत्र कहते हैं। महा एवं अतितंत्रों का कोई लिपिबद्ध साहित्य उपलब्ध नहीं होता। यह केवल ज्ञान पर ही आधृत है अत: यह मौखिक (oral transmitted) है। यह ज्ञान केवल गुरु से शिष्य को जाता है। इसी परंपरा में चलते हुए चर्यागीतकारों ने महा और अति तंत्रों के विषय में किसी गीत की रचना नहीं की। गुरु की आज्ञा के क्रम से शिष्य एकाधिक तंत्रों का अभ्यास और प्रयोग करने में सक्षम था।[168] अपनी चर्या में सिद्ध चटिल्लपा ने कहा है कि साधना आरंभ करने पर

पितृतंत्र या मातृतंत्र किसी में भी अधिक बल न दें (सांकमत-चढ़िले दाहिन बाम मा होही-चर्या 5)। अधिकतर साधक किसी एक तंत्र में सिद्ध न होने पर अपनी निष्ठा दूसरे तंत्रमार्ग की ओर मोड़ लेते हैं। इसका प्रमाण कान्ह पाद की चर्या- 'अवणागवणे कान्ह विमन भइला' (चर्या नं. 7) या कुक्कुरीपाद के पद, 'हाँउ निरासी खमण भतारे' (चर्या नं. 20/ अर्थात्, मैं अपने बौद्ध गुरु से निराश हूँ) जैसी उक्तियों में मिलती है।

योगाचार तंत्र के समर्थकों ने यौनाचार स्वीकार करने वाले अनुत्तर तंत्र के साधकों का उपहास करते हुए कहा है कि ये साधक केवल अपनी यौनक्षुधा को तंत्र का आवरण ओढ़ाकर तृप्त करते हैं। ऐसे साधक वेश्यागामी हैं और उनकी साधना संगिनी चरित्रहीना स्त्री। चर्या संख्या 22, 23, 26 और 29 में इसी साधनात्मक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति हुई है। चर्या संख्या 23 में भुसुकपाद ने कहा कि 'जाल भी माया है अर्थात् अस्तित्वहीन है अत: उसमें फँसाहिरण भी माया है या अस्तित्वहीन है। (माआ जाल पसरिउ रे बाधलि माआहरिणी) कथन का तात्पर्य है कि साधना मन का भ्रम है और उससे प्राप्त सिद्धि भी भ्रम ही है। वहीं चर्या संख्या 26 में शांतिपाद ने योगाचार तंत्र को भी हेय माना और कहा है 'कार्य ही फल का कारण है या कर्म ही फल का हेतु यह विचारणीय है। शांतिपाद कहते हैं सब कुछ संवेदना ही है (काज न कारण ज एहु जुअति। सँएँ संवेअण बोलथि सान्ति॥ 26॥)। योगाचार तंत्र के अनुसार तथ्यों को रूई की तरह धुनने पर उसके एक-एक रेशे का विश्लेषण किया जा सकता है, इसी प्रकार विश्लेषण के दीर्घ क्रम के चलते साधक के मन की अनुभूति शून्य हो जाती है इस शून्यता का भी विश्लेषण करने पर मन में केवल अवसाद ही शेष रह जाता है। अत: मन का असवाद या सर्वात्मक शून्य भाव लेकर जीवित रहने से क्या लाभ? अनुत्तर तंत्र में इस भाव को 'अविद्या' कहा गया है, जिसकी गति ध्वंसात्मक (Nihilistic Path) है। ऐसे साधक हेरुक वज्रधर की उपलब्धि नहीं कर सकते। हेरुक प्रज्ञा और उपाय के मिलन का प्रतीक है।[169] इसी प्रकार एक-दूसरे पर दोषारोपण करने के कारण साधकों में वैमनस्य की भावना घर करती है। इसी आपसी

मतभेद ने धर्म में भी दरार पैदा कर दी। अपने गुरु और सम्प्रदाय को श्रेष्ठ साबित करने के लिए वे आप्राण चेष्टा करने लगे। विविध संप्रदायों के ग्रंथों के अनुसार विविध शब्दों के अर्थ भी विविध होता है। उदाहरण स्वरूप योगाचार के कूर्ममुद्रा और महामुद्रा का सादृश्य अनुत्तर तंत्र के कूर्ममुद्रा और महामुद्रा से नहीं है। अनुत्तर तंत्र में महामुद्रा यौनाचार क्रिया की समाप्ति पर साधक के चित्त में उत्पन्न करुणा भाव है। योगाचार तंत्र में महामुद्रा का आशय साधक द्वारा इष्टदेवता की काया का साक्षात् दर्शन करना है। The great Seal maha-mudra shows the nature of deities by images of their bodies.[170]

अत: बौद्ध श्रमणों के आपसी दुर्भावना ने ही इन सम्प्रदाय के पतन में सर्वाधिक योगदान दिया। यह केवल बौद्ध में ही नहीं बल्कि प्रत्येक सम्प्रदाय में यह समस्या खड़ी होती है। जैसे हिन्दुओं में शाक्तों वैष्णवों में गंभीर मतभेद रहे जिसके चलते वे एक दूसरे के धार्मिक, विश्वासों पर आघात करते रहे। वेदान्ती शंकराचार्य शाक्त तांत्रिकों को लगातार हतोत्साहित करते रहे। यही प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय की विडम्बना रही है कि प्रवर्तक द्वारा अनुयायियों को एकत्रित करने के बाद परवर्ती शिष्यों ने उसमें विभेद उत्पन्न कर दिया और उसे बाँट दिया। शायद ही कोई धर्म होगा जिसमें एकाधिक सम्प्रदाय न हो।

चर्यापदों का महत्त्व

किसी भी देश या सम्प्रदाय का साहित्य उसके दर्शन और चिंतन प्रक्रिया का साक्ष्य वहन कर अग्रसर होता है। साहित्यमर्मज्ञाचार्यों के अनुसार साहित्य सामाजिकों के हृत्तंत्री को झंकृत कर नूतन परिधियों की ओर आकृष्ट करता है। यही जनता की चित्तवृत्तियों में संचित संस्कारों के मथित रूप की स्फोट अभिव्यक्ति है। अत: साहित्य मानव सभ्यता के उत्कृष्ट भावभंगिमा का विगलित लास्यगान है इसी रूप में परवर्ती युग के लिए साहित्य की अपरिमित उपयोगिता है। इसी क्रम में

चर्यागीतों का महत्त्व भी स्पष्टत: आकलित किया जा सकता है। इस महत्त्व का विश्लेषण बिन्दु अष्टकों के द्वारा इस प्रकार से करने का प्रयास किया जाएगा।

1. ऐतिहासिक दृष्टि से :

इतिहास मानव सभ्यता के विकसित चिंतन का साक्षात् वीक्षक है, जो वैज्ञानिक आधार पर प्रत्येक उपलब्ध सामग्री का मूल्ययन सूक्ष्म दृष्टि से करता है। इस कोण से देखा जाए तो चर्यापदों का ऐतिहासिक मूल्य सर्वबृहद् है।

जब हर प्रसाद शास्त्री को नेपाल के राजकीय ग्रंथागार में चर्यापदों की पाण्डुलिपि मिली तो भारतीय साहित्य और इतिहास जगत में एक विप्लव आ गया। एन्साइक्लोपेडिया ऑफ बद्धिज़्म ग्रंथ में चर्यापदों के विषय में कहा गया है कि "The charyagitis were discovered in 1907 and were published in 1916 in a collection called 'Buddha gana O Doha by Mahamahopadhyaya pandit Hara Prasad Sastri. The work contained 50 gitis with a sanskriti commentry by Acharya Munidatta." [171] चर्यापदों के आविष्कार के बाद विविध स्थान के इतिहासकारों ने इन गीतियों को अपने ग्रंथों में बड़े ही महत्त्व के साथ स्थान दिया।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने चर्यागीतों की काव्यभाषा को अपभ्रंश मानते हुए यह कहा "राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' के अनुसार जो कवि-सभा में अपभ्रंश कवियों के पीछे बढ़ई, लुहार, लेपकार आदि जन साधारण के कारीगरों को बैठाना निर्दिष्ट किया है, वह इस बात का सुबूत है कि यह भाषा जनसाधारण की थी। राजशेखर के युग में वह भाषा जी रही थी, इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने अंत: पुर के परिचारकों का अपभ्रंश भाषाविद् होने का निर्देश किया है। इसका कारण यह था कि इन परिचारकों को जनसाधारण की बातें राजा तक पहुँचानी होती थीं। इस प्रकार अपभ्रंश

भाषा जनसाधारण की भाषा थी फिर भी उसमें कविता होती रही।''[172] संभवत: जनसाधारण की भाषा होने के कारण ही बौद्धों ने अपना साहित्य लोकभाषा में लिखा जिससे की लोक संपृक्ति बनी रहे।

इतिहासकारों ने भी इन चर्यापदों को इतिहास में अग्रणी स्थान दिया। एच.के. बरपुजारी के अनुसार "However, we find in the language of these songs the traces of the formative stage of not only Bangali but also other languages of MIA origin prevalent in eastern India- Assamese, Maithili and Oriya. The siddha Acharyas hailed from the region where the allied laguages are spoken. It was not unlikely that for making these songs intelligible to the entire region the siddhas chose the Apabhramsa dialect as the medium of expression. To the Apabhramsa also a number of words and expressions must have crept the dialects confined to the respective native localities of the composers as it happened in case of the inscriptions.[173]

अत: यह मान्य होगा कि जिस प्रकार शिलालेखों में स्थानीय भाषा का प्रयोग हुआ है उसी प्रकार इन काव्य गीतियों में भी कवियों ने अपनी मातृभाषा और लोकभाषा का बहुत प्रयोग किया है। इससे तत्कालीन भाषाओं एवं मान्यताओं का भी विशद् ज्ञान होता है।

2. सामाजिक दृष्टि से :

कथित है कि साहित्य ही समाज का दर्पण है। समाज में विघटित प्रत्येक परिघटनाओं की प्रतिच्छवि समाजोन्मुखी कवियों के काव्य में प्रतिबिंबत हुआ है। बौद्ध सिद्धों के वर्तमान कालांश में भारतीय समाज में जिस संकीर्णता, रूढ़िवादिता व वैषम्य का प्रवाह था, उसका मूलोच्छेद करने के

लिए सिद्धों ने अपने काव्यों में क्षुरवत् तीक्ष्ण शब्दावली का सहज प्रयोग किया। इससे यह तथ्य ध्वनित होता है कि समाज पर सामान्य कथन, विषय प्रधान एवं मृदु उक्तियों का बिल्कुल ही प्रभाव नहीं पड़ रहा था। इससे समाज के दायित्वच्युत और अस्वस्थ मनस्थिति का किंचित आभास होता है। उदाहरणार्थ चित्त शोधन प्रकण' में सिद्ध आर्यदेव (कर्णरीपा) का वचन है-

प्रतरन्नपि गंगायां नैवश्वानमशुद्धमर्हति।

तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थ स्नानं तु निष्फलम्॥

पुण्यो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्त्तानां कृतार्थता।

नक्तं दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादीनां तु का कथा॥[174]

इस दृष्टि से बौद्ध सिद्धों का दृष्टिकोण क्रांतिकारी माना जा सकता है। ये संकीर्ण नहीं थे और यही नहीं कि इन्होंने परधर्म की ही आलोचना की बल्कि स्वधर्म और परधर्म दोनों को ही समान कसौटी पर परख कर उनकी कठोर शब्दों में भर्त्सना की है। जैसे सिद्धों से भिन्न मत रखने वाले बाह्याचारी और बाह्यार्थवादी बुद्धतीर्थिकों की आलोचना की है। बुद्धतीर्थिक कृच्छ्र साधना पर बल देते थे। सिद्धों के अनुसार ऐसी साधना से शरीर दुखी होता है, दु:ख से चित्त विक्षिप्त हो जाता है और विक्षिप्तता से सिद्धि हानि होती है-

सअल समाहिअ काह करिअइ

सुख-दुखँ निचित मरिअइ॥ (चर्या सं.9)

इसी कारण यह तीर्थिक महासुख को विधात्मक एवं बंधनकारक मानते हैं। ऐसे लोग दु:खों का अनुभव करते हैं और सदैव जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। अत: वे महासुख के भागी नहीं होते। इसी क्रम में बंधनकारक और मोक्षकारक दो प्रकार के रागों की चर्चा की गई है। बौद्धों की ऐसी धारणा को ही सिद्धों ने बंधनकारक राग माना है-

रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते।

विपरीत भावनाह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिकै: ॥[175]

साथ ही उन्होंने जैनिओं की युक्तिहीन साधनाओं पर भी कुठराघात कर उसे संभवत: लोकाचार विच्युत ही माना है- जई णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।

लोमउपाडणेँ अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह ॥[176]

ध्यातव्य है कि चर्यापदों में सिद्धों की साधानात्मक अनुभूति स्पष्ट रूप से लिपिबद्ध है। उनमें वैयक्तिक अनुभूतिजन्य साधन को विशेष महत्त्व दिया गया है। दोहों में बौद्ध सिद्ध समाजोन्मुख अधिक हैं। अत: उनकी सामाजिक दृष्टि को परखने का सर्वोत्तम आधार दोहे ही हैं। चर्यापदों में सांकेतिक दृष्टि से इस सामाजिक संचेतना ने रूप अवश्य पाया है।

सरहपाद से लेकर कबीर जैसे निर्गुणीया संतों ने मन की साधना को ही प्रमुख बताया। परवर्ती कालांश में लोकसंपृक्ति के कारण जनता में प्रचलित रुचि बोध भी धर्म के आश्रय में आ गया। बौद्ध धर्म इसी लोकतत्त्व को प्रश्रय देता था उसी के अंतर्गत वज्रयानी सिद्धों ने सहज पद्धति का विकास किया।

एक पद में कान्हपा अपने को निघृण कापालिक बता कर अपनी साधना संगिनी को डोम्बी बताते हैं जिसका वास नगर के बाहर है एवं ब्राह्मण युवक उसकी झोपड़ी को छू-छूकर ही चला आता है। अस्पृश्य जाति की होने के कारण उससे प्रेम नहीं किया जा सकता।

नगर बाहिरि रे डोम्बी तौहोरि कुड़िआ।

छई छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥ (चर्या सं. 10)

यहाँ पर सिद्ध कान्हपा समाज में प्रचलित छुआ-छूत के प्रबल भाव की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। प्रकारांतर से वे भले ही किसी गंभीर आध्यात्मिक चिंतन को प्रश्रय दे रहे हों परंतु प्रकट रूप में वे समाज में प्रचलित जातिवाद के भाव का मूलोच्छेदन करने को तत्पर प्रतीत होते हैं।

इस चर्यागीत में असम के इतिहास में प्रचलित जातिवाद का आभास मिलता है। धर्म और दैनन्दिन जीविका अर्जन के कर्म को देखकर उच्च श्रेणी के लोग डोम जाति को अस्पृश्य मानते थे। यह लोग बौद्ध थे। इसी कारण ब्राह्मण पंडित डोम लोगों को शरण नहीं देते थे। गाँव और नगर के बाहर ही डोम की बस्ती हुआ करती थी। मछली पकड़ना, नाव चलाना, चूना बनाकर बेचना, कृषि इत्यादि उनके उपार्जन के आयाम थे। इतिहास के साक्ष्यों के अनुसार तेरहवीं-चौदहवीं ईस्वी तक ये तक ये डोम बौद्ध धर्म मानते थे।[177]

इसके अलावा भी अनेक चर्यापद मिल जाते हैं। जिनमें समाज के विषय में चर्चा की गई चाहे वह शबर शबरी हो (चर्या 28) या फिर शराब बेचने वाली शुंडिनी हो जिसके घर का दरवाजा देखकर ही मद्यप उसकी ओर खींचे चले आते हैं (चर्या 3)। यहाँ डोम, शबर, चण्डाल जैसी जाति की स्त्रियों का पर्याप्त वर्णन है।

एक प्रकार से देखा जाए तो राजन्य और सामंत वर्ग को अपने काव्य में स्थान देकर सामान्य जनों के जीवन और जीविका की चर्चा स्वयं में एक वृहद् क्रांतिकारी पदक्षेप था। बाद के काव्यों में या साहित्य में साधारण जनमानस के अभाव और अवश्यकताओं का विश्लेषण संभवत: इन्हीं बौद्धों की देन है। ये शबरी, शुंडिनी, रजकी इत्यादि न ही राधा और सीता के समान सौंदर्यवती थी और न ही उसमें चामत्कारिकता थी। यह स्त्रियाँ अपने अभाव या कष्टसाध्य जीवन में भी सहज स्मित हास्य की छटा बिखेरना भर जानती थी, चाहे उनका घर, दुर्गम पहाड़ की चोटी पर हो चाहे घर में अन्न न हो उन्हें हर स्थिति में प्रसन्न रहना है-

टालत मोर घर नाहि पड़वेषी।

हाड़ीत भात नाँहि निति आवेशी॥ (चर्या 33)

साहित्यिक दृष्टि से :

साहित्यिक दृष्टि से चर्यापदों का बड़ा ही महत्त्व है। इन चर्यापदों के आविष्कार के कारण ही हिन्दी साहित्य का इतिहास अपना भूत सुदूर दसवीं शताब्दी तक खींच पाया। आचार्य शुक्ल ने इस साहित्य को शुद्ध साहित्य मानने से इन्कार करते हुए कहा है कि- 'सिद्धों और योगियों का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते हैं कि उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्त्व इत्यादि की साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अत: वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ।[178]

शुक्लजी चर्यापदों में व्यवहृत भाषा और धार्मिक विचारों के कारण उसे शुद्ध साहित्य मानने से मना करते हैं। उनके अनुसार सिद्धों में सरह सबसे पुराने अर्थात् वि.सं.690 के हैं। अत: हिन्दी काव्य भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।' इसी कारण उन्हें सिद्धों के साहित्य को हिन्दी मानना स्वीकार्य न था। पर बाद के आलोचकों ने शुक्लजी के पूर्वाग्रह ग्रसित मत का खंडन करते हुए बौद्ध साहित्य को हिन्दी साहित्य की गंगोत्री के रूप में स्वीकार किया। हिन्दी में सिद्ध साहित्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय श्री राहुल सांकृत्यायन को दिया जाना चाहिए। 'हिन्दी काव्यधारा' की भूमिका (1945 ई.) में राहुल जी ने विस्तार से सिद्धों तथा उनके समसामयिक कवियों की रचनाओं पर चर्चा की। इसी के बाद उन्होंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल को सिद्ध सामंतकाल नाम दिया। उनके अनुसार सिद्ध सामंत-युग की कविताओं की सृष्टि आकाश से नहीं हुई है। वे हमारे देश की ठोस धरती की उपज हैं। कवियों ने जो खास-खास शैली भाव को लेर कविताएँ की, वह देश की तात्कालीन परिस्थितियों के कारण थी।[179]

सिद्ध साहित्य के आविष्कार के बाद तत्कालीन साहित्य की भाषा छंद, शैली जैसे विषय पर चर्चा की जा सकी। साहित्य की नव्य अभिव्यक्ति प्रकरण से सब परिचित हुए। सिद्धों के मनसगत भावों का प्रकटीकरण या तो प्रत्यक्ष रूप से हुआ था फिर उन्होंने अपनी दुर्बोध्य समझी जाने वाली भाषा में विचार प्रकट किए। इसी से संत कबीर एवं अन्यान्य सम्प्रदाय के भक्त प्रभावित हुए। सिद्धों के काव्य की ही दूरगामी प्रतिध्वनि संतों और कृष्णभक्त कवियों में मुखर हुई। सिद्ध साहित्य के विश्लेषण क्रम मे अनेक आधुनिक लेखकों ने अनेक कृतियाँ लिखीं। इस साहित्य ने न केवल हिन्दी, बल्कि उसके साथ अन्यान्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य को भी समृद्ध किया। सिद्ध साहित्य पर निबद्ध अगणित कृतियाँ सिद्धों के कालजयी भावों का विस्तार मात्र है। उस युग में आधुनिक क्रांतिकारी विचार व्यक्त करना साहसिकता का परिचय देना है। इसी दृढ़ वैचारिक धारा का प्रसरण कबीर और आधुनिक काल के कवियों तक हुआ। बौद्धों ने अपने पूर्ववर्ती व्रात्यों और चार्वाकों से यह खंडन-मंडन की पद्धति अपनायी थी। व्रात्यों ने वेद पंथ की दुर्घोर निंदा की, वे ब्राह्मण्य कर्मकाण्डों को भी युक्तिहीन और मिथ्या मानते थे। उनका कहना है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ में दी गई बलि से पशु स्वर्ग जाता है तो यजमान अपने पिता की बलि क्यों नहीं चढ़ाते?

पशुश्चेन्निहत: स्वर्गे ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।

स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥[180]

साधनात्मक दृष्टि से :

सिद्धों की रचनाओं के द्वारा तत्कालीन समाज में व्याप्त बौद्ध प्रभाव को समझा या जाना जा सकता है। बौद्ध तांत्रिकों का समाज में जो दबदबा था। वह इन्हीं की कृतियों से ज्ञात होता है। सास एवं ननद नवोढ़ा दुल्हन को इन कुचक्री योगियों से दूर रहने की प्रेरणा देती हैं-

राग देस मोह लाइअ छार। परम मोख लवए मुत्तिहार।

मारिअ सासु नणन्द घरे शाली। माअ मारिया, कण्ह भइल कवाली॥ (चर्या सं. 23)

दरअसल काण्हपाद की चर्याओं से ही यह ज्ञात हो पाया है कि बौद्धों में भी कापालिक साधना प्रचलित थी। अनुत्तर तंत्र में व्याप्त पंचमकार की साधना का ज्ञान तो हो ही जाता है परंतु शैव कापालिक साधना का बौद्ध साधना में प्रवेश एक आश्चर्य का विषय है। इस कापालिक साधना के साक्ष्य चर्यापद में ही मिल जाते हैं।

ध्यातव्य है कि कापालिक लोग नरकपाल में पीए जाने वाले मद्य को सोम कहते थे और सोम की व्युत्पत्ति 'स+उमा' के रूप में बताते हैं। इस सोम में शक्तियुक्त शिव का वास माना जाता है। जिस कपालपात्र में ब्रह्मरंध्र उपलक्षित हो जाता है उसे ब्रह्मकपाल कहते हैं।[181] बौद्ध कापालिक उसे बुद्धकपाल कहते हैं। शैव नाथ सिद्धों के साथ जीवनयापन से सारी बातें जालंधरपाद और कृष्णपाद के आधे शैवत्व और आधे बौद्धत्व की ओर ही संकेत करती है, किंतु इनकी शैव रचनाओं के अभाव मे इन दोनों सिद्धों का बौद्ध सिद्ध होना अधिक पुष्ट हो जाता है और पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इनका नाथ सिद्धत्व भी दुर्बल प्रतीत होता है। जालंधरपाद की बौद्ध रचनाएँ न्यूनतम और नाथपंथ में कोई प्रामाणिक रचना नहीं मिल पाई है। इस प्रकार कृष्णपाद का कापालिकत्व शैव और बौद्ध साधनाओं का संधिस्थल माना जा सकता है। बौद्ध कापालिक चिंतन केवल सिद्धों तक ही सीमित रहा ऐसी बात नहीं बल्कि कृष्णपाद की कनखला और मेखला नाम की शिष्याओं के जो चित्र मिलते हैं, उनसे भी उनके इसी साधना में लीन होने की पुष्टि होती है। चर्याचर्य विनिश्चय की टीका में मुनिदत्त ने कृष्णपाद के चर्यापद सं. 11 की टीका के क्रम में दउड़ीपाद नामक एक कापालिक सिद्ध का नाम प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। इससे कापालिक मत विस्तार का ज्ञान होता है।[182] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि चर्यापदों का महत्त्व न केवल साहित्यिक या धार्मिक दृष्टि से ही है वरन् यह भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी महियान रचना है। शब्दों के आकार प्रकार को लेकर

असमिया, उड़िया, मैथिली व बंगला भाषाओं के विद्वानों के बीच काफी विवाद रहा। आरंभ में यह विवाद केवल असमिया व बंगाली साहित्यकारों के बीच ही था पंरतु बाद में राहुल सांकृत्यायन ने विशद् अध्ययन के बाद इसे हिन्दी का ही आदि रूप मान लिया। चर्यापदों में प्रयुक्त कई स्थानीय शब्दों व वाक्य प्रयोगों को लेकर इन भाषाओं में विवाद उत्पन्न हो गया है। इसके लिए बंगला विद्वानों ने न जाने कितनी ही पुस्तकों की रचना कर डाली। प्रत्येक विद्वान ने चर्यापद की व्याख्या करते हुए मुनिदत्त की टीका को ही मूल उपजीव्य माना। मुनिदत्त ने संस्कृत में इसकी टीका लिखी थी। चर्यापदों का वक्तव्य गूढ़ होने के कारण विद्वानों ने मुनिदत्त की टीका का आश्रय लिया। परंतु सत्यता यह है कि टीकाकार मुनिदत्त स्वयं भी चर्याओं को कितना समझ पाए थे यह शंका का विषय है। इस दृष्टि से चर्यापदों की और भी पष्किृत व्याख्या अपेक्षित है।

संतों ने जिस कठोर भाषा का प्रयोग किया उसका उत्स खोजते हुए हम चर्यापदों में झाँक सकते हैं। केवल चर्या ही नहीं वरन अधिकंत: महायानी बौद्ध साहित्य में इस प्रकार के विद्रोह के अदम्य स्वर श्रुतिगोचर होंगे। जहाँ उन्होंने ब्राह्मण्य, जैन और कृच्छ्रसाधकों के कर्मकांडों को अनावश्यक बताकर सहज साधना की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है। जब अंत: काया में ही समस्त साधनाओं के उपादान उपस्थित हैं तो फिर बाह्य उपचारों की क्या आवश्यकता है? कबीर आदिक निर्गुणमत के संतों के विचारों का उत्स मानों बौद्धों का साहित्य है। बौद्धों का यह सुदूरगामी प्रतिध्वनि आधुनिक काल के विद्रोही कवियों के स्वरों में भी मुखरित होता है।

नव्य प्रयोगों की दृष्टि से भी चर्यापदों का विशद् महत्त्व देखा जा सकता है। साहित्य में द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग तो वैदिक काल से ही प्रचलित था इसी कारण ऋचाओं का अर्थ प्रसंगानुसार निर्णय करने का उपदेश दिया है जिसे 'निर्णावचांसि' कहा गया है। यही पवरर्ती काल की उलट बासियों का उत्स है। कुल मिलाकर बौद्धों की अभिव्यक्ति शैली अभिनव है। इस अभिनवत्व की दृष्टि से भी बौद्ध साहित्य एक नवीन युगांतर की सृष्टि करने में सक्षम हुआ।

चर्यापदों में कापालिक साधना

पुराण और महाकाव्यों में विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख करने के क्रम में कापालिक सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया गया है। किसी-किसी स्थान में उन्हें 'सोम सिद्धांतिन' या 'शिवशासन' कहा गया है। कापालिकों के विषय में मैत्री उपनिषद में प्रथम साहित्यिक वर्णन मिलता है। यहाँ इन लोगों को तस्कर या चोर कहा गया है, यहाँ तक कि उनके साथ रहने का भी निषेध किया गया है।[183]

कपालिन रूप में शिव की उपासना करने वालों को कापालिक कहते हैं। असल में कापालिक शब्द 'कपाल' से आया है अर्थात् नरमुंड। कापालिक संन्यासी अपने हाथों में नरमुंड लेकर घूमते थे और इसे अपने धर्म का अंग मानते थे। बृहत्संहिता के अनुसार कापालिक संन्यासी नरमुंड के खोल में आहार ग्रहण करते हैं और ब्राह्मण के नरमुंड में मदिरापान करते हैं, गले में नरास्थि की माला पहनते हैं और यज्ञ में भी नरमांस की आहूति देते हैं।

नौवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच कर्णाटक में कालामुख धारा की उत्पत्ति हुई है। ये नरमुंड की खोल में आहार करने के साथ चिता भस्म का भक्षण और अंगराग के रूप में भी प्रयोग करते थे। वे नरमांस का भक्षण भी करते थे, वे हमेशा अपने साथ मदिरापात्र रखते थे और हाथ में दंड धारण करते थे। इन्हें राक्षस और मानव का वर्ण संकर भी माना जाता है। इनके अनुसार किसी भी जाति का मानव ब्राह्मण बनने का अधिकारी है। कतिपय पंडितों के अनुसार कालामुख धारा की उत्पत्ति कश्मीर में हुई थी।[184]

अधिकांश विद्वानों के अनुसार कापालिक धारा अत्यंत प्राचीन संप्रदाय है। बौद्ध 'कुल्लभग्ग' ग्रंथ में कुछ ऐसे संन्यासियों का उल्लेख है जो नरमुंड (कपाल पात्र) लेकर घूमते थे। वे केवल सामान्य आवरण भर के लिए वस्त्र पहनते थे और श्मशान वासी थे। इन्हीं को कापालिकों का अग्रज माना जाता है। कूर्म पुराण ने कापालिक धारा को वेद बाह्य माना है।[185]

डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने बौद्ध ग्रंथ हेवज्रतंत्र में प्रथम बार कापालिक मत के वर्णन की बात की है। उनके अनुसार कृष्णवज्रपाद द्वारा रचित हेवज्रतंत्र की टीका 'हेवज्रपंजिका' में कापालिक मत का आधार छिपा है। बौद्ध कापालिकों में सरहपाद, कंबलांबरपाद, जालंधर, कृष्णपाद आदि अग्रगण्य हैं। कुछ लोग कृष्णपाद को नाथपंथी और कुछ सिद्धाचार्य मानते थे। बौद्ध चर्यापदों की रचनाओं के आधार पर भी वे सिद्ध ही प्रमाणित होते हैं साथ ही कृष्णपाद की कोई नाथपंथी रचना भी उपलब्ध नहीं होती।[186]

डॉ. उपाध्याय के अनुसार कृष्ण अनेक थे। उनमें से तीन का ज्ञान स्पष्ट रूप से होता है- अनुवादक कृष्ण, सिद्धाचार्य कृष्ण और नवकृष्ण अथवा छोटे कृष्ण। कृष्ण के नाम से जितनी रचनाएँ उपलब्ध है उसमें यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि यह किसकी रचना है ? तिब्बी त्रिपिटकों में कृष्णपाद या काह्न या काण्हपाद के नाम से अनेक ग्रंथ मिलते हैं।[187]

चर्यापदों में काह्नपाद या कृष्णपाद नाम से मिलने वाले चार चर्यापदों के अर्थ को देखते हुए यह निश्चित किया गया है कि यह एक ही व्यक्ति की कृति है।[188]

चर्या संख्या 10 में काण्हपा स्वयं को कापालिक और अपनी साधना संगिनी को डोम्बी बताते हैं-

नगर बाहिरी रे डोम्बि तोहारि कुड़िआ।
छइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥
आलो डोम्बि तोए सम करिबे मा सांग।
निघिण काह्न कपालि जोइ लांग॥ (चर्या सं.10)

इसके लौकिक अर्थ के अनुसार डोम्बी की कुटिया नगर के बाहर है और ब्राह्मण युवक उसकी कुटिया को छू-छूकर चले जाते हैं क्योंकि उनमें जातिगत आभिजात्य का गर्व है। अत: वे

उस अस्पृश्य डोम्बी से प्रणय निवेदन नहीं कर सकते। परंतु काह्न निघृण कापालिक हैं और उस डोम्बी से समागम के लिए इच्छुक हैं। डोम्बी से समागम के बाद अस्थिमाला तोड़कर पुनः जीवनधारण करते हैं।

उल्लेख्य है कि हाड़माल सर्वशून्यता का द्योतक है। अनुत्तर तंत्र के अनुसार महामुद्रा से संयोग के बाद साधक सर्वशून्यता का भाव छोड़कर करुणा के कारण पुनः जगत में लौट आता है। यहाँ हाड़माल का तोड़ना और पुनः जीवन प्राप्ति का संकेत अनुत्तर तंत्र के दर्शन की ओर किया गया है।

अगले ही पद में काह्नपाद ने कापालिक की वेश-भूषा का उल्लेख किया है-

नाड़ी शक्ति दिड़ धरिअ खट्टे।
अनहा डमरु बाजए बीरनादे॥
काह्नु कापाली योगी पइठ अचारेँ।
देह-नअरी बिहरए एकारेँ॥
आलि-कालि घंटा नेउर चरणे।
रवि शशी कुंडल किउ आभरणे॥ (चर्या सं. 11)

साधना के आसन में जमने के लिए नाड़ियों में प्रवाहित जैवशक्ति को विकसित किया गया है। हृदय में शक्तिशाली अनुभूति की सृष्टि हुई। काह्न ने कापालिक आचार ग्रहण किया है और वह देह नगरी में विचरण करने लगता है। प्राणायाम की अक्षर ध्वनियाँ अविराम रहने लगीं। आली काली दोनों व्यंजन ध्वनियाँ घंटा की भांति अनविच्छिन्न रूप से बजने लगे (आलि स्वर वर्णों का और कालि व्यंजन वर्णों के प्रतीक हैं)। उसकी कमर में घंटा और पैर में नुपुर है। उन्होंने राग, द्वेष, मोह का भस्म धारण किया है। मोक्ष रूपी मुक्ताहार गले में पड़ी है। अपने अंदर के शुभ

भाव, निरानंद और शोभन-अशोभन चिंतनों को ध्वंस कर डाला। माया का नाश कर काह्न कापालिक बन गए। उन्होंने अस्थि की माला धारण कर ली है।

कतिपय युरोपीय यात्रियों ने इस प्रकार के तिब्बती बौद्ध लामाओं की वेश भूषा का उल्लेख किया है :

"They do not marry; some live in communities, others each in his own house. They wear one sleeveless garment, leaving their arms bare, and over it another that comes to their feet. Their wearing apparel is generally red; their head-dress is either red or yellow. At their religious celebrations they use trumpets, which are usually made of metal, but sometimes of the bones of human arms or legs. To remained themselves of death they were necklaces made of human bones and for same reason they use skulls as drinking vessels."[189]

डोम्बी चंडाली आदि प्राणायाम की क्रियाएँ या पद्धति विशेष हैं। कुड़िआ (कुटिया) देह या अविद्या प्रसरित मोह माया का प्रपंच है। धर्मवीर भारती के अनुसार 'कापालिक का अर्थ चर्याधर है और उसकी व्युत्पत्ति है जो 'क' अर्थात् महासुख के पालन में समर्थ है। कमल-निर्माण-चक्र है जिसमें 64 पंखुड़ियाँ बताई गई हैं। अनहद डमरू वास्तव में शून्यता रूपी सिंह का नाद है। काण्हपा ने कापालिक पद्धति अपनाई है और उनकी बौद्ध व्याख्या देकर अपनी सांप्रदायिक स्थिति पर आँच नहीं आने दी है। इसके साथ ही साथ एक और महत्त्वपूर्ण पंक्ति इस पद में है जिससे उनका संप्रदाय से अंतर स्पष्ट हो जाता है। जब वे यह कहते हैं कि ''छइ-छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ'' तो उनका स्पष्ट आरोप अन्य संप्रदाय के ब्राह्मण कापालिकों पर है जो कापालिक होते हुए भी इस अवधूती का भेद नहीं जान पाते, उसे बाहर से ही छू-छूकर रह जाते हैं।..... इससे

यह ज्ञात होता है कि काण्हपा ने कापालिक पद्धति अपनाते हुए भी बौद्ध श्रेष्ठता पर कहीं से भी आँच नहीं आने दी।''[190]

लामा तारानाथ के अनुसार काण्हपाद महान योगाचार्य थे और उनके विषय में यह भविष्यवाणी हुई थी कि उनके नाम में कृष्ण अवश्य होगा। वे खट्वांग के उपरांत कालचक्र का अनुसरण करेंगे। अस्थियों के आभूषण धारण करेंगे और महापात्र के रूप में एक डमरू धारण करेंगे। बाह्य रूप में उनका मेल-मिलाप बौद्धेतर लोगों से रहेगा किन्तु अंदर ही अंदर वे बौद्ध धर्म के उत्थान के लिए कार्यरत रहेंगे।[191]

अत: यह स्पष्ट है कि काण्हपा का अन्य सम्प्रदायों के साथ मेल-मिलाप अवश्य रहा हो परंतु उनकी ऐकांतिक निष्ठा केवल बौद्ध धर्म के प्रति ही थी।

उल्लेख्य है कि हिन्दुओं में भी पार्थिव शिव पूजन के समय शिवलिंग के मस्तक पर वज्र स्थापित करने का नियम है। यह वज्र मृत्तिका कृत एक छोटा गोलाकार पिंड है जिसे हटाने के बाद ही पार्थिव शिव की पूजा की जाती है। पूजा समाप्ति के उपरांत पुन: वज्र को शिवलिंग के मस्तक पर स्थापित कर देते हैं। शिवलिंग स्थापन पूर्वक प्रथमत: एक बार सवजफ स्नान कराकर वज्रमोचन करने का उपदेश दिया गया है। शिवोपरि वज्र स्थापन का कारण यह बताया जाता है कि-

लिंगच्छिद्रे महेशानि महाबह्नि: प्रजायते।
अतएव वरारोहे वज्र दद्याच्छिवोपरि॥
सवज्रं गठयेद्देवि सवज्रं स्थापनं चरेत्।
सवज्रं स्नापयित्वा च ततो वज्र परित्यजेत्

इसके पश्चात् शाक्त, सौर, गाणपत्य, वैष्णव और शैवों के लिए लिंग के निकट ही अलग-अलग स्थानों पर वज्र परित्याग करने का भी विधान है-

ऐशान्यां नि:क्षिपेत् वज्रं सौरः शाक्तश्च सुव्रते।

वैष्णवो वज्रशिलायां पृष्ठदेशे च तं त्यजेत्।

शैवैशान्यां लिंगमूले दक्षदंते च गाणपाः ॥[192]

पार्थिव शिवपूजन में वज्र का प्रयोग आश्चर्यकर है। शिव के कतिपय ध्यान मंत्रों में भी उनके हाथ में वज्र धारण करने का उल्लेख मिलता है। कुछ ऐसे बौद्धों का भी उल्लेख मिलता है जो राजभय से शैव बन गए थे अतः वे शिव पर वज्र स्थापन कर देते थे। परंतु वज्र मोचन के बाद शुद्ध रूप से शिव की पूजा की जाती है। यह वज्रस्थापन का नियम संभवतः समस्त कामरूप क्षेत्र में ही माना जाता है। वृहदतंत्रसार में शिव के बहुभुज ध्यानों में उन्हें वज्रधर भी कहा गया है। यहाँ तक कि बौद्ध देवता हेरुक और शिव हिन्दू तंत्रों में अभिन्न मान लिए गए हैं।

उल्लेख्य है कि नीलाचल पर्वत, जहाँ का योनि पीठ स्थित है वहाँ अन्य दस महाविद्याओं के भी पीठ हैं। वहीं पर स्थित भैरवी पीठ में पीठ का अर्द्धांश हेरुक और अर्द्धांश भैरवी स्वरूप मान लिए गए हैं। तंत्र के अनुसार भैरवी देवी के भैरव दक्षिणामूर्ति हैं। यहाँ दक्षिणामूर्ति का पीठ नाम हेरुक रखा गया है। उसी के सम्मुख एक पोखर में कछुओं का निवास है। यह कछुए बौद्ध स्तूप या ज्ञान के प्रतीक हैं-

दूलि दुहि पिटा धरण नजाइ। चर्या-2

कृष्णपाद के चर्यापदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने को नग्न कापालिक योगी घोषित करते हैं और कापालिक योगी के घंटा, नूपुर, कुंडल, अस्थिमालिका आदि चिह्नों को धारण करते हैं और मद्यपान में मत्त होकर डोम्बी से विवाह करने को उद्यत होते हैं। इस प्रकार

कापालिक योगी के समस्त लक्षणों का समावेश होते हुए भी कपाल और श्मशान का उल्लेख नहीं मिलता। इसके अलावा कृष्णपाद के अन्य चर्यापदों में भी इसी प्रकार के दर्शन का द्योतन हुआ है-

तिणि भुवण मइ वाहिअ हेलेँ।

हाँउ सुतेलि महासुख लीलेँ॥

कइसनि हालो डोम्बी तोहोरि भाभरिआली।

अन्ते कुलिण-जण माझे कावाली॥

तँइ लो डोम्बी सअल विटालिउ।

काज ण कारण ससहर ढालिउ॥

केहो-केहो तोहोरे बिरुआ बोलइ।

बिदुजन लोअ तोरेँ कंठ न मेलइ॥

काह्न गाइ तु कामचण्डाली।

डोम्बीत आगालि नाहि च्छिणाली॥ (चर्या सं. 18)

इस चर्यापद में कृष्णाचार्यपाद ने सांसारिक सत्य का साक्षात्कार करते-करते डोम्बी के द्वारा पारमार्थिक सत्य का साक्षात्कार कर, उसका प्रतिपादन किया है। इस डोम्बी अथवा वज्रवनिता के संगम से ही उन्होंने काय, वाक् और चित्त नामक तीनों भुवनों को सहज ही बाधित कर दिया, अर्थात् उनकी चित्तगत क्रियाओं और चंचलताओं को स्थगित कर दिया। काण्ह विभिन्न प्रकार के कर्मों के साधनों के उपाय रूप में चाण्डाली का प्रयोग करते हैं और डोम्बी उनके द्वारा विभिन्न परिणामों को उपस्थित करती है। वह असंप्रदायनुयायी योगियों के द्वारा साक्षात्कृत नहीं हो पाती, अस्पष्ट रहती है। परंतु कृष्णपाद ने उसके परिशुद्ध वास्तविक रूप का साक्षात्कार कर लिया।

भव निर्वाणे पड़ह-मादला।

मण पवण वेणि करण्ड कसाला॥

जअ जअ दुंदुभि साव उछलिया।

काह्न डोम्बी विवाहे चलिआ॥

डोम्बी विवाहिआ आहारिउ जाम।

जउतुके किअ आणुतु धाम॥

अहणिसि सुरअ-पसंगे जाअ।

जोइणि-जाले रअणि पोहाअ॥

डोम्बीएर संगे जो जोइ रत्तो।

खणह ण छाड़ह सहज उन्मत्तो॥ (चर्या सं.19)

कृष्णपाद ने विवाह के रूपक के माध्यम से साधना का वर्णन किया है। तांत्रिक बौद्ध साधना अद्वैत साधना है। यदि भव और निर्वाण, मन और पवन में कोई अंतर मानता है तो तभी द्वैत और विकल्प की मनस्थिति उदित होती है। कृष्णपाद ने डोम्बी से विवाह कर अपनी जाति के भेद को बहिष्कृत किया। डोम्बी ज्ञानमुद्रा है। जो योगी इस प्रकार ज्ञानमुद्रा के साथ अहर्निश विहार करता है उसके समस्त अज्ञान योगिनी के ज्ञान रश्मि से दूरीभूत हो जाता है।

मुनिदत्त कृत चर्यापदों की टीका में कापालिक तत्त्व :

मुनिदत्त कृत टीका में कापालिक साधना के तत्त्व व दर्शन बिखरे पड़े हैं। मूलत: कृष्णपाद कृत चर्यापदों की संस्कृतटीका में यह अधिकंत: स्पष्टतया मुखर हो उठता है।

1. अन्येषांसंप्रदायबहिर्मुखयोगिनीयोगिनां मध्येकुन्दुटुरेण द्वीन्द्रियसमापत्तियोगाक्षर सुखेन क्लेशारिमर्दनाद् वीरोऽहं।[193]

2. हउँ कापालिकः चर्याधरश्च। कं तव सुखं पालितुं समर्थः (इति कापालिकः)। अतएव तवान्तरेण मया कृष्णाचार्येण षटतथागत चक्री कुण्ड कण्ठिका निरंशुचर्यां विधृत्य बाह्यमंत्रतंत्रनिरपेक्षत पंचवर्ण विहरणं कंतृ।[194]

3. खट्वांगमिति खं शून्यता प्रभास्वरेण सहजं संस्पृश्य अनाहतं डमरूशब्दं वीर नादेन शून्यतासिंहनादेन नदितः। कृष्णाचार्यो हि कापालिकः देहनागरिकां प्रविश्य प्रचारेण क्लेशभक्षणादिनयेन एकाकारतया विहरति भ्रमतीति॥ द्वितीय पदेन योगिकालंकारम् आह। आलि इत्यादि। प्रथमं तावत् योगीन्द्रेण वज्रजाप परिशोधित चन्द्रसूर्यादिकेन घंटानुपूरादि योगिकालं कारं कृतमिति॥.... श्वासं पूर्वोक्त मनः पवनं तमधिकृत्य चक्षुरीन्द्रियादि विज्ञानवातं नानाप्रकारं बोधव्यम्। तम् निःस्वभावीकृत्य अविद्यां च मायारूपां प्रज्ञोपायभेदोपचारेण कृष्णाचार्यः जगति जगदार्थाशयेन वज्रकापालिको भूत्वा भ्रमतीति। तथा च दाउड़ीपादः-

प्राणी वज्रधरः कपालवनिता तुल्योजगत्स्त्रीजनः
सोऽहम् हेरुकमूर्तिः एषभगवान् यो न प्रभिन्नोऽपि च।
श्रीपद्मं मदनं च गोकुदहनं कुर्वन् यथा गौरवाद्
एतत् सर्वम् अति इन्द्रियैकमनसा योगीश्वरः सिद्ध्यति॥[195]

4. येन चित्तेन ते बालाः संसारेबंधनंगताः।
योगिनः तेन चित्तेन सुगतानां गति गताः॥[196]

5. भर्भरि आलिका असदारोपेण भो डोम्बिनि अपरिशुद्ध अवधूतिका किम् कृत्वा त्वया कौ शरीरे लीनं यत् प्रभास्वरं तद् अज्ञानरसेन अन्ते बाह्ये कृतं। संवृत्तिबोधिचित्तं पालयति इति कृत्वा कापालिकः चित्तवज्र आधानं कृतम् इति।

कक्कोलप्रियबोलमेलकतया आनंदस्फुरत्कुंदुराः

सद्यः शोधितशालिलालितकराः कालिंजराः चक्रिणः।

भ्रश्यत् दिव्यसरोज पात्र मदन व्यालुप्तदंतच्छदाः

प्रेतावास निवास नित्यरसिकाः केचित् क्वचिद् योगिनः ॥[197]

6. यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते।

तद् ज्ञानम् अद्वयं नामसर्वसंकल्प वर्जितम् ॥[198]

चर्याचार्यों का परिचय :

तिब्बती इतिहास तथा तांत्रिक परम्परा में वज्रयानी चौरासी सिद्धों के नाम प्रसिद्ध हैं। डॉ. विरिंचि कुमार बरुवा के अनुसार, "The monks who were responsible for spreading the various system associated with vajrayana were know as siddhas and according to the tradition, they were eightyfour in numbers."[199] इन सिद्धों की जीवन गाथा भोटिया ग्रंथों में प्राप्य है। केवल इनका जीवन वृत्त ही नहीं वरंच इनकी मूर्ति या चित्र निर्माण की विधि भी उपलब्ध है। इन भोट ग्रंथों में दो ग्रंथ प्रमुख हैं। प्रथम ग्रंथ लामा तारानाथ द्वारा लिखित है जिसका भोटिया से जर्मन अनुवाद, ग्रुएनवाल्ड ने और ग्रुएनवाल्ड का अंग्रेजी रूपांतरण डॉ. बी. एन.दत्त ने 'मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ' के नाम से किया। दूसरा ग्रंथ 'चतुराशीति सिद्ध-प्रवृत्ति' है जिसका उल्लेख कार्दियर के तन्जूर कैटलॉग में भी है। ए. ग्रुएनवाल्ड द्वारा प्रस्तुत तालिका में ताड़कपाद और ढेंढन पाद के नाम नहीं। मैथिल विद्वान ज्योतिरीश्वर ठाकुर प्रणीत 'वर्णरत्नाकर' ग्रंथ में 75 सिद्धों की तालिका दी गई। इसमें तंतिपा, दारिकपा, विरुवा, विरुपा, काह्नु, भादे, कामरी, सवर, शांति और चाटल के नामों का उल्लेख मिलता है।

पंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'दोहाकोश' ग्रंथ में ढेंढ़नपाद और ताड़क का नाम छोड़ दिया। प्राप्त सामग्रियों के आधार पर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री (बौद्ध गान ओ. दोहा मुखबंध/पृ. 21-25) और परशुराम चतुर्वेदी (वीणा/सितंबर,1940) ने भी जीवनवृत्त प्रस्तुत किया। इसके अलावा कौल तथा नाथ सम्प्रदाय की गुरु परम्परा पर विचार करते हुए डॉ. प्रबोधचंद्र बागची (कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृ.90) और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (नाथ सम्प्रदाय, अध्याय 2,3,4, 6 तथा 12) ने भी लुईपा, जालंधरीपा तथा काण्हपा आदि के जीवन तथा साधना पर प्रकाश डाला है। विविध तालिकाओं में एकाध नामों की भिन्नता होने पर भी चर्यागीतकार चौरासी सिद्धों के अंतर्गत ही आते हैं। चर्यागीतों में हमें कुल 23 सिद्धाचार्यों के नाम मिलते हैं। ये हैं- लुईपा, कुक्कुरीपा, विरुपा, गुण्डरीपा, चाटिलपा, भुसुकुपा, काण्हपा, कामलि या कम्बलाम्बरपा, डोम्बीपा, शांतिपा, महिण्डापा या महिधरपा, वीणापा, सरहपा, तांतिपा, शवरपा, आर्यदेवपा, ढेंढनपा, दारिकपा, भादेपा, ताड़कपा, कंकनपा, जयनन्दीपा एवं धामपा।

चर्यापदों में प्रथम सिद्ध लुईपा को माना है परंतु कुछ परम्पराएँ सरहपा को भी आदि सिद्ध मानती हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आम्नाय के प्रवर्तकाचार्य को आदि सिद्ध प्रमाणित करने का प्रयास करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि सिद्ध ऐतिहासिक कालक्रम से नहीं वरन् आम्नाय में विद्यमान प्रभुत्व से निर्णीत होता है। सरहपाद ने सर्वप्रथम बौद्ध तंत्रों को एक व्यवस्थित रूप दिया। लामा तारानाथ के अनुसार सरहपाद ने महामुद्रा-साधना का अभ्यास प्रथम बार किया और अपनी वज्रगीतियों के द्वारा इस विधि का प्रचार किया। इन्होंने साधना में योगिनी मार्ग का भी प्रवर्तन किया। साधनमाला ग्रंथ में त्रैलोक्यशंकर लोकेश्वर की दो साधनाएँ उपलब्ध हैं जिसका सत्यापन सरह ने किया था। इन दोनों में ही वज्रयोगिनी या साधना संगिनी का उल्लेख मिलता है, इस साधनापथ की स्थापना सरह ने की थी।[200] उल्लेख मिलता हैं कि साधना में साधन संगिनी की खोज करते हुए इन्होंने शर बनाने वाली एक युवती को महामुद्रा बनाया था।[201] इस दृष्टि से सरहपाद का महत्त्व है।

बाद में कामरूप के बौद्धों ने शैवों की प्रतिद्वन्द्विता में लुईपा या लौहित्यपाद को आदि सिद्ध ठहराया। इसी कारण मुनिदत्त ने भी लुईपा को अपनी चर्याकोष में प्रथम स्थान दिया। कामरूप के नाथ या शैव तांत्रिकों में मत्स्येन्द्रनाथ का माहात्म्य बढ़ा। उन्होंने शैव तांत्रिक साधनाओं का प्रचार किया। तिब्बती आचार्यों ने भी उन्हें अवलोकितेश्वर का अवतार मानकर लुईपा से उनकी एकात्मता स्थापित कर मत्स्येन्द्रनाथ की तुलना में लुईपा को आदि सिद्ध मान लिया। लुईपा संभवत: मत्स्येन्द्रनाथ से कुछ पहले हुए थे क्योंकि मत्स्येन्द्र के पिता मीननाथ बताए गए हैं। मीननाथ बौद्ध थे क्योंकि उनका बोधिचित्त पर लिखित एक पुस्तक- 'बाह्यांतर बोधिचित्त-बन्धोपदेश' उपलब्ध है। लामा तारानाथ ने मीननाथ को सिद्ध कुक्कुटी का शिष्य बताया है। सिद्ध कुक्कुटी ने लुईपा का आम्नाय ग्रहण किया था पर वे लुईपा के समकालीन नहीं थे, लुईपा उनके पूर्व आए थे अत: लुईपा द्वारा उद्भूत सम्प्रदाय को अपनाने के कारण कुक्कुटी उन्हें अपना गरु मानते थे।[202] अत: मीनाथ या मीननाथ, लुईपा के बाद आए थे अत: मत्स्येन्द्रनाथ और लुईपा की एकात्मता का कोई पुष्ट आधार नहीं मिलता।

त्रयोदश शताब्दी में जिस समय लुईपा का आम्नाय अधिक सबल था उसी समय-सस्क्य विहार की चौरासी सिद्धों की सूची बनी। अत: लुईपा को आदि-सिद्ध माना गया।[203] परंतु लामा तारानाथ ने पुराने ग्रंथों का आश्रय लेकर सिद्ध सरहपाद को ही आदि सिद्ध माना है।[204]

भिक्षु अभय श्री ने अपने शिष्य भिक्षु स्मोन् डुब शेस् रब्ने को मौखिक रूप से चौरासी सिद्धों का जीवन वृत्त बताया था जिसे उसने उसी रूप में भोट भाषा में अनुवाद कर लिया था। उसमें भी लूहिपा को प्रथम सिद्ध माना है।[205]

लुईपाद : 'चर्यागीतिकोष' के अनुसार लुईपाद सहजयान धर्म के प्रथम सिद्धाचार्य थे। डॉ. नील रतनसेन के चर्यागीतीकोष की तरह लामा तारानाथ ने इन्हें योगिनी सहचर्या का प्रवर्तक मानते हैं। स्मोन डुब शेस रब्ने के अनुसार किसी समय सिंहलद्वीप के राजा के तीन पुत्र थे, देहान्त के बाद

104409
LIBRARY
DATE

किसे राज्य दिया जाए इस विषय पर ज्योतिषियों से प्रश्न पूछने पर उन्होंने मध्यम पुत्र को राज्य देने का निर्णय दिया। तदनुसार राजा ने उसी का राज्याभिषेक कर दिया। उसे राज्य का प्रेम न था अत: वह राज्य से पलायन कर गया। वह कुछ दिनों तक रामल के देश रामेश्वर में रहा और वहाँ से बुद्ध गया। वहाँ एक डाकिनी ने कृपा कर उसे तांत्रिक मार्ग का उपदेश दिया। फिर वह राजपुत्र पाटलिपुत्र चला आया। वह लोगों द्वारा दिया गया अन्न खाता और श्मशान में सोता। एक दिन नगर में मेला लगा। राजपुत्र उस मेले में गया और वहाँ के मदिरालय में पहुँचा, तो मदिरा बेचने वाले लोगों की एक प्रधान लौकिक डाकिनी थी। वह उस राजपुत्र को देखकर कहने लगी कि इसके सभी चतुष्चक्र मलरहित हैं, पर इसके हृदय (चक्र) में मटर के समान जाति का विकल्प अभी भी शुद्ध नहीं हो पाया। फिर उसने राजपुत्र को मिट्टी के बर्तन में सड़े हुए खाद्य-पदार्थ डालकर दिए। राजपुत्र ने उसे फेंक दिया, तो उस डाकिनी ने क्रुछ होकर कहा कि तुमको खाने के प्रति अच्छे-बुरे की विकल्पना बिना छोड़े, धर्म कहाँ से आयेगा? उसकी बातों के सुनने के बाद वह योगी सोचने लगा कि विकल्पना एवं निमित्त बोधि प्राप्ति के लिए महान विघ्न है, ऐसा जानकर उसने सभी प्रकार के विकल्पों एवं निमित्तों को छोड़ दिया। पटना के पास गंगा तट पर मछुआ लोग गंगा से मछली मारने के बाद तट पर मछली की आँतों को फेंक दिया करते थे और राजपुत्र उसको खाते हुए बारह वर्षों तक वहीं साधना करता रहा। जब मछुआ औरतों ने देखा कि एक योगी उन लोगों द्वारा फेंकी गयी मछली की आँतों को उठाकर रोज खा रहा है तो उन लोगों ने उन्हें लूहिपा (लूई) कहना आरंभ कर दिया।

पुरातत्त्वेवेत्ता राजमोहन नाथ के अनुसार लुईपा एकादश शती में हुए। वे कामरूप के राजा इन्द्रपाल क पार्षद थे। उनके अनुसार लुईपा का पूर्व नाम 'समोन्त शोभा' था।[206] राहुल सांकृत्यायन के अनुसार सरहपाद के शिष्य शबरपाद थे और लुईपा शबरपाद के शिष्य थे। लुईपा राजाधर्मपाल (770-815 ई.) के यहाँ सचिव या लेखा अधिकारी थे।[207]

उन्होंने संस्कृत में चार पुस्तकों का प्रणयन किया-वज्रसत्त्व-साधन, बुद्धोद्य, श्रीभगवदभिसमय और अभिसमय विभंग। कतिपय विद्वान दिपंकर श्री ज्ञान को लुईपा के समकालिक मानते हैं और कहते हैं कि दिपंकर ने लुई को अभिसमय विभंग नामक ग्रंथ लिखने में मदद की थी। श्रीज्ञान ने सन् 1038 ई. में विक्रमशिला विहार से 58 वर्ष की आयु में तिब्बत की यात्रा की थी (बौद्धगान ओ दोहा, मुखबंध, पृ. 15)। परंतु कुछ विद्वानों के अनुसार श्रीज्ञान के लुई कृत 'अभिसमय' नामक पुस्तक की 'विभंग' नामक टीका लिखी थी।

सरहपाद : सरहपाद एक प्रसिद्ध सिद्ध थे। विभिन्न स्थानों में इन्हें सरोरुह वज्र, सरोजवज्र, पद्मवज्र या राहुलभद्र भी कहा गया है। स्थविर राहुल सस्क्य की सूची में 47 वें हैं और कामरूप के शूद्र बताये जाते है, जबकि सरह ब्राह्मण थे।[208] सुम्प म्खन पो के अनुसार सरह का जन्म पूर्व भारत में राज्ञी नामक नगरी में ब्राह्मण पिता और डाकिनी के योग से हुआ।[209] वर्तमान कामरूप जिले के राणी नामक स्थान को विद्वानों ने राज्ञीराज्य के रूप में शिनाक्त किया है। राहुल सांकृत्यायन ने कामरूप को ही सरहपाद का जन्मस्थान माना है।[210] अर्थर ग्राण्डवेडेल और जुसेपे टसि ने भी सरहपाद को कामरूप का शूद्र माना है।[195] उन्होंने नालंदा में ही उच्च शिक्षा प्राप्त की और समग्र उत्तर भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उड़िसा में एक आचार्य से मंत्रयान की दीक्षा ली और महाराष्ट्र जाकर एक शर बनाने वाले की कन्या के साथ महामुद्रा योग सम्पन्न कर सिद्धि लाभ किया।

तंजूर में इनके 21 ग्रंथ बताए गए हैं जिनमें से 16 ग्रंथ अपभ्रंश से भोटिया में अनुदित माने जाते हैं।[211] इसके अतिरिक्त संस्कृत में इनके नाम से दो त्रैलोक्यवशंकर की साधनाएँ भी मिलती हैं (साधनमाला, प्रथम खंड)।

शबरपा : ये सरहपाद की शिष्य परम्परा में आने के कारण लामा तारानाथ ने इन्हें नव-सरह कहा है। सुम्प म्खन पो के अनुसार वे (भांगल) बंगाल देश के शबर थे। किंतु तारानाथ उन्हें पूर्व

भारत के किसी नर्तक प्रजाति का बताते हैं। नागार्जुन से दीक्षित होने के बाद वे श्री पर्वत चले गए। वे अपनी दो महामुद्रा लोकी और गुनी के साथ रहते थे। दोनों बहनें थीं और उनका चर्यानाम पद्मावती तथा ज्ञानवती था। तारानाथ के अनुसार शबरपा गुप्तरूप से महामुद्रा साधन करते थे और बाह्य रूप से पापमय जीवन बिताते थे।

ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि इन्होंने अद्वयवज्र को शिक्षा दी थी। पर बाद में यह सिद्ध हो चुका है कि ये दोनों समकालीन नहीं थे। तंजूर में शबरपा के 16 ग्रंथ प्राप्त होते हैं। शबरपा वज्रयोगिनी साधना के प्रवर्तक माने गए हैं।[212]

दारिकपा : लामा तारानाथ के अनुसार दारिकपा उड़िसा के राजा थे और वे अपने मंत्री ढेंकीपा के साथ लुईपा के शिष्य हो गए थे। सस्क्य ब्कं बुम् के अनुसार लुईपा ने उड़िसा आकर इन्हें दीक्षा दी। दारिक ने काँचीपुर जाकर एक गणिका की सेवा कर सिद्धि प्राप्त की, तब इनका नाम दारिकपा हुआ। इनके मंत्री ब्राह्मण थे पर शुण्डिनी की ढेंकी पर काम करते थे अत: उनका नाम ढेंकीपा हुआ। दारिका शब्द का अर्थ भोट भाषा के अनुसार 'पत्नीवाला' है। दारिका शब्द वेश्यावृत्ति की स्त्री के लिए आता है। अत: दारिकपा का अर्थ 'वेश्यावाला' होना युक्ति संगत लगता है। दारिकपा के 10 ग्रंथों का उल्लेख तंजूर में है।[213]

डोम्बीपा : डोम्बीपा जाति के क्षत्रिय थे। वे मगध के निवासी थे। उनके इष्टदेव हेरुक थे। इन्हें गुरु कृष्णचर्यापा ने अभिषिक्त कर तंत्र में दीक्षित किया था। लामा तारानाथ के अनुसार ये सिद्ध नडपा (नारोपा) के शिष्य थे।

कहते हैं ये मगध के राजा थे। इन्होंने एक गायक की बारह साल की लड़की को अपनी महामुद्रा बनाकर बारह वर्षों तक साधना की। इस बात का किसी को ज्ञान नहीं था। बाद में लोगों को पता चला तो उन्होंने यह बात फैला दी की राजा ने एक डोमनी को रख लिया है। इस बात के सत्यापन के लिए राजपुत्र और मंत्री गए उन्होंने देखा कि लड़की पानी लेने जा रही है। झील पर

पहुँचकर उसने कमल पत्तों पर पैर रखा और बिना डूबे सतह से शुद्ध पानी लाकर राजा को पिलाया। चमत्कार देखकर लोग नगर लौट आए। लोगों की बात सुनकर राजपुत्र व मंत्री ने राजा को नगर आकर राज्य संभालने का आग्रह किया। कई दिन बाद राजा और उनकी योगिनी चीते पर सवार होकर विषैले नागों का चाबुक लेकर नगर में आए। आश्चर्यचकित नगरवासियों ने राजा को राज्यग्रहण करने का आग्रह किया।

राजा ने स्वयं को राजकार्य करने के अयोग्य बताया क्योंकि वे स्वयं को शूद्र बता रहे थे। उन्होंने कहा कि 'आदमी के मर जाने पर उसकी जाति की कल्पना का विच्छेद हो जाता है। अत: मुझे अग्नि में जला दो, उसके बाद जब जन्म होगा, फिर राज-कार्य करूँगा।

कथनानुसार नागरिकों ने चंदन की चिता बनाकर उन्हें सपत्नीक जला दिया। वह चिता सात दिनों तक जलती रही। अग्नि शांत होने के बाद लोगों ने देखा कि एक विशाल कमल के अंदर दंपत्ति हे वज्र के रूप में दिखलाई पड़े। इसी से वे 'डोम्बीपा' नाम से प्रसिद्ध हो गए। डोम्बीपा राजकार्य छोड़कर जगत् कल्याण के लिए खोचर लोक चले गए।[214] इन्होंने कौल पद्धति का प्रचार किया।

कम्बलाम्बरपा : सिद्ध कम्बालाम्बरापा, डोम्बीपा के समकालीन थे। कुछ लोग इन्हें ओडयान और कुछ इन्हें उड़िसा के निवासी मानते थे। ये चक्रसंवर के उपासक थे और इनका संबंध तीर्थिक वैष्णवों से भी था। मंत्रावती नामक एक योगिनी से बैर हो गया तो उसने इनपर मारण प्रयोग कर दिया। इन्होंने कंबल का रूप ग्रहण किया। उस योगिनी ने कंबल का तार-तार कर दिया फिर भी वे प्रकट हो गए। ये इंद्रभूति के गुरु माने जाते हैं और जाति के राजपूत थे। ये जालंधरपाद के भी गुरु माने जाते हैं।[215]

कुक्कुरीपा : ये कपिलवस्तु के ब्राह्मण निवासी थे। लामा तारानाथ ने इन्हें मीनपा का गुरु और चर्पटीनाथ का शिष्य बताया है। सिद्ध कुक्कुरीपा को यह नाम इसलिए मिला क्योंकि इन्होंने जिस स्त्री की सहायता से महामुद्रा सिद्धि की थी वह पूर्वजन्म में कुक्कुरी थी। इनका जीवनकाल एकादश-द्वादश शती के मध्य था। कुक्कुरीपाद ने महामायासाधन नामक एक संस्कृत ग्रंथ की रचना की थी। वज्रयान पर भी उनके कई ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनकी संस्कृत रचनाओं में कामाख्या पीठ केन्द्रिक महामाया की उपासना के संकेत मिलते हैं।[216]

विरुपा : राहुल सांकृत्यायन के अनुसार विरुपा 830 ई. में देवपाल के शासनकाल (809-49) में जीवित थे। उनके अनुसार विरुपा त्रिउर प्रदेश के निवास थे। मुहम्मद शाहिदुल्लाह ने त्रिउर प्रदेश को त्रिपुरा बताया है। लामा तारानाथ के अनुसार ये वज्रयोगिनी के साधक थे। इनके गीत में मद्यविक्रेता शुण्डिनी की छवि स्पष्ट रूप से उभकर आती है। इन्होंने -छिन्नमस्ता साधन, रक्तयमारि साधन, विरुपगीतिका, कर्मचण्डालिका, विरूपवज्रगीतिका, दोहाकोषगीति नामक रचनाएँ की।[217]

गुण्डरीपा : गुण्डरीपा को सस्क्य ब्कं बुम में डिसु नगर का बहेलिया बताया गया है और लीलापा का शिष्य बताया है। राहुल जी ने इन्हें विरुपा या कुक्कुरीपा का समकालीन माना है। परंतु उनका जन्मस्थान डिसु नगर का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इन्हें गोंडरि या गोधुरिपा भी कहते हैं जिसका अर्थ है चिड़ीमार या व्याध। एकदा जब ये शिकार पर गए तो एक योगी मिले। योगी ने इन्हें इस पापकर्म से निवृत्त होने को कहा तो इनके पूर्वजन्म के संस्कार जाग उठे। योगी ने उनकी पात्रता देखी और उन्हें प्रभाव-उत्क्रांति का अभिषेक दिया, एवं एकालंबन की दीक्षा भी दी। नौ वर्षों में उनके चित्त का सभी मल विशुद्ध हो गया और 'महामुद्रा परमसिद्धि' प्राप्त हो गई।[218]

चाटिलपा : चाटिलपा का नाम तंजूर में नहीं मिलता और न यह नाम वज्रयानी सिद्धों की सूची में है। किंतु नाथ सिद्धों की सूची में इनका नाम 64वाँ मिलता है।[219] चौरासी सिद्धों में चलुकिपा का वृत्तांत मिलता है जो भंगलपुर (बंगालपुर) के सिद्ध बताए गए हैं। ये जाति के शूद्र हैं।[220]

भुसुकुपा : कतिपय विद्वान भुसुकुपाद और शांतिदेव को एक ही व्यक्ति मानते थे। पंरतु विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि दोनों एक ही व्यक्ति नहीं हैं। डॉ. हरप्रसाद शास्त्री, डॉ. सुकुमार सेन आदि पंडितों ने उनके और शांतिदेव के गीतों में निहित दर्शन के भेद को देखकर इन्हें अलग मान लिया है। इनकी जन्मभूमि के विषय में पर्याप्त मतभेद है, पर ये जाति के क्षत्रिय थे। चौरासी सिद्धों के वृत्तांत के अनुसार 'नालंदा' उनका अध्ययन स्थान था। इनका जन्मस्थान भद्रनगर या सौराष्ट्र था। इनके पिता का नाम महाराज कल्याणवर्मा था। इनका नाम शांतवर्मा था। एक 'भुसुक' योगी से इन्होंने 'तीक्ष्ण मंज्जुश्री' की साधना ग्रहण की और फलत: इष्टदेव का साक्षात्कार हुआ। जब इनके पिता का देहांत हुआ इन्हें राजगद्दी पर बैठना था। ये उसी समय राज्य छोड़कर नालंदा चले आए। भुसुकु का अर्थ है- भुक्ता, सुप्ता और कुकता अर्थात् खाना, सोना और पचाना। नालंदा में चमत्कार दिखाने के कारण वहाँ के राजा और प्रजा ने श्रद्धाकुल होकर उन्हें शातिंदेव नाम दिया ।[221]

काण्हपा : चर्यापद में काण्हपाद के लिए कृष्णपाद, कृष्णाचार्यपाद, कन्निल, कृष्णवज्र, कान्ह आदि नाम से 13 गीत मिलते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने देवपाल के राजत्वकाल में ही इनका जीवनकाल माना है। इनका जन्मस्थान कर्नाटक था। परंतु ये बिहार और बंगाल (वर्तमान बांग्लादेश) में रहे। ये जाति के ब्राह्मण थे और इन्होंने गीतिका, महाढुँढन, वसंततिलक, असमंध दृष्टि, वज्रगीति, दोहाकोष की रचना की। ये शैव सम्प्रदाय के बहुत निकट थे क्योंकि तारानाथ ने इन्हें अंदर से बौद्ध और बाहरी जीवन में शैवाचार माननेवाला बताया है। सस्क्य ब्कं बुम में काण्हा नाम का कारण यह बताया गया है कि इनके कान लम्बे थे।[222]

शान्तिपा : हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार ये दसवीं शती में रत्नाकरशांति नामक दिग्गज पंडित थे एवं विक्रमशिला के पश्चिम द्वार के रक्षक या अधिष्ठाता थे। राहुलजी के अनुसार ये मगध के निवासी और राजगुरु थे। ये उडन्तपुरी, सोमपुरी, मालवा, सिंहल आदि का पर्यटन कर वेद,

वेदांग, त्रिपिटक आदि के विद्वान हो गए थे। ये अपने समय के महान पंडित और कालिदास सर्वज्ञ कहे जाते थे।[223]

महीपा : महीपा का नाम चर्या सं. 16 में महिण्डा के नाम से आता है। ये महीधर नाम से परिचित हैं। तंजूर के अनुसार ये काण्हपाद के शिष्य हैं। ये मगध के शूद्र थे। इन्होंने 'वायुतत्त्व दोहा गीतिका' की रचना की थी। राहुल जी के अनुसार ये विग्रहपाल, नारायण पाल के शासन काल (850-54-908 ई.) में विद्यमान थे।[224]

वीणापा : हरप्रसाद शास्त्री ने उन्हें विरुपा का वंशधर माना है। साथ ही इन्होंने वज्रडाकिनी देवी की गुह्य पूजा की एक पुस्तक भी लिखी थी। लामा तारानाथ ने उन्हें अश्वपाद का शिष्य बताया है। जिससे उनका समय आठवीं शताब्दी का अंतिम चरण ठहरता है। परंतु म. शाहिदुल्लाह ने उन्हें गौड़ देश का क्षत्रिय मानते हुए नौवीं शताब्दी का बताया है। ये वीणा बजाकर अपने गीतों को गाया करते थे। उनके चर्यापद में वीणा का ही रूपक है और हेरुक पद्धति को मान्यता दी गई है।[225]

तांतिपा : सस्क्य ब्कं बुम् के अनुसार ये उज्जैन के तंतुवाय (जुलाहा) थे। तंजूर में इनके एक ही ग्रंथ का उल्लेख मिलता है, वह है 'चतुर्योग भावना' (बौद्ध गान., परिशिष्ट)। चर्यापद सं 25 इनका था जो हरप्रसाद शास्त्री वाली पांडुलिपि में खो गया है किन्तु डॉ. बागची ने उसका तिब्बती रूपांतर खोज लिया है (सिद्ध सहित्य पृ. 33)। उस गीत का अर्थ है - धर्म का उद्‌भव और प्रतिष्ठा कैसे होता है उसकी व्याख्या वज्रयान द्वारा ही संभव है। पाँच कालों के तंतु द्वारा शुद्ध वस्त्र तैयार किया जाता है। मैं वह जुलाहा हूं, हमारा अपना सूत है पर हम सूत के लक्षण ही नहीं जानते। साढ़े तीन हाथ का तकिया त्रिभुवन में फैला है, इस वस्त्र की व्याप्तता (शून्यता से) आकाश परिव्याप्त है।[226]

आर्यदेवपा : ये कन्नरीपा नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने संस्कृत में 'कानेरी गीतिका' नाम अपभ्रंश ग्रंथ की भी रचना की थी। जाह्नवी कुमार चक्रवर्ती के अनुसार ये राहुलभद्र के शिष्य नागार्जुन एवं उड़िसा के राज इन्द्रभूतिपाद के समकालीन थे। सस्क्य सूची के अनुसार इन्हें नालंदावासी बताया गया है। तथा लामा तारानाथ इन्हें नागार्जुन का शिष्य बताते हैं। इनकी पहचान को लेकर काफी मतभेद है क्योंकि कई आर्य देवों का उल्लेख मिलता है। किसी सबल प्रमाण के अभाव में इनकी ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकती।[227]

ढेंढनपा : राहुल जी के अनुसार ये अवन्तीनगर के जुलाहे जाति के थे। राहुल जी ने देवपाल, विग्रहपाल के शासनकाल (809-49-58 ई.) को ढेंढनपा (874 ई.) का जीवनकाल माना शास्त्री महोदय के अनुसार ढेंढनपा का नाम तिब्बती उच्चारण में धेतन होता है किंतु इसके पीछे कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया। वर्ण रत्नाकर की सूची में ढेण्टस 27 वाँ नाम मिलता है जो ढेण्ढन का ही रूपांतर लगता है।[228]

ढेंढनपा का नाम तिब्बती (कांजूर) सूची में न होना स्वाभाविक ही है क्योंकि वे तिब्बत में बहुल प्रचलित अनुत्तर, महा और अति तंत्रों के विरोधी थे। वे योगाचार तंत्र के समर्थक थे। ढेंढन कोई स्वाभाविक नाम नहीं है इसके साथ मेल खाने वाला नाम हिंदू या बौद्ध सूची में नहीं मिलती। ऐसा अवश्य अनुमान लगाया जाता है कि अन्वेषण और विश्लेषण के आधार पर अपना सम्प्रदाय खोजने के कारण उनका नाम ढेंढन पड़ा हो जिसका मूल शब्द प्राकृत का 'ढूण्ढ' रहा होगा (हिन्दी में ढूँढना)।[229]

ताड़कपा : ताड़कपा का नाम किसी ी सूची में उपलब्ध न होने के कारण राहुलजी का अनुमान है कि ताड़कपा वास्तव में नाड़पा का बिगड़ा हुआ रूप है। परंतु बागची द्वारा उद्धृत इनके चर्यापद के तिब्बती अनुवाद में भी इनका नाम ताड़कपाद ही मिलता है। तंजूर तालिका में किसी ताराशी या तारापा का नामोल्लेख मिलता है।[230]

कंकनपा : तंजूर के अनुसार ये सिद्ध कंबलाम्बरपा के वंशज हैं। उन्होंने 'चर्या दोहा कोष गीतिका' नामक ग्रंथ की रचना की। तंजूर में ही इनके कोकदत्त, कंकणपाथा कोंकणपा नाम मिलते हैं। नाम से तो ये कोंकण प्रदेश के प्रतीत होते हैं किन्तु सस्क्य विहार सूची में इन्हें विष्णुनगर (मगध) का राजपुत्र माना गया है।[231]

जयनन्दीपा : जयनन्दीपा का नाम तंजूर सूची में परिगणित 58 वें सिद्ध जयानन्द या जयानन्त का नाम मिलता है। वज्रयानी सूची के अनुसार ये बंगाल के निवासी और जाति के ब्राह्मण थे। ये किसी राजा के ब्राह्मण मंत्री थे। ये तांत्रिक धर्म की दीक्षा लेकर गुह्य रूप से साधना करते थे। वह सदा बलि देते थे। अन्य मंत्रियों ने राजा से शिकायत कर दी फलतः राजा ने उन्हें कारारुद्ध कर दिया। बलि के नियत समय में बलिस्थान में कौए भर गए और ब्राह्मण को न पाकर राजमहल में जाकर उत्पात मचाने लगे। इससे त्रस्त होकर राजा ने ब्राह्मण को छोड़ दिया और प्रतिदिन पाँच सेर चावल बलि की सामग्री के रूप में उसको दिया जाने लगा। इस घटना से मंत्री की नाम जयानन्द (जयानन्दि) विख्यात हो गया।[232]

धामपा : लामा तारानाथ के अनुसार धामपा काह्नपा के शिष्य हैं। तंजूर सूची में धामपा को कृष्ण का वंशधर बताया गया है। डॉ. शाहीदुल्लाह ने इन्हें बांग्लादेश के विक्रमपुर का निवासी बताया है। सुगत दृष्टिगीतिका, महायान निष्पन्नक्रम, हूंकार चित्तबिंधु भावनाक्रम, कालि भावनामार्ग आदि इनकी रचनाओं के नाम हैं।[233]

भद्रपा : लामा तारानाथ के अनुसार भाद्रपाद, भद्रपा का गुह्यनाम है। सैयद अली एहसान ने इन्हें श्रावस्ती नगर का चित्रकार बताया है जो विग्रहपाल, नारायण पाल के शासन काल में विद्यमान थे। किंतु जाह्नवी कु. चक्रवर्ती ने इन्हें बंगाल में प्रचलित गोपीचंद्र के गीत में उल्लेखित 'बाइल भादाइ' होने की संभावना व्यक्त की है क्योंकि ये कृष्णाचार्य के शिष्य थे। गुरु जालंधरी के शाप से

ग्रस्त कान्ह को बाइल भादाइ ने शापमुक्त किया था। तंजूर तालिका में इन्हें भांडारिण (आचार्य) कहा गया है। इन्होंने ''सहजानंद दोहाकोष गीतिका दृष्टि'' ग्रंथ की रचना की थी।[234]

इन सिद्धों के जीवन वृत्त के विषय में तो कथाएँ मिलती हैं परंतु उनमें तथ्यात्मक इतिहास खोजना संभव नहीं है क्योंकि इनके विषय में कोई ठोस तथ्य नहीं मिलता है। ऐसे में मात्र अनुश्रुतियों और परम्पराओं के आधार पर ही इनकी जीवनियाँ लिखी गई हैं।

एक उल्लेख्य बात यह है कि सिद्धों की भाषा व शब्दों के आधार पर उन्हें हम किसी निर्दिष्ट स्थान का निवासी नहीं कह सकते क्योंकि ये योगी प्राय: घुमक्कड़ होते हैं अत: उनकी भाषा में विभिन्न स्थानीय भाषाओं का प्रभाव सहज रूप से परिलक्षित होता है। तथापि एक बात तो स्पष्ट है कि ये सिद्धाचार्य कामरूप, बंगाल, उड़िसा, मगध आदि अंचलों के निवासी थे। ऐसा इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि प्राचीन तांत्रिक पीठों में अधिकाधिक पीठ इन्हीं स्थानों में हैं और इन्हीं क्षेत्रों में तंत्रवाद का प्रभाव भी प्रसरित था।

संदर्भ :

1. चर्यापद/अतीन्द्र मजुमदार / पृष्ठ 13
2. चर्यागीति / तारापद मुखोपाध्याय / पृष्ठ 63
3. वही, पृ. 62-64
4. बौद्धगान ओ दोहा : मुखबंध पृ.6
5. SK. Chetterji; Origin and Development of Bengali Language Vol-I; 1975 Pg.123.
6. ह.प्र.शास्त्री...Pg 15
7. सुकुमार सेन; चर्यागीति पदावली भूमिका पृ.- 89, 1966
8. राखालदास बंदोपाध्याय; बांग्लार इतिहास-प्रथम खंड, पृ. 40-48;1321 बंगाब्द
9. राज्येश्वर मित्र : चर्यागीति, विश्वभारती पत्रिका; जुलाई-सितंबर अंक, 1959
10. Nilratan Sen; (edi.) Charyagitikosa. introduction-pg-XVII; 1977
11. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, प्रणव कुमार डेका, पृ. 25
12. ODBL- Pg-118
13. V.S. Apte-Sanskrit English Dictionary Pg no. 203 Motilal Banarasidass, 1965).
14. बौद्धगान ओ दोहा, द्वितीय संस्करण, पृ.32
15. एनाजोरी : प्रतिदिन समाचार गोष्ठी द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक अंक 13 नवम्बर, 1999
16. चर्या गीत आरु बौद्धतंत्र, पृ. 48
17. वही
18. चर्याग़ीति प़रिचय/डॉ. सत्यव्रत डे/पृ. 4-5/1997
19. वही /पृष्ठ 2-3
20. वही/ पृष्ठ 3
21. P. Cordeir-catalogue de fonde Tibetion de la Bibliotheque Nationals, Paris, 1906 pg. 107
22. चर्यागीति परिचय/ डॉ. सत्यव्रत डे/पृष्ठ.6
23. वही / पृ. 5

24. वही
25. चर्या गीत आरु बौद्धतंत्र / पृ. 55
26. डॉ. प्रणवज्योती डेका/चर्यागीत आरू बौद्ध तत्रं/पृ.28
27. Buddhism. T.W. Rhys. Davis/Indological Book House/Varanasi 1973
28. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र/पृ.43-45
29. वही/पृ.46
30. वही/पृ.42
31. वही
32. वही/पृ.48
33. Introduction to Buddhist Esoterism / Binoytosh Bhattacharjee /पृ.17
34. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र : प्रणवज्योति डेका पृ. 73
35. बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय पृ.15/सिद्ध साहित्य पृ.149 डॉ. धर्मवीर भारती
36. An introducation to Budhhist Esoterism-- Dr. Benoytosh Bhattacharya; Pg.No. 96
37. चर्यागीति परिचय डॉ. सत्यव्रत डे /पृ.43
38. सिद्धनागार्जुनकक्षपुट/भूमिका/संपा. पंचानन शास्त्री/पृ.6
39. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र /पृ.98
40. Introduction to Buddhist Tantric System / F.D Lessing, A Wayman / पृ.159
41. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र /पृ.76
42. Introduction to Buddhist Tantric System / F.D Lessing, A Wayman / पृ.205
43. Introduction to Buddhist Tantric System / F.D Lessing, A Wayman / पृ.215
44. वही/पृ. 251
45. Sanskrit English Dictionary/V.S. Apte/पृ. 603)
46 कबीर, आचार्य, हजारी प्र. द्विवेदी/पृ 27

47. हजारी प्रसाद द्विवेदी- कबीर/पृ. 32-33
48. पदावली/विवेकानन्द केंद्र प्रकाशन ट्रस्ट/पृ. 77
49. सिद्ध साहित्य/धर्मवीर भारती/पृ.139
50. हिन्दी साहित्य का इतिहास/संपादक नगेन्द्र/पृ. 48
51. चर्यागीत आरू बौद्ध तंत्र/ डॉ. प्रणव ज्योति डेका/ पृ.45
52. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र/पृ. 58
53. वही
54. डॉ. प्रणवज्योति डेका से हुए साक्षात्कार में उनका कथन
55. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र/पृ. 38
56. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र/पृ. 128
57. वही
58. Lucy Mair - An introduction to social Anthropology पृ. 212-213 / E.B Tylor ने भी समस्त अतिप्राकृतिक विश्वासों को 'Animism' ही कहा।
59. डॉ. राधाकृष्णन् Indian philosophy, pg. 123 / M. Hiryara : Essential of In dian philosophy, pg. 17/ A.A. Macdonell : A history of sanskrit Litera ture pg. 153
60. Indian philosophy : Dr. S. Radhakrishran Vol-1 pg. 120.
61. A History of Sanskrit Literature : A.A. Macdonell pg. 165
62. षष्ठ अध्याय/द्वितीय ब्राह्मण/ श्लोक सं.- 16) (उपनिषद् संग्रह/पृ. 620
63. (द्वितीय अध्याय/त्रयोदश खंड/श्लोक1/उपनिषद संग्रह/पृ. 392)
64. कौशितकी उपनिषद /द्वितीय अध्याय, श्लोक- 4/ उपनिषद् संग्रह/डॉ. रमांरजन मुखोपाध्याय/ पृ. 192-193/ ग्रंथिक- 1402 बंगाब्द
65. P.N Chopra, B.N puri, M.N Das- A Social Cultural Economic history of India (Mac Milan Company of India; New Delhi 1974; Pg No. 224
66. Brahmapala Sutta of Digha Nikaya : Digha Nikaya pg. 21 Ed. J. Kashyap/Nalanda/1958
67. Budhist Philosophy : Prof M. Hiriyana; Pg- 135; Ed. S. Mukharjee
68 . The age of imperial unity : Ed. R. C. Majumdar Pg. 381
69 . Nava Nalanda : Ed. Dr. Mukharjee; Pg. 243

70 . Encyclopaedia of Religion and Ethies : Ed. Hatiangs; Pg. 329Calcutta, 1967

71. (Sahajyana : Ram Prasad Mishra p. 7)

72. वही

73. वही

74. वही/ पृ. 6

75. वही

76. वही, पृ. 5-6

77. दीघ निकाय : संपा. राहुल सांकृत्यायन व जे काश्यप/पृ. 30

78. Indian Philosophy Vol-I ; Dr. S. Radhakrishnan Pg. 600-601

79. The age of Imperial Unity : Ed. Dr. R.C Majumdar, Pg. 351

80. The Cultural Heritage of India : Ed. Dr. S S. Radhakrishnan / Vol-I Pg. 469

81. उत्तर कौलिक साधकों में प्रचलित मौखिक मत के अनुसार

82. Hevajra Tantra, VOL-II/D.L. Snellgrove oxford university press-1976 pg. 326

83. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य/नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ. 112

84. वही

85. साधनमाला. विनयतोष भट्टाचार्य; पृ. 411, Gaekwads Orintal Series, Oriental Institute, Baroda 1968, VOI- I; No- 26

86. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय/ पृ. 113

87. वही

88. साप्ताहिक वर्तमान, साप्ताहिक पत्रिक, pg 12

93. शशिभूषण दासगुप्त, आब्सक्योर रीलिजियस कल्ट्स, पृ.301/ FIRMA K.L. Mukhopadhyay/Calcutta, 1963

94. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ.77

95. वही

96. वही

97. साधनमाला, खंड 2 पृ.210, पृ. 481) तथा चित् विशुद्धि प्रकरण श्लोक 5/29
98. महायान सूत्रालंकार, लेवी संस्करण पृ. 41 Sri Satguru Pub. 1992 1 st Edn. Translated by Surekha Vijay Limaye
99. वही, 41
100. विंटरनित्ज़, गुह्यसमाज तंत्र एण्ड एज ऑफ तंत्र, खण्ड 19, अंक1
101. सिद्ध साहित्य, पृ. 103
102. वही, पृ 189
103. प्रबोध चंद्र बागची, दोहाकोष, पृ.14, Calcutta Sanskrit Series 1934
104. देवी, निर्मलप्रभा बरदलै/पृ.139
105. वही
106. वृहद् तंत्र सार, रामकृष्ण न्यायवागीश, वसुमती प्रकाशन, पृ. 237
107. प्राणतोषिणी तंत्र, संपा. जगन्मोहन तकालंकार, पृ.442
108. Aghora : pg No. 180 Rupa Publication
109. Religion of Tibet.पृ. 97
110. डी.राइट: हिस्ट्री ऑफ नेपाल: कैम्ब्रिज, 1877, पृ.140
111. नाथ संप्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.54
112. देवी/निर्मलप्रभा बरदलै, पृ.139
113. बौद्ध गान ओ दोहा, हरप्रसाद शास्त्री, मुखबंध, पृ. 16
114. प्र. चं. बागची, दोहाकोश पृ. 128
115. एच.सी.भयानी: दोहाकोश : पृ.7
116. वही
117. योग प्रवाह, पृ. 215
118. वही
119. नाथ संप्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 1,3
120. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 258
121. वही
122. वही
123. वही

124. एच.सी. भयानी, दोहाकोश, पृ.19
125. डॉ. प्रणवज्योति डेका : चर्यागीत आरु बौद्ध तंत्र, पृ.149
126. हिंदी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृ.8
127. दोहाकोशगीति, संपा. एच. सी. भयानी, पृ. 18
128. वृहत् तंत्रसार, कृष्णानंद आगमवागीश, पृ. 206, वसुमती प्रकाशन
129. जयदेव, गीतगोविंदम्, संपा. बरबरा मेलर, पृ.1
130. नाथ संप्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.27
131. नाथ सं.पृ.15-16
132. सरहपाद दोहाकोश : बागची/पृ. 81
133. चौरासी सिद्धों का वृत्तांत : नागेंद्र नाथ उपाध्याय/पृ. 25
134. www.vajrayana.com / Death symbolism
135. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र/पृ. 47
136. नाथ संप्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ 128
137. चर्यागीत आरु बौद्ध तंत्र, डॉ. प्रणवज्योति डेका, 47-48
138. बुद्धिष्ट एसोटिरिज्म, विनयतोष भट्टाचार्य, पृ. 63
139. दोहकोष, एच. सी भयाणी, पृ.27
140. साप्ताहिक वर्तमान, बंगला पत्रिका ,पृ.7
141. वही,पृ. 7-8
142. बागची। दोहाकोश,पृ. 150
143. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 248
144. साप्ताहिक वर्तमान, बंगला पत्रिका, 19 नवंबर 2005, पृ. 9
145. वही
146. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 180
147. दोहाकोश,बागची,पृ. 162
148. वही, पृ. 149
149. दोहाकोश,कृष्णपाद,भयाणी,पृ.3
150. आ. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास,पृ.6

151. दोहाकोश,भयाणी,पृ. 5
152. आ. रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास,पृ.7
153. संस्कृति के चार अध्याय,दिनकर,पृ183-192
154. बुद्धिस्ट एसोटेरिज़्म, विनयतोष भट्टाचार्य, पृ.38-39
155. संस्कृति के चार अध्याय,दिनकर,पृ. 196
156. Sahajyana : A study of Tantric Buddhism,pg.15
157. हिन्दी साहित्य का इतिहास,शुक्ल,पृ.6
158. देवी,निर्मलप्रभा बरदैल, पृ.196
159. साप्ताहिक वर्तमान,बंगला पत्रिका, पृ.10
160. कालचक्र,वीरेन्द्र कुमार सिंह,पृ. 113,114,115, 2000ई, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
161. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.18
162. वही
163. नीलतंत्र,संपा: पंचानन शास्त्री,नवभारत पब्लिशर्स,पृ. 87
164. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 19
165. वही, पृ. 18
166. सिद्ध नागार्जुन कक्षपुट,संपा. पंचानन शास्त्री, नवभारत पब्लिशर्स,पृ.145
167. संस्कृति के चार अध्याय,दिनकर,पृ.183-184
168. चर्यागीत आरु बौद्ध तंत्र,डॉ. प्रणव ज्योति डेका, पृ. 30
169. वही, पृ. 47-48
170. Introduction to Buddhist Tantric System,Lessing and Wayman, pg. 228
171. Encyclopaedia of Buddhism, Vol.III, pg no. 687, Ed. G.D. Malasekara, Colombo- 1967
172. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.36
173. The comprehensive history of Assam, H.K. Barpujari pg. 266
174. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ. रामचंद्र शुल्क,पृ.6
175. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ. 318
176. दोहाकोश,बागची,पृ.81-82
177. चर्यापद,डॉ. परीक्षित हजारिका,पृ.156

178. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ. रामचंद्र शुल्क,पृ.11-12
179. हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, भूमिका,पृ.13, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1954
180. बुद्धिष्ट इसोटैरिज्म, विनयतोष भट्टाचार्य, भूमिका, पृ. 9
181. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ.92
182. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ.274
183. (शिव/निर्मल प्रभा बरदलै/पृ. 66)
184. (वही, पृ. 71)
185. (वही, पृ.66)
186. (बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, डॉ. 186. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ. 270)
187. (बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ. 35)
188. (वही, पृ.36)
189. (Religion of Tibet; Charles Bell; Pg. 122)
190. (सिद्ध साहित्य, पृ. 251)
191. (मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ, पृ.31,32)
192. (नित्यपूजा पद्धति, जगन्मोहन तर्कालंकार, पृ. 72)
193. (चर्यागीतिकोष, बागची और शास्त्री, च. 4, पृ. 15)
194. (वही, च. 10, पृ. 36)
195. (वही, चर्या सं.11, पृ. 39-40)
196. (वही, चर्या सं. 12, पृ. 43)
197. (वही, चर्या सं. 18, पृ. 63)
198. (वही, चर्या सं. 22, पृ. 77)
199. A cultural History of Assam, Birinchi kumar Baruah, Pg. 78
200. साधनमाला. विनयतोष भट्टाचार्य; पृ. 80, 83, Gaekwads Orintal Series, Oriental Institute, Baroda 1968, VOI- I; No- 26
201. सिद्ध साहित्य,धर्मवीर भारती,पृ. 27
202. Mystic Tales of Lama Taranath, पृ. 342
203. पुरातत्त्व निबंधावली, राहुल सांकृत्यायन, पृ.146
204. Mystic Tales of Lama Taranath, पृ. 342
205. सिद्ध साहित्य,धर्मवीर भारती, पृ. 342

206. The Background of Assamese Culture, Raj Mohan Nath, pg.46,1939
207. दोहाकोश,बागची भूमिका, पृ. 12-13
208. Mystic Tales of Lama Taranath, पृ.9
209. साधनमाला, विनयतोष भट्टाचार्य, खंड 2, भूमिका, पृ.44
210. दोहाकोश, बागची, भूमिका, पृ.10
211. (Cryp to Buddhism in Kamrup; pragjyotika, pg.117)
212. पुरातत्व निबंधावली, राहुल सांकृत्यायन, पृ. 168-169
213. Mystic Tales of Lama Taranath, पृ. 11
214. वहीं, पृ. 11, 12
215. चौरासी सिद्धों का वृत्तांत, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ.13,14,15
216. Mystic Tales of Lama Taranath, पृ. 22,23
217. चर्यापदर पाठ आरु कवि परिचय,परीक्षित हजारिका,पृ. 48
218 चर्यापद,दिलीप बोरा,पृ. 75
219. चौरासी सिद्धों का वृत्तांत, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नं 30, क्रम-55
220. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 34
221. चौरासी सिद्धों का वृत्तांत, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नं 30, क्रम 54
222. वही, पृ. 130
223. चर्यापद, दिलीप बोरा, पृ. 77
224. वही
225. वही, पृ. 84
226. सिद्ध. साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 36
227. चर्यापद,दिलीप बोरा,पृ. 98
228. सिद्ध साहित्य,पृ. 35
229. चर्यापद, दिलीप बोरा,पृ. 80
230. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र,प्रणवज्योति डेका,पृ.253
231. चर्यापद, दिलीप बोरा,पृ.81
232. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ.35
233. चौरासी सिद्धों का वृत्तांत, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, क्रम 58
234. चर्यापद, दिलीप बोरा, पृ. 82

अध्याय-2

चर्यापदों का साहित्यिक विवेचन

अध्याय-2

चर्यापदों का साहित्यिक विवेचन

चर्यापदों या बौद्ध धारणा का मूल उत्स

ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार करने वालों में बुद्ध प्रथम व्यक्ति नहीं थे बल्कि बुद्ध के भी पहले वैदिक युग में ही चार्वाकों ने ईश्वर के अस्तित्व पर कुठाराघात किया। इसी कारण बौद्ध दर्शन को भी चार्वाक दर्शन कहते हैं। सांख्य दर्शन भी ब्रह्मांड की उत्पत्ति किसी कल्पित ब्रह्म से न मानकर पदार्थ से मानता है। व्रात्यों ने भी ब्राह्मण्य धर्म के कर्मकांडों का परिहास किया। विस्तार पूर्वक इन दृष्टिकोणों का अध्ययन करने पर बौद्धों के निरीश्वरवाद की अवधारणा का सम्यक् ज्ञान होगा।

चार्वाक :

वैदिक तथा नास्तिक दर्शनों में सर्वतोप्राचीन चार्वाक दर्शन है। उनके अनुसार परलोक का कोई अस्तित्व नहीं है। यह शरीर ही आत्मा और मरण ही मुक्ति सदृश है। धर्म कोई पुरुषार्थ नहीं वरन् काम ही जीवन का मूल ध्येय है। भौतिक पदार्थों के संग्रह हेतु धनोपार्जन को श्रेष्ठतम बताया है। इस मत के प्रवर्तकाचार्य बृहस्पति ने एक अर्थशास्त्र का प्रणयन कर सर्वसाधारण को संतुलित जीवन बिताने के लिए प्रेरित किया है।

अकर्मण्यता और आलस्य के प्रति घृणा और पुरुषार्थ करना ही बृहस्पति के अर्थशास्त्र में उपलब्ध है। आचार्य बृहस्पति ने तुलनात्मक तर्कों तथा व्यंग्यात्मक शैली द्वारा बड़े-बड़े सिद्धांतकारों तथा अंधविश्वासों को भूमिसात कर दिया। एक शुद्ध पदार्थवादी की भाँति उन्होंने आत्मा तथा

ईश्वर की सत्ता का खंडन किया है। इन्होंने अनुमान को निराधार सत्ता माना है। हमारी इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत्य है इसके अतिरिक्त सब असत्य है। इस चार्वाक दर्शन को मानने वालों को व्रात्य कहते हैं जिन्हें समाज में निम्न दृष्टि से देखा जाता था।[1]

आर्यों के भारत में बस जाने के बाद भी नए आर्यों का आगमन होता रहा। इन नए आर्यों से एवं भारत के आदि निवासियों से स्वयं को श्रेष्ठ मानने की मानसिकता के चलते आर्यों ने इन लोगों को व्रात्य कहना आरंभ किया। व्रात्य शब्द का अर्थ है उपनयन संस्कार से रहित, वर्णसंकर। ये व्रात्य संभवत: चार वर्णों के बाहर थे। विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार-

"In course of time, when this expriment of cast system was well established, it was no longer considered as an experiment, but taken as a setelled fact. The Aryans of previous and later migrations were called Vratyas. These Vratyas were so called because they moved about in hoardes or vratyas, in a primitive fashion; and resembled more or less the other nomadic tribes."[2]

चार्वाकों या व्रात्यों ने वैदिक धर्म के कर्मकांडी आचार्यों से पूछा कि बताओ ''ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि वास्तव में स्वर्ग पहुँचने में समर्थ है तो यजमान अपने पिता को क्यों नहीं मारता ?

पशुश्चेन्निहत: स्वर्गै: ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।

स्वपिता यजमानेन तत्र कसमान्न हिंस्यते॥[3]

इसी तरह श्राद्ध करने से फल की प्राप्ति पर भी संदेह प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि दीपक के बुझ जाने पर उसमें चाहे कितना तेल क्यों न डालो, क्या उसकी शिखा बढ़ सकती है ?

यदि ऐसा होता तो महल की ऊपरी मंजिल में रहने वालों को निचली मंजिल में ही इच्छित वस्तुएँ दे दी जाती।[4]

इसलिए उन्होंने मरणपर्व कहकर मृत्यु को ही मुक्ति माना और कहा कि फिजूल के झमेलों में मत पड़ो। पुरुषार्थ करो, मेहनत करके खूब कमाओ, खूब खाओ, मरने के बाद पुनर्जन्म नहीं। जब तक जीओ मजे से जीओ चाहे उधार लेकर घी भी पीओ क्योंकि, मृत्यु के बाद कुछ शेष नहीं रह जाता है-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

उन्होंने वेद त्रयों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों को भी भंड और धूर्त ही माना है।[5]

त्रयो वेदस्य कर्तारौ भण्डधूर्त निशाचराः।[6]

इसी से महासुखवाद की प्रवृत्ति को हवा मिली। बौद्धों का महासुखवाद इन्हीं व्रात्यों से आया है जिन्होंने कामनापूर्ति को ही अपने जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना है।

संभवतः व्रात्यों या चार्वाकों की परिहास मूलक कटाक्ष वाक्य भी बौद्धों ने लिया। इसी क्रम में उन्होंने जैनों, ब्राह्मण धर्मावलंबियों और कृच्छ्र साधना में व्रती लोगों को आड़े हाथों लिया। चार्वाक सिद्धांत महापुरुषों के शब्द प्रमाण को भी नहीं मानता। उनका कहना था कि किसी महापुरुष के वचन सुनकर जो अर्थ-बोध होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध होता है। किसी एक समय के लिए किसी महापुरुष के वचन सही हो सकते हैं पर वह सार्वकालिक नहीं हो सकता।[7] संभवतः इसी भाव से प्रेरित होकर महायानियों ने बुद्ध के भी मानवीय विकारों की प्रतिद्वंद्विता कर वज्रयान की स्थापना की जिसमें साधक विकारों से रहित होकर वज्र के समान कठिन चित्तवाला बन जाता है। उनके लिए बुद्ध के शब्द प्रामाणिक वचन न थे बल्कि उन्हें साधना सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण ही मान्य थे।

सांख्य दर्शन :

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल थे। इन्हें छठी या सातवीं शती ई.पू. का व्यक्ति माना जाता है। ये प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने ब्रह्मांड की रचना के विषय में कहा कि इसका उद्‌भव पदार्थ से हुआ है, न कि किसी काल्पनिक ब्रह्म से। कपिल के मतानुसार सब कुछ सत्कार्यवाद पर आधारित है। सृष्टि की उत्पत्ति अभाव से नहीं भाव से है। वह अनादि है। उन्होंने कहा कि सृष्टि के लिए सृष्टिकर्ता की आवश्यकता नहीं, वह स्वत: स्फूर्त है। इस प्रकार उपनिषदों के आदर्शवादी सिद्धांतों का खंडन करते हुए कपिल ने 25 तत्त्वों की क्रिया-प्रक्रिया को सृष्टि का सृजनात्मक कारण बताया। प्रधान पदार्थ, ज्ञान, चेतना, पंचतन्मात्राएँ, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत, मानस तथा पुरुष हैं।[8]

इन्हीं सब प्रभावों के चलते बौद्धों ने अपनी स्वतंत्र वैचारिक भूमि के ऊर्वर क्षेत्र में दर्शन का बीज बोया। ज्ञात हो कि ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने वालों में बुद्ध प्रथम व्यक्ति नहीं थे वरन् उनके भी पहले नास्तिकवादी भावधारा को पर्याप्त बल मिला।[9]

बौद्ध मत और औपनिषदीय दर्शन में भी पर्याप्त सामंजस्य था। डा. राधाकृष्णन के अनुसार उपनिषद और बौद्ध मत, दोनों वेदों को प्रमाण नहीं मानते। दोनों ही वैयक्तिक अनुभूति की प्रामाणिकता पर बल देते हैं। दोनों ही यज्ञ व धर्म के ब्रह्याचारों के निन्द्य मानते थे। उपनिषद जिस सत्य को ब्रह्म कहते थे बुद्ध ने उसी को धर्म कहा। दोनों यही कहते हैं कि यह परम सत्य इन्द्रियगोचर या बुद्धिग्राह्य नहीं है। दोनों ही अपरिवर्तनशील, अव्यय तत्त्व तक पहुँचने की कामना करते हैं। मन से समस्त मलावरण हटने पर ही जीव इस अविकृत स्थिति तक पहुँच सकता है। इसी स्थिति को उपनिषदों ने मोक्ष और बुद्ध ने निर्वाण कहा है। दोनों की यह मान्यता है कि इस स्थिति तक पहुँचने का मार्ग वैराग्य, ध्यान और समाधि है। जब तक समदृष्टि नहीं आती तब तक सिद्धि नहीं मिलती। इस समदृष्टि को वही प्राप्त कर सकता है जिसे यह अनुभव हो गया हो कि

संसार के समस्त जीव एक हैं, उनमें भेद-भाव नहीं है। दोनों ही जीव और जगत् को नाशवान् मानते हैं। सच तो यह है कि बुद्धदेव ने अपने उपदेशों में बहुत से ऐसे वाक्यांशों का प्रयोग किया, जो उपनिषदों के वाक्यों की प्रतिच्छाया - से लगते हैं।[10]

अत: यह स्पष्टत: ज्ञानगोचर होता है कि बौद्धों के पहले भी भारत में निरीश्वरवादी दर्शन की प्रतिष्ठा थी जिसने बौद्ध धर्म को बहुश: प्रभावित किया। चार्वाकों की अभिव्यक्ति और खंडन- मंडनात्मक शैली का अधिग्रहण सिद्धों ने किया। इसी के आधार पर यह माना जा सकता है कि बौद्ध मत के प्रवर्तन में इस प्रकार के पूर्ववर्ती दर्शनों का विषद् योगदान रहा है।

चर्यापदों का साहित्यिक विवेचन

यदि सत्य कहा जाए तो इन चर्यापदों को शुद्ध रूप से साहित्य नहीं कह सकते। शुक्ल जी के शब्दों में- "..... वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अत: शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।"[11] इस साहित्य का मूल कथ्य धार्मिक है, साहित्यिक नहीं। तथापि कहीं-कहीं शुद्ध काव्य की झलक मिल ही जाती है। न केवल सिद्ध वरन् उसी परंपरा में आने वाले नाथों और संतों के साहित्य के कथ्य भी धार्मिक ही थे।

दरअसल शुक्ल जी ने हर काव्य को लौकिक काव्यशास्त्र को आधार बनाकर परखा। सिद्धों के लिए लोकजीवन घोर माया या भ्रमजाल था। वे सांसारिक मोहमाया से बचने की यत्परोनास्ति चेष्टा करते थे। वे लोक में फँसे जीवों को अज्ञानी मानते थे और उसी भव सागर से पार पाने के लिए तारिणी या तारा की उपासना करते थे। सामाजिकों से दूर रहने के मनस् से वे रहस्यघन वातावरण उत्पन्न करते थे, जिससे डरकर लोग उनके पास न आएँ। वे अपनी प्रस्तुति

वेश्यागामी, मद्यप और कुसंस्कारी व्यक्ति के रूप में करते थे। वे सामाजिक बंधनों से मुक्त रहकर अपनी दिव्य आध्यात्मिक सत्ता का अन्वेषण करते थे। भले ही सिद्धों के काव्यों में समाज का चित्र प्रतिफलित होता था परंतु उसका ध्येय अपनी आध्यात्मिक बात को लोकावरण में छिपाना था ताकि उनकी रहस्यात्मक सत्ता का किसी को पता न चले। अत: लौकिक काव्य शास्त्र पर कसने पर हमें सिद्धों की दृष्टिकोण का परिचय नहीं मिलेगा। उनके काव्य का परिचय पाने के लिए हमें वही दृष्टि अपनानी होगी जिससे प्रेरित होकर उन्होंने अपनी रचनाएँ कीं। काव्य शास्त्र की दृष्टि से देखने पर हम इनका सही मूल्यांकन नहीं कर सकते।[12]

काव्य शास्त्र के छ: संप्रदाय - रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति एवं औचित्य काव्य देवी के षडंग माने गये हैं। रस उनका हृदय, अलंकार उनके शृंगार के उपादान, औचित्य शृंगारिक द्रव्यों का परिमापन, रीति को एक प्रकार से Symmitry कहेंगे जो अंगों की कमनीयता का द्योतक है, वक्रोक्ति उनका हास विलास और ध्वनि उनका पूर्ण स्वरूप है। उल्लेख्य है कि पंडितों में काव्य को एक सुंदरी स्त्री मानकर ही उसके सौंदर्य का मूल आँकने का प्रयास किया था। ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थक आचार्य अभिनवगुप्त कश्मीरी शैव थे और वे श्रीविद्या के प्रसिद्ध उपासक एवं तांत्रिक थे। अभिनवगुप्त के इस सिद्धांत के पीछे तांत्रिक अवधारणा की एक सुदीर्घ पूर्वगत परम्परा प्रचलित थी। इन्होंने आनंदवर्धन रचित ध्वन्यालोक की 'लोचन' नाम से एक टीका भी लिखी थी। ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार - जहाँ अर्थ और शब्द अपने-अपने अस्तित्व को गौण बनाकर किसी विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं वह ध्वनि कहलाता है-

यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थौ।

व्यक्त: काव्यविशेष सध्वनिरिति सूरिभि: कथित: ॥[13]

चर्यापदों को देखा जाए तो वहाँ ध्वनि संप्रदाय का पूरा प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। इन पद्यों का अर्थ प्रत्येक श्रेणी के लोगों के लिए विभिन्न होगा। इनका कथ्य या अर्थ शब्दों से सर्वथा भिन्न हैं।

लौकिक दृष्टि से शब्दों का जो अर्थ लगाया जाता है उनका वास्तविक अर्थ बहुत गहन होता है। प्रत्येक वर्ण मातृका का अपना देवत्व होता है उनका कोई अधिदेवता होता है। मातृ का अर्थ है माता और 'का' शब्द छवि का पर्याय है अत: मातृका शब्द का स्थूलार्थ है माता की छवि।[14] प्रत्येक वर्णाक्षर को इसी कारण देवता का स्थूल शरीर माना गया है। यही वर्णाक्षर शरीर में भी परिव्याप्त हैं-

ध्यात्वैवं मातृकां देवीं षट्सु चक्रेषु विन्यसेत्।

ह क्षौ भ्रूमध्यगे पद्मे कंठे च षोडश स्वरान्॥

हृदम्बुजे कादिठान्तान् विन्यस्य कुलसाधकः।

डादिफान्तान् नाभिदेशे बादिलांतांश्च लिंगके॥

मूलाधारे चतुः पत्रे वादिसान्तान् प्रविन्यसेत्।[15]

वाणी के चार भेदों को भी देवी का स्थूल, सूक्ष्म, परा और परापर स्वरूप माना गया ये भेद है- परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी।

परा प्रत्यक्चितीरूपा पश्यन्ती परदेवता।

मध्यमा वैखरीरूपा भक्तमानसहंसिका॥[16]

केवल यही नहीं बल्कि मंत्र को ही देवता का शरीर बताया गया। मंत्र के वर्ण और देवता को अभेद्य मानकर मंत्र की उपासना नि:शंक रूप से करने का उपदेश दिया गया है यही सिद्धि का मूल बताया गया है। देवता शब्द या वर्ण से अलग नहीं है-

श्रीमद्वाग्भव कूटैक स्वरूपमुख पंकजा।

कंठाधः कटिपर्यन्तमध्यकूट स्वरूपिणी।

शक्तिकूटैक तापन्नकट्यधोभाग धारिणी॥[17]

अत: यह अवश्य मान्य है कि लौकिक जीवन में, लौकिक पदार्थों का बोध करना ही भाषा का अंतिम रूप नहीं है। भाषा के अक्षरों के अर्थों में कई स्तर होते हैं। सबके ऊपरी स्तर पर भाषा का लौकिक अर्थ ही ग्राह्य होता है। उससे गहनता में उतरने पर भाषा एवं अक्षरों के सर्वथा दूसरे आध्यात्मिक और देवतापरक अर्थ अनुस्यूत होते हैं। यहाँ तक कि स्वयं शब्द ही ब्रह्म का पर्याय है। विविध अक्षर विभिन्न देवताओं के स्वरूप हैं।

तंत्र में समस्त बीजाक्षरों के विन्यास का यही मर्म है। तंत्र ने शब्दों के महत्त्व और उसके निहितार्थ या व्यंग्यार्थ की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की और इसी को प्राणकेन्द्र के रूप में मानकर परवर्ती काव्यशास्त्रों का विकास हुआ। तंत्रों के अनुसार समस्त अक्षर मूलाधार में सुषुप्तावस्था में रहते हैं उनके ज्ञान से वे कंठ (विशुद्ध चक्र) द्वारा अभिव्यक्त करता है। कुंडलिनी जागरण के क्रम में जब शक्ति का केंद्र विशुद्ध चक्र होता है तो साधक कवि और वाग्मी बनता है।

प्रेरिता मरुता नित्यं सुषुम्नारंध्र - निर्गता:।

कंठादि करणैर्वर्णा: क्रमादाविभवन्ति ते॥[18]

अत: तंत्र में कविता या काव्य गुण को भी साधना से प्राप्त होने वाली सिद्धि मानी गई है। कई तंत्र ग्रंथों में कवित्व प्राप्ति के कई प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं-

गद्य पद्यमयी वाणी साक्षाद्देव्यो न संशय:।

चतुर्लक्ष्यं जपेनास्या: सिद्धयोहष्टौ भवन्ति हि॥[19]

बौद्धों ने भी तांत्रिक साधनाओं द्वारा काव्य कौशल की सिद्धि प्राप्त करने के उपाय खोजे हैं। मृत्युवंचन -तारा की साधना से खंग, अंजन, पादलेप आदि अष्टमहासिद्धियों के अतिरिक्त कविता, वक्तृता, मेधा तथा एकांत निर्मला प्रज्ञा की भी सिद्धि प्राप्त होती है।[20] इसी प्रकार आर्य जांगुली की साधना द्वारा भी कविता, सर्वशास्त्रज्ञान आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[21]

बौद्ध तंत्र में काव्य और भाषा शैली आदि के विषय में निश्चित शब्दावली मिलते हैं। महायान के विकास के साथ-साथ न केवल कविता वरन् कला के समस्त रूप, चित्र, स्थापत्य, संगीत, नृत्य आदि को धार्मिक साधनापद्धति के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकृत कर लिया गया था। सद्धर्म - पुण्डरीक में उपाय कौशल नामक द्वितीय परिवर्तन में स्थापत्य, मूर्ति कला, संगीत आदि की साधना द्वारा बोधि लाभ करने का विधान मिलना है।[22]

चर्यापदों में वस्तुत: भक्ति का दर्शन तो नहीं है वरन् उसमें आगामी बौद्ध साधकों के मार्गदर्शन के शब्द निबद्ध हैं। इन चर्यागीतों का मूल लक्ष्य 'महाराग' है। महाराग ही महासुख का मुख्य उपादान है। यह राग लोकचक्षु में तरुणी महामुद्रा के प्रति साधक का अटूट स्नेह था जिसके बिना उसे इस जन्म में बोधि मिलना असंभवपर था। यह राग एकपक्षीय नहीं बल्कि स्वयं नैरात्मा देवी बुद्ध तथा धर्म रूपी महामुद्रा के संयोग से सकाम बोधिसत्व रूपी संघ की उत्पत्ति करती है। यह महाभाव या महाराग ही प्रेमाभक्ति का स्वरूप है।

अभिनवगुप्तपाद के अनुसार भक्ति की गणना एक पृथक् रस के रूप में नहीं करनी चाहिए। रस उसे मानना चाहिए जो पुरुषार्थोपयोगी हो तथा जिससे अतिशय रंजना होती है। अत: केवल नौ रस ही मान्य हैं, किंतु भक्ति तो ईश्वर प्राणिधान का विषय है, अत: इसे स्मृति, मति, धृति, आदि संचारिभावों में अथवा उत्साह स्थायी भाव में अंतर्भुक्त करना चाहिए, अथवा इसे प्रसंगानुकूल अन्य रसों का अंग मानना चाहिए।

(क) एते न वैव रसा: पुरुषार्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयनामेव उपदेश्यत्वात्।

(ख) अतएव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिभतिधृत्युत्साह अनुप्रविष्ठे अन्यथैव वा अंगमिति न तयो: पृथक् रसत्वेन गणनम्।[23]

आचार्य भानुदत्त एवं रूप गोस्वामी भक्ति को एक पृथक् रस के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति कोई सामान्य भाव नहीं। भक्ति की तन्मयता की स्थिति

ही भक्ति है। इसी आनंदातिरेक से वशीभूत होकर वे मोक्ष तक ही स्पृहा नहीं करते-

''अतः मोक्षाय भक्तानां न कदापि स्पृहा भवति।''

उनके अनुसार भक्ति जैसे अनुभव - सिद्ध भाव को रस न मानना प्रलापवत् बात है। उल्लेख्य है कि 'उज्ज्वलनीलमणि'' सदृश काव्यशास्त्र के रचनाकार रूप गोस्वामी, चैतन्य महाप्रभु के शिष्य एवं भक्त हृदयी व्यक्ति थे अतः उनके द्वारा भक्ति का पृष्ठपोषण करना एक सहज बात है।

इस सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती की मान्यता यह है कि भक्ति एक परिपूर्ण रस है। यह श्रृंगारादिक रसों की अपेक्षा बलवती है-

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।

खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभेव बलवत्तरा॥[24]

वस्तुतः भक्ति रस में अन्य रसों की स्थिति संचारीभाव के समान है। इसी आधार पर रूप गोस्वामी अंततः श्रृंगार को 'श्रृंगार भक्ति रस', हास्य को 'हास्य भक्ति रस' आदि मानते हैं।

इस आधार पर देखें तो चर्यापद में आगत शबर-शबरी का प्रेम क्या 'श्रृंगार भक्ति रस' माना जाएगा? इसमें आए हास्य रस के छंद भी क्या 'हास्य भक्ति रस' मानें जाएँगे। चर्यापद धार्मिक रचना होकर भी उनमें सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ अवश्य ही मिल जाती हैं। समाज की छवि प्रस्तुत करना ही साहित्य और साहित्यकार का एक गुरु दायित्व है। जहाँ समाज है वहीं पर जीवन से सम्पृक्त सुख-दुःख, मुस्कान, आँसू की गंभीर अनुभूतियों के साथ स्वतंत्र अलंकरण और अभिव्यक्ति के भी नूतन छंद प्रकाशित होंगे। चर्यागीतों में इन्हीं उपादानों का अंतर्प्रवाह स्पष्ट हो पड़ा है।

चर्यागीतों की रचना एक निम्नस्तर के समाज में हुई है। परंतु ये गीत केवल कुछ विशृंखल शब्दों या वाक्यों की समष्टि नहीं हैं। चर्यागीतों में सुविन्यस्त शिल्पबोध का परिचय भी प्राप्त होता है। सैयद अली एहसान के अनुसार ग्राम्यजीवन में Texual Uniformity खोज पाना मुश्किल है। परंतु चर्यागीतों में यह Uniformity या सुशृंखल रचना के चिह्न विद्यमान हैं।[25]

इसके अलावा इस सुविन्यस्त काव्यराजि में विविध चित्रात्मक वर्णन भी मिलते हैं।

एक से शुण्डिनी दुई घरे सान्धअ।

चीअने बाकलअ बारुणि बान्धअ॥

सहजे थिर करि बारुणि सान्धे।

जे अजरामर होइ दिय कान्धः॥

दशमि दुआरत चिह्न देखइआ।

आइल गराहक अपने बहिआ॥ (चर्या सं.3)

चर्या. सं. 3 में बिरुवापाद ने एक मद्य विक्रेता शुण्डिनी के घर का दृश्य इस प्रकार प्रस्तुत किया है। वह चिकने छिलके से शराब को बाँधती है। उसके घर का परिचय किसी को भी देने की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसके दरवाजे के निशान को देखकर ग्राहकगण स्वयं ही आ जाएँगे। चौंसठ गगरियों में शराब रखी है। उसमें एक बार प्रवेश करने पर ग्राहक वहाँ से निकल नहीं पाता। उसमें से एक गगरी की नली बहुत संकरी और छोटी है, अत: बिरुवापाद ने अत्यंत स्थिर होकर शराब डालने का परामर्श दिया है। इस चर्या का आध्यात्मिक या व्यंग्यार्थ कुछ और है परंतु यहाँ एक शराब विक्रेता के घर की पूर्णांग छवि उभरकर आती है।

चाटिलपाद ने चर्या. सं.5 में नदी और कीचड़ से सने जीवन की ओर तर्जनीपात किया है। एक अतल गहन नदी और उसके दोनों किनारों में फैले कीचड़ के आर-पार जाने के लिए

चाटिलपाद ने एक पुल तैयार किया है उन्होंने नदी को पार करने वाले लोगों को इधर-उधर बिना देखे स्थिर होकर नदी पार करने की चेतावनी दी है। मूलत: इसमें स्थिर होकर भवसागर पार करने की हिदायत है परंतु इसे पढ़ने पर छोटी-बड़ी अजस्र नदियों से भरे एक स्थान का ध्यान आता है जहाँ ग्रामीण जनता लकड़ी और बाँस की मदद से पुल बनाती है और जिसे पार करते समय सबको सावधान रहना आवश्यक है। इस गीत में इन्हीं स्थिरप्रज्ञ पथचारियों का चित्र उभरकर आता है। यही मनोमय अभिव्यक्ति चर्यागीत में निहित भाव सौंदर्य का प्रवाह है। इसमें किसी जलबहुल प्रांत के जनजीवन का चिरंतन चित्र उभरता है।

कोहरे घिनि मेलि आच्छह कीस।

बेढ़िल हाक पड़अ चौदिस॥

अपना मांसे हरिणा बैरी।

खनहु न छाड़अ भुसुक अहेरि॥

चर्या सं. 6 में भुसुकपाद ने मानव जगत् को छोड़कर पशु जगत् में प्रवेश कर मनुष्य की लालसा की बलि होने वाले जीव जंतुओं के प्रति अपने हृदय की अनुभूति व्यक्त की है। चारों ओर शिकारी ने अपना जाल बिछाया है। हिरण अपने ही मांस के कारण अपना शत्रु है और भुसुक जैसा शिकारी कभी भी उसका पीछा नहीं छोड़ेगा। अत: मनस्ताप के कारण हिरण न तो तृण का स्पर्श करता है और न ही वह पानी पीता है। अंतत: हिरणी ने हरिण को वहाँ से भाग जाने को कहा और हरिण अपने प्राण बचाकर क्षिप्रवेग से किसी अज्ञात स्थान में चला जाता है।

कान्हपाद का हार्दिक प्रेम चर्या सं. 10 में प्रकट होता है। इसमें प्रेम निवेदन की आवेगिक अभिव्यक्ति है। इसमें लौकिक प्रेम की बात नहीं है वरन् पारलौकिक शून्यताबोध की सूचना है तथापि इस पद में प्रणय काव्य की आतुरता दृष्टिगत होती है। इस गीत में कवि ने नगर से बाहर

रहने वाली अस्पृश्य डोम्बी युवती के घर के पास से गुजरने वाले ब्राह्मणों के प्रति क्षोभ व्यक्त किया है। इसके बाद कान्ह ने प्रेम निवेदन करते हुए निर्भीक शब्दों में कहा है कि वे इन ब्राह्मणों की भाँति नहीं हैं बल्कि वह निघृण कापालिक और उलंग योगी है जिसके मन में अस्पृश्यता का बोध नहीं है। प्रेम निवेदन के साथ वे डोम्बी के नृत्य पटीयस गुण की प्रशंसा करते हैं। साथ ही वे एक सामान्य प्रेमिक की भाँति शंकाकुल हृदय से यह प्रश्न पूछते हैं कि वह किसी और की नाव में तो नहीं चढ़ी ? डोम्बी को सूत बेचने या अन्यत्र नाचने गाने पर पाबंदी लगा दी क्योंकि कान्ह ने भी अपनी साज सज्जा का परित्याग कर उसकी तरह हाड़माल का परिधान किया है। (चर्या सं. 10) अंततः वे एक प्रेमी की ममत्वाकृष्ट संकुचित मनस् की अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं कि यदि वह डोम्बी उनका त्याग कर मृणाल की खोज करे तो कान्ह उसे मार देंगे। निःसंदेह ही इस गीत में उच्च साधना तत्त्व का समावेश है परंतु इसमें एक प्रेमी के हृदय का यथार्थ क्षोभ, शंका और आतुरता का प्रतिफलन हुआ है।

समाज चिंतन :

साहित्य समाज का दर्पण है। युगीन साहित्य में समाज की यथार्थ छवि प्रतिफलित होती है। जो साहित्य अपनी युगधारा के अनुसार उदात्त चिंतन का अधिग्रहण करता है वही कालजयी हो जाता है। समान से परांमुख कृतियाँ और परमुखापेक्षी कवि दीर्घकाल तक समाज या इतिहास में रह नहीं पाता। संभवतः ये बौद्ध सिद्ध ही थे जिन्होंने कल्पना भित्ति पर अंकित देव चित्रों या राज्ञ सामंतों की कथाओं को छोड़कर धूलिसात समाज-बहिर्गत उपेक्षित जनों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया।

उल्लेख्य है कि चर्यापदों में जिन शब्दों को 'संध्याभाषा' या सांकेतिक भाषा कहा गया है वास्तवतः वहाँ कोई सांकेतिक शब्द नहीं है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य एवं हरेक उपमा या

कथ्य समकालीन समाज में प्रचलित था। साधारण स्तर पर उसके अर्थों को देखें तो उसमें हमारा समाज प्रतिफलित होता है गहन अर्थ का बोध होने पर उसमें निहित साधना तत्त्व अंकुरित होता है।

हमारे देश में प्राच्यकाल से ही ब्राह्मणों का समाज में वर्चस्व रहा है। भारत के हर प्रांत में यह वर्णाश्रम धर्म सुदृढ़ रूप में प्रचलित था एवं उसकी रक्षा करना ही राजन्य वर्ग का कर्तव्य था। प्रत्येक राज-परिषद् में ब्राह्मणों का सम्मान होता था एवं उन्हें उच्चपद पर अधिष्ठित किया जाता था। विभिन्न स्थानों से विद्वान ब्राह्मणों को लाकर अपने राज्य में स्थापित करना उन्हें देवोत्तर या ब्राह्मणोत्तर रूप से भू-सम्पत्ति का दान देना भी राजा के यशवृद्धि का एक प्रत्यय था। इस प्रकार अन्यान्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मणों का सम्मान अधिक था और वे एक प्रकार से समाज के अन्य वर्गों में अधिक मतभेद नहीं था। इसी कारण चर्यागीतों में इस उच्च वर्ण के लोगों का इस प्रकार उपहास किया गया है-

''नगर बाहिरि रे डोम्बी तौहोरी कुड़िआ।

छई छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िया॥'' (चर्यापद-10)

अस्पृश्य मानी जाने वाली डोम युवती (डोम्बी) नगर के बाहर रहती है। उसके रूप लावण्य से आकृष्ट होकर ब्राह्मण युवक गण उसकी झोपड़ी छू-छूकर जाते हैं। हिन्दू धर्म में मछुआरे (कैवर्त/डोम) को अस्पृश्य मानते हैं अत: उनका निवास नगर के बाहर होता है। ये लोग मछली व चूना बेचते थे और नाव चलाते थे। इतिहास के साक्ष्य के अनुसार तेरहवीं-चौदहवीं शती तक डोम जाति के लोग बौद्ध हुआ करते थे एवं ब्राह्मण इन्हें दीक्षित नहीं करते थे। इन लोगों को आध्यात्मिक जगत् में लाकर सिद्धाचार्यों ने समाज के उच्च स्थानीय लोगों के प्रति कटाक्षपात किया है। इसी कारण समाज में विद्यमान अस्पृश्य डोम और उच्चवर्गीय ब्राह्मणों का उल्लेख चर्यापद में किया गया है। धर्मतत्त्व की व्याख्या के लिए इस पद में कवि ने स्पृश्य - अस्पृश्यता को रूपक-उपमा के रूप में प्रयोग किया है।[26]

समाज में नर नारियों के संबंध में निम्नमुखी दिक् की ओर पतित हो रहे थे। यतीन्द्र मजुमदार ने वात्स्यायन के कामसूत्र का वर्णन करते हुए कहा कि गौड़ के राज अंत:पुर की महिलाएँ निर्लज्ज भाव से राजपुरुषों व दासों के साथ काम-चर्चा और संभोग करती थीं।[27]

कामरूप में भी राजन्य या सामंतीय प्रभुत्व प्राप्त लोग या वित्तवान् ब्राह्मणों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। इसके अलावा ब्राह्मण पुजारियों की भोग की सामग्री के रूप में समर्पित देवदासियों की करुण कथा भी असामाजिक यौन प्रथा के निर्लज्ज रूप का परिचायक है। यहाँ तक कि नारी का प्रयोग तांत्रिक क्रियाओं में भी होता था। प्रो. एच.के. बरपुजारी के अनुसार-

The original Tantric injunctions as nurciated in the Tantras about examining on's spirit of renunciation in the presence of such women could hardly have been observed by common men and this shows how the Tantras, composed with a lofty ideal, became a condemnable one in practice. The Yogini Tantra gives a detailed description of the women of the sacred city of Apurnbhava. ..... Did the practice of devadasi thus come from Tibet? We are informed by Mahachinacarakrama. Tantra that Vasishtha went to Mahachina from Kamakhya and brought there from the mystry of Tanricism. This seems to show indirectly that the institution of devadasi was originally a part of Mahacina or the Tibetan form of Buddhism and introduces thence to Kamakhya and the adjoining regions. The Yogini Tantra gives a detailed account of Kumari puja.[28]

उत्कट वासना के इस रूप का उल्लेख चर्यापदों में कई बार हुआ है-

हाँउ निरासी खमण भतारे।

मोहोर विगोआ कहण न जाई॥ (चर्या.20)

× × ×

अहनिसि सुरअ प्रसंगे जाअ।

जोइणि-जाले रएणि पोहाअ॥ (चर्या.19)

× × ×

तियड्डा चापी जोइणि दे अंकवाली।

कमल कुलिश घांटे करहु बिआली॥

जोइनि तँइ बिणु खनहि न जीवमि।

तो मुह चुम्बि कमल रस पीवमि॥ (चर्या. 4)

राजाजन अक्सर राज्यशासन के नाम पर प्रजा का शोषण करते थे। समयासमय राजाओं के राज्य में परिवर्तन होने पर भी प्रजा-शोषण की प्रक्रिया जारी रहती। युयुधान राजागण केवल राज्य की सीमावर्द्धन का प्रयास करते हैं और युद्ध में प्रयुक्त धन प्रजा शोषण से ही आता है। अत: नवीन राष्ट्र की स्थापना होने पर भी समाज के निचले स्तर के लोगों के कष्टसाध्य जीवन की इतिश्री नहीं होती। इसी दैन्यता की अभिव्यक्ति चर्यागीतों में हुई है। हालांकि चर्यागीतों की रचना शून्यता-बोध के दर्शन को लेकर हुई थी तथापि ऐसा बोध होता है मानो वह जीवन में व्याप्त शून्यता का ही प्रतिपादन हो। ढेंढनपाद के शब्दों में-

टालत मोर घर नाहि पडबेषी।

हाड़ीत भात नाहि निति आबेसी॥

बेग संसार बडहिल जाअ।

दुहिल दुधु कि बेंटे समाअ॥ (चर्या. 33)

टीले के ऊपर मेरा घर है पर वहाँ कोई प्रतिवेशी (पड़ोसी) नहीं। हांडी में भात (चावल) नहीं पर हमेशा मेहमानों की भीड़ रहती है। बेक या मेंढक की तरह संसार बढ़ रहा है। दुहा हुआ दूध क्या फिर थन में समा सकता है ? यहाँ व्यंजित शून्य तत्त्व की अपेक्षा दुर्भिक्ष्य ग्रस्त व्यक्ति के जीवन में व्याप्त शून्यता अधिक मुखरित हो रहा है जो हृदयविदारक बन पड़ा है। इसी प्रकार कुक्कुरीपाद ने भी अपनी चर्या में संसार के प्रति अनासक्ति का भाव प्रकट किया है और कहा मैं जो चाहता था, यह वो नहीं है-

जा एथु चाहमि सो एथु नाहि। (चर्या. 20)

साथ ही प्रसवकाल में संतान या माता की मृत्यु उस समय एक साधारण बात थी। चिकित्सा व्यवस्था तो थी नहीं और यदि कोई वैद्य था भी तो वह सामान्य स्तर के लोगों की पहुँच के बाहर था।

पहिल बिआन मोर बासन पुड़ा।

नाड़ि बिआरन्ते सेव बापुड़ा॥ (चर्या. 20)

प्राप्त तथ्यों के अनुसार लुइपाद, कंकनपाद, कुक्कुरीपाद, महिधरपाद, तन्त्रीपाद इत्यादि कवि समाज के निम्न स्तर के लोग थे। शायद इस स्पंदनहीन जीवन से मुक्ति पाने की आकांक्षा से ही चर्याकारों ने इन गीतों की रचना की।

कृषिकर्म ही भारतवर्ष की अर्थव्यवस्था का मूल आधार रहा है। चर्यागीतों में गाय, गोशाला या चूहे के उत्पात विषयक गीत भी हैं। गाय-बैल से भरे एक पूर्ण गृहस्थी का चित्र यहाँ अंकित है।

दूध माझे लड़ आच्छन्ते न देशइ। (चर्या. 42)

× × ×

सरह भनइ बर सुन गोहालि कि मो दुट्ठ बलन्दे।

एकेले जग नासिअ रे बिहरहुँ छन्दे॥ (चर्या. 34)

× × ×

निसि अन्धारी मुसार चारा।

अमिअ भखअ मुसा करअ आहारा॥ (चर्या. 21)

ऐसे चर्याओं में कृषिकेंद्रिक निम्न स्तर के समाज का चित्र उभरकर सामने आया है।

चावल ही पूर्व भारत का मुख्य खाद्य है, जनजातीय लोगों में मांस, मद्य भी अत्यंत प्रिय खाद्यों में परिगणित होता है। इसके अलावा मछली भी इनका प्रधान खाद्य रहा है-

Fish is a special food of the Assamese and Bengolis whereform of course the habit might have migrated to other parts of eastern India for example Bihar and hense in the Jatakas and see the early Indian literature we find particularly no refernce of fish as an item of food. In the panch-ma-kara sadhana of the tantras which induoubtedly had its origin in east-ern India specially in the Kamrupa region as shown by the Mahaeina kara karna text, fish appears as an important ingrediant.[29]

चर्यागीत में मछली खाने का वर्णन तो नहीं मिलता परंतु लुईपा की साधना के क्रम में मछली खाने का इंगित अवश्य मिलता है। साथ ही मीनपा जैसे सिद्ध का नाम भी मछली से ही जुड़ा है। पंचमकार साधना में मत्स्य भी साधना का एक उपकरण है। कान्हपाद ने मायाजाल बुनने की बात की है-

बाहअ काअ कान्हिल माआजाल। (चर्या. 13)

बिरुपा ने स्पष्ट रूप से मद्य विक्रय की बात की है। यहाँ शराब पीने वाले ग्राहकों की कमी नहीं है जिससे यह ज्ञात होता है कि मद्यपान करना एक सामान्य बात थी। महिलाएँ ही यह काम करती थीं। आज भी पूर्वोत्तर भारत की जनजातीय महिलाएँ ही मद्य प्रस्तुत करती हैं। चर्या 33 में 'हाड़ीत भात नाहि' कहकर भात के बहुल उपयोग की ओर इंगित किया है।

चर्या सं. 19 में कान्हपाद दुन्दुभी बजाकर डोम्बी से विवाह करने की प्रस्तुति चलाते हैं। विवाहोत्सव की चहल-पहल के साथ यहाँ दहेज प्रथा का भी वर्णन है। यहाँ तक कि कान्हपाद एक नीच जाति की डोम्बी से विवाह कर जाति से बहिष्कृत होने से भी नहीं डरते, क्योंकि उन्हें अच्छी दहेज मिलने वाली थी। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैवाहिक संबंधों के समय जाति कुल का सम्यक विचार किया जाता था। यही प्रथा अभी भी समाज में लक्षित होती है। चर्याकालीन समाज के वैवाहिक नियमों का पता यहाँ चलता है। समाज से कटे होने के कारण भले ही सिद्धाचार्यगण इन नियमों का पालन नहीं करते थे पर समाज में उन्होंने ये नियम निकट से देखे।

ताम्बुल और पान का पूर्वोत्तर भारत के खाद्य संभार में एक स्वकीय स्थान है। ताम्बुल और पान इस समाज के अविभाज्य घटक हैं। चर्यापदों में भी कर्पूर मिश्रित ताम्बुल के प्रयोग का उल्लेख है-

हिअ ताँबोला महासुहे कापुर खाई। (चर्या. 28)

चर्यागीत कालीन समाज में अन्य विविध फलों का उल्लेख नहीं किया गया है। केवल इमली का उल्लेख मिलता है-

रुखेर तेन्तेली कुम्भीरे खाअ। (चर्या. 28)

पूर्वोत्तर भारत जल सम्पदा से परिपूर्ण एवं नदी तंत्र से गठित एक सुरम्य क्षेत्र है। अत: यहाँ पोखर, झील, नद-नदी से भरे जीवन में नाव जैसे जल यातायात के साधनों का प्रयोग भी होता है। चर्यागीतों में नाव से जुड़े अनेक शब्दों का प्रयोग भी होता है जैसे- भेला, नौका, नावी, फुटि, पिट, चजा, काछि, माहँ, पाल, चक्र, हाल, पुलिन्दा, थाही, बाही, दाड़, गुण, सेउति, पाड़ि, कुल, बुड़ि पाब, सिंचह, केडुवाल इत्यादि। चर्या संख्या - 5, 8, 14, 15 व 38 में नाव व नौकायात्रा का वर्णन है। इसके अलावा चर्या 37 में नौ यात्रा करने वाले यात्रियों की आर्थिक अवस्था का इंगित मिलता है। इन अकिंचन सामाजिकों के पास उतराई देने के लिए पैसे भी नहीं बचते। अत: नाविक पहले ही उनके कपड़े और सामर्थ्य का अंदाजा लगा लेते हैं- **'बण्ड कुरुण्ड सन्नारे जानी।' (चर्या. 37)**। चर्यागीतों की रचना जल बहुल इलाके में हुई थी, क्योंकि कहा गया है कि - **'वाम दक्षिणे खाल बिखाला।' (चर्या. 32)**। उल्लेखनीय है कि चर्यापद में कहीं भी ग्रामीण अंचल की बात नहीं की गई है। प्राय: सभी स्थानों पर नगर शब्द का ही प्रयोग किया गया है। यह नगर ही धूल-कीचड़ से सने ग्राम्य जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यहाँ घने जंगल से परिवृत्त किसी भौगोलिक क्षेत्र की बात की गई है। इस जंगल में बाघ, हाथी जैसे वन्य पशु विचरण करते थे। शिकार तत्कालीन सामंतीय लोगों का शौक था और यही शिकार जनजातीय लोगों की जीवन शृंखला का एक आवश्यक अंग था। चर्यागीतों में शिकार का वर्णन है-

काहेड़े घिनि मेलि आच्छह कीस।

बेढ़िल हाक पड़अ चौदीस॥ (चर्या.7)

हाथी के वर्णन क्रम में कान्हपाद ने अपनी तुलना मत्त हाथी से की है। वे उस स्तंभ से बँधे हुए हाथी से अपनी तुलना करते हैं जो बंधन तोड़कर नलिनीवन में प्रवेश करता है। (चर्या.

9) महिधर ने कहा है कि मत्तचित्त गजेन्द्र ने आसमान में धूल बिखेरा, अपना बंधन तोड़ डाला और उसे बाँधने वाले स्तंभ को तोड़ने के बाद आकाशगमन कर निर्वाण प्राप्त किया (चर्या. 16)। उल्लेखनीय है कि असम और उड़ीसा में हाथियों की बहुतायत है असम के किसी राजवंश का राजचिह्न हाथी था। उड़िसा के जगन्नाथपुरी के राजाओं को आज भी गजपति कहा जाता है। संभवत: इन पदों में इन्हीं स्थानों का वर्णन आया होगा।

चर्यागीतों में नृत्यगीतों या वाद्ययंत्रों का भी वर्णन है। यहाँ **''एकसो पदमा चौषष्ठी पाथुड़ी। ताँहि चढ़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी॥ (चर्या. 10) काह्ने गाई तु काम चंडाली। डोम्बीत आगलि नाहि छिणाली॥ (चर्या. 18), नाचन्ति बाजिल गान्ति देवी। बुद्ध नाटक बिसमा होई॥ (चर्या. 17)** साथ ही इन चर्यापदों में मादल, दुन्दुभी, वीणा जैसे वाद्यों के भी नाम आए हैं। उल्लेखनीय है कि हिन्दू धर्म में देवदासियों की प्रथा बौद्ध संघारामों के विध्वस्त होने के बाद शुरू हुई। दरअसल बौद्धों ने नृत्यगीतादिकों को भी साधना का विशिष्ट अंग माना था। संघारामों में विद्यमान भिक्षुणियाँ देव विग्रहों की साज सज्जा एवं नृत्यगीतों के द्वारा देवता को रिझाने का प्रयत्न करती थी। संघारामों के टूटने के बाद इन अबला स्त्रियों ने हिन्दू मंदिरों को अपना आश्रयस्थल बनाया। आध्यात्मिक कृत्यों में प्रवीण होने के साथ ये नृत्यगीतादि में भी पारंगत थीं। इसी के बाद से देवनिर्माल्य के रूप में समर्पित देवदासी मंदिरों को अपने नूपुरों के क्वणन से झंकृत करने लगीं।[30] कतिपय पंडितों के अनुसार असम के हारुपेश्वर में शालस्तंभी राजाओं (650-990 ई.) ने अपनी राजधानी बसाई थी। इन लोगों ने विश्वनाथ का मंदिर बनाकर उसमें प्रथम बार के लिए देवदासी प्रथा का प्रवर्तन किया।[31] इसी समानांतर काल में असम में स्थित मंदिरों में देवदासी नृत्य का प्रचलन था। देवदासी के इतर निम्नवर्ग की युवतियाँ भी नृत्य करती थीं।

इनके अलावा चर्या 11 में गार्हस्थ्य जीवन की भी झलक दिखलाई देती है। सास-ससुर, ननद-साली जैसे संबंधियों से परिपूर्ण संसार का चित्रण किया गया है।

मारिअ सासु ननन्द घरे साली।

माअ मारिअ काह्न भइअ कपाली॥ (चर्या.11)

चर्या संख्या 20 में कुक्कुरीपाद ने संतान संभवा स्त्री द्वारा अंतरकुटी में प्रसव करने का इंगित दिया है, जो संभवत: माता एवं संतान को तथाकथित अपशक्तियों से परित्राण दिलाने के लिए किया गया प्रयास है-

फेटलिउ गो माए अंतउड़ि चाहि।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥ (चर्या. 20)

सामाजिक लोग सोना या चाँदी के रूप में अपनी सम्पत्ति संचित करते थे। परंतु कभी वह लुट जाए तो उनके पास कुछ भी अवशिष्ट नहीं बचता।

सोण अरुअ मोर किम्पि ण थाकिउ।

निअ परिवारे महासुहे थाकिउ॥ (चर्या 89)

संभवत: समाज में लुटेरों की भी कमी न थी ऐसे लुटेरों को 'बंगाल' कहा जाता था। (अदअ बंगाले देश लुड़िउ-चर्या. 20) केवल यही नहीं बंगाली शब्द का प्रयोग समाज बहिर्गत नियम-नीति विहीन लोगों के लिए किया जाता होगा जैसे चांडाली से विवाह करने के बाद भुसुकुपाद ने स्वयं को बंगाली माना है-

आजि भुसुकु बंगाली भइली।

णिअ घरिणी चण्डाली लेली॥ (चर्या. 49)

अकट हुँ भव गअणा।

बांगे जाया निलेसि परे।

भागेल तोहोर विणाणा॥ (चर्या. 39)

अर्थात् बंग द्वारा जाया (पत्नी) को ले जाने के बाद तेरी बुद्धि भी पलायन कर गई। संभवत: प्राचीन कामरूप में गौड़ या बंग से होने वाले आक्रमणों के कारण बंग के लोगों के लिए इस प्रकार की मानसिकता का प्रकाशन हुआ होगा।

समाज में रुई का व्यवहार (तुला धुणि-धुणि आँसुरे आँसु। चर्या. 26), आइने का प्रयोग (हाथे रे कांकान मा लोउ दापण। चर्या. 32), चोर का उपद्रव (कानेट चौरि निल आधराती॥ (चर्या. 2) जैसी बातों का यहाँ चित्रण हुआ है। हाथे रे कांकान मा लोउ दापण जैसे वाक्य में 'हाथ कंगन को अरसी क्या' जैसे मुहावरे की प्रतिध्वनि की प्रतीती होती है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि चर्यागीत कुछ आध्यात्मिक गीत हैं। इनका मूल कथ्य बौद्ध दर्शन के गूढ़ तत्त्व की अभिव्यक्ति में निहित है। तथापि विविध चित्र, उपमा, रूपक आदि के प्रयोग द्वारा उद्भाषित चित्रों को सुविन्यस्त रूप से सज्जित करने पर चर्याकालीन समाज की प्रतिच्छवि मुखरित होती है। यह समाज नितांत ही मूर्त और प्राणवंत है। इन पदों में जीवन को विविध कोणों से देखा गया है इसी कारण जीवन का सूक्ष्म पर्यवेक्षण यहाँ हुआ है। स्पष्ट है कि जीवन को गहन रूप से देखने पर यही भाव मन में आता है कि - यह वो नहीं है जो मैं चाहता था। यही भाव मन को गहन शून्यता की ओर खींच ले जाता है। यह शून्यता अनासक्ति या नैरात्म्य का भाव जागृत करता है। शून्यता ही इन चर्यागीतों का प्राणतत्त्व है। प्रकारांतर रूप से कहें तो इन पदों में एक ऐसे समाज का चित्र उभरकर आया है जो आर्थिक तौर पर दुर्बल, श्रमशोषण से ग्रस्त एवं सवर्णों द्वारा प्रस्थापित रीति-नीति के बोझ तले दबा हो। इसके फलस्वरूप बढ़ने वाले व्याभिचार, उच्छृंखलता आदि ने जनजीवन को अपंग बना दिया था। शून्यता के दर्शन और तांत्रिक आचार व्यवहारों ने सामाजिक विसंगति की इस समस्या का आंशिक रूप से शमन किया था। अत: शून्यता ही इनका आलम्बन बन पड़ा था।

चर्यापदों में निहित दर्शन :

आम तौर पर लोगों की यही धारणा है कि बौद्ध धर्म गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म है जिसका मूल मंत्र अहिंसा है। जीवन में कृत सत्कर्मों के फलस्वरूप क्रमश: उच्चतर पुनर्जन्म और अंतत: निर्वाण, यही इस धर्म का सार तत्त्व है। बुद्ध ने इच्छा को ही सब दु:खों की जड़ माना। किसी वस्तु की प्राप्ति से क्षणिक आनंद तो अवश्य ही मिलता है परंतु यह अस्थायी है और उसे खोने का भय भी निरंतर बना रहता है। इसी इच्छा या वासना के कारण जीव पुनर्जन्म के वात्याचक्र में फँसा रहता है। अत: वासना का त्याग ही एकमात्र उपाय है। समस्त वासनाओं का त्याग ही जन्ममृत्यु, पुनर्जन्म से मुक्ति पाने क प्रकर्ष कारक है। समस्त वासनाओं के त्याग का ही पथ है वह है, व्यक्ति किसी भी वस्तु को अपना न समझे (जासु णाहि अप्पा तासु परेला काहि-चर्या. 43)। यहाँ तक कि 'स्व' या 'अहम्' नामक सत्ता के अस्तित्व को भी अस्वीकार करना पड़ेगा, इसी को आत्महीनता या अनात्म (पालि-अनात्त) दर्शन कहते हैं। अनात्म शब्द ही बाद में नैरात्मा बना।

नि: (नास्ति) + आत्म = निरात्म

निरात्मन: भव:- नैरात्मं + आ (स्त्री) = नैरात्मा

एक बार नैरात्मा की अनुभूति होने पर सारी कामना और वासनाएँ स्वयंक्रिया रूप से लुप्त होंगे। गौतम बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के बाद प्राय: पंचाशत वर्षों तक पूर्व भारत की गंगा उपत्यका में घूम-घूमकर अपने धर्म का प्रचार किया था। उनके उपदेश और निर्देश मौखिक हुआ करते थे। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके प्रधान शिष्यों ने, मुख्यत: आनंद, उपालि और महाकाश्यप ने अपनी स्मृति, अनुभव और अन्य श्रमणों की अभिज्ञताओं को बुद्ध की वाणी के रूप में लिपिबद्ध किया। बुद्ध के जीवन काल में ही देवदत्त आदि कई शिष्यों ने यह आरोप लगाया था कि 'बुद्ध के कथन में स्थिरता नहीं है। बुद्ध की मृत्यु के बाद भी प्राय: पाँच सौ शिष्यों ने अपनी

स्मृति और अभिज्ञता व्यक्त की थी। पुराणा, गाभामपति आदि ज्येष्ठ श्रमणों ने भी कहा कि लिखित अनुशासन के साथ उनकी व्यक्तिगत स्मृतियाँ मेल नहीं खातीं।[32]

दरअसल गौतम बुद्ध को बोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्ति होने का दावा किया जाता है परंतु वास्तविकता यह है कि आयु और जीवन की अनुभूति बढ़ने के साथ-साथ बुद्ध ने अपने मौलिक दर्शन और वासनाहीनता को विविध रूप से व्याख्यायित और स्पष्टीकृत करने की चेष्टा की होगी। उसी क्रम में उन्होंने अनात्म और निर्लिप्ति प्राप्ति के उपायों की भी चर्चा की होगी। ऐसी मौलिक उक्तियों को शिष्यों ने अपनी समझ के अनुसार लिपिबद्ध कर प्रत्येक उक्ति को एक सूत्र (सुत्त) का रूप दिया। बुद्ध की आयु और अनुभूति बढ़ने के साथ-साथ सूत्रों के विषय में भी पार्थक्य आया होगा। पैंतीस वर्ष की आयु में बुद्ध को गया में बोधिप्राप्ति हुई और अस्सी वर्ष की आयु में उनके धर्म का मूल कथ्य भले ही अपरिवर्तित रहा हो पर कथन भंगिमा में तो अवश्य ही परिवर्तन आया होगा। इस आधार पर पाँच महत्त्वपूर्ण दिकों की चर्चा की जा सकती है-

1. प्राथमिक स्तर पर बुद्ध ने वासना को ही पुनर्जन्म का कारण माना था। इस समय के मुख्य सूत्र हैं 'माला सूत्र, विजय सूत्र/महाविजय सूत्र। इस कालांश में गौतम बुद्ध ने अपने जन्म-मृत्यु पुनर्जन्म के चक्र के कारण, जगत के वास्तविक रूप को समझने का प्रयास एवं वासना के कारण उद्‌भूत क्लेश जैसे विषयों पर जोर दिया था।

2. द्वितीय स्तर पर बुद्ध ने चार आर्य सत्यों पर बल दिया-

   (क) दु:ख और क्लेश सत्य (ख) क्लेश की उत्पत्ति (ग) दु:ख के विनाश की संभावना और (घ) दु:ख-क्लेश के विनाश के उपाय। इस कालांश में उन्होंने गृहस्थों को भी बिना श्रमण या संन्यासी बनाए संसार भावना का त्याग करवाने की चेष्टा की थी।

बाद में बुद्ध ने (i) स्कन्ध के प्रति अर्थात् इन्द्रिय ग्राह्यज्ञान व सुख दु:ख के प्रति आसक्ति (ii) वासनाजनित दु:ख (iii) जन्ममृत्यु के चक्र का बंधन (iv) पुनर्जन्म से उत्पन्न क्लेश से मुक्ति जैसे विषयों की चर्चा कर सर्वाधिक उपदेश दिए थे।

3. अपने जीवन के तृतीय स्तर में बुद्ध ने अपने शिष्यों को मूलत: सिद्धिप्राप्त कर अर्हत् माने जाने वालों को, यह उपदेश दिया कि- निर्वाणप्राप्ति ही बौद्ध धर्म का एकमात्र लक्ष्य नहीं है बल्कि सभी के प्रति करुणा का भाव और आध्यात्मिक रूप से निम्न स्तर के लोगों की मुक्ति भी बौद्ध साधकों का लक्ष्य होना चाहिए। अन्य जीवों के प्रति करुणा का भाव और अन्य व्यक्तियों की मुक्ति ही 'लंकावर्तसूत्र' का मूल कथ्य है। इसी सूत्र के आधार पर महायान में बोधिसत्व (बुद्ध का करुणामय रूप) और कारुण्य दर्शन को स्थान मिला।

4. अपने संन्यास जीवन के चतुर्थ स्तर में प्रौढ़त्व प्राप्ति के साथ बुद्ध के जीवन दर्शन में निराशावाद और विमर्श के भाव ने स्थान लिया। इस काल में उन्होंने निर्वाणसूत्र या महापरिनिर्वाण सूत्र की घोषणा की। इसके अनुसार समस्त संसार निरर्थक और मूलत: अस्तित्वहीन है। इस समय शून्यवाद की उत्पत्ति हुई। उनके अनुसार संसार के किसी भी विषय के प्रति आकर्षण रखना अनुचित है, यहाँ तक कि धर्म के प्रति आकर्षण भी अनुचित है। जब साधक 'अनित्य' की पूर्ण अनुभूति करेगा तभी जगत का सत्यरूप प्रतिभात होगा। बाद में माध्यमिका दर्शन ने आंशिक रूप से और योगाचारियों ने पूर्ण रूप से इस दर्शन के आधार पर अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी।

5. गौतम बुद्ध के वृद्धावस्था को पूर्ण शांति का काल कहा जा सकता है। उन्होंने यह अनुभव किया कि जगत जिस प्रकार चलता है वही सत्य है था है वही जगत का प्रकृत रूप है। उदाहरणार्थ प्रत्येक व्यक्ति जन्म से एक शुद्ध आत्मा लेकर आता है। जगत की अनुभूति उसे सुख-दु:ख, आनंद-निरानन्द का संज्ञान कराती है (आलय-विज्ञान)। चर्यागीतों में

हमें इसकी गूँज सुनाई पड़ती है- ''चिअराज सहाबे मुकल'' चर्या-32। ''छड़गइ सअल सहाबे सूध'' चर्या-9। दूसरों को क्षति पहुँचाए बिना मानने वाले सभी धर्म ही शुद्ध हैं। महायानी बौद्धों ने इसी को 'सूत्र सद्धर्म पुण्डरीक' (पद्म सूत्र) की व्याख्या मानी है। फलतः कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले बौद्ध-धर्म में भी धार्मिक यौनाचार का प्रवेश हुआ। बौद्ध तंत्र का दर्शन केवल नाममात्र ही बौद्ध रह गया है। वास्तव में गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित मौलिक बौद्ध धर्म के दर्शन के साथ इसका कोई सादृश्य नहीं है। यहाँ तक कि तंत्र ग्रंथों में उन्हें बुद्ध के स्थान पर शाक्यमुनि या बुद्ध तथागत कहा गया है। विभिन्न काल्पनिक बोधिसत्वों को बुद्ध के समान ही महत्त्व दिया गया। बुद्ध के औरसजात पुत्र राहुल को उनका मानसपुत्र कहा जाने लगा और बुद्ध के समान ही उसे महत्त्व दिया जाने लगा।[33] बौद्ध तंत्रों को बिना समझे चर्यागीतों का अर्थ समझना संभव नहीं है। बौद्ध तंत्र बहुधा विभक्त है। सत्य तो यह है कि मुनिदत्त ने उनका विश्लेषण केवल माध्यमिका (उच्च क्रिया तंत्र) और योगाचार तंत्र के व्याख्याक्रम माध्यम से करने की चेष्टा की है। इसी कारण चर्यापदों के में कई स्थानों पर अचलावस्था की सृष्टि हुई है।

बौद्ध तंत्र का दर्शन :

कतिपय परिहासपरक चर्यागीतों को छोड़ देने पर अन्य चर्यागीत बौद्ध तंत्र के दर्शन पर आधारित हैं। बौद्ध तंत्र केवल नाम मात्र ही बौद्ध है परंतु यह तंत्र बुद्ध के भी कई हजार वर्षों के आगे से समाज में परिचित जादूविद्या (magic), जादूगर या ओझा (Shamanism), प्राणयाम, ध्यान, पूजा, मंत्र उच्चारण, जप आदि का व्यवस्थापित रूप है। बौद्ध तंत्र का शाक्त और शैव तंत्रों से भेद है। शाक्त तंत्रों में प्रयुक्त मद्य, मांस, नारी बौद्ध तंत्र के केवल एक ही शाखा में प्रयुक्त होता

है और शैव तंत्र का भांग आदि बौद्ध तंत्र में निषिद्ध है। बौद्ध और हिन्दू तंत्र के तांत्रिकों के उद्देश्यों में भी अंतर है। निम्न हिंदू के तांत्रिकों का लक्ष्य शक्ति प्राप्ति और उसके साथ धन-सम्पत्ति, स्त्री व संतान की कामना है। उससे उच्च मार्ग के साधक तंत्र द्वारा मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और कुंडलिनी शक्ति जागरित करते हैं। ऐसे तंत्र को कौलिण या कुलिण तंत्र भी कहते हैं ''अंते कुलिण जण माझें कावाली' (चर्या. सं. 18) इससे भी उच्चाभिलाषी हिन्दू तांत्रिक अष्ट महासिद्धि की प्राप्ति का प्रयास करते हैं। यह सिद्धियाँ खेचरी सिद्धि (आकाश में उड़ना), अंतर्धान सिद्धि, चिरयौवनप्राप्ति (रसायन सिद्धि) आदि आम आदमी द्वारा असंभव माना जाता है। बौद्ध तंत्र के सिद्ध ऐसी सिद्धियों को वास्तविक जीवन के लिए असंभव तो नहीं कहते (क्योंकि बौद्ध तंत्र के उपाख्यानों में महासिद्ध, पद्मसंभव, मरोपा आदि ने ऐसे असंभव कार्यों को भी संभव कर दिखाया) परंतु उन्होंने ऐसी सिद्धियों को 'अष्ट गौण सिद्धि' कहा है। श्री समाज या गुह्य समाज तंत्र में अष्ट सिद्धि द्वारा प्राप्त गुणों की उपेक्षा करने वाले साधकों को ''रत्न सदृश व्यक्तित्व'' कहा है। कान्हपाद ने कहा है-

''ति शरण णावी किअ अठकमारी।'' चर्या. 13.

(त्रि शरण यान के होते अष्ट सिद्धियों की आकांक्षा क्यों की जाए)

इसी प्रकार की बात सरहपाद ने भी की है कि-

''जा एथु जाम मरणे वि संका।

सो करउ रस रसानेरे कंखा॥ चर्या. 13

(जो अपने जन्ममृत्यु को लेकर शंका ग्रस्त हैं वही अमरत्व और चिर् यौवन देने वाले रसायन सिद्धि की आकांक्षा करते हैं।)

परंतु यह भी कहना गलत होता कि बौद्ध लोग जागतिक उपकरणों के प्रति पूर्णत: निरपेक्ष थे। बौद्ध तंत्र दो भागों में विभक्त है- लौकिक व लोकोत्तर। लौकिक तंत्रों के द्वारा साधक सांसारिक उपकरणों का आनंद लेता है। इन तंत्रों को पौष्टिक तंत्र कहते हैं, ऐसे तंत्रों की संख्या पाँच है। जिन्हें कुल मिलाकर पंचककुल तंत्र कहते हैं। (मणिकुले बहिआ उड़ियाणे समाअ, चर्या-4)। इन्हीं पंचककुल तंत्रों को मुणिदत्त ने मणिकुल से मणिमूल बनाकर विभ्रांतिकर अर्थ का प्रतिपादन किया है-

''सा बोधिचित्तरूपा नैरात्मयोगिनी विलक्षणशोधिताहनन्देन मणिमूलेन मोहमलावलिप्ता भवतीति। पुनस्तस्मिन् क्रीड़ारसमनुभूय मणिमूलादूर्ध्वम् गत्वा गत्वा महासुखचक्रे अंतर्भवतीति। अत: कृष्णाचार्यपादैरभिहितं॥''[34]

ऐसे तंत्रों को द्युतक्रीड़ा तंत्र भी कहते हैं। उच्चतर मार्ग के बौद्ध तंत्र के साधकों को जागतिक उन्नति के लक्ष्य की उपेक्षा करने का भी उपदेश दिया गया है। चर्याकारों ने उसके उपायों की चर्चा भी चर्यागीतों में की है (गअबरें तोलिया पांचजणा घोलिउ-चर्या. सं. 12) यहाँ गअबर = गजबर = अक्षोभय = योगतंत्र का चांडाली प्राणायाम है और पांचजणा 'पंचककुल लौकिक तंत्र है। यहाँ चर्याकार ने चांडाली प्राणायाम द्वारा लौकिक वांछाओं के दमन का निर्देश दिया है। अक्षोभय का अर्थ है जो क्षुब्ध नहीं रहता या किसी भी विपरीत परिस्थिति में जिसका मन स्खलित नहीं होता वहीं अक्षोभ्य है यही मन की वज्रावस्था है जिसे प्राप्त करना बौद्ध साधकों का लक्ष्य है।[35]

सारे लौकिक तंत्र निम्न क्रिया तंत्र के अंतर्भुक्त हैं। परंतु उच्च तंत्रों से साधक की आत्मा ही बोधिचित्त की प्राप्ति करती है। इससे जीव को पुनर्जन्म लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँ पर बुद्ध के द्वारा प्रवर्तित ''अनात्ता'' अर्थात् अनात्म दर्शन के कारण समस्या खड़ी होती है। अनात्म दर्शन में साधक अपना अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते। इस असुविधा को दूर करने के लिए

काश्यप पंथी और बाद में सौतांत्रिक और समितीया उपशाखा के साधकों ने पुद्गल आत्मा का अस्तित्व स्वीकारा जो परिवर्तनहीन है और जन्म जन्मांतर तक केवल उसका बाह्य आवरण ही परिवर्तित होता है। योगाचारी तंत्र ने पुद्गल आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार कर पुद्गल नैरात्म की प्रतिष्ठा की।[36]

पं. बलदेव उपाध्याय के अनुसार 'वज्रयान की दार्शनिक दृष्टि शून्यवाद की है। डा. शशिभूषण दासगुप्ता ने अपनी 'तांत्रिक बुद्धिज्म' और 'ऑब्स्क्योर रिलीजियस कल्ट्स' दोनों ही पुस्तकों में यह प्रतिपादित किया है कि सिद्ध साहित्य की दार्शनिक दृष्टि वही है जो सामान्यत: तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों में इधर-उधर बिखरी हुई है। वे ग्रंथ भी दार्शनिक पक्ष को उतने व्यवस्थित रूप से धारावाहिक रूप से प्रस्तुत नहीं करते। पर इतना स्पष्टत: कहा जा सकता है कि उनकी दार्शनिक दृष्टि महायानी है जिसमें नागार्जुन के माध्यमिकों और अवश्वघोष एवं विज्ञानवादी मैत्रेय, असंग एवं वसुबंधु की विध्यात्मक प्रकृति भी समाहित है।[37]

धर्मवीर भारती ने भी सिद्धि के मूल कथ्य को विज्ञानवाद से प्रभावित माना है। विज्ञानवाद की साधना को उन्होंने चित्त के निरोध की साधना मानी और कहा कि ''इसलिए इस मत के अनुयायियों ने साधना के क्षेत्र में योग अपनाया जिसे चित्तवृत्ति का निरोध कहा गया है।.... इसी संप्रदाय ने सिद्धों के दर्शन पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला था और वज्रयान भी इसी पर मूलत: आधारित था। उस समय भी योगाचार सम्प्रदाय का शून्यवाद से अधिक प्रचलन था। उल्लेख मिलता है कि ह्वेनसांग भी योगाचार सम्प्रदाय का था और हर्ष ने भी इसी सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी।[38]

म.म. गोपीनाथ कविराज, डॉ. चंद्रधर शर्मा आदि ने महायानी और वज्रयानी साधकों पर औपनिषदीय अद्वय तत्त्व का स्पष्ट प्रभाव है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 'सरह के दोहाकोष में निरूपित दर्शन में शांकर वेदांत दर्शन का आभास मिलता है। यद्यपि सरह शंकर के समसामयिक

हैं पर उनका अद्वैतवाद नागार्जुन एवं असंग से चला आता था। सरह के दो-तीन शती पहले हुए शंकाराचार्य के दादागुरु गौड़पादाचार्य भी बौद्ध विचारों से प्रभावित हैं... एक ही स्रोत से निकले शंकर एवं सरह के मोक्ष और निर्वाण में इतनी समानता स्वाभाविक है।'' संभवत: इसी कारण गौड़पादाचार्य व शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहते हैं।

बुद्ध ने संघ के सदस्यों के लिए अनेक कड़े नियम बना रखे थे। उन्हें सर्वदा ही जागतिक सुखों से परे रहने की सलाह दी थी। परंतु परवर्ती काल के तांत्रिकों ने अपनी साधना में पंचमकारों का प्रयोग आरंभ कर दिया और इनके द्वारा मुक्ति की अपेक्षा करना संभव बताया। दरअसल बुद्ध ने कभी भी निर्वाण की व्याख्या नहीं की और कभी इस विषय पर प्रश्न पूछने पर भी वे मौन अवलम्बन करते थे। अत: इन तांत्रिकों ने निर्वाण की व्याख्या करते हुए उसे शून्यता या विज्ञान महासुख कहा। महासुख के परिमाण की तुलना करते हुए उन्होंने उसे संभोग सुख के बराबर ही बताया। अत: तांत्रिकों ने अनेक स्त्रियों के साथ संबंध स्थापित किए जिसे वे अपनी शक्ति कहते हैं उनके संगम को वे योग मानते थे और इसी को मुक्ति का मार्ग बताते हैं। करुणा के सिद्धांत को भी निर्वाण के समकक्ष लाकर खड़ा किया। विभत्स क्रिया कर्म करने वाले तांत्रिकों को भी करुणा का आश्रय लेकर अपने जघन्य कृत्यों को आवृत्त रखने का मौका मिल गया। उनके द्वारा प्रतिष्ठित बोधिसत्वों को मानवता के लिए आत्मबलिदान करते दिखाया गया। अत: लोककल्याण के लिए उसे सब प्रकार के कर्म करने की छूट दी गई उन्हें अपने जघन्य कृत्य करने और लौकिक या आध्यात्मिक नियमों के उल्लंघन की छूट मिल गई। बाद में उन्होंने यह बात निकाली कि स्वयं वज्रपाणि ने अपने भक्तों के भोग के लिए इसी सृष्टि की रचना की है।[39] वे आगे कहते हैं कि जिन्हें मुक्ति पाने के बाद भी संघर्ष करना पड़ता है उसे सदैव प्रज्ञापारमिता या शाश्वत सत्य का अवगाहन करना चाहिए। उनके अनुसार यह प्रज्ञा पृथ्वी की हर स्त्री में निवास करती है अत: बिना किसी भेदभाव के उनका उपभोग करना चाहिए। उच्च वर्ण या निम्न वर्ण की स्त्रियों में भेद नहीं

करना चाहिए (प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि/पृ.22 /सूत्र-22,23)। इन लोगों का प्रिय उद्घोष वाक्य था-

कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटिशतान्यपि।

पचन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते।।[40]

जिन कर्मों को करने पर साधारण जीव शत कोटि कल्पों तक नरक में सड़ते हैं उन्हीं कर्मों से योगीजन मुक्त हो जाते हैं।

इन तांत्रिकों के रहस्यावृत्त क्रियाकलाप यदि सामान्य लोगों के समक्ष लाया जाए तो लोगों को एक झटका सा लगा। पहले तो इन कर्मकांडों को गुप्त रूप से रखा जाता था, पर बाद में ये खुलेआम होने लगे थे। 'गुह्यसमाजतंत्र' में ऐसी अनेक क्रियाओं का उल्लेख है जिनका प्रयोग लोकचक्षु से दूर रहकर किया जाता है। उन्हें केवल अधिकारी साधकों को ही बताया जाता है। आज तक यह गुह्य परम्पराएँ गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार चल रही हैं। आठवीं या नौवीं ईस्वी के आसपास वज्रयान अपने पूर्ण यौवन के साथ आगे बढ़ा। महायान के योगाचार से ही वज्रयान का विकास हुआ। मैत्रेयनाथ ने ईस्वी की तीसरी शती में योगाचार मत का प्रवर्तन किया था। यह विषद मंतव्य विनयतोष भट्टाचार्य का था। अपनी कृति 'एन इन्ट्रोडक्शन टू बुद्धिष्ट एसोटेरिज्म' में उन्होंने अपने उक्त वक्तव्य प्रस्तुत किए हैं।[41]

योगाचार दर्शन के अनुसार यह संसार स्वप्नवत् या अस्तित्वहीन है। यह मन द्वारा कृत क्षणिक चैतन्य की सृष्टि है।

समस्त जीव क्षणिक चैतन्य की कड़ी से जुड़े हैं जो जन्म और पुनर्जन्म के चक्र में तद्पर्यंत आबद्ध रहता है जब तक वह मुक्त नहीं हो जाता। शून्यता की अनुभूति से ही जीव को सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। तत्त्वागम संग्रह के सूत्रों के अनुसार शून्यता की अनुभूति में दो बाधाएँ

आती हैं जिनके विनाश से सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। इनमें से प्रथम 'क्लेशावरण' कष्ट भोग का निषेध और द्वितीय है 'ज्ञेयावरण' शाश्वत सत्य के गोपन का निषेध। इनमें से कष्ट भोग है - आसक्ति, विद्वेष आदि, जो किसी वस्तु को यथार्थ रूप में समझने में सबसे बड़ी बाधा थी। द्वितीय बाधा है परिशुद्ध या श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति की आकांक्षा और प्राप्त ज्ञान को दूसरों की भलाई के लिए बाँटने की अक्षमता। इनमें से प्रथम बाधा को शून्यता की अनुभूति से हटाया जा सकता है। यह आसक्ति, ईर्ष्या आदि भाव मन के मूल गुण नहीं है बल्कि अपने अहम् को सत्य मानने के कारण ये भाव उत्थित होते हैं। नैरात्म्य की अनुभूति से इन सभी अशुद्ध भावों का विलयन होता है और निकटस्थ वस्तुओं से आसक्ति का भाव भी तिरोहित हो जाता है। निरंतर नैरात्म्य का ध्यान करने पर साधक को ब्रह्मांड में परिव्याप्त वृहद् शून्यता का अभिज्ञान हो जाता है। नैरात्म्य की अनुभूति से जीव पुन: विज्ञान या चेतना के बंधन में नहीं पड़ता। जीव मात्र के परोपकार की इच्छा रखने वाले साधक निरंतर ही नैरात्म्यके ध्यान में तल्लीन रहते हैं।

द्वितीय प्रकार की बाधा, शाश्वत सत्य पर पड़े आवरण के निवारण के लिए भी नैरात्म्य पर निरंतर ध्यान लगाया जाता है। निरंतर चिंतन के द्वारा साधक के ज्ञान पर पड़ा आवरण हट जाता है और उसे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। ज्ञेयावरण से आवरण हट जाने पर भी साधकों को अपनी समस्त साधना मानवता के उत्थान के लिए तब तक करनी चाहिए यद् पर्यंत एक-एक जीव को मुक्ति नहीं मिल जाती। समस्त संसार की मुक्ति के बाद ही सारे बोधिसत्व निर्वाण प्राप्त कर मुक्ति पाएँगे।[42]

सातवीं शती में अनंगवज्र नाम एक सिद्ध द्वारा कृत 'प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि' नामक ग्रंथ में वज्रयान का दर्शन विषयक कई सूत्र मिलते हैं। प्रथम अध्याय में लेखक ने भाव या अस्तित्व की व्याख्या की है, जिसकी उत्पत्ति का भाव मूलत: दु:खों का कारक है। इन कर्मों के परिणाम से ही कर्मफलों की उत्पत्ति होती है। इसी से जन्म और पुनर्जन्म का चक्कर शुरू हो जाता है और

उसी के बाद से कर्मबंधन के कारण दुख भोग शुरू होता है। अज्ञान के कारण जीव इसी प्रतिबिंब को सत्य समझते हैं। वे ना ही अपनी भलाई करते हैं और ना ही परोपकार करते हैं। इसी कारण बुद्ध के अनुयायी तीनों लोकों के जीवों की मुक्ति की कामना करते हैं। श्रावकों द्वारा सत्य का बोध होने पर उन्हें यह समस्त संसार मिथ्या प्रतीत होता है। प्रज्ञा के ज्ञान से योगियों के मन से ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञात का भेद दूरीभूत हो जाता है।

करुणा के भाव को उपाय करते हैं। यह करुणा का भाव या उपाय एक नौका की भाँति है जो साधक को उसके लक्ष्य की ओर ले जाता है। प्रज्ञा 'ज्ञान' और उपाय 'करुणा' का मिश्रण नीर-क्षीरवत् होता है इसी को 'प्रज्ञोपाय' कहते हैं। इस मिलन में दोनों का ही पृथक् अस्तित्व एकीभूत होकर विलीन हो जाता है। इसी प्रज्ञोपाय के सिद्धांत से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और विकास हुआ है। इसी को महासुख कहते हैं क्योंकि यह शाश्वत आनंद देता है और उसी को समंतभद्र कहते हैं, क्योंकि यह पूर्णत: पवित्र है।[43]

द्वितीय अध्याय में अनेक सूत्रांतों द्वारा आत्मोपलब्धि की व्याख्या की गई है। यह स्पष्ट कहा गया है कि एक विज्ञ गुरु से ही शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति संभव है। जिस प्रकार सूर्यकांतमणि सूर्य के प्रकाश के सम्पर्क में आते ही जल जाता है उसी प्रकार शिष्य का चित्त रूपी मणि भी गुरु के ज्ञान रूपी प्रकाश से प्रज्ज्वलित हो उठता है। इसके बाद वह सत्य की उपलब्धि करता है।

तृतीय अध्याय में प्रज्ञोपाय दीक्षा की बात की गई है। शिष्य अपनी महामुद्रा (साधना संगिनी) के साथ गुरु से दीक्षा देने का अनुरोध करता है। शिष्य की उपयुक्तता को देखते हुए गुरु उसे बुद्ध के निर्दिष्ट कुल में दीक्षित करते हैं। दीक्षा काल में अन्य गुरुओं की उपस्थिति में गुरु शिष्य को पाँच समय और संवर का उपदेश देते हैं। या फिर उसे किसी बोधिसत्व का उपदेश देते हैं।

चतुर्थ अध्याय में ग्रंथकार ने प्रज्ञोपाय पर ध्यान लगाने का उपदेश दिया है। ध्यान के उपक्रम में साधक शून्य, अशून्य दोनों पर ही मन केंद्रित करता है और अंतत: निरंतर अभ्यास के बाद दोनों के भेद का उपशम होता है। साधक स्वयं को अपरिवर्तनशील, नामहीन, कलंकहीन, निरपेक्ष, अनादि और आकाश की भाँति अनंत की भावना करता है। उन्हों बोधिसत्वों के अस्तित्व पर शंकाकुल नहीं होना चाहिए। 'प्रज्ञा' वह है जो शाश्वत और नित्य है एवं 'कृपा' एक चिंतामणि की भाँति है, जो सबका उपकार करता है। जब इस प्रज्ञा और कृपा का साधक के मन में एकीकरण हो जाता है तो उसके मन से ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का भाव मिट जाता है और उसे चरम सत्य का साक्षात्कार होता है। इसके बाद साधक के लिए कुछ भी कर्तव्य-अकर्तव्य नहीं रह जाता। उसे अद्वय का बोध हो जाता है। बोधिचित्त या वज्रसत्व की अनुभूति के बाद वह निर्वाण प्राप्त करता है। इसी से प्रज्ञापारमिता का उद्‌भव होता है जिसमें समस्त पारमिताएँ और प्रत्येक चर अचर जीव मात्र के लिए समता की दृष्टि होती है।

इसके पश्चात ग्रंथकार ने निर्वाण और संसार की व्याख्या की। संसार की परिभाषा देने के क्रम में वे कहते हैं कि-

अनल्पसंकल्पतमोऽभिभूतं प्रभंजनोन्मत्त तडिच्चलं च।

रागादि दुर्वार मलावलिप्तं चित्तं हि संसारमुवाच वज्री॥[44]

वज्रधर कहते हैं कि संसार मन की वह स्थिति है जो अज्ञान के अंधकार से आच्छादित व असंख्य मिथ्या कल्पनाओं से आपूरित है और तूफान के समय प्रकटित विद्युल्लेखा की भाँति क्षणिक है, उसमें आसक्ति का मैल जमा है एवं वह सहज रूप से दूर नहीं किया जा सकता।

निर्वाण की परिभाषा देते हुए वे पूर्णत: मन की विपरित स्थिति का वर्णन कुछ इस प्रकार करते हैं-

प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्।

ग्राह्य न च ग्राहकमग्रसत्त्वं तदेव निर्वाणवरं जगाद॥[45]

वज्रधर कहते हैं कि निर्वाण मन की एक अन्य स्थिति है जो शुद्धता के कारण प्रोज्ज्वल है, यह आसक्ति या भ्रम रूपी मलावरणों से सर्वथा मुक्त है। इसे न जाना जा सकता है न ये किसी को जानता है वह शाश्वत है।

पंचम अध्याय में कृतिकार ने 'तत्त्वचर्या' नामक तांत्रिक प्रयोगों का उपदेश दिया है। तत्त्वचर्या के आनुष्ठानिक प्रयोगों के कारण ही तथागतों को मुक्ति मिल पायी है ऐसा ग्रंथकार का कथन है। पृथ्वी पर स्थित प्रज्ञापारमिता रूपी स्त्रियों के संग रहने पर ही विविध सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इसमें 'मंत्रयान' में उपदिष्ट अन्याय नियमों का भी उल्लेख किया गया है।

अंतत: ग्रंथकार यही कहते हैं कि केवल भोग के द्वारा ही साधक संबोधि प्राप्त करता है। यदि साधक सबको शून्य माने और वह अविराम रूप से प्रत्येक जीव को मुक्ति दिलाने का प्रयास करे तो उसे बोधि प्राप्ति होगी। यदि वह इस संसार को स्वप्नव त और क्षणिक माने एवं अपने मन से समस्त भ्रमों को दूर कर शुद्ध प्रकृति का अनुधावन करे तो बोधि प्राप्ति में कोई बाधा नहीं रह जाती।[46]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि वज्रयान के दर्शन में समस्त श्रेष्ठ सिद्धांत समाहित हैं। बाह्य रूप से यह भले ही बुद्ध के उपदेशों के विपरीत और अनैतिक लगे पर आंतरिक रूप से यह पापी-तापी, संस्कृत-असंस्कृत, सभ्य, असभ्य सभी की मुक्ति का मार्ग खोजने का दावा करते हैं। इसमें हर प्रकार के साधकों के लिए विविध मार्ग हैं जिससे कि वह अपने चुनाव के अनुसार अपने साथ दूसरों का भी उपकार करे।

चर्यापद और सहजयान :

चर्यागीतों के दर्शन का विश्लेषण कर प्राय: विद्वानों ने उसे 'सहज' कहा है। उन्होंने बौद्ध 'सहज' शब्द का शुद्ध रूप में अनुधावन न कर 'सहजिया धर्म, 'सहजिया पंथ' या 'सहजयान' का नाम खड़ा किया। पर सत्य तो यह है कि मूल बौद्ध तंत्रों को खोजने पर भी कहीं भी सहजयान शब्द नहीं मिलता। 'बौद्ध अपभ्रंश साहित्य' नामक पुस्तक में डा. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय ने 'वज्रयान और सहजयान' नामक अध्याय लिखा। वहाँ उन्होंने सहज शब्द की परिभाषा देते हुए कहा कि - साधारणतया 'सहज' शब्द का अर्थ 'जाति या पदार्थों' में जो स्वभावत: रहता है उसे ही सहज कहना चाहिए। उनके अस्तित्व के साथ ही वह तत्त्व रहता है। अर्थात् वह सभी धर्मों का सार है।[47] डा. शशिभूषण दासगुप्त ने 'सहज' शब्द के साधनात्मक और दर्शनपरक अर्थ रखते हुए कहा है ''यह सहजयान इसलिए कहा जाता है कि मानव प्रकृति और शरीर को अनुचित कष्ट देने की अपेक्षा यह यान अत्यधिक स्वाभाविक मार्ग से सत्यानुभव कराना चाहता है।[48]

दरअसल बौद्ध तंत्र में सहज कोई धर्म मार्ग नहीं या फिर कोई लक्ष्य भी नहीं है बल्कि यह मन की एक अवस्था है। सहज शब्द मूलत: संस्कृत शब्द है जिसका विग्रह करने पर

सह + जात = सहज

जिसका अर्थ है साथ-साथ जन्म लेना या युगपत् उत्पत्ति डॉ. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय द्वारा प्रदत्त 'सहजात' की परिभाषा तिब्बती उच्च क्रिया तंत्र के साधक मिलारेपा के शिष्य द्वारा दी गई परिभाषा ही है-

The literal meaning is to be born together... ultimate in mind or the dharmakaya and the ultimate in Appearance or the light of dharmakaya which are born together"[49]

इसका अर्थ होगा संयुक्त रूप से उद्‌भूत (अनुभूति), संयुक्त रूप से उत्पन्न होने के लिए दो तत्त्वों की आवश्यकता है। प्रत्येक बौद्ध तंत्र का लक्ष्य है 'बोधिचित्त' की प्राप्ति। बोधिचित्त का एक अन्य दिक् है - 'महासुख'। बौद्ध तांत्रिक के दर्शन का चरम लक्ष्य 'महासुख' है और निर्वाण गौण है। बौद्ध तंत्र दर्शन के अनुसार निर्मोह होने पर ही साधक निर्वाण प्राप्त कर सकता है, यदि यह निर्वाण साधक को सुखी नहीं कर सकता तो यह निरर्थक है। प्रज्ञा के बिना प्रकृत सुख नहीं मिलता उसी प्रकार सुखहीन प्रज्ञा भी निरर्थक है। बौद्ध तंत्र में सुख का अर्थ चरम आनंद (bliss) है वह खुशी (pleasure) नहीं है।

बौद्ध साधक का लक्ष्य वज्रसिद्धि (आनंद की चिरस्थायी अनुभूति) है। यहाँ परमज्ञान (प्रज्ञा) और परोपकार से उत्पन्न सुख (उपाय) का संयुक्त रूप से अनुभव होना ही 'सहजानंद' है। पहले ही कहा जा चुका है कि क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के हटने पर ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। 'सहज' शब्द की परिभाषा बौद्ध तंत्र की सभी शाखाओं में एक समान है पर भावों की अनुभूति और उत्पत्ति को लेकर मतवैभिन्य है।

चर्यागीतों से यह समझ में आता है कि वज्रसिद्धि (आनंद की चिरस्थायी अनुभूति), महासिद्धों को भी प्राप्त नहीं हुई थी इसी कारण कई सिद्धों ने अपनी शिकायतों या नेतिवाचक दृष्टि को इस प्रकार उपस्थित किया-

''चिअ बिकरणे तहि टलि पइसइ।'' (आर्यदेव/चर्या.31)

चित्त रोगग्रस्त होकर अस्थिर हो जाता है।

''गअणसमुदे टलिआ पइठा।'' (भादेपा/चर्या. 35)

शून्य की अनुभूति से मैं स्खलित हो गया।

इस प्रकार विपरीत अनुभूतिसिक्त मनस् के लिए चिकित्सा भी चर्यापदों में ही दिया गया है-

अवणागवणे कान्ह विमन भइईला।

हेरि से काह्नि निउड़ी जिनउर बट्टइ। (चर्या. 7)

आगमन निर्गमन ने कान्ह को व्याकुल कर दिया। उसी को देखकर कान्ह ने बोधिसत्व की शृंखला बाँध दी अर्थात् वज्रसिद्धि प्राप्त की या-

आजि भुसुकु बंगाली भइली

णिअ घरिणी चण्डाली लेली॥ (चर्या. 49)

आज भुसुकुपाद दीन हीन हो गए और उन्होंने अपने शरीर की अधिष्ठात्री चण्डाली (वायु) को मुक्ति का मार्ग चुना।

हास्यपरक और निषेध या नेति सूचक चर्या गीतों को छोड़ देने पर अन्य गीतों में बौद्ध साधकों द्वारा सिद्धि प्राप्ति के लिए करणीय एवं अकरणीय दिकों का विश्लेषण किया है। इन कार्यविधानों या आचरण परक उपदेशों की उपस्थिति के कारण इन पदों को चर्यागीत कहते हैं। केवल भाषा तत्त्व का ज्ञान होने पर ही चर्यागीतों को समझना आसान नहीं वरंच इसके लिए तंत्र के प्रायोगिक नियमों की जानकारी होना भी परमावश्यक है।

चाण्डाली, डोम्बी आदि विशेष प्राणायामों के नाम हैं यह साधकों की प्रेयसी नहीं। उड्डियान (उड़ियान), जालंधरी ये प्राणायामों की भंगिमाएँ हैं। मणिकुल, कमल, कुलिश, पंचजना आदि तंत्र के प्रयोगों के नाम हैं। यहाँ कमल-कुलिश की साधना यौन स्पृहा की परितृप्ति मात्र नहीं रह जाती।

उदाहरण के लिए 'चाण्डाली' प्राणायाम का विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि Lessing and Wayman ने इसे चण्डयोग कहा है जिसे तिब्बती में gtum भी कहते हैं।[50] इस योगाभ्यास द्वारा साधक के देह के ताप में वृद्धि होती है। इससे पिंगला नाड़ी जागृत होती है जो कि कुंडलिनी के उत्थान का पथ है। चर्यागीतकार सिद्ध के अनुसार यह समस्त भावों को भस्मीभूत कर शून्यता की अनुभूति कराता है- ''समता जोंए जलिअ चण्डाली'' (चर्या. 47)। वृहद्धर्म पुराण के अनुसार आद्याशक्ति ने चंडी का रूप धारण कर शिव के गर्व को भस्मीभूत कर दिया था, उन्होंने दशों दिशाओं में अग्नि प्रज्ज्वलित कर दश महाविद्याओं को प्रकट किया जिसे देखकर शिव शून्य मनस् होकर प्राय: चैतन्यहीन हो गए थे। देवी ने अपना परिचय इस प्रकार दिया था-

अहं तु प्रकृतिः सूक्ष्मा सृष्टिसंहारकारिणी।

अभवं त्वद्वनितायै त्वदर्थे गौरदेहिका॥...

दशदिक्षु महाभीमा या एता दशमूर्तयः।

सर्वा ममैव मा शम्भो भयं कुरु महामते॥[51]

वास्तव में चण्डयोग, टूमो या भस्त्रिका प्राणायाम द्वारा शरीर की ऊष्णता बढ़ती है। अत्यंत शीत में भी इस प्राणायाम के अभ्यास से सामान्य वस्त्रों में रहा जा सकता है। परंतु इस प्राणायाम के अपव्यवहार से हृद्-स्पंदन के थमने का भी भय बना रहता है इसी कारण आमतौर पर यह प्राणायाम किसी को नहीं सिखाया जाता है।

बौद्ध तंत्र के साधक मंत्रोच्चार, बीज जप, पूजा, प्राणायाम, ध्यान व देवदर्शन द्वारा अपने मन को स्थिरीकृत करने का प्रयास करते हैं। यदि एक बार मन स्थिर हो गया तो शून्य बोध करने के प्रयास आरंभ हो जाते हैं। जब साधक संसार की नश्वरता, परिवर्तनशीलता एवं अपने अस्तित्वहीनता का आभास कर लेगा तो उसे तथता ज्ञान की प्राप्ति होती है। संसार की नश्वरता का भान होते ही

साधक के मन में निराशा के स्थान पर आनंद या महासुख की उत्पत्ति होती है। यही एकत्रित रूप से उद्‌भूत ज्ञान और आनंद ही सहजानंद है। ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि से नहीं वरन् साधक की अनुभूति से होती है।[52]

वास्तविक जीवन में ऐसी अनुभूतियों से साधक का मन आनंद से उद्‌भासित हो उठता है। गौतम बुद्ध ने भी बुद्धत्व प्राप्ति के बाद उल्लास के कारण स्वयं को सार्वकालिक सर्वज्ञ, विजेता एवं चिर-प्रशांति प्राप्त व्यक्ति के रूप में घोषणा की थी – [53]

भगवान बुद्ध के अनुसार समस्त संसार ही परिवर्तनशील है। उसी प्रकार मन की प्रशांति भी अस्थायी और परिवर्तनशील है। सहजानंद अनुभूत साधक के मनस् में निरानंद, निराशा और संशय के भाव पुन: प्रविष्ट हो सकते हैं। चर्यागीतों में बहुसंख्यक गीतों की रचना इसी भाव को लेकर हुई है जिनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। ऐसे निराशाजन्य भाव के परिहार के लिए कई प्रकार के उपदेश चर्यापद में ही दिए गए हैं- कोई कहते हैं कि "पुन: शून्य से आरंभ करो' (हेरि सो काह्नि बिअड़ी जिनउर बट्‌टइ-चर्या. 7)। किसी की उक्ति है "यौनाचार में भाग लो (छाड़िअ भय घिण लोआचार। चाहन्ते चाहन्ते सुण बिआर॥ (चर्या. 31)। किसी ने किसी मार्ग विशेष पर बल न देकर अपना मोह दूर करने की हिदायत दी है- जइ तुम्हें लोअ हे होइब परगामी। पुच्छतु चाटिल अनुत्तर सामी॥ (चर्या. 5)।

उपहासात्मक या खंडनात्मकवृत्ति परक चर्यागीतों के अलावा अन्य गीतों में तंत्र का प्रायोगिक ज्ञान देने वाले भाव सन्निहित हैं। इन उपदेशों को देखते हुए हम इन्हें निर्दिष्ट श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। इन सारे पदों का लक्ष्य एक ही होने पर भी इनके संप्रदाय और अनुभूति में भेद के कारण इनके कथ्य में भी अंतर है। यह स्पष्ट भेद मूलत: साधकों द्वारा अपने साम्प्रदायिक मतों का समर्थन करने के कारण आया है।

	लक्ष्य	पथ	चर्यागीत संख्या
1.	अपने मन को स्थिर	प्राणायाम के द्वारा	1,3,4,11,20
	करना।	विशेषकर डोम्बी व	21,36,38,19,47
		चाण्डाली द्वारा	
2.	मन में शून्य का बोध	भाव अभाव की चिंता	9,10,13,22,30
	लाना	न करना	34
3.	किसी एक पद्धति पर	तीनों तंत्रों का समान	5,14,15,17,27
	अधिक महत्त्व न देना	अभ्यास / प्राणायाम को भी	32, 8
		महत्त्व न देना	
4.	मन की सुख शांति नष्ट	साधना को पुनः मूल से	7,12,18
	होने पर क्या किया जाए?	आरंभ करना	
5.	मन में व्याप्त सर्वशून्य भाव	(क) यौनाचार से अनुभूत	16, 26, 31
	के कारण यदि उदासीनता	शून्यता के बाद ही	
	आ जाए तो क्या करें?	सिद्धि मिलती है	
		(ख) भावाभाव की चिंता	35,39,41
		पूर्णतः त्याग करना	42,43,44
		शून्यता व पूर्णता में कोई	
		अंतर नहीं है।	

6.	यदि क्रमशः महोग्रस्तता	(क) विवाह मत करो	2
	आए तो क्या करें ?	(ख) मठ में मत रहो	6
		(ग) मोह के उत्स का त्याग	11,45,46
7.	सहजानंद की अनुभूति	अपनी ही जीवन पद्धति	
	शिष्यों को कैसे बताएँ	(Life style) द्वारा	40

विषय के आधार पर चर्यागीतों की विभक्तिकरण के बाद यह मिलता है कि चर्या सं. 28, 33 एवं 50 प्रकृत रूप में चर्यागीत नहीं है क्योंकि इनके रचनाकारों का मूलभूत उद्देश्य साधकों को बौद्ध तंत्र का ज्ञान देना नहीं है। यह रचनाकार योगाचार के समर्थक हैं, जिन्होंने यौनाचार स्वीकार करने वाले अनुत्तर तंत्र के अनुयायियों का उपहास किया है। उन्होंने कहा है कि ऐसे साधक तंत्र के नाम पर अपनी वासना की परितृप्ति करते हैं। ऐसे साधक वेश्यागामी हैं और उनकी साधन संगिनी दुष्ट चरित्र की स्त्री है।

जो षो चौर सौ दुषाधी। शबरो भुजंग णइराणि दारि।

नित-नित षिआला षिहे षम जुझअ॥

ढेंढनपाएर गीत बिरले बुझअ॥ चर्या.33

× × ×

मारिल भवमत्ता रे दहदिहे दिधलि बली।

हेर से शवरो निरेबण भईला फिटिलि षवराली॥ (चर्या. -50)

ज्ञातव्य है कि महायान पंथ के अंतर्गत मंत्रयान बौद्ध तंत्र की छह प्रमुख शाखाएँ मानी गई हैं। इन सभी शाखाओं में सहज शब्द की व्याख्या भी विविध रूप में की गई है, ये शाखाएँ हैं-

1.	क्रिया तंत्र	उच्च क्रिया तंत्र (लोकोत्तर क्रिया तंत्र)
		निम्न क्रिया तंत्र (लौकिक क्रिया तंत्र)
2.	चर्यातंत्र	पूजा, भक्ति
3.	योगाचार तंत्र	उच्च योगाचार तंत्र (ध्यान+शून्यता)
		निम्न योगाचारतंत्र (ध्यान+पूजा)
4.	अनुत्तर तंत्र	उच्च अनुत्तर तंत्र (तथता+महासुख, करुणा)
		निम्न अनुत्तर तंत्र (तथता+शून्यताबोध)
5.	महायोग तंत्र	महामुद्रा, चिरस्थायी सुख
6.	अतियोग तंत्र	बोधिचित्त, सुख-दुख की अनुभूति से परे

महायोग और अतियोग तंत्र केवल मौखिक रूप से ही प्रचलित हैं इसका कोई लिखित प्रामाणिक ग्रंथ नहीं है। चर्यागीतों के रचनाकारों ने भी इस परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए इन सम्प्रदायों पर कोई रचना नहीं की है।

मध्यमिका दर्शन की एक शाखा ही कालक्रम में क्रियातंत्र में पर्यवसित हो गई। क्रिया या कार्य ही क्रिया तंत्र का आधार है। पूजा, जप और प्राणायाम के द्वारा ही साधक क्रियाशील बनता है। मंत्रजप, विशेषतः प्राणायाम के द्वारा साधक का मन शून्य बोध की वास्तविक अनुभूति करता है जिसके फलस्वरूप साधक के मन में चिरस्थायी अविचलित सुख की सृष्टि होती है। यही उच्चक्रिया तंत्र का सहजानंद है। उच्च क्रिया तंत्र पूर्णतः मंत्रयान है वज्रयान नहीं। क्रिया तंत्र में सहज=तत्त्व+सुख का पर्याय बन गया है।

योगाचार तंत्र में साधक मन और ध्यान को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। योगाचार दर्शन के प्रतिष्ठापकों, मैत्रेयनाथ, असंग, वसु बंधु (तृतीय-पंचम शताब्दी) आदि ने ''पानी के बुलबुले में प्रतिबिंबित चंद्र'' के उदाहरण द्वारा अपनी बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जिस प्रकार ध्यानपूर्वक देखने पर पानी के बुलबुले में चंद्र के प्रतिबिंब का अस्तित्व प्रतिभात होता है क्योंकि दर्शक उसमें मनोनिवेश करता है। ऐकांतिकता या ध्यान भंग होने के साथ ही साथ उसी व्यक्ति के लिए चंद्र का प्रतिबिंब अस्तित्वहीन हो जाता है। मेघ द्वारा चंद्र को आवृत्त करने पर या बुलबुले के भंग हो जाने या व्यक्ति का ध्यान हट जाने की अवस्थाओं में जलबिंदु में चंद्रबिंब अस्तित्वहीन हो जाएगा। उसी समय करोड़ों जलबिंदुओं में चंद्रबिंब प्रतिफलित होता है पर वह बिंब साधक के लिए अस्तित्वहीन ही होता है। सबकी सृष्टि मन में ही होती है और वह मन में ही निमज्जित होकर रह जाता है- अत: अपने मन को नियंत्रित करना ही साधक का सबसे बड़ा लक्ष्य होना चाहिए-

मण तरु पाञ्च इन्दि तसु साहा।

आसा बहल पातह बाहा॥

बरगुरु बअणे कुठारेँ चिजअ।

काह्नु भणइ तरु पुण ण उइजअ॥ (चर्या. 45)

मोह बिमुक्का जइ मणा।

तवेँ टूटइ अवणा-गमणा॥ (चर्या. 46)

योगाचार तंत्र में सर्वोच्च शून्य स्थायी सर्वशून्यता बताया गया है। यही सर्वशून्य का ज्ञान महासुख की आधारभूमि है।

योगाचार तंत्र में सहजानंद = सुख+शून्यताबोध= सुखशून्य के रूप में देखा जा सकता है।[54]

अनुत्तर तंत्र के आद्याचार्य के रूप में आर्यदेव, बुद्धश्रीज्ञान आदि आचार्यों के नाम पाए जाते हैं पर वास्तविकता यह है कि वज्रयान शाखा की उत्पत्ति महासंघिका के काल में ही हो चुकी है। कुछ उत्तरपंथी साधकों ने बौद्धों को कतिपय ''धर्मीय कारणों'' से नारी के संगम की अनुमति दी थी। वास्तवत: यह प्राक् बौद्ध प्रेत धर्म (shamanic religion) के साथ जुड़ा था। अनुत्तर तंत्र के आधार ग्रंथ हैं- मंजुश्रीमूल कल्प तंत्र, मंजुश्रीमुखागम, श्रीसमाज तंत्र जो बाद में गुह्यसमाज तंत्र बना, हेवज्र तंत्र एवं शेकोद्देश टीका भाष्य आदि।

अनुत्तर तंत्र का मूल वक्तव्य यह है कि सर्वशून्यता का भाव मन में हताशा व क्रूरता के भावों को उदित करता है अत: यह अविद्यात्मक और कष्टकर है-

खररबि किरण संतापे गअणाङ्गण ण गइ पइठा। (चर्या.16)

यहाँ स्पष्ट घोषणा की गई है कि - सर्वशून्यभाव चित्त में किसी प्रकार की सुख नहीं लाता। बल्कि साधक समाज सिद्धि प्राप्ति का बहाना बनाते हैं और मिथ्या गर्व करते हैं। इंद्रियों के बिना किसी भी सत्ता अनुभूति नहीं कर सकता। सारी इंद्रियातीत अनुभूतियाँ इंद्रियगोचर अभिज्ञताओं का ही रूपांतरण मात्र है।

सँ एँ संवेअण बोलथि सान्ति- चर्या. 26

अत: यह कहा जा सकता है कि 'सहज' शब्द का प्रयोग तंत्र के लगभग सभी सम्प्रदायों ने किया है। परंतु 'सहज' शब्द का अर्थ वैष्णव काम धर्मी सहजिया गीतों में ढूँढ़ने पर चर्यागीतों की महिमा ह्रास होती है। पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि सहज शब्द की कोई स्थायी व्याख्या नहीं है। कुल मिलाकर विविध तंत्रों में सहज की अनुभूति की संज्ञा नीचे दिया जा रहा है-

क्रिया तंत्र में सहज प्रज्ञा = (तथता ज्ञान) + सुख

चर्या तंत्र में सहज = प्रशान्ति (भक्ति जनित) + सुख

योगाचार तंत्र में सहज = सुख+शून्य (शून्यता बोध द्वारा उद्‌भूत तथता)

अनुत्तर तंत्र में सहज = तथता + महासुख (महासुख=शून्यता+करुणा)

महा-अति तंत्र का सहज अनावश्यक है क्योंकि इनका मानना है कि बोधिचित्त, अनुभूति शून्य है। इसकी प्राप्ति के बाद अंधकार और अज्ञानता ही हाथ लगता है।

वैष्णवों ने बौद्धों से इस सहज शब्द को ग्रहण किया। परंतु वैष्णवीया सहजिया प्रेम की कामुकता एवं बौद्ध सहज में आकाश-पाताल का भेद है जिन्हें एकाकृत नहीं किया जा सकता। वैष्णव सहजिया का अर्थ प्राकृतिक, स्वाभाविक, नैसर्गिक या अनायास सिद्ध है परंतु बौद्ध सहज विस्तृत ऐकांतिक कष्टार्जित साधना से फलीभूत आनंद एवं ज्ञान का समोद्‌भूत स्वरूप है। शास्त्र वेदादि के पाठ से ही 'सहज' की प्राप्ति नहीं हो सकती-

अण्ण तरंग कि द्वअण्ण जल भवसम स्वरूप अरुअ।[55]

इसी सहज रूपी परमतत्त्व में स्थित होकर जिस अमृत रस की प्राप्ति होती है वह अनुभूति अकथ्य है। उसे न ही गुरु कह सकता है न उसे शिष्य समझ सकता है। पर सरहपा ने ऐसी स्थिति को अपने गुरु से ही पूछने की सलाह दी है-

जहँ मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।

तहि बढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिए उवेस।।[56]

धर्मवीर भारती ने सहज शब्द की व्याख्या करते हुए उसे किसी यान से नहीं जोड़ा। उन्होंने कहीं भी सहजयान शब्द नहीं लिखा। उनके सहज की व्याख्या करते हुए उसे प्रकारांतर से मन की सिद्धावस्था ही माना है।

''जिस समय सिद्ध लोग सबको सहज स्वरूप कहते हैं तो उनका तात्पर्य प्रत्येक वस्तु के आंतरिक स्वभाव से निहित उस नैरात्म्य से है जिसमें शून्यता तथा करुणा अद्वय रूप में स्थित हैं। और सहज ज्ञान के अर्थ हैं कि शून्यता के साथ-साथ करुणा को भी उपाय रूप में जान लेना चाहिए अन्यथा परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती .... शून्य दर्शन के बिना करुणा लक्ष्यभ्रष्ट होती है और करुणा के बिना शून्यता ज्ञान भी निष्फल होती है।''[57]

यहाँ पहले ही कहा जा चुका है कि बौद्ध धर्म की केवल एक ही शाखा अनुत्तर तंत्र में ही स्त्री संगम को महत्ता दी गई है। अन्य किसी भी शाखा में यह पंचमकार की साधना स्वीकृत नहीं है। अनुत्तर तंत्र के साधकों को अन्य पंथ के साधकों ने हेय दृष्टि से देखा है। उनके अनुसार अनुत्तर तंत्र के कलशाभिषेक में कोई शक्ति नहीं है (हाड़ीत भात नाँहि निहित आवेशी'- चर्या. 33) परंतु लोग इसी को पाने के लिए आविष्ट रहते हैं। कलश अभिषेक में महामुद्रा अर्थात् यौनाचार क्रिया संपन्न की जाती है। और एक बार यौनाचार में लिप्त होने पर उसकी स्पृहा बढ़ती ही जाती है। ताड़कपाद के अनुसार इस अभिप्सा का कोई अंत नहीं है। ऐसे वर्णनातीत सुख अनुभव करने पर साधक का आध्यात्मिक जीवन फाँसी की डोर जैसी बन जाती है। अत: एक बार अनात्ता की अनुभूति होने पर यौन अभिज्ञता की कोई आवश्यकता नहीं होती (भणइ ताड़क एषु नाहि अवकाश। जो बुझइ ता गलैं गलपास। चर्या. 37)।

ज्ञात हो कि इसी अनुत्तर तंत्र को वज्रयान कहते हैं ऐसे साधकों को ढेंढणपाद ने चोर की आख्या दी है जो कि परस्त्री के साथ रमण करे। **(जो षो चौर सौ दुषाधी ॥ चर्या सं. 33)**

डॉ. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय के अनुसार ''सहजयान ने वज्रयान के वज्र (कठोर, कठिन) के स्थान पर सहज (सरल, नैसर्गिक) की प्रतिष्ठा की। इस तत्त्व को प्रमुखता देने के करण ही सहजयानी बौद्ध सिद्धों की लोकभाषा की रचनाओं में वज्र, वज्रसत्व, वज्रधर, वज्रगुरु आदि शब्दों का कम ही प्रयोग मिलता है.... सहज तत्त्व की प्रतिष्ठा और वज्र शब्द का दार्शनिक अर्थ ये दोनों

इस यान को वज्रयान नाम के विशेष यान से पृथक करने वाले हैं।'[58]

तो क्या इस उक्ति से यह मान लिया जाए कि जिन पदों में सहज शब्द का प्रयोग हुआ है वे सारे सहजयानी गीत हैं। उदाहरणार्थ-

सहज महातरु फरिअ ए तैलोए।

खसम सभावे रे वा णमुका कोए॥

जिम जल पाणिआ टलिआ भेउ नजाअ।

तिम मण रअणा रे समरसे गअण समाअ॥ (चर्या.43)

अर्थात्, बौद्ध धर्म में ज्ञान की वृक्ष से तुलना की गई है (जैसे - बोधिवृक्ष)। यहाँ पर भुसुकपाद ने सहज की अनुभूति रूपी महातरु का विश्लेषण करने को कहा है। मानव का चित्त जन्मगत रूप से कोई अनुभूति लेकर नहीं आता यह महाशून्य या आकाश की भाँति वर्णहीन है। जिस प्रकार आकाश में मेघ के वर्ण प्रतिफलित होते हैं उसी प्रकार विविध भावों की उत्पत्ति से मन में अनुभूति की सृष्टि होती है। जिस प्रकार जलस्रोत में लहर का पृथक् अस्तित्व समझ में नहीं आता उसी प्रकार मन रत्न साम्यभाव से शून्य अनुभूति में प्रवेश करता है।

यह पद योगाचार तंत्र पर आधारित है। अनुत्तर तंत्र के समर्थकों ने योगाचार के सर्वशून्यतावाद को अविद्या और क्लेशकारक बताया था-

खर रबि किरण संतापे रे गअणङ्गण गइ पइठा।

भणन्ति महित्ता भइ एथु बुड़न्ते किम्पि न दिठा॥(चर्या. 16)

संभवत: उसी के प्रतिवाद स्वरूप भुसुकपाद ने कहा है कि शून्यभाव और सुख दोनों ही सम्मिश्रित हैं। अब प्रश्न यह आता है कि क्या केवल सहज शब्द के प्रयोग मात्र से ही कोई सहजयानी बन जाएगा। कबीर ने भी 'साधो सहज साधना भली' कहा है जिसे लोगों ने सहजयोग

कहा। कबीर काया साधना के पक्षपाती थे और योगी ही कुंडलिनी जागरण के उपक्रम में होने वाली असह्य पीड़ा को समझ सकता है तो क्या इसे सहज साधना मान ली जाए?

श्री उपाध्याय आगे कहते हैं कि 'वस्तुतः वज्रयान ने माध्यमिकों के शून्यता तत्त्व पर जोर दिया था, जबकि सहजयानियों ने योगाचार के योग और चित्त साधना पर विशेष जोर दिया। .... चित्त योग की इस महत्ता को स्वीकार करते हुए सहजिया सिद्धों ने बाह्य तंत्र-मंत्र मंडल आदि को साधना के चरम साधन के अनुपयुक्त समझा। बाहर की सामग्री से बोधिचित्तोत्पाद असंभव माना गया और शरीर के अन्दर ही अनेक साधनों और सामग्रियों की कल्पना की गई, जिससे इनकी साधना भौतिक सामग्रियों की दृष्टि से सरल और स्वाभाविक हो गई।''[59]

परंतु तथ्य यह है कि तथाकथित रूप से सहजयानी माने जाने वालों के ये लक्षण योगाचारियों के हैं, जिन्होंने क्रिया तंत्र के पूजन पद्धति को नकारकर केवल योग द्वारा ही तथता एवं महासुख की प्राप्ति को मार्ग निकाला। परंतु यदि ये अनुत्तर तंत्र के साधकों की ओर गौर करते जिन्हें वे सहजयानी मानते हैं तो समस्त परिश्रम ही सफल होता। उनके अनुसार सहजावस्था को सिद्धों ने डोम्बी, नैरात्मा, बंगाली आदि के माध्यम से प्रकट किया है।[60] पर सत्य तो यह है कि डोम्बी एक प्राणायाम का नाम है एवं बंगाल शब्द का प्रयोग यहाँ कहीं भी शिष्ट अर्थ में नहीं लिया गया। प्रथमतः डोम्बी शब्द साधनमाला में वर्णित पंचडाक मंडल की गौरी गोष्ठी की डाकिनी 'डोम्बी' का पर्याय है - जो डोम्बी प्राणायाम के वायु के प्रतिनिधित्व करती है। डोम्बी की अन्य सहचरी डाकिनियाँ हैं- गौरी, चाउरी, बेताली, घासमारी, पुक्कशी शबरी व चांडाली।[61]

बंग शब्द का अर्थ है रांगा धातु (Tin-stanum), बंग देश का अर्थ है वह स्थान जहाँ रांगा मिले। पूर्व भारत के पुरुलिया, वर्द्धमान, सांताल परगना और बिहार के घाट शिला, मुंगेर आदि इलाकों में रांगा बहुतायत में मिलता है। यह इलाके आदिवासियों से भरे हैं जहाँ समाज में स्त्री की स्वाधीनता अधिक है। साथ ही इन अंचलों की सामाजिक व्यवस्था भी इतने कठोर नहीं

थे। अत: बंगाल में जाना या बंगाली होने का अर्थ यही है कि साधक ने अपना सर्वस्व खो दिया है।[62]

तांत्रिक सिद्धों की शक्ति सहज सुंदरी में उपाध्याय जी ने त्रिपुर सुंदरी की छवि देखी है।[63] दीक्षित लोग इस सहजसुंदरी के सौंदर्य से भलीभाँति परिचित रहते हैं, उसके बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकते, सदैव कंठ से लगाए रखते हैं। उन्होंने यह उक्ति चर्या संख्या 28 के आधार पर कही है जो कि पूर्णत: तथ्यपरक नहीं लगता।

उमत सबरो पागल शबरो मा कर गुली गुहाड़ा तोहौरी।

निअ घरिणी नामे सहज सुंदारी॥ चर्या. 28

में मयूरपुच्छ परिहिता बालिका की उपस्थिति से साधक किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और वह उस शबरी से प्रार्थना करता है कि शबरी उसे और विभ्रांत न करे। यहाँ रचनाकार ने अपनी बात नहीं कही प्रार्थना (गुहाड़ा), (तोहौरी-तुमसे) की है। गीतकार अपनी अवस्था से सुनिश्चित है कि उनके शरीर में केवल सहजात सुंदरी का स्थान है वहाँ किसी और के लिए जगह नहीं है। सहज की अनुभूति ही गीतकार के शरीर और मन में छायी है। यहाँ सहज सुंदरी मात्र सहजात अनुभूतियों का मानवीकृत रूप है। परंतु त्रिपुरसुंदरी सचराचर विश्व की सृष्टि, स्थिति व संहारकारिका हैं, वे ''आब्रह्मकीट जननी'' एवं प्रलयकाल में 'महातांडव साक्षिणी हैं। शंकराचार्य के पहले से ही त्रिपुरसुंदरी या श्रीविद्या की उपासना हो रही है। सौंदर्यलहरी के अनुसार-

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवतु शक्तः प्रभवित्तुं।

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पंदितुमषि॥

अतस्त्वामाराध्यान् हरिहर विरिंचादिभिरपि।

प्रणंतु स्तोतुं वा सुरमकृतपुण्य प्रभवति॥[64]

जिस शक्ति के प्रभाव से शिव चलायमान हैं एवं जिसके अभाव से उनमें स्पंदन की क्षमता नहीं बचती वही निर्गुणा देवी षोड़शी हैं-

निर्गुणा च महादेवी षोड़शी परिकीर्तिता ।।[65]

क्या केवल 'सुंदरी' शब्द की समानता से ही सहज सुंदरी को त्रिपुरसुंदरी से मिलती-जुलती कल्पना कह देना उचित है ?

इस चर्या में सहज सुंदरी को कंठ से लगाने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। बल्कि जहाँ गीत रचक ने-

सुन निरामणि कंठे लइआ महासुहे राति पोहाई-

कहा है यहाँ निरामणि = नैरात्मा देवी का पर्याय है। नि:+आत्म जिसका अर्थ है अपनत्व विहीन या जिसकी 'स्व' वाचक कोई सत्ता न हो। अत: नैरात्मा और शून्य एक ही तत्त्व न होकर भी समधर्मी अवश्य हैं। साधक ने कंठ में शून्य और नैरात्मा दोनों को धारण किया। अनुत्तर तंत्र के अनुसार कंठ से सर्वशून्य अनुभूति को हटाने के लिए यौनाचार के पश्चात स्खलित वीर्य को साधक पुन: पी लेता है जिससे माना जाता है कि उसकी खोई हुई शक्ति फिर लौट आती है। इसी के बाद महासुख की उत्पत्ति होती है और सर्वशून्य भाव करुणा + तथता में पर्यवसित होती है। वीर्य को कंठ में स्थापित करने की विधि को ही महामुद्रा कहते हैं।[66]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अवधूत शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सहजावस्था प्राप्त करने वाला ही अवधूत कहलाता है एवं उन्होंने सहजयान और वज्रयान में 'अवधूती वृत्ति' नामक एक विशेष यौगिक वृत्ति की चर्चा की है- चालिउअ खसहर मागे अबधूइ। चर्या. 27/2

सिद्धों के अनुसार गंगा-यमुना आदि बाह्य स्थान मिथ्या हैं बल्कि इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ ही मूलत: गंगा-यमुना है। इसी प्रकार कामरूप, उड्डीयान, जालंधर, श्रीहट्ट की स्थिति

भी देह के अंदर है। रीढ़ की हड्डी (मेरुदण्ड) ही सुमेरू पर्वत है। इस शरीर में अग्नि है जो अधोमुखी होकर बाड़वाग्नि बन जाती है और ऊर्ध्वमुखी होकर चण्डाग्नि।[67]

दरअसल बौद्ध तंत्र में वर्णित असंख्य नाड़ियों में तीन प्रधान नाड़ी हैं-

ललना = वाम नाड़ी = इड़ा

रसना = दक्षिण नाड़ी = पिंगला

अवधूतीका = मध्य नाड़ी = सरस्वती

डोम्बी वायु देह के मध्य रहती है। जिसका बहाव शरीर के बाहर की ओर होता है। इसी के चलते शरीर से मल, मूत्रादि निष्कासित होते हैं यही योग में वर्णित अपान वायु है। साधक उसे अपने देह की ओर खींचते हैं अवधूतीका में इस वायु के प्रवेश से ही कुंडलिनी जागरित होती है। यही अवधूतीका वृत्ति है।

गंगा जउना माझें रे बहइ नाइ।

तहि बुड़िली मातंगी पोइआ लीले पार करेइ॥ **(चर्या सं.-14)**

द्विवेदी जी के अनुसार सहजयान और वज्रयान में अनेक समानताएँ हैं जिन्हे वे स्पष्ट करने से विरत रहे। दरअसल अनुत्तर तंत्र ही वज्रयान का पर्याय है एवं इसका दर्शन उच्च योगाचार के साथ प्राय: समअर्थी प्रतीत होता है। परंतु यह अभी भी संदेह का विषय है कि सहजयान किसे कहा गया है।

कदाचित कमल कुलिश साधना के उपक्रम में गुण्डरीपा ने स्वयं को कुन्दुरु वीर कहा है-

कमल कुलिश घाण्टे करहुँ बिआली।

भणई गुड्डरी बहने कुन्दुरे बीरा। चर्या-4

योगाचार तंत्र के अनुसार कमल-पद्म, मोह विक्षेपण ध्यान की पद्धति है और कुलिश - वज्र, द्वेष विक्षेपण ध्यान है। यहाँ कवि ने इन दोनों को 'घाण्टे' अर्थात् विमर्दन करने की बात की है। परंतु इन शब्दों का अनुत्तर तंत्र परक अर्थ लगाकर कमल-योनि और कुलिश-लिंग की परिकल्पना की है। कुन्दुरु शब्द को भी विद्वानों ने 'सूरत' द्विइन्द्रिय योग बना दिया। कुन्दुरु शब्द का मूल कुण्ड है जो कि यज्ञाग्नि का कुण्ड है। योगतंत्र के उच्च स्तर में चंडयोग के द्वारा समस्त अनुभूतियों को चाण्डाली प्राणायाम से जलाकर शून्यता की अनुभूति लाते हैं। चण्ड का अर्थ है अग्नि। कुन्दुरे वीरा का अर्थ है चण्डयोग में सिद्ध व्यक्ति मन से वासना, द्वेष, लोभादि को जलाकर भस्म कर केवल शून्य बोध की अनुभूति करता है।[68]

धर्मवीर भारती ने भी सहजयान को वज्रयान से अलग कोई शाखा न मानने का तर्क देते हुए कहा है कि - सहजयान को वज्रयान से अलग कोई शाखा मानना अथवा सहजयान को वज्रयान के अंतर्गत कोई स्वतंत्र शाखा मानना अथवा सहज साधना में देवता, मंत्र, तंत्र, योग, मैथुन तथा अतिचारों का अभाव मानना युक्तिसंगत है। हाँ, यह अवश्य है कि सरह आदि कुछ आचार्य ऐसे हुए जिन्होंने उच्चकोटि के अनुत्तर साधकों के लिए तंत्र-मंत्र का निषेध कर केवल सहज में भावाभाव से विनिर्मुक्त होकर महासुख की साधना का विधान किया। किंतु वे भी तांत्रिक थे, वज्राचार्य थे, उनकी चिन्तना को सहजयान क्यों पुकारा गया। इसका प्रमुख कारण अभी तक यह बताया जाता रहा है कि उन्होंने गुह्याचारों से भिन्न केवल सहज स्वाभाविक जीवन का उपदेश किया।[69]

14वीं चर्या की टीका का उद्धरण देकर भारतीजी ने डोम्बी रूपिणी भगवती नैरात्मा को सहजयान की खेवनहार कहा है। तथ्य यह है कि यहाँ ''गंगा जउना माझेंरे बहइ नाइ'' में नाइ शब्द का अर्थ नदी लगाया जाता है। पर यहाँ नाइ अवधूतीका नाड़ी की अनुपस्थिति का बोधक है जिसके कारण चाण्डली प्राणायाम द्वारा वायु को उसमें रोक नहीं पाते और वह नियंत्रणहीन होकर

अनायास ही पार हो जाता है। इसका सहज से कोई संयोग नहीं। भारती जी ने पूरे सम्प्रदाय को सहजयान नाम देने की अपेक्षा सहज को एक आम्नाय या पद्धति मानना उचित समझा है।[70]

अंतत: यही कहा जा सकता है कि सहजयान नामक कोई स्वतंत्र यान नहीं तथापि संशय क्यों रखा जाए। अत: सहजयान की पैरवी करने वालों ने जिस पद को इस यान का मूलाधार बताया है उसकी जरा चर्चा की जाए-

नाद न बिन्दु न रवि न ससि मंडल।

चिअराअ सहावे मुकल॥

उजु रे उजु छाड़ि मा लेहुरे बंक।

निअड्डहि बोहि मा जाहुरे लांक॥

हाथेरे कांकाण मा लोउ दापण।

अपणे आप बुझतु णिअमण॥ - चर्या सं. - 32/सरहपादानाम्

यह पद पूर्णत: योगाचार तंत्र के समर्थन मे लिखित पद है-

नाद = जप / ध्वनि

बिन्दु = वीर्य / रेत: - अनुत्तर तंत्र या यौनाचार समर्थक तंत्र

रबि = क्रिया तंत्र में महासिद्ध बुद्धगुह्यक को सूर्य कहा गया है

ससिमंडल = चर्या तंत्र के महासिद्ध वाराहबोधी को चंद्र कहा गया है

प्रत्येक शब्द के बाद निषेध वाचक 'न' लगाकर कवि ने जप, यौनाचार, क्रियातंत्र और चर्यातंत्र को मूल्यहीन कहा है। यहीं पर योगाचार तंत्र अवशिष्ट रह गया। इस तंत्र का मूल लक्ष्य पूर्णत: शून्यता की अनुभूति से सुख प्राप्ति करना है। पर चित्त का राज्य स्वभावत: नियंत्रणहीन है। बोधिज्ञान निकट ही है अत: दूर (लंका) मत जाओ।

यहाँ कंकण और दर्पण दो धरणियों के नाम हैं, दर्पण धरणी और कंकण धरणी। पूजा के क्रम में देवताओं का दर्पण में प्रतिबिंब देखकर स्नान कराया जाता है। क्रिया तंत्र में भी देव प्रतिष्ठा के बाद दर्पण स्नान कराया जाता है।[71]

दर्पण सदृश ज्ञान निम्न अनुत्तर तंत्र में प्रयोग किया जाता है। दर्पण सदृश ज्ञान पाने वाला साधक संसार को उसी रूप में देखता है जैसा वह वास्तविक रूप में है वह शून्यता का बोध नहीं कर सकता। साथ ही दर्पण में मैल जमा होने पर साधक का मन भी अस्पष्टता के कारण विकृत होता है जिससे कि जगत के प्रति उनकी धारणा भी विकृत हो जाती है।

वहीं कंकण धरणी का प्रयोग मंत्रयान में प्रेततर्पण के लिए किया जाता था पर उसका कोई स्पष्ट उल्लेख हमें नहीं मिलता- "It is no where explained how one offers water to dweller in the intermediate state (antarbhaba) by means of kankan dharani."[72] दूसरी ओर अनुत्तर तंत्र के तथागत की छह धरणी, छह मुद्रा और छह समाधियों में कंकण धरणी भी मुख्य है। बौद्ध तंत्रों में बुद्ध कंकण शब्द का प्रयोग सामूहिक रूप से धर्मधातु के लिए किया जाता है। अत: आलोच्य वाक्य का यह अर्थ है कि जब बुद्धचित्त की प्राप्ति हो सकती है तो दर्पण ज्ञान लेकर संतुष्ट मत रहो। जहाँ बोधिचित्त पाना संभव है वहाँ पूजा जप में समय मत गँवाओ।

संभवत: इससे थोड़ा तो स्पष्ट हुआ होगा कि सरहपा मूलत: योगाचारी तांत्रिक रहे हैं सहजयानी नहीं। निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि बौद्ध सहज ज्ञान और महासुख की सहजात अनुभूति है जो कि कष्ट साध्य है। इसका सहजिया वैष्णवों या बाउलों से कोई लेना-देना नहीं। सहजिया वैष्णव मनुष्य के नैसर्गिक भावों को ही सहज मानते थे।

''आहर निद्रा भयं मैथुनंच सामान्यमेतत् पशुभिर्नरानाम्।''

को यदि सहज तत्त्व मान लिया जाए तो इससे कभी भी रत्न सदृश व्यक्तित्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती और साधक 'जो चौर सौ दुषाधी'' (चर्या 33) बनकर रह जाता।[73]

रस विवेचन :

सिद्धों के काव्य में रस विवेचन करने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह धार्मिक काव्य है। उनकी दृष्टि में लौकिक क्लेश-वासना आदि तो मोहजाल है, जो कि शून्य की अनुभूति के साथ ही समाप्त हो जाता है। चर्यापद में उत्थापित कई गुह्य साधनाएँ सामान्य लोगों के सम्मुख प्रकट नहीं किए जा सकते हैं। केवल दीक्षित व्यक्ति ही इसका महत्त्व समझते थे या उन्हीं के साथ इन विषयों की चर्चा की जा सकती है, क्योंकि कोटि जनों में कोई एक ही व्यक्ति इन गीतों के भावों का हृदयंगम कर सकता है-

अइसन चर्या कुक्कुरीपाएँ गाइउ।

कोड़ि मझेँ एक हिअहिं समाइउ॥

सिद्धों ने पूर्व परम्परा से आगत निर्वाण तत्त्व का तिरस्कार कर महासुख की भावना की है। यह महासुख एक ऐसी अवस्था है जिसे कोई कह नहीं सकता, कोई समझ नहीं सकता। ना ही गुरु उसे कह सकता है और न शिष्य उसे समझ सकता है, बाह्याभिव्यक्ति उसे छू भी नहीं सकती। अंततोगत्वा सरहपाद ने एक बड़े ही मार्मिक उदाहरण से इसे व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि इस महासुख रूपी परमतत्त्व को कैसे अभिव्यक्त किया जाए? साधक की मनस्थिति उस कुमारी की भाँति होती है जिसने प्रथम बार सम्भोग सुख का अनुभव किया हो और जब सखियाँ उससे इस विषय में बारम्बार पूछती हैं तो वह हार कर कहती है- उसे तुम तभी समझोगी जब तुम प्रणय के

उपरांत प्रिय से मिलोगी। वह अनुभवजन्य है अभिव्यक्ति परक नहीं-

सो परमेसरू कासु कहिज्जइ।

सुरअ कुमारी जिम परिवज्जइ॥

टीका : भ्रान्त्या यावत् सत्त्वनिकायः स्थितेऽपिस परमतत्त्वं परमेश्चरोऽन्य सिद्धान्तभावात् कस्य पृथग्जनावस्थितस्य कथयामि हि तत्। कथन मात्रेण तेषु प्रवृत्तिः। किन्तहिं यथा कुमार्यः सखीभ्यामालोचयन्ति। आलोचयन्ति प्रत्ययं कुर्वन्ति। प्रथमतः त्वया स्वामिने गत्वा सुखमनुभूतम्। तन्मयि साक्षाद्वदसि निश्चितमेतत्। गत्वा सा पुनरस्य गृहादागत्य सखिना च पृच्छति पूर्वोक्तम् कीदृशमिति। ता ऊचुः त्वया साक्षात् स्वामिना सहानुभवकाले ज्ञेयमिति। सुखोत्पादं न किञ्चित् साक्षात् ते वक्तुम् अवाच्यत्वात्। तमिव गुरूपदेशन्न पुनः कुमारोसुखम् इति वस्तुरूपं प्रतिपादयति।[74]

इस रस को शून्यता एवं करुणा के भावों की सहजात उत्पत्ति से ही समझा जा सकता है।

ध्यातव्य है कि इनकी रचनाओं में कलादृष्टि प्रधान नहीं है। उसे गौण भी नहीं कह सकते। वह उतनी ही है जितनी कि ग्रंथ के कर्ता को अपनी बात को बोधगम्य कराने के लिए आवश्यक है। वह छांदसिक संगीति बनाए रखता है, भाषा को यथासंभव स्वच्छ और कवित्वपूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है। कहीं-कहीं उपमा, दृष्टान्त, रूपक, उत्प्रेक्षा अलंकारों का भी आभूषण है। कहीं-कहीं उनकी रचना में न केवल बुद्धिगम्य बल्कि हृद्य संवेगों के संपुट हैं, लेकिन अपने तत्त्वज्ञान की अभिव्यक्ति ही उनका मूल लक्ष्य है। जैन प्रबंधकाव्यों में जहाँ आध्यात्मिकता का प्रसरण हुआ वहाँ कवित्व का भी पर्याप्त प्रसार मिलता है परंतु मुक्तकों में नीति, वैराग्य, श्रावकाचार आदि दार्शनिक तत्त्वों का उन्मीलन होने के साथ ही नीरसता व्याप्त हो जाती है और उस उपक्रम में उन्हें अपने कवित्व की अभिव्यक्ति का अवकाश नहीं मिलता। परंतु बौद्धों की कला उनकी स्वभावोक्ति और ऋजु-कथन शैली में न्यस्त है। ये भाषीय काव्यरूप या अप्रस्तुत कथन, कहीं भी पांडित्य प्रदर्शन की चेष्टा नहीं करते। भाषा में गोपन संकेत होते हुए भी वह सरल है।

विषय वस्तु की दृष्टि से बौद्धगानों के दो पक्ष हैं। प्रथम चर्यागीति या वज्रगीति भावप्रधान हैं और दोहे नीतिप्रधान हैं।[75]

चर्यापद में बोधिचित्त की चर्या. अर्थात् प्रज्ञा को ग्रहण करने की महारागयुक्त चर्या का काव्यात्मक विवरण है एवं दोहों में तत्त्व चिंतन और साधना को प्रचलित करने, सांप्रदायिक खंडन-मंडन करने, सैद्धांतिक विवेचन करने, साधक को ज्ञान व चेतावनी देने के लिए थे। वास्तव में ये दोनों काव्यरूप एक विशेष पारमिता के विकास की दो अवस्थाओं के ही कव्यिक प्रतिबिंब मात्र हैं, अत: उनमें गहन साम्प्रदायिकता की पैठ है। ध्यातव्य है कि सिद्ध काव्य के भाव तथा नीति पक्ष में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा अंकित नहीं की जा सकती। अनेक स्थलों में भावों की अभिव्यक्ति करते-करते सिद्ध नीति का उपदेश देने लगते हैं और कतिपय उपदेशपरक गीतों में सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के क्रम में उनका भावोच्छल हृदय उन्मीलित होने लगता है। इसका मूलभूत कारण यह माना जा सकता है कि मुख्यत: यह दोनों पक्ष एक ही पारमिता से विकसित हुए हैं।[76]

चर्यापदों में व्याप्त शृंगार रस :

जहाँ अनुत्तर तंत्र में तथता और करुणा का विकास क्रमश: उपाय और प्रज्ञा में हुआ वहाँ पर भावनात्मक साधना का स्फुरण होता दिखाई देता है। प्रज्ञोपाय का मिलन ही तथागत और नैरात्मा के एकीभूत रूप हैं। उसकी विश्वव्याप्त प्रणय केलि से ही महासुख की उत्पत्ति होती है। शबरी के प्रति शबर का प्रणय निवेदन या चाण्डाली से भाव विनिमय ही शून्यता और बोधिचित्त की एकात्मकता के विविध रूपक हैं। दोनों ही एक-दूसरे के विरह से आतुर हैं, अत: वे अपनी विरहावस्था का अतिक्रमण कर एक-दूसरे से मिलन में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रणय के उपक्रम में गुरु

दौत्य कर्म करते हुए उनका मिलन सफल बनाते हैं। उस मिलन से सहज प्रेम उत्पन्न होता है और अनुत्तर की प्राप्ति होती है।[77]

शृंगार कथन के क्रम में पदों में स्वकीया, परकीया, सामान्या, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, अभिसारिका नायिकाओं का वर्णन किया है। दरअसल सिद्धों ने अपनी साधना संगिनी को गृहणी, वधू आदि शब्दों से अभिहित किया है-

ससुरा निद गेल बाहुड़ी जागअ (चर्या. 2)

केवल यही नहीं काण्हपा तो पूर्णत: अपने विवाह की प्रस्तुति भी कर लेते हैं। वर यात्रा के समय पटह, मादल, दुन्दुभि जैसे बाद्यों का नाद करते हुए वे डोम्बी को पालकी में बैठाकर ले आएँगे-

भव निर्वाणे पड़ह मादला।
मण पवण बेणि करण्ड-कसाला॥
जअ जअ दुन्दुभि सादु उछलिआँ।
कान्ह डोम्बी विवाहे चलिला॥ (चर्या. 19)

कृष्णपाद ने भी समस्त बाह्यिक तंत्र मंत्रों को छोड़कर मात्र अपनी गृहिणी के साथ ही केलि करने की हिदायत दी है।

एक्कु ण किज्जइ मंतु ण तंतु णिअ घरिणिअ लइ केलि करन्तु।
णिअ-घरे घरिणि जावं ण मज्जइ तावं पंच वण्णे विहरिज्जइ॥[78]

केवल यही नहीं काण्हपा ने यही कहा "कि हे तरुणी तेरे और तेरे स्नेह के बिना इस शरीर से बोधिचित्त की प्राप्ति नहीं हो सकती। (दोहा सं. 29) जो निश्चल होकर अपनी गृहिणी में मनोनिवेश करता है वही वज्रधर नाथ परमार्थ प्राप्त करता है (दोहा सं.31)। जिस प्रकार नमक

पानी में विलीन हो जाता है उसी प्रकार गृहिणी के साथ सुखानुभव करने पर तुरंत ही समरसता की अनुभूति होती है। (दोहा सं. 32)

इन व्याख्यानों से यह प्रतीत होता है कि मानो यह महामुद्रा स्वकीया है। परंतु कतिपय स्थानों पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह साधन संगिनी परकीया है जब कान्हपा नगर बाहर में रहने वाली डोम्बी को अपना बनाने के लिए कपाली बनने को भी प्रस्तुत है, वह स्वयं को निघृण कापालिक कहकर डोम्बी को अपनाता है और उसी की रुचि के अनुसार हड्डियों की माला का भी परिधान करता है-

तु लो डोम्बी हाँउ कपाली।

तोहोर अन्तरे मोए घलिलि हाड़ेर माली॥ (चर्या. 10)

यहाँ उनकी शब्दावली और डोम्बी या शबरी का वर्णन ऐसा है कि वह स्वकीया तो कदापि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार जब शबरपाद शबरी से प्रणय निवेदन करते हैं तो शबरी अनूठी ही प्रतीत होती है।

उमत सबरो पागल सबरो मा कर गुली गुहाड़ा तोहौरी।

णिअ घरिणी णामे सहज सुन्दारी॥ (चर्या.28)

कदाचित वज्रगीति की शुंडिनी व मातंगी सामान्य नायिकाएँ भी हो सकती हैं क्योंकि इन दोनों का संबंध मद्य से है। शुंडिनी, वल्कल चूर्ण के द्वारा मदिरा सींचती है। उसके घर के वैरोचन द्वार में चिह्न देखकर ग्राहक उस ओर मद्यपान करने चले आते हैं और वह उन्हें मदिरा पिलाकर संतुष्ट करती है।

एक से शुण्डिनी दुइ घरे सान्धअ।
चीअण बाकलअ बारुणी बान्धअ॥....
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ।
आइल गराहक अपणे बहिआ॥ (चर्या.3)

मद्य के नशे से प्रमत्त स्त्री को मातंगी कहते हैं, वह नियंत्रणहीना है। वही गंगा, यमुना के बीच नाव लेकर यात्रियों को पार लगाती है। **(चर्या सं-14)।**

शृंगार के संयोग और विप्रलंभ दोनों ही अवस्थाओं का यहाँ वर्णन हुआ है। अनेक चर्याओं में नायक नायिका का आलिंगन करने एवं कमल मुख को चूमकर रसपान करने को लालायित है तो कहीं दिवा में भी भयातुर नायिका रात्रि होने पर कामयापन करने कामरूप जाती है। विशेषकर कान्हपाद के पदों में अनुत्तर तंत्र के सिद्धांतों के विश्लेषण के साथ-साथ डोम्बी से प्रणय निवेदन में आकुल हृदय की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस स्वर में समभावी स्वर मिलाकर चतुर्थ चर्यापद में गुण्डरीपा भी अपनी योगिनी के आलिंगन और मुखचुंबन के कमल-रस पान की आकांक्षा करते हैं।

उल्लेख्य है कि यहाँ नायक वज्र या उपाय का प्रतीक है और नायिका कमल या प्रज्ञा की प्रतीक है इन्हीं प्रज्ञोपाय के मिलन से सक्रिय बोधिसत्व की उत्पत्ति होती है। बौद्ध तंत्रों के अनुसार शाक्यमुनि (बुद्ध) के मानस पुत्र राहुल ही मूल देवता हैं और उन्हीं की आराधना से समस्त अभिवांछित फलों की प्राप्ति होती है।[79]

संयोग शृंगार के साथ यहाँ विप्रलंभ शृंगार का भी वर्णन है। चर्या संख्या 20 में कई विद्वानों ने विप्रलंभ शृंगार की परिकल्पना की है-

हाँउ निरासी खमण भतारे।
मोहोर विगोआ कहण नजाइ॥
फेटलिउ गो मात्र अन्तउड़ि चाहि।
जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥ चर्या. 20

विद्वानों ने इसे नैरात्म्य देवी के उद्‌गार माने हैं जो एक अनासक्त भिक्षु की स्त्री हैं और उनका चित्रण एक आसन्नप्रसवा स्त्री के रूप में है। अन्यमनस्क पति की उपेक्षा के कारण उन्होंने एक मृत शिशु को जन्म दिया एवं वह प्रसव श्रम से पराभूत है।[80]

परंतु इसका मूल अर्थ यह है कि शिष्य कुक्कुरिया अपने गुरु से निराश होकर कहते हैं कि मैं अपने गुरु से निराश हूँ। मेरी मानसिक स्थिति अवर्णनीय है। जिस मातृ (तंत्र) को खोजा उसका गूढ़ तत्त्व उन्मुक्त हो गया। मैंने जिसकी खोज की थी वह ये नहीं है।

क्या बौद्ध भिक्षु की कोई स्त्री हो सकती है ? ऐसे भाष्यों को पढ़ने पर यह लगता है कि बौद्ध तांत्रिक साधकगण योनिविकारग्रस्त थे जो कि सत्य नहीं है। क्योंकि सिद्ध कुक्कुरिया के चर्या सं. 2 से यह स्पष्ट होता है कि वे यौन जीवन के कट्टर विरोधी थे।

कहीं-कहीं चर्यापद में अद्‌भुत रस का भी संयोजन हुआ है जैसे-

दुलि दुहि पिटा धरण नजाइ।

रूखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ॥ चर्या.-2

यहाँ पर कछुए का दोहन करने का संकेत किया है उससे इतना दूध निकला कि वह पात्र में नहीं आता। दूसरी ओर गहरे पानी में रहने वाले घड़ियाल को ऊँचे पेड़ में फली इमली खाते दिखाया गया है केवल यही नहीं कवि ने यह भी दावा किया है कि उनकी वाणी कोई बिरला ही समझ सकता है। करोड़ों के बीच में कोई एक व्यक्ति ही इसका हृदयंगम कर सकता है-

अइसन चर्या कुक्कुरीपाएँ गाइउ।

कोड़ि मझेँ एकु हिअहिं समाइउ॥ चर्या. 2

यहाँ हास्य और व्यंग्य का पुट भी स्पष्टत: परिलक्षित होता है। चर्यापदों में किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के अनुगामी दूसरों पर व्यंग्य करते थे या अपने सम्प्रदाय को सर्वोत्कृष्ट बताने की कामना ने दूसरों पर व्यंग्य किया है। जैसे कृष्णपाद को एक स्थान पर ढेंढणपाद ने लोमड़ी से तुलना की है-

निते निते षिआला षिहे सम जुझअ। - चर्या. 33

इसमें योगाचारी ढेंढणपाद ने अनुत्तरमार्गी कृष्णपाद को लोमड़ी कहा और बुद्ध को शाक्य सिंह कहा। इन दोनों के युद्ध को इन दोनों सम्प्रदायों के बीच का मनोमालिन्य कह सकते हैं।

कदाचित् यह प्रश्न भी उत्थित हो सकता है कि क्या ये सिद्ध साधक अपने काव्य सृजन के क्रम में रस निष्पत्ति कर पाए हैं ? पहले ही कहा जा चुका है कि इन साधकों का काव्य शास्त्र या काव्य सृजन के नियमों से कोई सरोकार नहीं था। साथ ही सिद्धों का काव्य अलौकिक था उनकी दृष्टि में दृश्य लोक केवल शून्य या माया है अत: लौकिक क्लेश विकारों का उनके लिए कोई स्थान न था। उनका लक्ष्य था वज्रसत्त्व की प्राप्ति जिससे यह सारे भ्रम टूट जाते हैं। यहाँ जहाँ लौकिक रति की अभिव्यक्ति हुई है वह भी प्रज्ञोपायात्मक महाराग या महारति है जिसका लौकिक भावों से विशेष सरोकार नहीं है।

प्रकृति वर्णन :

भावों को प्रकृष्ट रूप से उद्दीप्त करने का सर्ववृहद् आलंबन प्रकृति ही है। इन चर्यापदों में या अन्यान्य बौद्ध तांत्रिक कृतियों में रत्यात्मक भाव का आलंबन लेकर प्रकृति का चित्रण नहीं हुआ है क्योंकि सिद्धों की दृष्टि में न ही यह बाह्य काम सत्य है और न प्रकृति। पहले ही कहा जा चुका है कि सिद्धों के लिए बाह्यिक भावों या प्रकृति का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि वह भ्रमयुक्त कार्य व्यापार है। शून्यवादी या विज्ञानवादी साधक प्रकृति को शून्य मानते हैं।

उन्होंने केवल देहस्थ प्रकृति को ही सत्य माना। उनके साधना व्यापार में ''यथा पिंडे, तथा ब्राह्मांडे'' की सत्यता प्रतीत होती है। देहस्थ प्रकृति ही सत्य एवं शाश्वत है, क्योंकि वह प्रज्ञोपायात्मक है और इसकी उत्पत्ति बोधिचित्त से होती है। बाह्य भाव से प्रवाहमान गंगा, यमुना जैसे नटाधार हों चाहे भौगोलिक क्षेत्रों के नाम जैसे कामरूप, श्रीहट्ट, उड्डीयान, जालंधर,

पूर्णगिरि या मेरु पर्वत सब मिथ्या है बल्कि - गंगा, यमुना तो दो नाड़ियाँ हैं और उनके बीच अवधूतिका नाड़ी है जहाँ से डोम्बी वायु रूपी नौका बाहर बहती है। उसी के आकर्षण से सहजभाव की उत्पत्ति होती है। मूलाधार ही कामरूप है, जालंधर-अनाहत चक्र, पूर्णगिरि आज्ञाचक्र एवं उड्डीयान सहस्रार चक्र है। रीढ़ की हड्डी या मेरु दंड ही सुमेरु पर्वत शृंखला है। उसी के शिखर में नैरात्म देवी या नैरात्म्य भाव का निवास है। इसी क्रम में चर्यापदोंकी नायिकाओं के रूप में ख्यात चांडाली, अवधूती आदि शरीरस्थ वायु या प्राणायाम के विविध प्रकरण हैं। उसमें सूर्य और चंद्र की भी अवस्थिति है। सहस्रार में स्थित अमृत कुण्ड (pineal gland) चंद्र है और सूर्य चक्र (Solar plexus) में सूर्य है।[81]

इन्हीं के बीच मातंगी की नौक दृष्टिगोचर होती है। यहाँ स्थान-स्थान पर कमल भी खिले हैं जिनमें योगिनियाँ नृत्य करती हैं। इनमें किसी कमल में चौंसठ दल हैं तो कहीं चतुष्दल। कहीं करुणा के मेघ आकाश में घूमते हैं-

करुण मेह निरन्तर फरिआ।

भावाभव द्वन्द्वल दलिआ॥ चर्या 30

कहीं-कहीं दृष्टांत के रूप में भी प्रकृति का चित्रण हुआ-

चान्दरे चान्दकान्ति जिम परिभासअ।

चिअ बिकरणे तहि टलि पइसई॥ चर्या 31

जिस प्रकार चंद्र की कांति से समस्त संसार आलोकित हो उठता है उसी प्रकार सहजानंद की प्राप्ति से चित्त भी प्रकाशित हो उठता है।

यहाँ मन के उदात्ततम भाव को आकाश के समान विशाल माना है और उसे 'खसम' कहा गया है (चर्या. 43) काया को तरुवर कहा है जिसकी पाँच शाखाएँ हैं (चर्या. 1) इसी प्रकार

कवियों ने प्रकृति के उपलब्ध उपादानों के माध्यम से ही अपने भावों को अभिव्यक्ति दी।

ध्यातव्य है कि सिद्धों के लिए बाह्य प्रकृति शून्य है अत: उसका नियम भी अस्थिर है। इसी कारण शून्य प्रकृति के नियमों का उल्लंघन चर्यापदों में प्रतीक योजना के माध्यम से हुआ है।

उदाहरणार्थ कमल सूर्योदय के बाद ही खिलता है और सूर्यास्त के बाद मुरझा जाता है। पर यहाँ अर्द्धरात्रि में कमल विकसित होता है जिस पर चढ़कर बत्तीस योगिनियाँ नृत्य करती हैं-

अधराति भर कमल बिकसिउ।

बतिस जोइणी तसु अङ्ग उल्हसिउ॥ (चर्या. 27)

लौकिक दृष्टि से यह युक्तिहीन बात है पर कई प्रसंगों से ज्ञात होता है कि मध्यरात्रि का समय गंभीर चेतना बोध का समय है। यह कालांश तांत्रिक साधकों के लिए आवश्यक है क्योंकि इस क्षण में ही उन्हें प्रज्ञा ज्ञान की प्राप्ति होती है। टीका में इस समय को ''चतुर्थी संध्या'' कहा गया है। इस समय शून्यतारूपी सूर्य की किरणों के स्पर्श से साधक का चित्त कमल विकसित होता है। तब साधक शरीरस्थ ललना, रसना, अवधूतीका प्रभृति 32 सूक्ष्म नाड़ियाँ सहस्रार पद्म में मिलकर महा आनंद में अधीर हो उठती हैं।[82]

इसी प्रकार कच्छपी का दूध, दुहा नहीं जाता, घड़ियाल इमली नहीं खाता एवं बैल प्रसव नहीं कर सकता परंतु कुक्कुरीपा ने (चर्या 2 में) इन बातों का उल्लेख किया है। इसमें क्रियातंत्र के गृहस्थ साधकों का उपहास किया गया है कि इमली के बीज की माला में जप करते हैं पर रात के समय काम रूपी मकर उस जप-फल को खा जाता है या निगल जाता है। योगाचार रूपी पितृतंत्र (बैल) ही फलप्रदाता है अनुत्तर तंत्र रूपी मातृतंत्र (गाय) किसी प्रकार का कोई फल नहीं दे सकता।

कुल मिलाकर चर्या. 41 में भुसुकपाद का यही कहना है कि-

अइए अणुअना ए जग रे भान्तिएँ सो पड़िहाइँ।

राजसाप देखि जो चमकिइ षारे किङ्कँ बोड़ो खाइ॥

पारमार्थक सत्य से परिचित साधक यह जानते हैं कि आदि में जगत की उत्पत्ति नहीं हुई थी। अविद्या भ्राँति के वशीभूत होकर लोग इस जगत के अस्तित्व को स्वीकारते हैं। यह किसी साँप को रस्सी मान लेने वाले भ्रम के समान है। पर क्या रस्सी साँप बन सकती है? यह केवल मानसिक भ्रम मात्र है और कुछ नहीं। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धों के लिए यह समस्त भौतिक कार्य व्यापार भ्रम के अलावा और कुछ भी नहीं जिससे केवल अविद्या ही हाथ लग सकती है। यह संसार "दापतिबिम्बु जइसा" ही है। अत: सद्गुरु के चरणों में बैठकर ही संसार के भ्रम को तोड़ा जा सकता है।

कला सौंदर्य

धार्मिक तत्त्व के विश्लेषण की दृष्टि से चर्यापदों का जो मूल्य है, काव्यिक सौंदर्य के आकलन के क्षेत्र में भी यह समान रूप से ही मूल्यवान हैं। प्राचीन भारत के धर्म, भाषा, साहित्य, समाज और संस्कृति विषयक चर्चा के प्रसंग में चर्यापदों का ऐतिहासिक मूल्य भी अत्याधिक है।

आठवीं से बारहवीं शताब्दी में चलित बौद्ध धर्मतत्त्व और साधन प्रणाली अति गुह्य विषय रहा है, इस गुह्य पंथ में अदीक्षित लोगों के सम्मुख इस विषय की चर्चा नहीं की जाती, क्योंकि कोटिजनों में किसी एक के हृदय में ही यह तत्त्व प्रवेश करता है। इसी कारण कुक्कुरीपा ने कहा-

अइसन चर्या कुक्कुरीपाएँ गाइउ।

कोड़ि मझेँ एकु हिअहिँ समाइउ॥

चर्या में आधारित धर्म में निषेधात्मकता इतना अधिक है कि इसके मूल तत्त्व का हृदयंगम करना आसान नहीं। बौद्ध मत के अनुसार दृश्य जगत् के समस्त उपकरण मिथ्या हैं, यहाँ तक कि निर्वाण प्राप्ति की कल्पना भी भ्रांतिमूलक है। जीवन, जगत निर्वाण आदि हमारे चंचल चित्त की सृष्टि है। अतः सरहपाद ने कहा-

अपणे रचि रचि भव निर्वाणा।

मिछैं लोअ बान्धावअ अपणा॥

अह्मे न जानहुँ अचिन्त जोइ।

जाम मरण भव कइसण होइ॥

जइसो जाम मरण वि तइसो।

जीवन्ते मअलें णाहि बिशेसो॥

अर्थात् मनुष्य स्वयं ही जगत, निर्वाण आदि विषय में मिथ्या धारणा कर संसार बंधन में बँध जाता है। सिद्ध सरहपाद ने कहा कि जन्म, मृत्यु, जगत के भेद को वे समझ नहीं पाते, उनके मन में इन विषयों को लेकर कोई भेद नहीं है। उनके लिए जीवन और मरण एक समान है।

बौद्ध सिद्धों के दर्शन के अनुसार यह संसार शून्यमय है। माया के प्रभाव से ही जागति धारणाओं की सृष्टि हुई है। अपनी चेतना को इन भ्रांत धारणाओं से उद्धार करना और चांचल्य को दूर करना ही चर्यागीतों का मूल कथ्य है। सच पूछा जाए तो साधना और काव्य रचना दोनों विपरीत मुखी बातें हैं। आम तौर पर गुप्त साधनाओं में निरत साधकों से अनाविल सौंदर्य मंडित कविता की आशा नहीं की जाती। पर सृष्टिधर्मी प्रतिभा के बल पर यह गुह्य तत्त्व से परिवेष्टित गीतों में भी काव्यिक सौंदर्य फूट पड़ा है।

भाषा :

चर्यापद में निहित पदों के भाषिक, साहित्यिक व दार्शनिक मूल्य ने विद्वत समाज को अतिशय आकृष्ट किया है। इनमें चर्यापद की भाषा सर्वाधिक आकर्षक दिक् था। क्योंकि इसकी भाषा में आठवीं शती से लेकर बारहवीं शती तक की भाषा के उदाहरण उपस्थित हैं।[83] परंतु बौद्ध साहित्य में कहीं भी इस बात की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं दी गई है कि किस प्रकार के गीतों को 'चर्यागीत' कहते हैं। चर्यागीतों के आविष्कार के बाद चर्यागीतों को पुरानी बंगला, पुरानी हिन्दुस्तानी या प्राचीन कामरूपी बताने की कसरत इतनी अधिक बढ़ गई कि किसी को भी इसके अर्थ बोध के विश्लेषण और अधिगम से कोई विशेष सरोकार ही नहीं था।

समस्त चर्यापद के भाष्य मुनिदत्त की टीका के आधार पर ही लिखे गए थे। चर्यागीत संग्रह के तिब्बती अनुवाद से प्रबोधचंद्र बागची कृत अनुवाद के द्वारा यह ज्ञात होता है कि तिब्बती अनुवाद भी मुनिदत्त के भाष्य पर ही आधृत था।[84]

मुनिदत्त की टीका और चर्यागीतिकोष :

आश्चर्यजनक विषय है कि चर्यासंकलन के आदिभाष्यकार मुनिदत्त का कोई ऐतिहासिक परिचय प्राप्त नहीं है। तिब्बती अनुवाद से ही यह ज्ञात होता है कि चर्यागीति के भाष्यकार मुनिदत्त हैं और भाष्य संग्रह का नाम 'निर्मलगिरा' है। मुनिदत्त ने संस्कृत भाषा में टीका लिखी थी जिसका तिब्बती अनुवाद चन्द्रकीर्ति ने किया था।[85] मुनिदत्त के नाम का अन्यत्र उल्लेख न मिलना या उनके नाम से कोई अन्य पुस्तक की अनुपलब्धि से यह ज्ञात होता है कि मुनिदत्त कोई प्रतिष्ठित बौद्ध विद्वान नहीं थे। अपनी टीका भाष्य में उन्होंने हेवज्रतंत्र, रतिवज्र, श्रीसमाज, गुह्यसमाज तंत्र, नागार्जुनपाद, सरहपाद, योगान्तरमाला, सेकोद्देश, महायोगतंत्र आदि संस्कृत बौद्ध तंत्र और साधारण बौद्ध ग्रंथों का उद्धरण ग्रहण किया। गैर संस्कृत भाषा की उद्धृति केवल सरहपाद, कृष्णपादाचार्य और भुसुकुपाद के चर्यागीतों से ली गई हैं।

पंडित सुकुमार सेन के अनुसार वर्तमान चर्या की अनुलिपि 1600 ई. के पहले ही प्रस्तुत किया गया। मुनिदत्त की टीका चौदह सौ में लिखित है।[86] यह टीका अंतिम चर्यागीत की रचना के प्राय: दो सौ वर्षों के बाद लिखी गई। ध्यातव्य है कि 1200 से 1400 ई. के अंदर हिन्दू तंत्र ने धीरे-धीरे चारों ओर से बौद्ध तंत्र को घेरना शुरू कर दिया था। जैसे बौद्ध बगडा योगिनी, बगलामुखी में परिवर्तित हो गई। संस्कृत भाषा फिर पुष्पित होने लगी और मुनिदत्त भी उस प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए थे।

कोई भी टीकाकार सदैव टीका लिखते समय अपने ही साम्प्रदायिक दर्शन को श्रेष्ठ बताना चाहता है। उदाहरणार्थ, भागवद्गीता का भाष्य लिखते समय शंकराचार्य ने स्थान-स्थान पर वेदांत, परमब्रह्म और निर्मोह शून्यताबोध की चर्चा की थी। वहीं इस्कॉन (Iskcon) के प्रतिष्ठाता श्रील भक्तिवेदांत प्रभुपाद ने गीता के भाष्य में प्रत्येक श्लोक में कृष्णभक्ति देखा और व्याख्या के क्रम में भागवत की उद्धृति दी। अत: मुनिदत्त का सम्प्रदाय जाने पर ही हमें यह ज्ञात होगा कि उन्होंने चर्यागीतों को किस प्रकार ग्रहण किया है।

टीका के आरंभ में मुनिदत्त ने ''नम:श्रीवज्रयोगिन्यै'' कहकर स्तुति की थी। वज्रयोगिनी के दो रूप हैं मस्तकहीना और समस्तिका।

"she has no head on her sholder, but carries it in her hand, and in another, she has her head intact. The former form is identical in appearance with the Hindu goddes Chinnamasta ... Vajrayogini... Who does not seem to bear the image of any of the Dhyani Buddhas on the crown."[87]

मुनिदत्त की उपास्य देवी वज्रयोगिनी के सिर पर ध्यानी बुद्ध के चित्र के अभाव के कारण मुनिदत्त द्वारा समर्थित किसी निश्चित बौद्ध तंत्र की धारा का अनुगमन करने में कोई सहायता नहीं मिलती। वहीं दूसरी ओर यह निश्चित रूप से जाना जाता है कि मुनिदत्त क्रिया, चर्या, योगाचार या

अनुत्तर में से किसी निश्चित तंत्र के अनुगामी नहीं थे स्तुति श्लोक का द्वितीय पद-

श्रीलूयीचरणादिसिद्ध रचितेहप्याश्चर्यचर्याचये।

सद्वर्त्मोपगमाय निर्मलगिरां टीकां विधास्ये स्कुटम।।[88]

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे लूईपाद के अनुगामी थे। टीका भाष्य में नागार्जुन पाद की उद्धृतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुनिदत्त माध्यमिका बौद्ध दर्शन के उत्तराधिकारी एवं उच्च क्रिया तंत्र दर्शन के समर्थक रहे होंगे। लूईपाद भी उसी सम्प्रदाय के समर्थक थे। माध्यमिका दर्शन के साथ क्रिया तंत्र के प्रायोगिक प्राणायाम को जोड़कर उच्च क्रिया तंत्र की स्थापना की गई थी। उच्चक्रिया तंत्र और योगाचार के दर्शन में अति सूक्ष्म भेद है। मुनिदत्त को माध्यमिका+ क्रियातंत्र का अनुगामी मान लेने पर यह बताया जा सकता है कि मुनिदत्त ने सभी चर्यापदों का अर्थ एक समान क्यों लगाया है। यहाँ तक कि जहाँ प्रतिपादित अर्थ कुछ अन्य है वहाँ पर भी मुनिदत्त ने अपने ही दर्शन को प्रकट करने का प्रयास किया है। उन्होंने समस्त चर्यागीतों को उच्च क्रिया तंत्र के दर्शन के आधार पर व्याख्यायित करने की चेष्टा की है।

हर प्रसाद शास्त्री महोदय द्वारा आविष्कृत चर्या संग्रह के साथ मुनिदत्त की टीका भी मिली थी। मूल चर्या की अपेक्षा टीका को अधिक महत्त्व दिया गया। सुकुमार सेन के अनुसार ''लिपिकार ने एकादश चर्या के बाद ''सूनेत्यादि चर्याया व्याख्या नास्ति'' लिखा है। टीका ग्रंथ में टीका न मिल पाने के कारण लिपिकार ने मूल चर्या भी उद्धृत नहीं किया।[89]

मूल पाठ की अपेक्षा मुनिदत्त के भाष्य को महत्त्व केवल लिपिकार ने ही नहीं वरन् गत शत वर्षों से भारत के विदग्ध पंडितगण भी उसी व्यामोह में पड़े रहे। दरअसल ये विद्वान चर्यापदों की भाषा की अपेक्षा संस्कृत अधिक सहजता से समझते थे उसी के चलते उन्होंने इन गीतों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। चर्यागीतों की भाषा पूर्वप्राकृत और अपभ्रंश सम्मिश्रित होने व प्रहेलिकामय होने के कारण सहजगम्य नहीं है। अत: मुनिदत्त की टीका को ही अंधे की लाठी मान ली गई।[90]

ऐसा प्रतीत होता है कि मुनिदत्त को जहाँ भी किसी शब्द के अर्थोद्धार में परेशानी होती थी भाष्य में उस वाक्य को छोड़ते हुए चलते थे और संभवत: इस दुर्बलता को अच्छादित करने के लिए उन्होंने संध्या भाषा का आवरण खींच लिया। संस्कृत भाषा के प्रति अगाध आनुगत्य ने कई विद्वानों को अंधेरे में रखा। उदाहरणार्थ 'दुलि' (चर्या 2) शब्द का अर्थ है मादा कछुआ। मुनिदत्त ने अपनी टीका में लिखा था कि-

''कुक्करीपादा: संध्याभाषया प्रकटयितुमाहु:। डुलीत्यादि।''

द्वयाकारं यस्मिनं लीनं गतं महासुखकमलं। दुलि संध्यासंकेते बोधव्यं। कूर्ममुद्रा प्रसंगात् आनंदादिक्रम द्वारेण तस्य दोहनं। संवृत्तिबोधिचित्तम तत् अवधूतीमा...''[91]

दरअसल बौद्धों के उपासना के तीन आधार हैं- बुद्ध, संघ और धर्म। बुद्ध, उपासना के पर्याय थे और संघ ग्रंथों के पर्याय बने। किन्हीं सम्प्रदायों में बुद्ध की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्त्व दिया जाता है। क्रमश: धर्म, स्तूप का पर्याय बनता गया। कदाचित् स्तूपाकृति कछुए की पीठ जैसी होती है इसी के चलते स्तूप, धर्म और कच्छपाकृति तीनों ही समानांतर या एक हो गए। (हरप्रसाद शास्त्री/बौद्ध धर्म एखनओ एकटू आछे/प्रवासी फाल्गुन 1322/बंगला मैगजीन)

गौतम बुद्ध की मृत्यु के दो सौ वर्षों के अंतराल में महासंघिका के चैत्यिका उपशाखा ने चैत्य या धर्म स्तूपों पर अधिक महत्व दिया था। चैत्य या स्तूप बनाते समय नींव में कुछ पवित्र वस्तुएँ और ग्रंथ या मंत्र भी विन्यस्त करते थे, उसी कारण चैत्य धर्मग्रंथों का प्रतीक बन गए।[92] तिब्बती थंका (भित्ति चित्र) के अनुसार कछुआ मंजुश्री का अवतार है (Tortoise great universal tortoise of fierce minifestation of Manjusri)[93] अत: स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि कुक्कुरीपाद के (चर्या सं.2) ''दुलि दुहि पिटा धरण नजाई'' वाक्य में प्रयुक्त 'दुलि' मादा कछुआ (बंगल-मादी कासिम/सु.सेन/पृ.126) वास्तव में चैत्य, स्तूप और धर्म ग्रंथों के प्रतीक हैं। दरअसल मुनिदत्त ने कहा था 'दुलि' सांकेतिक शब्द है उसका अर्थ है महासुख कमल। अनभिज्ञ योगी इसमें निहित तत्त्व को समझ नहीं सकते परंतु कुंभक योग अभ्यस्त इसे

समझ लेते हैं। दुलि शब्द से महासुख कमल और कुम्भकयोग का कोई संबंध नहीं है। इसी चर्या की द्वितीय पंक्ति ''रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ'' में कुंभीर और तेन्तलि शब्दों ने मुनिदत्त को दुविधा में डाला होगा इसी कारण मुनिदत्त ने रुखेर तेन्तलि को 'कायवृक्षस्य फल' बताया और कहा कि ''कुम्भकसमाधिना स्वानुभवक्रमेण च तस्य भक्षणं निस्वभावीकरणं कुर्वन्ति।'' [94]

'कुम्भीर' का अन्य नाम है – मकर। मकरध्वज या मकरकुंडलधारी कामदेव हैं जिसका यौन अभिप्सा पर आधिपत्य है। हिन्दू तंत्र के अनुसार मूलाधार चक्र के लिंगमूल में कुंडलिनी का अवस्थान है उसे वरुण का स्थान भी कहा गया है। वरुण का वाहन भी मकर या कुंभीर है। हिन्दू तांत्रिक अवधारणा है कि लिंग मूल पुरुष की यौन कामन की उत्पत्ति का स्थान है और वहाँ का स्थायी निवासी मकर पुरुष की यौन स्पृहा का प्रतिनिधित्व करता है। तेन्तलि, तिन्तिड़ी बीज को मायाबीज भी कहते हैं जिसका प्रयोग जपमंत्र की माला गाँठने के समय किया जाता है। योगिनी तंत्र में कामाख्या की जप माला मायाबीज से गाँठने का निर्देश दिया है। यह मायाबीज इमली का बीज ही है। योगिनीतंत्र के अष्टम पटल के 26–28वें श्लोकों में मंत्रोद्धार के क्रम में – ''तिन्तिड़ीकाय वै नमः बताया गया है। इसी से ज्ञात होता है कि बीजमाला किस बीज से बनना चाहिए इस बात को छिपाने के लिए सांकेतिक रूप से यह बात कही गई है। तिब्बती बौद्ध भिक्षु जप के पहले इमली की लकड़ी का टुकड़ा जलाते हैं।[95]

''रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ'' का अर्थ यह है कि यौन कामना जप के सुफल के नष्ट करता है। इसा कुंभक समाधि से कोई रिश्ता नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है मुनिदत्त आदि चर्यापद के अन्यान्य व्याख्याकारों ने जहाँ भी अर्थ स्पष्ट करने में असुविधा पाई वहीं पर प्रकाश–अंधकार की भाषा 'संध्या भाषा' का सहारा लिया। मुनिदत्त ने प्रत्येक चर्या गीतों की व्याख्या उच्च क्रिया तंत्र के तथता + सुख = सहजानन्द और तथता = नैरात्म दर्शन के आधार पर किया। जहाँ भी उन्हें अर्थसाधन में परेशानी आई वहीं एक प्रकार की विकृति सी आई।

साधना पद्धति :

चर्यागीत संग्रह के अधिकांश गीतों में ही बौद्ध तंत्र साधना का निदर्शन है जहाँ असंख्य तांत्रिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये शब्दावली सांकेतिक या गूढ़ार्थयुक्त नहीं हैं। भारतवर्ष में प्रचलित बौद्ध तंत्र की धाराएँ हैं- 1. क्रिया तंत्र 2. चर्यातंत्र 3. योगाचार तंत्र 4. अनुत्तर तंत्र या अनुत्तर योग तंत्र और 5. महाअति तंत्र। महा अति तंत्र और अनुत्तर तंत्र गुरु द्वारा प्रदत्त मौखिक ज्ञान है अत: इस तंत्र पर कोई लिखित शास्त्र भी नहीं है। समस्त तांत्रिक साधनाओं का लक्ष्य एक ही है- अविचलित मन: प्रशांति और अक्षय सुख लाभ जिसे बोधिचित्त कहा जाता है। इनके दार्शनिक विचार भी प्राय: समकक्ष हैं जैसे- यह जगत् नश्वर, चिर परिवर्तनशील, सांसारिक वासना का त्याग कर जगत के सत्य रूप के दर्शन द्वारा अक्षय अविचलित सुख की प्राप्ति। वास्तव में यह कार्य इतना सहज नहीं है- तथाकथित वज्र सिद्धि प्राप्त महासिद्ध के मन में भी संशय, अविश्वास, भय, लोभ, क्रोध, आशा आदि भाव उत्थित होते हैं तभी मन की चंचलता भी शुरू हो जाती है।

क्रिया तंत्र की साधना अपेक्षाकृत सरल है, योगाचार, अनुत्तर और महा अति तंत्र की साधनाएँ क्रमश: जटिल होती जाती हैं।

पितृतंत्र - मातृतंत्र :

बौद्ध विद्वानों ने तंत्रों को पितृतंत्र और मातृतंत्र के रूप में विभक्त किया है। ''बलद बिआएल गविआ बाझैं।'' वास्तव में इसका अर्थ है पितृतंत्र (बैल) सफल है और मातृतंत्र (गाय) निष्फल है। इसी प्रकार प्रारंभ से ही बौद्ध साधकगण तंत्रों के विषयों का विश्लेषण करते आए हैं। पितृतंत्र और मातृतंत्र में भेद को समझना सरल भी है और जटिल भी। यहाँ बस बोध करना ही उपयुक्त होगा। बौद्ध तंत्रों की आधारभूमि दो दिशाओं में काम करती है- पितृ (उपाय) और मातृ

(प्रज्ञा) के रूप में। क्रिया और चर्या तंत्र प्रज्ञा (मातृ) और योगाचार तंत्र उपाय (पितृ) पर अधिक बल देते हैं। अनुत्तर तंत्र अद्वैतवादी है, अत: यहाँ पितृ और मातृतंत्र दोनों को ही समान महत्त्व दिया गया है। इसी कारण चाटिल्लपाद ने चर्या संख्या 5 में स्वयं को अनुत्तरमासी (अनुत्तर तंत्र का सिद्ध) कहा है, "सांकमत चढ़िले दाहिण वाम मा होही।" जिसका अर्थ है पुल (साधना पथ) में उठने पर दक्षिण (पितृ तंत्र) वाम (मातृतंत्र) मत होना। शांतिपाद ने कहा है, "वाम दाहिन दो बाटा च्छाड़ी (चर्या-15)। वाम और दक्षिण दोनों रास्ते छोड़ दो।

साधना प्रक्रिया के अंश के रूप में महा और अतितंत्रों ने यौनाचार की अनुमति दी है। हिन्दू तंत्र की शाक्त धारा ने भी यौनाचार की अनुमति दी है। परंतु यौनाचार संवलित होने पर ही कोई तंत्र मातृतंत्र नहीं बन जाता और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला तंत्र मात्र पितृतंत्र नहीं कहलाता। क्रियातंत्र और चर्या तंत्र में यौनाचार अनुपस्थित है पर ये मूलत: मातृतंत्र है। अनुत्तर में यौनाचार होते हुए भी यह पितृ और मातृ तंत्रों का सम्मिश्रण है।[96]

साम्भरोदय तंत्र, वज्रपंजर तंत्र और बुद्ध कपाल आदि तंत्रों ने अनुत्तर तंत्र को महायोग तंत्र (पितृ) और योगिनी तंत्र (मातृ) में विभक्त किया है। कालचक्र तंत्र ने भी उपाय (पितृ) और प्रज्ञा (मातृ) तंत्रों में भेद किया है। वज्रदायलंकार ग्रंथ ने डाक (पितृ) और डाकिनी (मातृ) शब्द का प्रयोग किया है। तिब्बती टीकाकारों पुरुष और स्त्री तंत्रों को शिनाक्त करने के अनेक उपाय दिए हैं। किन्हीं बौद्ध शास्त्रों के अनुसार पुरुष इष्टदेव के पूजक पितृतंत्र के समर्थक हैं और देवीपूजक, मातृतंत्र के साधक। मण्डल में अवस्थित मूर्ति के अवयव के आधार पर भी पितृतंत्र और मातृतंत्र को पृथक्कृत किया गया। आगे कहा गया है कि निष्पन्न कर्म मातृ तंत्र और बिंदु और सूक्ष्म योग पितृ तंत्र है। जहाँ योगिनी (नाड़ी) सक्रिय और ज्ञानसत्व निष्क्रिय होता है वही मातृ तंत्र है। उपाय और प्रज्ञा का समन्वय होने पर तत्त्व (fundamantal truth) अनुभूत होता है। तभी मन में महासुख व परमज्ञान प्रज्ञापरमिता, सहज (Co-emeigest) भाव का उदय होता है, यही अनुत्तर सिद्धि है।[97]

अनुत्तर तंत्र की उत्पत्ति प्राक् बौद्ध काल में हुई थी। हजारों वर्षों से दार्शनिकों ने मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार का व्यापक अध्ययन कर धीरे-धीरे अनुभव किया कि मनुष्य का स्वभाव और व्यवहार द्विस्तरीय है। प्रथम है स्वभाव जो जन्मगत है, यह चरित्र पारिवारिक उत्तराधिकार के रूप में मिलता है या पूर्वजन्म में अर्जित कर्मफल के चलते मिलता है पंडितगण इससे अनभिज्ञ हैं ("जामे काम कि कामे जाम / सरह भणति अचिन्त सो धाम॥" चर्या. सं.22) जन्म से कर्म या कर्म के अनुसार जन्म यह अचिन्त्य है। यह जन्मगत चरित्र ही प्रज्ञा है। वहीं दूसरी ओर एक ऐसी दिशा भी है कि प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव, ज्ञान, कर्म, लक्ष्य, कर्म व चिंतन सबकुछ व्यक्ति बदल सकता है यही उपाय है। प्रज्ञा मातृधर्मी है और उपाय पितृधर्मी है। मातृ प्रधान साधना है विश्वास और पितृ प्रधान अस्त्र विश्लेषण है। जप और ध्यान का लक्ष्य रूप दर्शन और पितृ तंत्र के ध्यान का लक्ष्य विश्लेषण है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार पितृतंत्र analytical या rational mind और मातृतंत्र inshinetive mind है। तंत्र का प्रयोग ही यह निर्धारित करेगा कि साधक किस पर अधिक महत्व दे।

मातृतंत्र विश्लेषणहीन तथ्य को भी सत्य मानकर उस पर विश्वास करने का समर्थन करता है। यह वैष्णवों के दास्यभाव के समकक्ष है। परंतु योगाचार तंत्र के दर्शन के अनुसार मनुष्य का स्वभाव जन्म के सममय गुणहीन होता है। संस्कार और अनुभूतियों के कारण यह सुख-दुख में भेद करने में सक्षम होता है (चिउराअ सहावे मुकल-चर्या सं.32, जिसका अर्थ है चित्त का राज्य स्वभाव से मुक्त है)। अत: यह कहा जा सकता है कि मन ही सबकुछ है। यदि मन यह स्वीकार कर ले कि यह जान जाएगा कि यह जगत सर्वशून्य है- यहाँ प्राप्ति-अभाव, सुख-दुख समस्त अस्थायी और असार हैं। इसी शून्यता बोध से ही साधक सुखानुभव कर सकता है।

पितृतंत्र और मातृतंत्र के भेद को समझने के बाद क्रिया, चर्या आदि तंत्र की साधना पद्धतियों पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा। उल्लेख्य है कि अपने सर्वोच्च स्तर में प्रत्येक बौद्ध

तंत्र प्रभेदहीन हो जाता है और उनके लक्ष्य तथा सिद्धि के पश्चात मिले फल में कोई अंतर नहीं रह जाता।

क्रिया तंत्र : क्रियातंत्र का साधक सर्वप्रथम संकल्प लेकर गुरु का चुनाव करता है फिर वह स्वयं को समयीन (प्रतिज्ञाबद्ध)घोषित करता है। इस साधना के तीन मूल पथ हैं- 1. जप-ध्यान, 2. जपहीन ध्यान, 3. सेवा के द्वारा सिद्धि प्राप्ति।

साधक धरणी मंत्रों द्वारा मुद्राओं का प्रदर्शन करते हुए देवता का आह्वान और मंडल में प्रतिष्ठा करता है। बुद्ध और बोधिसत्व को प्रणाम कर उसका ध्यान करेगा। धरणी और मुद्रा के द्वारा आत्मरक्षा के लिए रक्षा चक्र की सृष्टि करता है। आराध्य देवता का आवाहन कर उसकी प्राणप्रतिष्ठा करने के बाद पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, आभरण, पुष्प दीप, नैवद्य आदि उपचारों से देवता का पूजन किया जाता है। फिर अपनी मनोकामना व्यक्त करने के बाद देवता से आशीर्वाद की याचना की जाती है। देखा जाए तो बौद्ध क्रिया तंत्र और साधारण वैष्णव हिन्दू धर्म के बीच विशेष भेद नहीं है। जप सहित क्रिया तंत्र, हिन्दू तंत्र या आचारगत पूजा से भी अभिन्न है। क्रिया तंत्र का जप और वैष्णवों का नाम जप व दास्यभाव में भिन्नता नहीं है। इनकी साधना का लक्ष्य है- इष्ट देवता की भक्ति में लीन होकर उसके द्वारा अपना अस्तित्वहीनता का बोध ज्ञान तथा अशेष सुख लाभ। निम्न क्रियातंत्र परम्परागत हिन्दू पूजन और उच्च क्रियातंत्र भगवद्गीता और औपनिषदीय हिन्दू धर्म के समान है।[98]

चर्यातंत्र : साधनात्मक दृष्टि से चर्यातंत्र के दो भाग हैं-

(क) सन्निमित्त। चर्यातंत्र और (ख) अनिमित्त चर्यातंत्र।

(क) सन्निमित चर्यातंत्र में देवमूर्ति पर ध्यान किया जाता है। यहाँ जप का बहि: प्रयोग और अंत: प्रयोग किया जाता है। साधक बहि:प्रयोग के क्रम में स्वयं को स्वभावशून्य और

गुणहीन समझता है तथा तथागत पर ध्यान केंद्रित करता है और तथागत के साथ एकात्म होकर अपना अस्तित्व लोप कर बैठता है। प्राणायाम द्वारा चित्त को शांत कर स्वयं को तथागत के साथ एकीकृत होने के लिए जप करता है।

जप के अंत:प्रयोग के क्रम में साधक अपने मन में अ आ इत्यादि अक्षरात्मक देवता की सृष्टि करता है। वह स्वयं पर ध्यान केंद्रित करने के उपरांत आत्मसत्व का लोप कर देव देह धारण करता है, वह अपने हृदयस्थ वैरोचन का अनुभव करता है। वह स्वयं में वैरोचन का प्रतिबिंब देखकर उसी में लीन हो जाता है।

(ख) अनिमित्त चर्यातंत्र प्राय: योगतंत्र के समान है। साधक जप के साथ 'सर्वधर्म शून्य' का ध्यान करता है। साधक देवता को मानसकृत परंतु अस्तित्वपूर्ण शून्यता के रूप में धारणा करता है। पूजा के अंत में देवता का विसर्जन नहीं किया जाता वह साधक के साथ एकात्म हो जाता। अत: देवता को प्रभु ने मानकर उसे मित्र या स्व के रूप में स्वीकार किया जाता है।[99]

योगाचार तंत्र : योगाचार तंत्र का मूल आधार है शून्यता पर यह माध्यमिका के शून्यवाद से भिन्न है। माध्यमिका का शून्य आपेक्षिक और योगाचार का शून्य सर्वात्मक है।[100] योगाचार तंत्र के दार्शनिकों ने शून्यवाद को विस्तृत रूप दिया।

योगाचार तंत्र में चतुर्विध ज्ञान का विवेचन किया जाता है- आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षण (discriminative) और क्रीत्यानुस्थान Procedure of duty)। प्रत्येक अभिसंबोधि (उच्चज्ञान) के बाद प्रदर्शित मुद्राओं के नाम, लक्षण और प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हैं। यह मुद्राएँ हैं-

1. महामुद्रा - इष्ट देव को उसके मूर्तिमान रूप में देखने की क्षमता।
2. समयमुद्रा -मन के संस्कारों से मुक्ति।
3. धर्ममुद्रा - देवता (शास्त्र) के वाक्यों की सत्यता की अनुभूति करना।

यहाँ मुद्राओं के धारणफल भी दिए गए हैं। उल्लेख्य है कि अनुत्तर तंत्र में इन्हीं मुद्राओं के नामों का अर्थ अलग लगाया जाता है।

योगाचार को पूर्णत: 'उपाय' आधारित पितृतंत्र कहा जाता है पर इसमें मातृतंत्र समर्थिक प्राणायाम और जप को भी विशद् महत्त्व दिया जाता है।[101]

अनुत्तर तंत्र : अनुत्तर शब्द का अर्थ है जिससे श्रेष्ठतर और कोई न हो। अनुत्तर तंत्र स्वयं को श्रेष्ठ बौद्ध तंत्र होने की घोषणा करता है। अनुत्तर तंत्र की जड़ें प्राक्बौद्ध युग में ही जम चुकी थीं। यहाँ गुरु की उपस्थिति में साधक शक्ति के साथ संगम करता है और अपनी सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करता है। यहाँ पंचतत्त्वों (पंचमकारों) द्वारा देवता की पूजा की जाती है। अनुत्तर तंत्र का साधक प्रथम स्तर में स्नान, आचमनादि से निवृत्त होकर मंडल में अधिष्ठित इष्ट देवता को क्रिया तंत्र की विधि से अर्चना करने के बाद जप करता है। द्वितीय स्तर में साधक देवी या देवता को पूजा मंडल से चंद्रमंडल में प्रतिष्ठित कर दर्शन करता है। यह चर्यातंत्र का प्राथमिक स्तर है। इष्टदेव को पुन: चंद्रमंडल से लाकर हृदय में प्रतिष्ठित करता है और साधक देवता के साथ एकात्म हो जाता है। यही उच्च चर्या तंत्र की सिद्धि है।

तृतीय स्तर की साधना उच्च चर्या और निम्न योगाचार प्राय: समपर्याय है, देवता साधक के हृदय के साथ एकात्म होता है। इस स्तर के अंत में साधक देवता का त्याग करता है। वह चांडाली प्राणायाम के द्वारा समस्त कामना, वासना और देवता के दर्शन की इच्छा भी भस्मीभूत कर देता है। हृदय से देवता का लोप होते ही साधक शून्यता का बोध करता है यही निम्नयोगाचार में सर्वशून्यता का भाव है जिससे साधक का मन निराशा से भर उठता है। तभी साधक डोम्बी प्राणायाम की शीतलता द्वारा यह अनुभव करता है कि सर्वशून्यता ही सुख का मूल उत्स है। साधक के मन में कुछ भी पाने की लालसा, खोने का डर और सुख-दुख के भाव नहीं रहते। यहाँ तक कि उसमें देवता की कृपा से वंचित होने का भय भी नहीं रहता। यही उच्च योगाचार के सिद्ध के मन की अवस्था है।

अनुत्तर साधकों के अनुसार यह सर्वशून्यता का भाव पूर्णतः सामयिक है। सर्वशून्य भाव के द्वारा साधक आध्यात्मिक रूप से दिक्भ्रष्ट हो सकता है। उसमें जीवित रहने की इच्छा तक शेष नहीं रह जाती। अतः अनुत्तर तंत्र को साधक को एक बार शून्य की अनुभूति होने पर गुरु यदि उचित समझे तो धार्मिक यौनाचार में हिस्सा लेने की अनुमति दे सकता है।

गुरु की अनुमति और उपस्थिति में साधक साधना संगिनी के साथ यौनाचार में लिप्त होगा। यही पद्म वज्र का मिलन है और अनुत्तर के अनुसार यही कर्ममुद्रा है। रेतः स्खलन के बाद गुरु उस रेतः को शिष्य के कंठ में स्थापित करेंगे। यही अनुत्तर तंत्र की महामुद्रा है। प्रतिलोम प्राणायाम के द्वारा प्राण शक्ति का संचार आज्ञा चक्र के विशुद्ध चक्र होते हुए पुनः अनाहत चक्र में प्रवेश करेगी। इससे साधक के मन में पुनः अनुभूतियाँ संचरित होती हैं परन्तु वह अनुभूति केवल करुणा ही है। अनुत्तर तंत्र में सिद्ध साधक वज्राचार्य सिद्ध होकर वज्रधर के गुण प्राप्त करता है और बोधिचित्त प्राप्त करने के उपरांत वह स्वयं निस्पृह रहकर जगत् के प्रति करुणामय बन उठता है।[102]

योगाचारियों द्वारा रचित अधिकांश चर्यागीत योगाचारी साधकों द्वारा रचित है। उन्होंने अनुत्तर समर्थित यौनाचार के विरुद्ध अनेक चर्यागीतों की रचना करने के क्रम में उन्हें वेश्यागामी और साधना संगिनी को द्विचारिणी या वेश्या कहा है-

सवरो भुजंग णइरामणि दारी पेह्म राति पोहाइली। (चर्या. 28)

इस साधना का कोई अंत नहीं है। साधक की वासना दिनों दिन बढ़ती जाती है-

कंगुचिना पाकेला रे शवरा-शवरी मातेला।

अनुदिण सबरो किंपि न चेबइ महासुहँ भेला। (चर्या. 50)

यहाँ तक कि अनुत्तर तंत्र के साधकों ने भी अपने अनुगामियों को अत्यंत सावधानी से यौनाचार में लिप्त होने को कहा है। मन में पूर्णतः शून्यभाव उदित न होने पर यौनाचार में लिप्त होने से मना किया था-

भणन्ति महित्ता मइ एथु बुड़न्ते किम्पि न दिठा (चर्या.16)

(महीपा कहते हैं एक बार (साधना में) निमग्न होने पर कुछ नहीं दिखता है।)

'उपाय' ही साधक के समस्त पुरुषार्थ का प्रतीक माना जाता है। बिन्दु जब क्षेत्र या पद्म (प्रज्ञा) जिसका वास्तविक अर्थ योनि में प्रविष्ट होगा तब साधक शून्य की शून्यता (Voidness of void) का अनुभव करेगा। मूलाधार से आकृष्ट ओज: निर्माण, अनाहत, विशुद्ध चक्रों को पार करता हुआ आज्ञाचक्र का स्पर्श करते हुए प्रतिलोम गति से उसका अंश विशेष उतरकर स्वाधिष्ठान चक्र से बहिर्भूत होगा और उसके द्वारा साधक महासुख की अनुभूति करेगा। यही कर्ममुद्रा का अंतिम स्तर है, परंतु यही चरम सिद्धि नहीं है। जब स्खलित वीर्य साधक के जिह्वामूल में स्थापित होगा तभी साधक का हृदय करुणा से भर जाएगा और यही अनुत्तर तंत्र की महामुद्रा है। साधक के चित्त में तत्त्व और करुणा की एकत्र उत्पत्ति ही सहजानन्द है। सर्वशून्य या निर्वाण से करुणा के लिए पुन: जगत में लौट आने के कारण बुद्ध को 'तथागत' कहते हैं।[103]

संध्या भाषा :

पं. हरप्रसाद शास्त्री ने जिस प्रति से चर्यापदों की प्रतिलिपि कराई थी, उसमें लिपिकार ने बराबर संधा भाषा के स्थान पर संध्या भाषा लिखा था। शास्त्रीजी ने इस सांकेतिक और रहस्यपरक भाषा को देखकर इसका अर्थ 'आलो आन्धारी भाषा' या 'धूपछाँही शैली' माना जिसके बाह्य अर्थ कुछ और हों तथा आंतरिक अर्थ कुछ और। अत: विद्वानों में संधा या संध्या भाषा को लेकर काफी विवाद है। (सिद्ध साहित्य /भारती/पृ.213) शास्त्री महोदय ने तो यहाँ तक कह दिया कि सहजिया धर्म के समस्त ग्रंथ संध्या भाषा में लिखित हैं। शास्त्री महोदय ने तो यहाँ तक कह दिया कि सहजिया धर्म के समस्त ग्रंथ संध्या भाषा में लिखित हैं। हेवज्र तंत्र के 13वें अध्याय का

नाम 'हेवज्र सर्वतंत्र निदान संधाभाषा नाम पटल' है। इसमें संधाभाषा को योगियों की महाभाषा कहा गया है जिसमें समय संकेतों का विस्तार है-

''संध्याभाषं महत् भाषं समय संकेत विस्तरम्''[104]

भारती जी के अनुसार इन्हीं प्रतीकों का प्रयोग का सिद्धों ने ऊपर से लौकिक लगने वाले पदों में प्रज्ञोपायात्मक कमल-कुलिश योग के गंभीर अर्थों के संकेत समाविष्ट कर दिये थे। टीकाकार ने इन्हीं प्रतीकों के गुह्य अर्थ ढूंढ़ कर इनके मर्मार्थों का प्रकाशन किया (सि.सा./भा/पृ.215)

पर बौद्ध तंत्रों के अनुसार संकेत = Pledge, "pure intrinsic nature of speech; and it teaches all the language"[105]

अत: संकेत का अर्थ है = a hint, a sign, clue. इसका मूल अर्थ है - संकेतयुक्त प्रतिश्रुति, जिसे इष्ट देवता के आगे कहा जाए। 'समयीन' वह साधक है जो इस प्रकार का संकल्प करे। अत: वह गुप्त भाषा जिसकी अभिव्यक्ति देवता के अलावा और किसी के सामने न किया जाए। इनके मर्माथों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

भव्यकीर्ति लिखित प्रदीपोद्यटन व्याख्या टीका ग्रंथ में भी संधिभाषा का उल्लेख है इसके अनुसार इस भाषा को केवल रत्न सदृश व्यक्ति ही समझ सकते हैं।

बौद्ध तंत्र में प्रयुक्त भाषा के विषय में विस्तृत वर्णन प्रदीपोद्योटन व्याख्या टीका ग्रंथ में दिया है। इस ग्रंथ में छह प्रकार की भाषाओं को प्रयोग सिद्ध कहा गया है।[106]

1. नीतार्थ – नित्य सत्य अर्थ

2. न्येयार्थ – उद्देश्य परक अर्थ

3. यथारुत – प्रथागत अर्थ

4. न यथारुत – शब्दजाल

5. संधिभाषा – संश्लेषणात्मक, कृत्रिम, कूट संकेत युक्त भाषा

6. न संधिभाषा – अकूट भाषा

लेसिंग व वेमैन के अनुसार "The evident meaning standard terminalogy and twilight language are expressed to the jewel like person. The other alternatives are expressed to the other four types of persons."[107]

श्री समाज या गुह्यसमाज में प्रवेशार्थी समयीन रत्न सदृश साधकों के सामने केवल नीतार्थ, यथारुत एवं संधि भाषा में ज्ञान देना चाहिए। अन्य निम्नस्तरीय साधकों के सामने न यथारुत एवं न संधि भाषा में ही गुरु ज्ञान दे सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि रत्न सदृश व्यक्ति या निम्न स्तर के साधक कौन हैं? नित्यार्थ, यथारुत व संधि भाषा का परिचय निम्न स्तर के साधकों के लिए वर्जित क्यों है?

संभवत: नित्यार्थ का सार, चिरंतन सत्य (eternal truth) या बौद्ध शास्त्र के अनुसार तथता ही सत्य है। इस सत्यता की अनुभूति शिष्य स्वयं करता है और शिष्य की परिपक्वता को देखते हुए गुरु उसे आगे के उपदेश देते हैं। यथारुत शब्द के अर्थ प्रत्येक बौद्ध उपशाखा में भिन्न-भिन्न हैं। और विविध तंत्र शास्त्रों की उपशाखाओं में नीतार्थ के अर्थ भी भिन्न हैं। ऐसे शब्दों के अर्थ जानने का अधिकार केवल उस शाखा या उपशाखा के सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त साधकों को ही है। नितार्थ ज्ञान, मौखिक रूप से दिया जाता है। यथारुत ज्ञान शास्त्रों के द्वारा दिया जाता है। संधि भाषा

का ज्ञान गुप्त संकेत के अनुसार दिया जाता है जिससे कि अनाधिकारी व्यक्ति इसका अनर्थ न कर सके। ऐसे शब्दों की तालिका हेवज्र तंत्र में दी गई है और ऐसे शब्दों की सृष्टि बाद के गुरु-शिष्य परंपरा में भी होती गई है। हेवज्र तंत्र में प्राप्त संध्या भाषा इस प्रकार है-

भगवान आह-

वक्षाम्यहं वज्रगर्भ शृणु त्वं एकचेतसा।

सन्ध्याभाषं महाभाषं समयसंकेतविस्तरम् ॥55 ॥

मदनं मद्यं बलं मांसं मलयजं मिलनं मतम्।

गतिः खेटः शवः श्रायो अस्थ्याभरणं निरंकुशम् ॥56 ॥

अगतिः प्रेङ्खणं प्रोक्तं कृपीटं डमरुकं मतम्।

अभव्यं दुन्दुरं ख्यातं भव्यं कालिञ्जरं मतम् ॥57 ॥

अस्पर्श डिण्डिमं प्रोक्तं कपालं पद्मभाजनम्।

भक्षं तृप्तिकरं ज्ञेयं व्यञ्जनं मालतीन्धनम् ॥58 ॥

गूथं चतुः समं प्रोक्तं मूत्रं कस्तूरिका स्मृतो।

स्वयम्भू सिल्हकं ज्ञेयं शुक्रं कर्पूरकं मतम् ॥59 ॥

महामांस शालिजं प्रोक्तं द्वीन्द्रिययोग कुन्दुरम्।

वज्रं बोलकं ख्यातं पद्मकक्कोलकं मतम् ॥60 ॥

कुलं पंचविधं ख्यातं वर्णभेदेन भेदितम्।

सन्धाभाषात एवं स्युर्बुद्धाश्च पंचकौलिकाः ॥61 ॥

डोम्बी वज्रकुली ख्याता नटी पद्मकुली तथा।

चाण्डाली रत्न कुली चैत्र द्विजा तथागती मता ॥62 ॥

रजकी कर्मकुली चैव एता मुद्राः सुसिद्धिता।

आसां शुक्रं भवेत् वज्रं पूजयित्वा पिबेत व्रती ॥63 ॥[108]

इस तालिका में कथित शब्दों का प्रयोग चर्यागीतों में नहीं हुआ है। चर्यागीतों की टीका में उल्लेखित 'संध्या' शब्द केवल मुनिदत्त द्वारा ही संध्याभाषा के रूप में मान्य है। परंतु यह शब्द प्रामाणिक बौद्ध तांत्रिक ग्रंथों द्वारा अनुमोदित नहीं हैं।

ध्यातव्य है कि निम्नश्रेणी के साधकों या श्रोताओं को न्येयार्थ और न यथारुत अर्थ व न संधिभाषा में ज्ञान देने का उपदेश दिया है। चर्यागीत गूढ़ मंत्र नहीं हैं, यह लोगों के सामने मुक्त रूप से गाए जाने वाले गीत हैं अतः यहाँ संधा भाषा का प्रयोग नीतिविरुद्ध है। चर्यागीत की भाषा प्रहेलिकामय या न यथारुत भाषा है यह संधा या संध्याभाषा नहीं है।

श्रीसमाज तंत्र और प्रदीपद्योटन टीका भाष्य में बौद्ध तंत्र के साधकों को पाँच भागों में बाँटा है :

1. रत्न सदृश व्यक्ति : पवित्रात्मा, पंडित, प्रज्ञाशील, समदर्शी
2. रक्तपद्म सदृश व्यक्ति : बुद्धिमान, उच्चाभिलाषी
3. श्वेतपद्म सदृश व्यक्ति : मध्यम बुद्धि, अष्ट गौण सिद्धि के अभिलाषी
4. चंदन सदृश व्यक्ति : मूर्ख
5. नीलपद्म सदृश व्यक्ति : इन्द्रियलोलुप, शील संयमहीन।

गुह्यसमाज तंत्र ग्रंथ में रत्न सदृश व्यक्ति के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इस तंत्र के अनुसार रत्न सदृश व्यक्ति ही संधा शब्द और भाषा सुनने का अधिकारी है। रत्न सदृश व्यक्ति वह है जिसने तंत्र साधना के क्रम में उत्पत्ति कर्म साधना में सिद्धि प्राप्त की हो और 'निष्पन्न कर्म' सिद्धि का अभिलाषी हो। जिसमें अष्ट गौण सिद्धियों की उपेक्षा की मानसिकता हो और सर्वोच्च सिद्धि (बोधिचित्त) की प्राप्ति की एकमात्र इच्छा हो वही रत्न सदृश व्यक्ति है। तंत्र प्रयोग के द्वारा शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आर्थिक लाभ की इच्छा न रखने वाले उच्च श्रेणी के साधक ही संधा भाषा सुनने का अधिकारी है। इतर जनों के सामने इसका प्रयोग निषिद्ध है।[109]

जाह्नवी चक्रवर्ती के अनुसार मुनिदत्त ने कुन्दुरु, हाड़ेरि माली, डमरु, कुल, कुलिण, मन पवन, कर्णकुण्डल वज्र, कापुर, हरिणी, डमरुलि, रविशशि, बलद, बाजुल, चण्डाली, बाज, पउमा, सबर-सबरी शब्दों को संध्या शब्द के रूप में चिह्नित किया है।[110]

एलेक्स वेमैन ने प्रातः और सायंकाल के संध्या वेला में कृत पूजा आराधना की ओर इंगित करते हुए इसे आलो आंधारी भाषा के निकट माना है-

"The term samdha bhash (twilight language) aptly refers to the ambiguity, contradiction, or paradox of the moment between darkness and light. In ancient India, there were "climatics" as represented, ... It is only in recent times that Hindus have ceased to respond to the down and dusk (morning and evening twilights). The ancient Hindus well appreciated the paradoxical nature of Ushas, goddess of Dawn, whose ever-youthful appearance heralded another day of life, bringing men that much closer to death. When evening descended a host of spirits emerged : it was the time that the more host appeared to the meditating Gautama under the bodhi

tree. The twilights symbolized the sensitive points in the temparal flow.When spiritual victory was possible. A special vocabulary was created to critical points and called in the Buddhist Tantra twilight language"

वेमैन साहब ने हेवज्रतंत्र से कुछ और संध्या शब्द उत्कीलित कर दिखाये। उनके अनुसार - मद्य को मदन कहा गया है, मांस को बल, मिलन को मलयज, शव को श्राय और अस्थाभरणों के लिए निरंकुश शब्द आया है। इसके अलावा मूत्र को कस्तूरिका, रजस्राव स्वयंभू कुसुम को सिह्लक, शुक्र को कर्पूर, महामांस (मनुष्य का मांस) को शालिज, कुन्दुरु को संभोग, बोल वज्र है, कक्कोल को पद्म का पर्याय माना गया है।[112]

वेमैन साहब ने वज्रगीतियों को संधाभाषा में रचित माना पर यह अवश्य विवेच्य है कि इन वज्रगीतियों में इन शब्दों का प्रयोग कितना किया गया है। उन्होंने यह भी आशा जतायी है कि भारत में एक समय ऐसा जरूर रहा होगा जब प्रत्येक शिक्षित बौद्ध भिक्षु इस संध्या भाषितम् कही जाने वाली भाषा के शब्दावली से परिचित होंगे।[113]

पहले ही कहा जा चुका है कि केवल रत्न सदृश व्यक्तियों को ही संध्या भाषा सुनने का अधिकार है। अत: उस भिक्षु को रत्न सदृश बनना आवश्यक है।

ध्यातव्य है कि हिन्दू तंत्रों में भी इस प्रकार की गुप्त शब्दावली के प्रयोग किए जाते हैं। सामान्य दीक्षित साधकों से इन शब्दों को दूर रखा जाता है। केवल पूर्णाभिषिक्त व क्रमदीक्षित साधकों को ही इस मार्ग की गुह्य क्रियाओं और शब्दावली के प्रयोग का अधिकार है।

पंडित बाबूलाल गुप्त के अनुसार दो शब्दों में मध्य में निहित लुप्तार्थ को 'सम' कहते हैं। इस 'सम' को प्रकट करने की विद्या को ही संजीवनी विद्या कहते हैं। 'सम्+धा' संभवत: उसी सम् के अन्वेषण या अनुधावन की प्रक्रिया है। वैदिक ऋचाओं के गुप्त अर्थ को प्रकटित करने

वाले ऋषि शुक्र परम ज्ञानी थे। अत: ऐसे निहितार्थों को जानने समझने के लिए तेजस्वी बुद्धियुक्त होना आवश्यक है।[114]

निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि चर्यापदों में संध्या शब्दों का प्रयोग न के बराबर हुआ है साथ ही संधा या संध्या शब्दों का प्रयोग उच्च स्तर के साधक ही कर सकते हैं। उल्लेख्य है कि चर्यागीतों का गायन सामान्य जनता के सम्मुख होता था। अत: यहाँ अनिवार्य रूप से उन शब्दों का सन्निवेश नहीं होगा जिनको प्रकट करना शास्त्र विरुद्ध है। 'सम्' शब्द का अर्थ ही है दो शब्दों के मध्य छिपा अर्थ। साथ ही सिद्धों के पदों को संधा भाषा की अपेक्षा कूट पद कहना श्रेयष्कर है। उदाहरणार्थ चर्या संख्या 33 को ही लीजिए-

टालत मोर धर नाहि पड़बेषी।

हाड़ीत भात नाँहि निति आवेशी॥

बेग संसार बड्हिल जाअ।

दुहिल दुधु कि बेन्टे समाअ।

बलद बिआएल गविआ बाझैं।

पिटा दुहिए ए तिना साँझ्ये॥

जो सो बुधी सौ निबुधी।

जो सौ चौर सौ दुषाधी॥

निते निते षियाला षिहे सम जुझअ।

ढेंढनपाएर गीत बिरलैं बुझअ॥ चर्या सं. -33

इसे किसी ने इस गीत को ''विशुद्ध प्रहेलिका चर्या'' कहा तो किसी ने रूपकों के द्वारा आध्यात्म साधना व अनुभूति का वर्णन बताया। किसी विद्वान ने इसे संध्या भाषा में लिखित माना। परंतु इस गीत में उपर्युक्त एक भी संध्या शब्द उपस्थित नहीं है। अक्सर विद्वान किसी भी पद का सरलता से अर्थोद्धार नहीं कर पाते तो उसे संध्या भाषा का हवाला देकर दुर्बोध्य कह देते। दरअसल थोड़े से बुद्धि कौशल से ही ऐसे गीतों को समझ सकते हैं।

इस गीत में योगाचार तंत्र के समर्थक ढेण्ढनपाद ने अनुत्तर तंत्र पर व्यंग्य किया है। उन्होंने योगाचार तंत्र की गरिमा को यहाँ प्रकट किया है प्रत्येक पंक्ति और शब्द का अपना अभिप्राय है - वे कहते हैं कि - मेरा घर पर्वत शिखर पर है और मेरा कोई पड़ोसी भी नहीं है। इसे समझने के लिए योगतंत्र की उत्पत्ति जाननी होगी। ''अनंतकाल के पुनर्जन्मों के बाद जब बोधिसत्व पूर्णबुद्ध बनने में सक्षम हुए तो वे निरंजना नदी के तट पर समाधि में लीन थे। दसों दिशाओं से दस बुद्ध आए और उन्हें केवल समाधि के द्वारा बुद्धत्व प्राप्ति को असंभव बताया। बुद्ध ने जब उनसे बुद्धत्व प्राप्ति के बारे में पूछा तो बुद्धों ने उन्हें किरिटी अभिषेक दीक्षा देकर पंच अभिसंबोधि या ज्ञान दिया। पंच अभिसंबोधि पाकर वे पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति के योग्य बने और अपनी संभोग काया से सुमेरु पर्वत का आरोहण कर, उन्होंने सुमेरु शिखर से ही पृथ्वी पर योगाचार तंत्र की घोषणा की। इसी के बाद वे शुद्धोधन के घर में सिद्धार्थ के रूप में आए।[115] उपर्युक्त पंक्ति इसी कहानी का सारांश है, योगाचार तंत्र में साधक पर्वत शिखर में एकाकी रहकर धर्माचरण करता है।

''हाड़ीत भात नाँहि निति आवेशी'' इसमें हाड़ी का अर्थ है कलश या अनुत्तर तंत्र का 'कलशाभिषेक'' जिसमें महामुद्रा या यौनाचार क्रिया संपन्न होती है। इस अभिषेक में कोई ''भात'' अर्थात गौरव नहीं है।

''बेग संसार बड्हिल जाअ'' अर्थात् कालक्रम से संसार के प्रति या सांसारिक उपकरणों के प्रति भी आकर्षण बढ़ता जाता है। कृष्ण ने भी कहा था कि-

कामक्रोधाद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

(गीता/पंचम अध्याय/श्लोक 25)

''दुहिल दुधु कि बेटे षामाय'' अर्थात् दुहने के बाद दूध (रेतः) पुनः थन में नहीं समा सकता। वास्तव में अनुत्तर तंत्र के 'कलशाभिषेक' के बाद साधक गुरु के निर्देशक्रम से साधना संगिनी के साथ यौनाचार में लिप्त होता है और स्खलित वीर्य को साधक पुनः ग्रहण करता है। इसी को महामुद्रा कहा गया है। पर योगाचार तंत्र के अनुसार स्खलित वीर्य शक्ति का अपचय मात्र है जिसका पुनः प्रत्यावर्तन असंभव है। इन्होंने पितृतंत्र (बलद) को फलप्रद और यौनाचार युक्त मातृतंत्र गाय को बंध्या या निष्फल बताया है (बलद बिआएल गविआ बाँझे। चर्या सं.-33)

योगाचार तंत्र के अनुसार वैरोचन बुद्ध ने पूर्णबुद्धत्व की प्राप्ति के पहले सिंह का रूप लिया था।[116] तिब्बती भाषा में Seng-ge शब्द सिंह और तथागत बुद्ध के पर्याय माने गए हैं।[117] वहीं दूसरी ओर अनुत्तर तंत्र के कान्हपाद की तुलना शृगाल से की गई है।

षिआला = शृगाल = निशा = कृष्ण = कृष्णपाद = कान्हपा

ढेंढनपाद ने यहाँ इसी शृगाल और सिंह को युद्ध करते दिखाया है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ किसी संधा या संध्या भाषा के शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। प्रकृत अर्थ में यहाँ कवि ने कूट रूप में ही योगाचार तंत्र के महीयसी चरित्र की व्याख्या करते हुए अनुत्तर तंत्र के यौनाचार युक्त निम्नमानदंड की भूमिका को स्पष्ट किया है।

स्पष्टत : प्रतीत होता है कि चर्यापदों में कदाचित ही संधा शब्दों का प्रयोग किया गया है। केवल चर्या संख्या 28 में एक स्थान पर कर्पूर (रेतः) शब्द का प्रयोग किया गया है (हिअ ताँबोला महासुहे कापुर खाइ।) पर तथ्य यह है कि इस शब्द के प्रयोग द्वारा यहाँ 'हेवज्र तंत्र' पर ही व्यंग्य किया गया है।

मूलत: चर्यागीतों की रचना किस भाषा में हुई है इस विषय को लेकर काफी विवाद हैं। सन् 1907 ई. में नेपाल के राजकीय ग्रंथागार में प्राप्त चर्यागीति संग्रह के आविष्कार के बाद हरप्रसाद शास्त्री महोदय ने बंगीय साहित्य परिषद से सन् 1916 में 'हाजार बत्सरेर पुरानो बांलाय बौद्धगान ओ दोहा' नाम से प्रकाशित करवाया और चर्यागीतों की भाषा पर प्रथम बार बंगला भाषा की मुहर लगायी। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी कृति दोहाकोश में (1957, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद) इसकी भाषा को 'पुरानी हिन्दुस्तानी' कहा और परीक्षित हजारिका ने अपनी कृति 'चर्यापद' (1973, डालिमी प्रकाशन, गुवाहाटी) में इसकी भाषा को प्राचीन कामरूपी सिद्ध किया। उड़िया, मैथिली, मागधी आदि के भाषाविदों ने भी इसी क्रम में अपने दावे रखे (चर्यागीति कोष/सौम्येन्द्र सरकार/पृ. 131)। इन प्रकार चर्यागीतों पर स्वकीय भाषा इतिहास जोड़ने के कारण चर्यागीतों के अर्थ का दिक् उपेक्षित रह गया। प्रादेशिकतावादी पंडितों ने अपनी-अपनी भाषाओं में प्रचलित शब्दों के आधार पर चर्यापदों का अर्थ निर्धारण करने का प्रयास किया है।

ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि मंत्रयान और वज्रयान के साधकों ने आठवीं से बारहवीं शती के मध्य इन गीतों की रचना की थी। यदि बारहवीं शती के आस-पास भी इन गीतों का संकलन किया होगा तो यह तय है कि लूइपा या आर्यदेव के गीत साधकसमाज में मौखिक रूप से विद्यमान थे। परंतु बौद्ध शास्त्रीय वचन, हिन्दू धर्मशास्त्र या श्रुतियों की तरह अपरिवर्तित रूप में नहीं रह पाए अत: जिन शब्दों के अर्थबोध में परेशानी होती है उन्हें बदलकर नए स्थानीय शब्दों के सम्मिश्रण की आशंका भी बनी है।

अर्थ के विश्लेषण क्रम में एक और तथ्य उभरता है कि प्राचीनतर गीतों की भाषा सरल और सुबोध्य अर्थ युक्त है। ये मौलिक है और इनमें संस्कृत के प्रयोग की प्रवृत्ति भी बहुत कम परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ लूइपा के (चर्या. 1) गीत की अंतिम पंक्ति में 'पाण्डि' शब्द आया है जो मूलत: पिण्डिका या पिण्डी कण है जिसका अर्थ है रथ के पहिए का मध्यभाग। पर

बाद में पिण्डिका से पात्ति और फिर पाण्डि बन जाने के कारण उसका अर्थ बदलकर चौकी या पीठ बन गया। अष्टम शताब्दी से द्वादश शताब्दी तक आते-आते पूर्वोत्तर भारत में ब्राह्मण धर्म में संस्कृत भाषा का महत्त्व बढ़ता गया। प्रहसन परक (चर्या. 23, 50) और व्यंग्य परक (चर्या. 2,33) गीत, अन्य गीतों की तुलना में अर्वाचीन हैं, इसी कारण उनकी संरचना जटिल है उन्हें जानबूझकर संस्कृत व्याकरणिक व्यायामों से भरकर कूट रूप दिया गया।

देखा जाए तो प्राय: चार सौ वर्षों तक उत्तर और पूर्वोत्तर भारत में यह गीत मौखिक रूप से प्रचलित रहे। इन्हें एक या एकाधिक स्थानों के किन्हीं अज्ञात व्यक्तियों ने लिपिबद्ध किया होगा। अत: इन गीतों में किसी विशेष प्रादेशिक भाषा की मुहर लगाना युक्ति-युक्त नहीं होगा। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उनकी भाषा में अब भी कुछ शब्द उसी प्रकार अपरिवर्तित रूप से व्यवहृत होते हैं। पर ऐसी मनोवृत्ति न होने के कारण विद्वानों को कदाचित् परेशानी भी होता है। उदाहरण के तौर पर चर्या सं. 2 में ''काउइ डरे भाअ'' में प्रयुक्त ''काउइ'' शब्द का क्या अर्थ है ? मुनिदत्त ने इसे 'कायकाल पुरुषाय' कहकर अपना कर्तव्य कर दिया।

काउइ = काउरी (असमिया)

= कौआ

= काक (बंगला), संस्कृत कारव (बायस)

कुक्कुरीपाद ने यहाँ काउइ शब्द का प्रयोग 'कौवे' के बदले किया है परंतु काउरी और काउइ में समानता देखकर इसे असमिया कहना गलत होता या काक शब्द का समार्थक होने पर भी इसे बंगला कहना समीचीन न होगा। काक एक संस्कृत मूलीय शब्द है जिसका प्रयोग ''सुरत बंध'' या यौन क्रिया के विरत रहने के अर्थ में किया गया है। एक पूर्वकालिक विश्वास है कि कौवे यौन संगम नहीं करते।

'मार' शब्द का प्रयोग भी दो चर्यागीतों में किया गया है (चर्या 21 व 26)। चर्या 21 के मार का अर्थ है - हनन करना या ध्वंस करना। चर्या 26 में ''बहल बाट हुइ मार न दिशअ'' का अर्थ मुनिदत्त ने द्वयाकार बताया। यहाँ मार का अर्थ संयोग या मिलन है। मार शब्द अब हिन्दी और बंगला में अनुपस्थित है केवल असमिया में इसका प्रयोग उसी रूप में मिलता है।

''बेण्टे' (चर्या. 33) शब्द वर्तमान केवल उड़िया भाषा में ही उपलब्ध है। स्पष्ट है कि प्रदेशिकतावाद के घेरे में पड़े रहने के कारण विद्वानों को चर्यागीतों के अर्थोद्धार में काफी परेशानी हुई। अकसर विद्वानों ने मुनिदत्त की संस्कृत टीका को ही चर्यागीतों की व्याख्या के लिए एकमात्र सहारा माना। इसी कारण कुछ विद्वानों को बौद्धतंत्र के तथागत बुद्ध के संभोग काया में सुरति की गंध मिली। इसी प्रकार यही सहज शब्द का अर्थ वैष्णव कामधर्मी सहजिया गीतों में खोजना और ब्रह्मसूत्र या उपनिषदों की तुलना लोकगीतों से करना एक समान है।

शब्द योजना

चर्यापदों में केवल रहस्यात्मक कथ्य ही नहीं वरन् रहस्यावृत्त शब्दों की आवृत्ति भी हुई है। इन्हीं शब्दों के माध्यम से परिपुष्ट भाषा द्वारा कवियों ने अपने दार्शनिक पक्ष को उजागर किया है। चर्यापदों की भाषा को लेकर विवाद बना है पर तथ्य यह है कि चर्यापदों में प्रयुक्त कतिपय शब्द यद्यपि कुछ भाषाओं में जीवित रूप में मिलते हैं। परंतु इन शब्दों के प्रयोग को देखते हुए चर्यापदों को असमिया, उड़िया या पुरानी हिन्दी कहा नहीं जा सकता। प्रत्येक पूर्वी या उत्तरी भारतीय भाषा चर्यापदों को अपने पौराणिक भाषा-विकास का आदि रूप मानता है। चर्यापदों में संस्कृत मूलीय, स्थानीय और यहाँ तक कि द्रविड़ मूलीय शब्द भी हैं। यहाँ कतिपय शब्दों का विश्लेषण किया जाएगा।

संस्कृत मूलीय शब्द :

1. दिढ़ - दृढ़

2. करिअ - करित्वा = कृत्वा

3. पुच्छिल - पृच्छित्वा = पृच्छा

4. काहि - कस्य = कस्स = कास = काह +ठु

5. सुनु - शून्य

6. पाख = पक्ष

7. आम्हे = हम : अस्माभिः = अम्हाहि =〉अम्हहि〉 = अम्हे〉आम्हे।

मूलतः यह शब्द बहुवचन व करणकारक में प्रयुक्त होता था। पर चर्या के युग से इसका प्रयोग एकवचन व कर्ता कारक में होने लगा।

8. पाण्डि = पीढ़ी : पाट्टिक (?) पट्टिअ〉पाटि पाड़ि〉पाँड़ि〉पाण्डि

9. रुख = वृक्ष - रुक्ख - रुख

10. जाअ - जायते

11. बहुड़ी = बहु : बधूटिका, बधूटी

12. गई - गमित्वा - गत्वा

13. जाअ - जायते

14. हिअहिं - हृदय में, हृदय - हिअ + हिं (सप्तमी विभक्ति)

15. होई = हुआ, भवति - भोदि - भोई - होइ

16 तुम्हे = तुम लोग, युष्माभि: 〉 तुष्माभि: 〉 तुम्हहि〉 तुम्हे

17. गुमा = गुल्म

18. पोहाअ = सुबह होना = प्रभाति〉 पोहाइ〉 पोहाअ

19. अन्तउड़ि = अंत: कुटी

20. मुसा〉 मूषक

21. चारा - विचरण〉 चारण〉 चारा

22. तुटअ = टूटना〉 त्रुट्यते

23. चरअ = चरति

24. जवे = यद्वद्

26. कइसन = कदृशन (कैसे)

26. जा = जिसका, यस्य〉 जस्स〉 जाह〉 जा

27. करउ = करे ; करोतु

28. आपणा = अपना, आत्मन: 〉 आपाण〉 आपणा〉 अपणा

29. अम्भे = हम, अस्माभि:

30. जोइ = योगी

31. कंखा = आकांक्षा

32. सो = स:

33. नएणि = रात; रजनी, रअणि, णअणि, नएणि

34. हण = हत

35. हेरुअ = हेरुकः〉 हेतुरूम〉 हेउरुअ〉 हेरुअ

36. बट = रास्ता, वर्त्म, बाट, बट

37. जुअति = युक्ति

38. परहिण = परिहित〉 परिहिण〉 परहिण

39. कापुर = कर्पूर

40. पुञ्चआ = धनुष〉 पुच्छक〉 पुच्छअ〉 पुञ्चअ〉 पुञ्चआ

41. दुलक्ख = दुर्लक्ष्य

42. बखाणी = व्याख्यायित होना, व्याख्यात〉 बक्खानिअ〉 बखामी〉 बखाणी

43. अच्छम = हूँ। अच्छ धातु (अस् स्थान में) 'म' प्रथमा विभक्ति का प्रयोग

44. दीस = दिशा

45. पेख = देखना, प्रेक्ष

46. मइ = मया

47. हो = होना, भवति〉 भवदि〉 होदि〉 होइ〉 हो

48. अपा = आत्मा, आत्मा〉 अप्पा〉 अपा

49. बोहि = बोधि

50. दुधु = दूध, दुग्ध〉 दुध〉 दुधु

51. षामाअ = समाना, समायाति〉 समाआइ, सामाइ, षामाय〉 षामाअ।

52. पिटा = पात्र, पिटक

53. दुहिए = दुहना, दुह्यते, दुहिअ, दुहिए

54. कुराही = कुठारिका› कुठारी› कुहारी› कुराही (स्थान विपर्यय)

55. फुटिला = स्फुटित + इल्ल+आ

56. पासँर = पार्श्वस्थ, पास+षष्ठी विभक्ति

57. मातेला = मत्त +इल्ल=आ

58. ताभला = स्तब्ध› तब्भ› ताभ+इल+आ

59. मेहेली = महिला

60. हेञ्चे = हनन करना, हिता› हिच्च› हेच्च› हेञ्च

यहाँ संस्कृत से आए कतिपय शब्दों के तद्भव रूप दिये हैं। चर्यापदों में केवल संस्कृत के शब्द ही नहीं बल्कि द्रविड़ मूलीय शब्द भी आए हैं। सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार चर्यापदों में द्रविड़ शब्द भी मिलते हैं।

'एडिएल' (चर्या.1) = छोड़कर

एड़ द्रविड़मूलीय शब्द है।[118]

साथ ही यहाँ देशी शब्दों की कमी भी नहीं है जैसे-

1. चिकण = चिकना

2. बाकलए - यह एक प्रकार का yeast है, सुरा प्रस्तुत करने में प्रयोग किया जाता है। तिब्बती में इसे chain risi कहते हैं।

3. चिखिल = कीचड़ से सना

4. सांक = पुल

5. उआस = उदास

6. बाहतु = नाव चलाना

7. दमकुं = चमकूं

8. आलाजाल

9. आलो

10. उञ्चल पाञ्चल

11. उभिल

12. कङ्गुचिना

13. करण्ड

14. कशाला

15. चञ्वाली

16. चाङ्गेता

17. चीरा

18. छुध

19. केडुअल

20. कुन्दुरे

21. खड़तड़ि

22. खो

23. गुलिगुहाड़ा

24. धतिलि

25. घाट

26. चटारिउ

27. चिखिल

28. छिणाली

29. टाकलि

30. टागुअ

31. टालत

32. डाल

33. डाली

34. बङ्गले

35. धुनि

36. पुलिन्दा

37. बपुड़ा

38. बोब

39. बोड़ि

40. भिड़ि

41. हिन्दइ

इन देशी शब्दों में कुछ सांकेतिक शब्द भी हैं।

केवल स्थानीय शब्द ही नहीं वरन् चर्यापदों में तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। निदर्शन के रूप में चर्यापद के ये शब्द हैं- अंग, अंक, अजराग, अनुदिन, अनुभव, अन्ते, अन्तराले, अन्तरे, अन्धकारा, अभाव, अवकाश, अवधूती, अवश, आकाश, आगम, उदंग, उन्मत्त, कंठ,

कमल, कमलिनी, करुणा, कर्णकुण्डल, कामोद, कारण, काल, किरण, कुम्भीर, कूल, कुलिश, गगन, गङ्गा, गन्ध, गम्भीर, गीत, गुञ्जरी, गुरु, घन, चञ्चल, चरण, चित्त, जलबिम्बकारे, जाया, तथागत, तरङ्ग, तरु, तरुवर, दश, दिवसइ, दुःखे, दृढ़, देवी, देह, नगर, नलिनी, नव, नाटक, नाद, नायक, नारी, नाशक, निरन्तर, नौका, पञ्च, पभ, परम, परिमाण, पवण, पाप, पुण्य, बङ्क, वज्रधारी, वन, वाम, बिन्दु, विशेष, बुद्ध, बैरी, भव, जलधि, भय, भावाभाव, भुजङ्ग, मण्डल, मन, मरु, महारस, महासिद्धि, मूढ़ा, मूल, मोह, रवि, राग, रूप, शक्ति, शशि, शिखर, सद्गुरु, सम, सर्व, संसार, संहार, सहज, सुख, सुन्दारी, हर, हरिणी इत्यादि।

चर्यापदों में कई अर्द्ध तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया गया है- अकिलेसे ‹ अक्लेशे‹ गराहक, ग्राहक‹ गऊड़ा‹ गौड़, दुआरे, द्वारे‹ जऊतुके‹ यौतुके, पदमा‹ पद्म, परश‹ स्पर्श, पराण‹ प्राण, पसारा‹ प्रसार, पहारा‹ प्रहर, वरिसअ‹ वर्षति, रअण‹ रत्न, सरअ‹ सर्व, इत्यादि।

प्रतीकात्मकता :

विद्वानों ने चर्यापदों में प्रयुक्त प्रतीकों की एक सुदीर्घ सूची दी है। इनमें से कोई भी पारस्परिक संबंध नहीं हैं अनेक स्थानों पर यह प्रतीक कूट शब्द, रूपक या उपमा के रूप में आए हैं। यह हैं- वीर, बंगाली, कपाली, शबर, सहज सुंदरी, वधू, योगिनी, नैरामणि योगिनी, डोम्बी, मातंगी, कमलिनी, पद्मिनी, कच्छपी, दूध भाजन, वृक्ष, इमली, पिटा, चोर, कामरूप, गंगा, कमल आदि।[119] इसके अलावा भी चर्यापदों में शुण्डिनी, (एवंकार), कमल-कुलिश, हरिण-हरिणी, बलअ, गविआ आदि प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है। ध्यातव्य है कि संध्या भाषा भी प्रतीकों में ही निबद्ध है परंतु इन प्रतीकों के साथ उसका कोई सरोकार नहीं है।

हेवज्र तंत्र में चतुर्विध योग का नामोल्लेख किया है-पुक्कशी, डोम्बी, शबरी, चाण्डाली और योगिनी। वर्तमान चर्यागीत संकलन में हालांकि पुक्कशी और शबरी प्राणायाम का उल्लेख

नहीं है अवशिष्ट तीनों का है। हेवज्रतंत्र और इतर बौद्ध तंत्र शास्त्रों के आधार पर डोम्बी और चंडालिनी की अलग व्याख्या है। हेवज्र तंत्र के अनुसार-

योग या प्राणायाम	**धातु**	**वद्यमान स्थान**	**कार्य**
योगिनी	शून्यता	आज्ञाचक	संपूर्ण लोप
चण्डाली	तेजस्	कंठमूल/संभोग चक्र	दाहन
शबरी	तोय	अनाहत चक्र	जल निक्षेपन
डोम्बी	वायु	मणिपुर चक्र/निर्माण चक्र	पाचन
पुक्कशी	पृथ्वी	स्वाधिष्ठान/मूलाधार	प्रोथन

अब प्रश्न यह है कि इन योगों और प्राणायामों के नाम मध्ययुग के जातिवाचक रूप क्यों दिए गए। वास्तव में डोम्बी, चण्डाली, शबरी, पुक्कशी चारों जातियाँ मध्ययुग की मानी जाती थी। इनका कार्य मृत जीव जंतु और मानव की अंत्येष्टि क्रिया करना था। इन जातिगत नामों से उस जाति के द्वारा कृत कार्य का परिचय मिलता है। इसे समझना अधिक जटिल न होगा-

जाति	**कार्य**	**परिणाम**	**साधक के भाव**
डोम्बी	मृतदेह को खुले स्थान में निक्षेप	पाचन-धातु वायु करना	शून्यता भाव
चण्डाल	मृतदेह का दाहन	दाहन-धातु अग्नि	आत्मतत्व का बोध
शबरी	मृतदेह को जल में निक्षेप करना	अन्य स्थान में गमन धातु जल	साधक का आत्मबोध संरवण
पुक्कशी	मृतदेह का प्रोथन	स्थानीय अस्तित्व छिपना धातु पृथ्वी	आत्मबोध का विलयन

उच्च अनुत्तर तंत्र के साधकों का दावा है कि क्रिया तंत्र के पुक्कशी और शबरी प्राणायाम के द्वारा साधक अपने आत्मबोध को दबाकर छिपा सकता है परंतु विपरीत समय में वह फिर अपने स्वप्न को प्रकट करता है (चर्या. सं.2)। चर्यातंत्र में व्यवहृत शबरी और चण्डाली प्राणायाम योग से साधक के चित्त को निम्नभूमि से उच्च भूमि पर स्थापित कर सकते हैं। परंतु साधक का आत्मबोध रह जाता है। चर्या और योग तंत्र में प्रयुक्त चण्डाली योग-प्राणायाम के द्वारा आत्मबोध को भस्मीभूत किया जा सकता है। परंतु भस्माकृत होने पर भी उसका अंश अवशिष्ट रह सकता है अर्थात् आत्मबोध पूर्णत: ध्वंस नहीं होता। अब विस्तृत रूप से अन्य प्रतीकों का विश्लेषण किया जाएगा-

डोम्बी : पंच डाकमंडल ग्रंथ के अनुसार डोम्बी 'गौरी गोष्ठी' की देवी हैं। वे अपने हाथ में विचित्र वर्ण की पताका लेकर घूमती हैं जो कि वायु धातु का प्रतीक है।[120] ''नरअ नारी मझेँ उभिल चीरा''-(चर्या. सं.4)

यहाँ चीरा शब्द का अर्थ है पताका या ध्वज। डोम्बी नासारंध्र में अंगुली रखकर श्वास नियंत्रण करने वाला प्राणायाम है। इस प्राणायाम के द्वारा शरीर का ताप नियंत्रित किया जा सकता है। इससे साधक संसार से मानसिक रूप से विच्छिन्न होता है। इस क्रम में साधक मुख से प्रश्वास त्याग करता है और इस समय जीभ को एक विशेष भंगी में रखा जाता है। तंत्र के ग्रंथों में इसके अलावा और अधिक जाना नहीं जा सकता।

चण्डाली : तिब्बती तंत्र का टूमों और हिन्दू तंत्र का भस्त्रिका प्राणायाम और चण्डाली प्राणायाम एक ही कोटि के हैं। इसमें नाक से श्वास लेकर उसे मुख से छोड़ते हुए जीभ को एक विशेष भंगी में रखा जाता है। यहाँ बलपूर्वक श्वास-प्रश्वास लिया जाता है। प्राणायामरत साधक

के शरीर का ताप बढ़ जाता है और मस्तिष्क ज्वर पीड़ित जैसा लगता है। इससे मानसिक विभ्रम भी बढ़ सकता है। यहाँ तक कि कमजोर दिल वालों का दिल भी रुक सकता है। तंत्र के अनुसार इस प्राणायाम के द्वारा आत्मबोध और गर्व जलकर भस्म हो जाता है। चण्डाली के बाद डोम्बी प्राणायाम किया जाता है।

समता और जलिअ चण्डाली।

डाह डोम्बी घरे लागेलि आगि॥ (चर्या सं.47)

पंच डाकमंडल ग्रंथ के अनुसार चण्डाली ''गौरी'' गोष्ठी की देवी है। उनका रंग नीला और उनके हाथ में अग्नि पात्र है।[121]

योगिनी : योगिनी प्राणायाम का अभ्यास केवल अनुत्तर तंत्र में ही किया जाता है। यह एक प्रकार का प्रतिलोम प्राणायाम है। F.D. Lessing and A. Wayman के अनुसार - "The pranayama of the three lower tantra divisions has different occassions, requirements and method of contmeplation from the pranayama explained in Anuttara (Tantra)"[122] कालचक्र तंत्र में भी इसका प्रयोग होता है। आमतौर पर प्राणायाम में प्राण=चित्त, वायु, मन इत्यादि का, आयाम = नियंत्रण, दमन किया जाता है। पर अनुत्तर तंत्र में = जीवन, मन, चित्त इत्यादि का, आयाम = दूर तक क्षेपण या आत्मसत्ता से दूरिभत किया जाता है (गुह्यसमाज तंत्र)। इसमें मूलत: लक्ष्य का भेद दृष्टिगोचर होता है। क्रिया, चर्या और निम्नयोगतंत्र में साधक को अपने इंद्रिय और लालसा का दमन कर चित्त निवृत्ति करने का उपाय के रूप में श्वास रोककर ध्यान करने का निर्देश दिया है। उच्च योगाचार और अनुत्तर तंत्र में प्रतिलोम प्राणायाम के द्वारा दक्षिण (Right) और वाम (left) नासारंध्रों के श्वास-प्रश्वास को बिना मिलाए प्राणायाम करने का निर्देश दिया है। दार्शनिक तौर पर उच्च योगतंत्र और अनुत्तर तंत्र का मानना है कि इंद्रिय दमन के बाद भी उसके फल प्राप्ति की इच्छा अवशिष्ट रह जाने की संभावना

होती है, जो भविष्य में चित्त की चंचलता का कारण बन सकता है। वहीं दूसरी ओर इंद्रियगत लालसाएँ और उसकी प्राप्ति की इच्छाओं के दूरीकरण से कोई भाव अवशिष्ट नहीं रह जाता और साधक को अविचलित मन:शांति की प्राप्ति होती है। एक स्थान पर दमन और अन्य में दूरीकरण को ही प्रकृष्ट उपाय माना गया है।

चण्डाली प्राणायाम के बाद डोम्बी प्राणायाम में निरत होने से और ऑक्सीजन की परिमात्रा में वृद्धि होती है। फलत: दिमाग क्रमश: उत्तेजित और स्थिर हो जाता है।

तेन्तलि : चर्या संख्या 2 में कहा गया है ''रुखेर तेन्तलि कुम्भिरे खाअ।'' वृक्ष की इमली मगरमच्छ खा जाता है। यहाँ इसका अर्थ दिया है ''कुंभक योगाभ्यास के द्वारा संवृत्तिबोधिचित्त नष्ट हो जाती है।''[123] विभिन्न तंत्रों में खासकर योगिनी तंत्र में कामाख्या देवी की जप-माला को मायाबीज के द्वारा गाँथने का निर्देश दिया है। यह मायाबीज इमली का बीज ही है। योगिनी तंत्र के अनुसार ''माया बीजेन देवेशि अष्टम्यां परिपूजयेत।'' आगे कहा गया है ''कल्पवृक्षं ततो गत्वा तिन्तिड़ी संज्ञकं तरूम् योगिनीतंत्रम् (7/118-119)। इसके द्वारा इमली और मायाबीज (ह्रीं) का संबंध स्पष्ट नहीं होता। अष्टम पटल में इन दोनों का संबंध स्पष्ट हो जाता है। कहा है - 'धृत्वा सप्तबीजं वरानने... तिन्तिड़ीकाय वै नम: ॥'' दरअसल मंत्र जप के लिए इमली के बीज की माला का निर्देश देने के लिए यह बात कही गई है। संस्कृत में इमली को 'चंडवृक्ष' भी कहा गया है।[124] चंड का अर्थ है आग। योग तंत्र के एक मुख्य योग का नाम भी चंडयोग है और इसमें चंडाली प्राणायाम का प्रयोग किया जाता है। तिब्बती बौद्ध साधकगण जप करने से पहले इमली की लकड़ी जलाते हैं।[125] इन तीनों अर्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेन्तलि यहाँ बीज तंत्र या जप माला के रूप में आया है।

कुंभीर : कुंभीर का शाब्दिक अर्थ घड़ियाल है। नगेन्द्रनाथ उपाध्याय के अनुसार ''कुंभीर'',

कुंभक समाधि का पर्याय है।'' कुंभक का अभिधेयार्थ घड़ियाल है जो जल में अथवा निम्नचक्र से उत्थित होकर काया वृक्ष में चढ़कर उष्णीष कमल में बोधिचित्त (परमार्थ) को ग्रहण कर लेता है।[126]

मुनिदत्त ने भी अपनी टीका में कहा है कि

''कायावृक्षस्य फलं तदेव बोधिचित्तं चिंचाफलवद्वक्रं।''[127]

हिन्दू तंत्र के अनुसार कुंभीर (मकर) काम का प्रतीक है और वरुण का वाहन है। मनुष्य के देह में जलतत्त्व रूपी स्वधिष्ठान चक्र में उसका निवास है-

''बीजकोषस्य बाह्ये तु बेष्टितं तोयमंडलम्।

प्रमाणं सुंदरं तोयं यथा क्षीरोदसागरम्॥''[128]

''.... अर्द्धेन्दुरूप लसितं शरदिन्दु शुभ्रं वं-कार बीजममलं मकराधिरुढ़॥'' (बगलामुखी तंत्र)

इस चक्र में वास करने वाला मकर ही पुरुष की यौन लालसा को नियंत्रित करता है। इसी कारण कामदेव को मकरध्वज कहा गया है।

कुल मिलाकर द्वितीय चर्यापद में गृहस्थ साधकों से कहा गया है कि दिन भर किये गये मंत्रजप का फल घड़ियाल रूपी काम खा जाता है।

बलद-गविआ : बलद और गविआ का उल्लेख चर्यासंख्या 33 में किया गया है।

बलद बिआएल गविआ बाँझे।

पिटा दुहिअइ ए तिगा साँझे॥

मुनिदत्त के अनुसार-

''बलं मांसदेहंविग्रहं ददातीति बलद॥''

यह आभासत्रय से बोधिचित्त का प्रसव करता है-

''बोधिचित्तं आभासत्रय प्रसूतं'' [129]

''गावीति योगीन्द्रस्य गृहिणी बन्ध्या नैरात्मा''[130]

बलद, साँड या बैल को कहते हैं। उक्त चर्या में इसका प्रयोग साधना में संगम और शक्ति का प्रयोग न करने वाले पितृतंत्र के रूप में किया गया है। गविआ, गाभी या गाय है। इसका प्रयोग साधना में स्त्री शक्ति का प्रयोग करने वाले मातृ तंत्र के लिए किया गया है। ढेंढनपाद के अनुसार यौन संगम में लिप्त न होने वाला पितृतंत्र ही सुफल देने में सक्षम है वही गाय जो दुग्ध, वात्सल्य और स्त्री गुण की प्रतिभू है वह साधक के सामने बंध्या है अर्थात् वांछित फल दे पाने में अक्षम है। कवि का मानना है कि शक्ति तंत्र या मातृतंत्र जहाँ देह का कार्य (क्रिया और निम्न चर्या तंत्र) और यौनाचार (उच्च अनुत्तर तंत्र) को महत्व दिया जाता है वह तंत्र निष्फल है।

हरिणा-हरिणी : चर्या संख्या 6 में हरिण और हिरणी का उल्लेख है-

तिण न छुवइ हरिणा पिबइ न पाणी।

हरिणा हरिणिर निलअ नजाणी॥

विद्वानों के अनुसार हिरण चंचल या संवृत्ति बोधिचित्त का प्रतीक है और हिरणी प्रकृति या प्रभास्वर चित्त की प्रतीक। जब चित्त परित्यज्य विषयासक्ति और प्रातिभासिक ज्ञान को जकड़कर रखता है तब उसे चारों ओर से मुसीबतें घेर लेती हैं। हिरण स्वयं ही अपने मांस का वैरी है अर्थात् उसने अपने चित्त को खुद ही अविद्या से आच्छन्न कर रखा है। वह गुरु के उपदेश रूपी बाण से खुद को प्रहार करता है जिससे चित्त जाग्रत होता है। तब वह विषयासक्ति का परित्याग

कर प्रकृति-प्रभास्वर चित्त (हिरणी) को पाने के लिए व्याकुल हो जाता है। पर वह हिरणी का पता नहीं जानता।''[131]

दरअसल अश्वघोष कृत ''मूलपट्टी संग्रह'' के अनुसार बौद्ध भिक्षु चौदह अपराध या दोषों से ग्रस्त हो सकते हैं। अश्वघोष ने इसकी तालिका भी प्रस्तुत की है।[132]

मूल अपराध में साधना के लिए संगिनी चयन का उल्लेख है, जो केवल अनुत्तर तंत्र के साधकों के लिए ही प्रयोग्य है।[133]

चर्या सं. 6 में जिस हरिण-हरिणी की बात की गई है वह केवल साधक और साधना संगिनी के प्रतीक हैं। अनुत्तर तंत्र के साधकों के लिए श्रावक या मठवासी बौद्ध भिक्षु के साथ सात दिन से अधिक निवास करना निषेध है और यह एक प्रकार का अपराध भी है।

बौद्ध भिक्षु के मठों में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध है, अत: बौद्ध तांत्रिक को मठ में स्थान मिलने पर भी उसकी साधना संगिनी को कहीं अन्यत्र रहने को बाध्य जिसका पता साधकर को नहीं होता है। यहाँ तक कि साधक को भी उसके निवास स्थान का पता नहीं होता।[134]

यदि किसी कारण से कोई महात्मा मठ में आ भी जाए तो उन दिनों मठ में भक्तों की भीड़ रहती है, प्रभूत दान मिलता है और खाद्य संभार भी बढ़ जाते हैं। अत: मठवासी भिक्षु गण महात्मा को कहीं जाने नहीं देना चाहते और उसे शिकारी की तरह घेरे रखते हैं। इसी कारण साधक को हरिण और साधना संगिनी को हरिणी कहा गया है।

कामरूप : कामरूप का उल्लेख चर्या संख्या 2 में मिलता है-

राति भइले कामरु जाअ।

विद्वानों में कामरु को कामपीठ - महासुखचक्र माना है (चर्यापद/डॉ. परीक्षित हजारिका पृ.137)। इस पद के भाष्यकारों के अनुसार ''बहु का मन रात को योनि स्थान की ओर जाता है''

यह एक प्रकार से यौन विकृति का उदाहरण है। यहीं पर ऐसा भी संभव है कि दिवा भाग में सुचेतना (सुसुरा) जाग्रत रहता है और मन सुरतबंध की प्रतिज्ञा से दमित रहता है। परंतु रात्रि के अंधकार में अवदति चेतनाएँ (बहुड़ी) जागरित हो उठती है और काम की अभिलाषा करती है। मुनिदत्त ने बहुड़ी को अवधूतिका कहा है। उनके अनुसार जब श्वास सुप्त होता है तो प्रकृति परिशुद्धा अवधूतिका रूपी योगिनियाँ दिन-रात जगी रहती हैं-

''...प्रकृति परिशुद्धावधूतीरूपेण योगिन्योहप्यहर्निशं जागरणं कुर्वन्ति।[135]

हिन्दू तंत्र के अनुसार मूलाधार चक्र ही कामरूप पीठ है-

.... अग्निचके कामगिर्यालये मित्रीशनाथात्मके रूद्रात्मशक्ति श्री कामेश्वरी देवी श्री पादुकायै नमः इति आधारे।[136]

ललिता सहस्त्रनाम के अनुसार त्रिपुरा सुंदरी के कंठ के निचले हिस्से से कटि प्रदेश तक का शरीर कामबीजात्मक है-

कंठाधः कटिपर्यन्त मध्यकूट स्वरूपिणी।

कालिकापुराण अनुसार कामरूप ही वह स्थल है जहाँ योनि पीठ है-

सत्यास्तु पतितं तत्र विशीर्णं योनिमंडलम्।

शिलात्वमगमच्छैले कामाख्या तत्र संस्थिता॥

(कालिकापुराण 62/77)

योगिनी तंत्र के अनुसार भी कामरूप में ही योनिमंडल है। यहाँ योनि से पाँव तक के अंश को कामरूप बताया गया है।[137]

उल्लेख्य है कि इन प्रतीकों का संधा या संध्या भाषा से कोई सरोकार नहीं है न ही इनमें

गुह्यतम दर्शन की बात की गई है। कवियों ने जो भी समाज में घटित होते देखा उसी को अपने काव्य में ढाल लिया। इनमें से अधिकतर कवि सुशिक्षित भी नहीं रहे होंगे, क्योंकि साधना करने के लिए शिक्षा की अपेक्षा भाव का होना आवश्यक होता है। आद्य शंकराचार्य के लेखों में जिस गहन दर्शन की पराकाष्ठा मिलती है वह कबीर में उपलब्ध नहीं होती। कबीर ने दृश्य जगत् के उदाहरणों द्वारा ही एक सुंदर समाँ बाँधा जिसमें शांकर दर्शन की गहराई खोजना अनुसंधित्सु पात्र के पक्ष में ही उपयुक्त न होगा। अत: जिन शब्दों का प्रयोग चर्यागीतों में किया है उनमें जीवंतता और रसवंतता है उसमें मुनिदत्त द्वारा दर्शन की यथार्थता खोजना अनावश्यक है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जिन प्रतीकों के अस्पष्ट अर्थों को संधाभाषा का हवाला देकर दुरूह, दुर्बोध्य मान लिया गया वे तत्कालीन समाज चित्र को प्रतिभासित करने वाले उपादान मात्र हैं। किसी भी कवि की कृति को समझने के लिए उसके जीवन की पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। चर्याकारों ने दैनन्दिन जीवन से ही प्रतीकों की योजना की। इतना अवश्य है कि अपनी वक्र कथन भंगिमा द्वारा उन्होंने अपने कथ्य को व्यक्त किया। जिसके कारण परवर्ती भाष्यकारों को असुविधा हुई और उन्होंने इसकी भाषा को भी ''आलो आंधारी'' भाषा के साथ मिला दिया जो उपयुक्त प्रतीत नहीं होगा क्योंकि यहाँ के प्रतीकों का संघा भाषा से कोई सरोकार नहीं है।

अलंकार योजना :

विविध विद्वानों ने चर्यापदों की व्याख्या अन्याय रूपों में की परंतु सिद्धाचार्यों ने अपने साम्प्रदायिक तथ्यों की परिपुष्टि के लिए ही इन चर्या गीतों की रचना की थी। प्रत्येक चर्याओं के कथ्य में दुरूह दर्शन या आध्यात्मिक प्रकाश छाया का रहस्य घनीभूत होता है। विद्वानों ने

चर्यागीतों के विश्लेषण द्वारा उसमें श्रेणीद्वंद्व, धनी और दमित वर्गों का संघर्ष, उच्च और निम्न जातियों का विरोध, शोषण, अविचार, क्रोध, जिघांसा, विक्षोभ-जैसे भावों से मुक्त होने की आकांक्षा लिए तृषित जनमानवों के लिए दिग्दर्शन के प्रच्छन्न भावों को उजागर करने का प्रयास किया है। इन सब चर्यागीतों में मूलत: कतिपय आध्यात्मिक आचरण और वर्जनीय साधनापद्धतियों के इंगित हैं एवं इन बातों को समझने के लिए कई प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। स्थान-स्थान पर उपमा, रूपकादि अलंकारों का भी समावेश है। अलंकार यहाँ साध्य नहीं साधन के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। चर्याओं के बहिरंग सौकार्य तथा अंतरंग सौंदर्य विधान की दृष्टि से अलंकारों का उल्लेखनीय स्थान है।

अलंकार काव्य को एक कलात्मक रूप देता है। वह काव्य को अधिकाधिक प्रकाशक्षम, अर्थवाहकता और प्रांजलता प्रदान करता है। संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों ने सामग्रिक रूप से अलंकारों को शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में विभक्त किया है। चर्यागीतों में दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया गया है। शब्दालंकारों में प्रथम अनुप्रास अलंकार है! चर्यागीतों में इसका प्रचुर प्रयोग किया गया है-

आंगन घरपन सुन भो बिआती। (चर्या सं.2/ 'न' का प्रयोग)

कमल कुलिश घांटे करहु बिआली। (चर्या सं.4/ 'क' का प्रयोग)

भवनइ गहन गंभीर बेगें बाही। (चर्या सं.5/ 'ग' का प्रयोग)

तेनिनि ते तिनि हो भिन्ना। (चर्या सं.7/ 'ते', 'तिनि' आदि का प्रयोग)

बाह तो डोम्बी बाह लो डोम्बी बाटत भइल उच्छरा। (चर्या सं.14/ 'बा' का प्रयोग)

सअ सम्वेअण सरुअ बिआँरेते अलक्ख लक्ख तजाइ। (चर्या सं.15/ 'स' का प्रयोग)

आंसू धुनि धुनि निरबर सेसु। (चर्या सं.26/ 'नि' का प्रयोग)

एक शर सन्धानैं बिन्दह परम निबाने। (चर्या सं.28/ 'न्ध' का प्रयोग)

किन्तो मन्तैं किन्तु तन्तैं किन्तु रेझान बखाने। (चर्या सं.34/ 'किन्त' का प्रयोग)

राआ राआ राआ रे अबर राअ मोहेरा बाधा। (चर्या सं.34/ 'रा' का प्रयोग)

इसी प्रकार लगभग सारे चर्यापद अंत्यानुप्रास युक्त हैं-

काआ तरुवर पञ्च वि डाल।

चञ्चल चीए पइठो काल॥ (चर्या.1)

भवनइ गहन गम्भीर बेगें बाही।

दुआन्ते चिथिला माझे न थाही॥

आद्यानुप्रास का प्रयोग-

जिम जिम कारिया।

तिम तिम तथता (चर्या 9)

इसमें प्रथम पंक्ति के जिम-जिम के साथ दूसरी पंक्ति के तिम-तिम के साथ मिलकर आद्यानुप्रास बनता है।

जोसो बुधी जो सो चौर। (चर्या. 33)

शाखि करिब पाखि न राहअ। (चर्या 36)

'जो सो' और 'पाखि', 'शाखि' के प्रयोग से आद्यानुप्रास आया है।

छेकानुप्रास का प्रयोग-

सअ सम्बेअन सरुअ बिआरैते अलकख लक्खण न जाइ। (चर्या. 15)

यहाँ पर ल,क,ख यह एक ही क्रम में एक ही पंक्ति में दो बार आया है जिससे

छेकानुप्रास आया है।

धमन चमन वेनि पाण्डि बइठा। (चर्या.1)

'मन' शब्दों की पुनरावृत्ति के चलते छेकानुप्रास आया है।

यमक:

दशबर रअन हरिअ दश दिसे। (चर्या. 9)

यहाँ प्रयुक्त 'दश' शब्द का प्रथम अर्थ बौधिसत्वों और दूसरा संख्या के लिए आया है।

भाव न होइ अभाव न जाइ। (चर्या. 29)

यहाँ भाव का अर्थ भावना है परंतु अभाव से 'अ' हटा देने पर वह निरर्थक बन जाता है। अत: सार्थक और निरर्थक की पुष्टि करने के कारण यहाँ यमक अलंकार है।

चेअन न बेअन भर निद गेला। (चर्या.36)

यहाँ 'अन'शब्दों से यमक अलंकार बना है परंतु 'चे' और 'बे' को छोड़ देने पर यहाँ चेतना और वेदना अर्थ निरूपित नहीं होते। यहाँ दोनों निरर्थक भावों के प्रयोग से भी यमक अलंकार बनता है।

श्लेष:

सोने भरिली करुणा नावी।

रूपा थोइ नाहिके ठावी (चर्या 8)

यहाँ सोना और रूपा शब्द स्वर्ण और चाँदी के लिए एवं विशिष्टार्थ में शून्यताबोध और रूप जगत का बोध कराते हैं अत: यहाँ श्लेष अलंकार है।

मारिअ सासु ननद घरे साली। (चर्या. 11)

यहाँ साधारणत: सासु, ननद, साली शब्दों से संबंधी विशेष अभिज्ञान होता है साथ ही ये शब्द क्रमश: श्वास, इन्द्रिय और माया के भी प्रतीक हैं। इसी कारण यहाँ श्लेष अलंकार है।

द्रव्य, गुण या क्रिया के संबंध में उद्‌भुत विरोध के चमत्कारिक वर्णन में विरोधाभास अलंकार है। चर्यागीतों में ऐसे अलंकारों का बहुल प्रयोग हुआ है।

जो सो बुधी सोइ निबुधी।

जो सो चौर सोइ साधी॥ (चर्या. 33)

इन अलंकारों के अलावा चर्यागीतों का मूल आधार ही रूपक अलंकार है। इस रूपक के सार्थक प्रयोग द्वारा गीतों में साधना तत्त्व की गहनता के साथ लोकजीवन की प्रकृष्ट सम्पृक्ति भी प्रकाशित होती है। रूपकालंकार की छटा चर्यागीतों के इतस्तत: बिखरी है।

चर्या 1 में मनुष्य या मानवशरीर की तुलना वृक्ष से की गई है-

काआ तरुवर पंच विडाल।

हमारा शरीर वृक्ष है और पंचकर्मेन्द्रियाँ इसकी शाखाएँ हैं। दूसरे चर्यागीत में दुलि, पिटा, इमली, घड़ियाल आदि अन्यान्य प्रतीक रूपक के रूप में आए हैं। यह पद ही अन्योक्तिपरक है। पंचम चर्यागीत में नदी, नदी का कीचड़ भरा किनारा, सेतु आदि प्रतीकों की मदद से रूपक की सृष्टि हुई है। चर्या संख्या 6 में भी हिरण के माध्यम से मठवासी भिक्षु का रूपक प्रस्तुत किया है। सप्तम चर्यागीति में भी कवि कान्हपाद ने रूपक के द्वारा ही अविद्याच्छन्न चित्त का वर्णन किया है। आलि, कालि अर्थात् लोकज्ञान और लोकाभास के कारण जब कवि के निर्वाण प्राप्ति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तो वह गुरु के आशीष से ज्ञान प्राप्त का मुक्ति पाता है।

अष्टम चर्यापद में कंबलांबर पाद ने नौका, वाणिज्यिक पण्य, आदि के माध्यम से रूपकों का निर्माण किया।

चर्या संख्या 15 में शांतिपाद ने समुद्र, नौका एवं चप्पू के द्वारा संसार रूपी समुद्र की गंभीरता समझाने का प्रयास किया है। तत्त्वज्ञान न होने पर संसार के स्वरूप की कल्पना करना असंभव है। गुरु के उपदेश के अलावा संसार समुद्र पार करने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

चर्या संख्या 12 में चौसर के खेल के माध्यम से ही रूपक का चामत्कारिक प्रयोग हुआ है। कवि ने कहा है कि करुणा का मर्दन कर चौसर (साधना) का खेल खेला गया। सद्गुरु के आशीर्वाद से जागतिक आकर्षण को जीत लिया। इसी प्रकार चर्या संख्या 14 में भी ललना रसना नाड़ियों को गंगा यमुना का रूपक दिया गया। इसी के बीच से चंडाली सबको पार लगाती है।

चर्यापदों में प्रसरित केवल कतिपय अलंकारों की ही चर्चा की गई। यहाँ असंख्य रूपकों का प्रयोग किया गया है जिनकी अर्थवाहकता भी समानांतर ही है। जैसे डोम्बी, चंडाली प्राणायाम की प्रक्रिया है, शबरी साधना संगिनी, वृक्ष-काया आदि। भिन्न-भिन पदों में इनका प्रयोग किया गया है फिर भी अभिव्यक्ति के वैचित्र्य ने इनके आकर्षण को बनाए रखा है। रूपकों के प्रयोग क्रम में अकृत्रिम कवि मन का स्पष्ट परिचय मिलता है। चर्याकारों की अभिव्यक्ति या काव्य भंगिमा स्थान-स्थान पर दुरूह था दुर्बोध्य अवश्य बन पड़ा है परंतु इन दुरूह भावों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने किन्हीं अपरिचित वस्तुओं का आलंबन ग्रहण नहीं किया। इसके स्थान पर उन्होंने दृश्य जगत के चतुर्दिक में प्रसरित परिचित वस्तुओं का ही प्रयोग किया है। यहाँ उनका यथार्थवादिता एवं सुगंभीर जीवनबोध का स्वाक्षर सुस्पष्ट हो उठता है।

राग विचार :

चर्यापदों में नारद और शार्ङ्गदेव आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत रागों गूजरी, गउड़ा, धनासिरी, मल्हार तथा भैरव जैसे राग मिलते हैं। चर्याचर्य विनिश्चय में पदों का वर्गीकरण रागों के आधार पर नहीं हुआ है।

यह गीत मूलत: बौद्ध गुरुओं द्वारा दिए गए उपदेशात्मक पद हैं। यह अवसर काल में मनोरंजन के लिए गाए गीत नहीं और न ही भिक्षाटन के समय गाए जाने वाले गीत। वर्तमान चर्यागीतों का संकलन शास्त्रीय गीतों के पदों के रूप में ही किया गया है। वर्तमान चर्यागीतों में एक-एक राग का नाम दिया गया है। इस प्रकार से विविध रागों में निबद्ध चर्यागीतों की सूची इस प्रकार है-

पट मंजरी - 1, 6, 7, 9, 11, 17, 20, 29, 31, 33, 36

गउड़ा - 2, 3, 18

अरु - 4

गुञ्जरी - 5

देवक्री -8

देशाख - 10, 32

भैरवी - 12, 16,19, 38

कामोद 13, 27, 37, 42

धनसी - 14

रामक्री - 15, 50

बराड़ी -21, 23, 34

गुंजरी - 22, 47

शबरी - 26, 46

बलाड्डी - 28

मल्लारी - 30, 35, 44, 45, 49

मालशी - 39

मालशी गबुड़ा - 40

कहु गुंजरी - 41

बंगाल - 43

चर्यागीतों में कुल उन्नीस रागों का प्रयोग किया गया है। तथ्य यह है कि महासिद्ध नारोपा हो या मिलारेपा या लुइपा कोई भी शास्त्रीय संगीत की शिक्षा से अवगत नहीं थे। कहीं भी इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।[138] राग भैरवी, मल्लारी, कामोद आदि केवल शास्त्रीय संगीत में प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति ही शुद्ध रूप से गा सकता है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी समय राजा, जमींदार के बैठकों या धर्म सभा के गायकी बैठकों में प्रशिक्षण प्राप्त संगीतज्ञों द्वारा गाए जाते थे। स्थवीरवादी बौद्ध भिक्षुओं और गृहस्थों के लिए भी नृत्य-गीत के उत्सव में भाग लेने की मनाही थी।[139] इनकी अपेक्षा महायानी लोग थोड़े उदार अवश्य थे परंतु ''नृत्य गीत'' बौद्ध तांत्रिकों की शिक्षा का अंग नहीं था।

हरप्रसाद शास्त्री द्वारा आविष्कृत पांडुलिपि में एकादश चर्या के बाद ''सुनेत्यादि चर्याया व्याख्या नास्ति''वाक्य से यह प्रमाणित होता है कि अनुलिपिकार व्यक्ति ने मुनिदत्त की टीका

और चर्यागीत किन्हीं दो भिन्न-भिन्न ग्रंथों को देखकर प्रतिलिपि प्रस्तुत की होगी। द्वितीयत: वर्तमान प्रतिलिपि में प्रत्येक पद के अंत में 'ध्रु'अर्थात् ध्रुवपद जिसके द्वारा उस वाक्य को पुन: गाने का निर्देश दिया गया है। वहीं दूसरी ओर मुनिदत्त की टीका के केवल दो चर्याओं में ही ध्रुवपद है।[140] सिद्ध तिल्लोपा ने अपने उपदेश गीति के रूप में दिए थे परंतु वहाँ पुन: गाने वाले किसी ध्रुवपद का उल्लेख नहीं है। मिलारेपा के गीतों में भी यही लक्षण देखा जा सकता है। अत:यह माना जा सकता है कि अधिकांश मूलचर्याओं में ध्रुवपद नहीं रहे होंगे। इससे यह स्थिर होता है कि बौद्ध दोहे और चर्यागीतों का स्तर एक समान नहीं है। बौद्ध दोहे सामूहिक रूप से कीर्तन के रूप में गाए जाने वाले गीत रहे होंगे। परंतु चर्यागीतों का गायन कालचक्र अनुष्ठान में प्रशिक्षित संगीतज्ञ ही अभिज्ञ श्रोताओं के सामने गाते थे। बौद्ध धर्म के पतन के बाद हिन्दुओं ने संगीत की आवश्यकता को स्वीकार किया।[141]

मुनिदत्त के भाष्य से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि चर्यागीतों के आध्यात्मिक दिक् की ओर भी ध्यान दिया जाता होगा। परंतु इन गीतों को मुख्यत: श्रवण के लिए संकलित किया गया होगा पठन के लिए नहीं अन्यथा वहाँ प्रत्येक पृष्ठ में व्याकरण और वर्णलिपिगत गलतियाँ न होतीं।

चर्यागीत संग्रह जरूर पूर्व और पूर्वोत्तर भारत में जनप्रिय रहे होंगे अन्यथा इनकी एकाधिक प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत न की जाती एवं उनका तिब्बती भाषा में अनुवाद भी नहीं हुआ हाता।

ऐसा लगता है चर्यागीतों को गाने के निर्दिष्ट पारम्परिक सुर रहे होंगे। पर बाद में और गढ़ा गया (Fabricate) होगा। बाद में इनको शास्त्रीय रागों के साथ जोड़ा गया होगा और इन्हें नए स्वर दिए गए होंगे। नए स्वर देने के क्रम में कहीं-कहीं छंद में बाधक बने शब्दों को तोड़ा

या जोड़ा गया होगा। इन चर्याकारों में कई तो संस्कृत के विदग्ध विद्वान थे इनमें आर्यदेव, लुइपा, सरहपा, शांतिपा आदि प्रमुख हैं। ये विश्व विश्रुत बौद्ध दार्शनिक और तार्किक रहे थे। परंतु इनमें कई अशिक्षित लोग भी रहे होंगे उसमें कोई दो राय नहीं। पंडितों के लिए यदि मान भी लिए जाए कि उन्हें संस्कृत काव्यशास्त्र का ज्ञान था या संगीत शास्त्र से अभिज्ञ थे। परंतु निरक्षर लोगों के विषय में क्या कहा जाए? उनको संगीत शास्त्र का ज्ञान कहाँ मिला होगा? यह तो अवश्य ही है कि सिद्ध आचार्यगण स्वभावत: कवि थे। उनकी लिखी कविताओं के मर्म और गांभीर्य को समझकर शास्त्रीय स्वरों में बाँधा होगा।

धार्मिक गीत होकर भी चर्यागीतों में समाज के चित्र भी हैं। सामाजिक जीवन का हर्ष-रुदन, सुख-दुख आदि का परिदृश्य यहाँ विद्यमान है साथ ही इन अनुभूतियों का अपना छन्द है, अलंकार, प्रकाश भंगिमा और सुललित राग है। चर्यागीतों की रचना एक नितांत ही निम्नस्तर के समाज में हुई। पर ये उच्छृंखल वाक्यों की समष्टि नहीं बल्कि इसमें सुविन्यस्त शिल्पबोध का समीचीन परिचय वर्तमान है। इसी अभिव्यक्ति में रागों का माधुर्य और लावण्यमयी छटा बिखरती है।

छंद योजना :

प्राण-गंगा के लहर-लहर में ध्वनि की लहर उठती है। इन्हीं ध्वनियों के सम्मेलन से छन्द की उत्पत्ति होती है। ध्वनि का ऐक्य ही छन्द को प्राणवंत करता है। या यूं कहें कि पद चयन का लालित्य ध्वनि-लहर के माधुर्य के फलस्वरूप छंद की उत्पत्ति हुई है। यह हृद्स्पंदन की अभिव्यंजना है। ध्वनि का ऐक्य और वैचित्र्य का सौषम्य ही छंद का मानदंड निर्णय करता है।

चर्यापदों के छांदसिक विश्लेषण के लिए वैदिक छन्दों को परखना भी आवश्यक है।

त्रिष्टुभ, गायत्री, जगती, अनुष्टुभ और विराज आदि वैदिक छंद है। उल्लेख्य है कि संस्कृत के अनुष्टुभ छन्द से ही चर्यापदों के विविध छन्दों का विकास है। परवर्ती काव्य साहित्य में भी अनुष्टुभ छन्द का स्पंदन देखा जा सकता है।[142]

अनुष्टुभ छन्द का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें चार पद होते हैं। प्रत्येक चरण में आठ अक्षर (syllable), और चतुर्थ अक्षर के बाद यति आता है। यह लघु-गुरु स्वरों का सुविन्यस्त ध्वनि-स्पंदन पर निर्भर है। यह ध्वनि स्पंदन तीन प्रकार के हैं- समवृत्त, अर्द्धसमवृत्त और विषमवृत्त। अनुष्टुभ छन्द समवृत्त के अंतर्भुक्त है। छांदसिक विद्वान गंगादास के अनुसार-

पंचम लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयो।

गुरु षष्ठं जानीयात् शोषेस्वनियमो मतः ॥[143]

अर्थात् प्रत्येक पाद का पंचम अक्षर लघु और षष्ठ अक्षर गुरु, द्वितीय-चतुर्थ पाद का सप्तम अक्षर भी लघु होता है। और बाकी नियम स्वयं पर निर्भर है। प्रसंग क्रम से कहा जा सकता है कि वैदिक छन्द अक्षर वृत्त ही थे, मात्रावृत्त नहीं।

अपभ्रंश छन्दों में मात्रावृत्त छंदों के लक्षण परिलक्षित होती हैं। युग्म और अयुग्म ध्वनियों की मात्राओं का संस्थापन ही इसका मूल सिद्धांत है। आमतौर पर युक्त व्यंजन (compound sound) में दो मात्रा और अयुक्त व्यंजन या अयुग्म ध्वनि में एक मात्रा माना जाता है।

मात्रावृत्त छन्द के प्रसंग में प्रत्नरीति की चर्चा आवश्यक है। इस रीति में मौलिक स्वरांत अयुग्म ध्वनियों के दीर्घ वर्णों को संस्कृत के आधार पर गुरु अक्षर के रूप में लिया जाता है। युक्त व्यंजन (conjunct consonant) और यौगिक स्वर (diphthong), जैसे - आ, ई, ऊ, ए और ओ को दीर्घ मात्रा के रूप में लिया जाता है। विद्यापति की रचना में प्रत्नमात्रा वृत्त का उदाहरण मिलता है-

हा थॅ कॅ दॅ रॅ पॅ णॅ / मा थॅ कॅ फुॅ लॅ।

नॅ यॅ नॅ कॅ अ ञ् जॅ नॅ/मुॅ खॅ कॅ ता म्बु लॅ॥

जयदेव के गीत गोविन्द और अधिकांश अपभ्रंश काव्य में भी प्रत्नमात्रा वृत्त का परिचय मिलता है-

सॅ मो हॅ कॅ न्ता / दूॅ रॅ दि गॅ न्ता

पा उॅ सॅ आ ए/ चे उॅ चॅ ला ए

चर्यागीतों के छन्द सज्जा में मात्रावृत्त तथा प्रत्नमात्रा वृत्त छंद का निर्माण परिदृष्ट होता है। उदाहरणार्थ-

का आ तॅ रुॅ वॅ रॅ / पॅ ञ्चॅ वि डा लॅ ॅ।

च ञ्चॅ लॅ ची ए / पॅ इॅ ठो का लॅ ॅ ॥

उल्लेख्य है कि मात्रावृत्त छन्द में मौनमात्रा और अंत्यस्पन्द रीति का निर्माण भी परिलक्षित होता है। इसलिए उपर्युक्त चर्या में अक्षर दृश्यतः न होकर भी वहाँ मौनमात्रा अनुभूत होता है।

अ म्मे णॅ जा नॅ हु / अॅ चि न्तॅ जो इॅ -।

जा मॅ मॅ रॅ णॅ भॅ वॅ / कॅ इॅ सॅ णॅ हो इॅ- ॥

उपर्युक्त अपभ्रंश छन्द की चर्चा के क्रम में डा. सुकुमार सेन ने कहा कि गाहा (गाथा) और दोहा छन्द के अलावा प्रायः सभी अपभ्रंश छन्द ही चतुष्पदी हैं। इसके प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ पादों में मेल है अर्थात दो द्विपादों की समष्टि है। अपभ्रंश छंद में मात्रा की संख्या पाद विशेष के आधार पर 11, 12, 13, 14, 15 इत्यादि पाए जाते हैं। इन्हें क्रमशः दोहा, जगती,

अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी के रूप में जाना जाता है। (चर्यापद/परीक्षित हजारिका/ पृ.116)

डॉ. सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय के अनुसार - "couplets in the vernacular or Apabhransa were known as < pada > in old Bengali, as we can see from the sanskrit commentary to the cahryas"[144]

चर्यागीति के ग्रंथों में पूर्णांग गति का बोध कराने के लिए चर्यापद शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। चर्याओं की टीका के जो अन्य ग्रंथ उपलब्ध हैं वहाँ चर्या या चर्यागीति शब्द का उल्लेख मिलता है।[145]

द्वादश शताब्दी में संकलित मानसोल्लास नामक ग्रंथ में चर्या के लक्षण उद्धृत है-

अर्थश्चाध्यात्मिकः प्रासः पादद्वितयशोभनः।

उत्तरार्द्धे भवेदेवं चर्या सा तुनिगद्यते॥

जिसमें अध्यात्म विषयक अर्थ हो, दूसरे व तीसरे पाद में मोल हो उसी को चर्या कहते हैं।[146]

तत्कालीन सांगितिक विश्व में भी चर्यापदों का विशिष्ट स्थान था। त्रयोदश शताब्दी के आरंभ में शार्ङ्गधर रचित संगीत रत्नाकर में गायन की एक विशिष्ट श्रेणी के रूप में चर्या का उल्लेख मिलता है। शार्ङ्गधर ने संगीत रत्नाकर के प्रबंध अध्याय में चर्या का वर्णन इस प्रकार किया-

पद्धड़ी प्रभृतिच्छन्दाः पादान्तप्रासशोभिताः।

अध्यात्मगोचरा चर्या स्याद् द्वितीयादि तालतः॥

जो पद पद्धड़ी अर्थात् पज्झटिका छंद में गठित एवं पदों में अंत्यानुप्रास युक्त चरण हो, जिसमें अध्यात्म विषयक चर्चा हो वही चर्या है।[147] सत्यव्रत डे के अनुसार चर्यागीतों में छन्दशैथिल्य दृष्टिगोचर होता है, उनके अनुसार लिपिकार को भी छंद से संबंधित ज्ञान नहीं था जिस कारण यहाँ छन्दों की पूर्णता दृष्टिगत नहीं होती। वहीं उन्होंने कतिपय छन्दों के नैपुण्य और गठन शैली की भूरि प्रशंसा भी की है।[148]

चौपाई छन्द अर्वाचीन अपभ्रंश में बहुल व्यवहृत छंद था जिसे 'चतुष्पदी' छन्द भी कहते हैं। यह वैदिक छन्द अनुष्टुभ आदि के प्रभाव से उद्भावित हैं। चर्यागीतों के कई पद इन चतुष्पदी छन्दों में रचित है जैसे-

निते निते षिआला / षिहे षम जुझअ।

ढेन्ढनपाएर गीत / बिरलैं बुझअ॥

पटमंजरी, बराड़ी, मल्लारी, मालशी, कामोद आदि विभिन्न रागों का निर्देशन चर्यापदों में दिया गया है। चर्यापदों में पयार छन्द की झंकार भी सुनाई पड़ती है। मात्रा संकेत 8+6। इसे दो पंक्तियों में लिखा जाता है। अष्टक (octave) और (sestelle) के बाद यति आता है। उदाहरण के लिए-

नगर बाहिरि रे डोम्बि/तोहोरि कुड़िया।

छइ छोइ जाइ सो/ब्राह्म नाड़िआ॥

× × ×

तइला बाड़िर पासैं र / जोह्ना बाड़ी उएला।

फिटेलि अन्धारि रे/ अकाश फुलिया॥

चर्यापदों में एक ओर दार्शनिक तत्त्व हैं तो दूसरी ओर गीतात्मक सुर और छंद की झंकार है। भाव के प्रभाव से उद्वेलित शब्दों के कारण इन पदों में छांदसिक सीमाबद्धता माना नहीं गया। इसी कारण चर्यापदों को स्थूल रूप से पयार छंद में रचित भी कहा नहीं जा सकता। एक ही पद में विविध छंद भी मिलते हैं। हर क्षेत्र में अक्षर-समता की रक्षा नहीं हो पाई है। उल्लेख्य है कि समस्त चर्यापद मित्राक्षर रीति के मात्रावृत्त रक्षा नहीं हो पाई है। उल्लेख्य है कि समस्त चर्यापद मित्राक्षर रीति के मात्रावृत्त छन्द में रचित है।

अनुष्टुभ, पादाकुलक और पयार छन्दों के अलावा संस्कृत जाति छन्द की गूँज भी सुनाई पड़ती है। इस छन्द रीति में प्रत्येक पद का दैर्घ्य सुनियंत्रित और ध्वनि अथवा अक्षरों का मात्रा-निर्देशन सुपरिमित रूप से विन्यस्त है। जैसे-

2 2 2 2 2 1 1 1 1 1 1 1 1 1 2 2 2

उ ञ्चा उ ञ्चा / पा व त तँ हि / व स इ स ब री / बा ली।

2 1 2 2 2 1 1 1 1 1 1 2 1 1 1 2 1 2 2 2

मो र ङ्गी पी च्छ / प र हि ण स ब री / गि व त गु ज री / मा ली॥

इसमें आचार्यों ने संस्कृत के जातिछन्द का हुबहू अनुकरण न कर मात्रावृत्त छन्द का ही प्रयोग किया है।

चर्यापदों के रूप सज्जा में पयार छंद का प्रयोग भले ही हुआ हो तथापि विभिन्न छंदों का प्रयोग भी खुलकर हुआ है। उदाहरण के लिए उपर्युक्त छंदों को त्रिपदी छंद में भी लिखा जा सकता है, जैसे-

उञ्चा उञ्चा पावत तँहि

बसइ सबरी बाली।

मोरङ्गी पीच्छ परहिण सबरी

गिवत गुंजरी माली॥ चर्या-28

चर्यापदों को देखने पर यह सहज अनुमेय है कि यह परवर्ती गीति काव्यों की जननी है। आठवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच उद्भावित चर्या छंद का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव सम्पूर्ण उत्तरी और पूर्वोत्तरी साहित्य पर पड़ा।

ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक छंदों के आधार पर गाहा, दोहा, चौपाई आदि अपभ्रंश छंदमाला के द्वारा चर्यापद के छंदों ने एक निजस्व रूप वहन किया है। सभी प्रकार के परिवर्तनों क पीछे मौलिक प्रयोग की चेष्टा परिलक्षित होती है। चर्या के छंद और परवर्ती छंद सज्जा के विषय में भी यही कथन पुष्ट होता है। गाणितिक पद्धति से गणना करने पर यह देखा जाता है कि सभी चर्यापदों में अक्षर या मात्रा की यथायथ समानता नहीं रहती। चर्यागीत मुक्तक शैली में लिखित है। कतिपय चर्याओं में 10 तो कहीं 14 पंक्तियों का समावेश है या उससे भी कमोबेश पंक्तियाँ हैं इसी प्रकार अक्षर या मात्रा की गणना में भी न्यूनाधिकता देखी जा सकती है। संभवत: कम शब्दों में अधिक अभिव्यक्ति या भाव प्रकाशन की प्रवृत्ति के कारण अक्षर समता और मात्रा-ऐक्य की त्रुटि रह गई है। इसी कारण पंक्तियों की संख्या में भी अंतर आया है। उल्लेख्य है कि चर्यापद साधनात्मक गीत हैं जिनमें वैयाकरणिक या छांदसिक महत्त्व की अपेक्षा रचनाकारों के कथ्य और भाव को अधिक महत्त्व दिया गया है। यदि ऐसा न होता तो पाणिणी, पतंजलि, दंडी, वामन, रुद्रट, हेमचंद्र आदिक पूर्ववर्ती वैयाकरणिकों का प्रभाव दोहा

के रचनाकारों पर अवश्य पड़ता। बौद्ध सिद्धाचार्यों ने अपने मत के प्रचार के क्रम में काव्य रचना की जो धारा बहायी उसी अंतर्धारा में छंद व्यंजना का प्रस्फुरण भी चमत्कार ही है।

छंदों के विकास क्रम के आनुक्रमिक धारा में चर्यापदों ने परवर्ती प्रदेशिक काव्यधारा को भी विपुल रूप में प्रभावित किया। छंदों की वंश लता में ये पद अनायास ही आत्मीयता के सूत्र से बँध सकते हैं।

संदर्भ :

1. ब्राह्मण, लीलाधर दु:खी, पृ.109
2. An Introduction to Buddhist Esoterism, विनयतोष भट्टाचार्य, भूमिका, पृ.3
3. वही, पृ.9
4. वही
5. वही
6. वही
7. ब्राह्मण, लीलाधर दु:खी, पृ. 109
8. वही
9. वही
10. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर, पृ.216
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ. रामचंद्र शुक्ल, पृ.12
12. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 305
13. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, डॉ. सत्यदेव चौधरी, डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ. 34
14. देवी, निर्मल प्रभा बरदलै, पृ. 27
15. महानिर्वाणतंत्रम, पंचमोल्लास, 113-115 श्लोक

16. ललिता सहस्त्रानाम, 81
17. ललिता सहस्त्रानाम, 34, 35
18. शारदातिलक तंत्रम् द्वितीय पटलः, श्लोक-1
19. नीलतंत्रम्-सप्तदश पटलः, 19 श्लोक
20. साधना माला, प्रथम खण्ड, पृ.214
21. आर्य जांगुली साधनम्, साधनमाला, प्रथम खंड, पृ.253
22. Manuscript Remains of Buddhist Literature, A.F. Ruddf Hoernle, A.D. Orientem Ltd Amsterdam, 1970, Pg.148
23. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, डॉ. सत्यदेव चौधरी, डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ. 99
24. वही, पृ. 100
25. चर्यागीतिका, पृ.30-31
26. चर्यापद, डॉ. परीक्षित हजारिका, पृ.156
27. चर्यापद, यतीन्द्र मजुमदार, पृ. 29
28. Comprehensive History of Assam, H.K. Barpujari, Pg. 225
29. वही, पृ. 243
30. अम्बेडकर रिसर्च फाउंडेशन के वेबसाइट से संग्रहित
31. चर्यापद, दिलीप बोरा, पृ.30
32. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, प्रणव ज्योति डेका, पृ.43
33. वही, पृ. 46,47
34. चर्यागीति, नीलरतन सेन, परिशिष्ट, पृ.171
35. चर्यागीति आरु बौद्धतंत्र, प्र.ज. डेका, पृ. 23
36. वही, पृ. 29
37. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ.97
38. वही, पृ.79
39. प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि, पृ.23, सूत्र - 31, Two Vajrayana Works Gacwads Oriental Series, Baroda 1970.

40. An Introduction to Buddhist Esoterism,Bianoytosh Bhattacharajee, पृ. 34
41. वही, पृ.32-35
42. वही, पृ.36
43. वही, पृ. 38
44. ज्ञानसिद्धि, पृ.18, श्लोक-22, Two Vajrayana Works Gacwads Oriental Series, Baroda 1970
45. वही, पृ.27
46. An Introduction to Buddhist Esoterism,Bianoytosh Bhattacharajee, पृ. 37-42
47. वही, पृ.37
48. Obscure Religious cults, Shashibhushan Dasgupta, पृ.59
49. 2500 Years of Budhist M.V. Guenther, Page 376, , New Delhi 1956
50. Introduction to the Buddhist Tantric system, Lessing and Wayman , pg. 36
51. श्रीश्री दशमहाविद्यातत्त्व रहस्य, परमानंदनाथ भैरवगिरि, पृ.10
52. चर्यागीत आरु बौद्ध तंत्र, प्रणवज्योति डेका, पृ.52
53. The Majjhima Nikaya,Ed J. Kashyap, पृ.-8 The Vinaya,नालंदा, 1958
54. Introduction to the Buddhist Tantric system, Lessing and Wayman, pg 201
55. दोहाकोष,प्र. बागची, पृ.31
56. वही, पृ. 96
57. सिद्ध साहित्य,धर्मवीर भारती,पृ.138
58. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य,नागेन्द्रनाथ उपाध्याय,पृ.366
59. वही,पृ.375
60. वही पृ. 376
61. The Indian Buddhist Iconography,Binoytosh Bhattacharya - Firma

KLM,Pg. 310-12

62. चर्यागीत और बौद्धतंत्र, प्रणवज्योति डेका, पृ.285

63. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ.377

64. सौंदर्यलहरी -1श्लोक, संपा: तपस्यानंद, अद्वैत प्रकाशन, मद्रास,1992

65. दशमहाविद्या रहस्य,परमानंदनाथ भैरव, पृ.51

66. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, प्र.डेका, पृ.232-233

67. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ. 200-201

68. Buddhist hybrid Sanskrit Grammer & Dictionary-Franklin Edgerton - Motilal Banarasidass, 1970, Delhi.

69. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ.112-113

70. वही

71. Introduction to the Buddhist Tantric system, Lessing and Wayman, Pg.181

72. वही, पृ.123

73. यह अध्याय डॉ. प्रणव ज्योति डेका (आचार्य, गुवाहाटी वि.वि. भूविज्ञान विभाग, अवसर प्राप्त) से हुए साक्षात्कार के आधार पर लिखा गया।

एलेक्स पार्दो (मत में दीक्षित) के मत भी यहाँ यथास्थान रखे गए।

74. सरहपादस्यदोहा कोष:, बागची, दोहाकोष, पृ. 109

75. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ.192

76. वही

77. प्रेमपंचक, अद्वयवज्र संग्रह, पृ.58

78. दोहकोशगीति, एच.सी. भयानी, पृ.प. दोहा सं.28

79. डॉ. प्रणव ज्योति डेका के उद्‌गार

80. सिद्ध साहित्य,भारती,पृ. 197

81. वृहद् तंत्रसार,रामकृष्ण न्यायवागीश, पृ.231, वसुमती प्रकाशन,कलकत्ता

82. चर्यापद,परीक्षित हजारिका, पृ.188

83. बौद्धगान ओ दोहा,शास्त्री, पृ.6 मुखबंध

84. Materials for a critical of the old Bengali caryapada — Journal of Deptt. Letters Vol xxx. Calcutta University. 1938

85. चर्यागीति पदावली, सु. सेन, पृ.30

86. वही

87. Buddhist Iconography. Benoytosh Bhattacharyya, Pg. 247

88. चर्यागीत पदावली, नीलरतन सेन, परिशिष्ट

89. वही, पृ. 15

90. सौम्येन्द्र सरकार, चर्यागीति कोष, पृ.23

91. चर्यागीति पदावली,नी.सेन,परिशिष्ट

92. 2500 years of Buddhism Pg.117-18

93. Thanka published. Tibetan medical and Astro-Patryl Rinpoche-1994. Vistaar Pub.,New Delhi

94. चर्यागीति पदावली,नी.सेन,परिशिष्ट

95. Buddhism in Tibet - E Schlagintwett,Book faith,India,P-228

96. Introduction to the Buddhist Tantric system, Lessing and Wayman, Pg. 251-259

97. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, प्र.डेका,पृ. 47

98. Introduction to the Buddhist Tantric system, Lessing & Wayman Pg.227

99. वही

100. (D.J. suzuli) Mysticism Christian and Buddhist, pg. 37

101. Introduction to the Buddhist Tantric system, Lessing & Wayman Pg.230

102. वही

103. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डा. प्रणव ज्योति डेका, पृ.97

104. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, 215

105. Introduction to the Buddhist tantric system, Lessing & Wayman, pg.229

106. वही, पृ.219
107. वही
108. बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ.282-83
109. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणवज्योति डेका, पृ.20-21
110. चर्यागीतिर भूमिका (बंगला), पृ. 159-160
111. The Buddhist Tantras, Alex Wayman, Pg.130
112. वही, पृ. 1131,132
113. पृ.130
114. गुप्त जी अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कला संकाय के अवसर प्राप्त डीन हैं। उनसे साक्षात्कार के आधार पर यह बात कही गई
115. An introduction to Buddhist Tantric system, Lessing and wayman, pg-29-35
116. वही, Pg. 216
117. Buddhism in Tibet E. Schaginatwelt- Pg- 241
118. Origin and development of Bengali language, pg. 878
119. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ.129
120. चर्यागीत आरु बौद्ध तंत्र, प्रणव ज्योति डेका, पृ.68
121. The Indian Buddhist Iconography-B. Bhattacharya, page 312
122. वही, P.175
123. चर्यागीत परिचय, सुव्रत डे, पृ.117
124. नालंदा - विशाल शब्द सागर, पृ.351
125. Buddhism in Tibet, E. Schlagintwelt" P. 228
126. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ.128
127. चर्यागीतिकोश, नीलरतन सेन, चर्या. सं. 2, पृ.7
128. प्राणतोषिणी तंत्र, पृ.442
129. चर्या गीति कोश, नीलरतन सेन, पृ.110
130. वही

131. चर्यागीति परिचय, पृ.127, डॉ. सुव्रत डे

132. Buddhism : T.W. Rhys Davids, Indological Book House, Varanasi 1973, पृ.142

133. lessing wayman, pg.328-329

134. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डा. प्रणव ज्योति डेका, पृ.133-134

135. चर्यागीतिकोश, परिशिष्ट

136. तंत्रसारः, पृ.270, वसुमती साहित्य मंदिर, एकादश संस्करण

137. योगिनी तंत्रम्,पृ.80, प्रकाशकः दत्त बरुवा, यहाँ कामरु शब्द कामेच्छा के लिए ही आया है

138. Entering the stream - Editor : Samuel Bercholz & Sherab Chedzin kohn - 1994 Random House London, पृ. 72

139. 2500 years of Buddhism. Govt. of India, 1956 chapter vi

140. चर्यागीति पदावली, सुकुमार सेन, पृ. 17

141. चर्यागीत आरु बौद्ध-तंत्र, डॉ. प्रणव ज्योति डेका, पृ.7

142. चर्यागीत, परीक्षित हजारिका, पृ. 112

143 वही

144. Origin and Development of Bengali Language, p.288

145. चर्यागीति परिचय, डॉ. सत्यव्रत डे, पृ.88

146 वही, पृ. 34

147. वही, पृ.35

148. वही, पृ.38

अध्याय-3

आदिकालीन साहित्य पर प्रभाव

अध्याय-3

आदिकालीन साहित्य पर प्रभाव

सामान्य उपस्थापन :

काल की गति को रुद्ध करने की शक्ति किसी में नहीं तथापि वैयाकरणिक इसे त्रिखंडीकृत कर चुके। व्याकरण की अवधारणा में काल भले ही त्रिधा विभक्त हो पर वह सद्योजात है। अपनी सुविधा के अनुसार इतिहासवेत्ता ज्योर्तिविज्ञानी भी इस काल को युग, कल्प आदि बहुधा भागों में विभक्त कर चुके हैं। साहित्य के इतिहास में साहित्यिक प्रवृत्तियों, युगीन उपलब्धियों, भाषीय विकास, परिवर्तित मानसिकताएँ, समाज विवर्तन और सामाजिकों के रुचिबोध के अनुसार कवियों की लेखनी ने भी रूप बदला भोजपत्र, लेखनी और मसि से आरंभ हुए साहित्य का विकास कंप्यूटर युग तक हुआ। यही साहित्य का इतिहास है। विद्वानों ने भाषा को आधार मानकर युगीन परिस्थितियों के पदचाप को सुनते हुए साहित्यिक युगों का विभाजन किया है।

हिन्दी साहित्य के कालविभाजन का प्रश्न बड़ा ही विवादास्पद है। डॉ. भोलाशंकर व्यास ने हिन्दी की उपरितम सीमा हेमचन्द्र को मानने की राय दी है, उनके अनुसार हेमचंद्र अपभ्रंश युग के अवसान और हिन्दी के उदयकाल के सूचक हैं। उनके विचार से हेमचंद्रोत्तर अपरिनिष्ठित अपभ्रंश को परिनिष्ठित अपभ्रंश से अलग करने के लिए 'अवहट्ठ' नाम देना उपयुक्त होगा। अत: 11वीं शताब्दी से ही हिन्दी साहित्य का आरंभ मानना उपयुक्त होगा। वे स्वयंभू, पुष्पदन्त, सरह और कान्ह को हिन्दी के कवि नहीं मानते।[1] यद्यपि अपभ्रंश अपने मूल रूप में ही पंद्रहवीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा बनी रही तथापि आठवीं शताब्दी से

ही बोलचाल की भाषा पृथक होकर उसके समानान्तर साहित्य-रचना का माध्यम बन गयी थी। इसी भाषा को कुछ विद्वानों ने 'उत्तर अपभ्रंश' या पुरानी हिन्दी कहा है और कुछ विद्वानों ने 'अवहट्ठ' नाम दिया है। परंतु वास्तविकता यह है कि वह भाषा हिन्दी है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी पहले विद्वान हैं जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी कि 'उत्तर अपभ्रंश ही पुरानी हिन्दी है।'[2] राहुल सांकृत्यायन और डॉ. नगेन्द्र ने इसी आधार पर सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि माना है, जो चौरासी सिद्धों में एक थे।

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सातवीं शताब्दी में उत्पन्न पुष्य या 'पुण्ड' नामक एक अख्यात कवि को हिन्दी का प्रथम कवि माना, परंतु उक्त कवि की कोई भी साहित्यिक रचना उपलब्ध नहीं हुई।[3]

उल्लेख्य है कि सरहपाद के काव्य में प्रयुक्त अपभ्रंश का स्वरूप साहित्यिक नहीं है वरन् वह बोलचाल की भाषा है यही आरंभिक हिन्दी है। उनके काव्य में वर्णित विषय और चेतना में हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के परिपक्क्व बीज संवलित हैं। चौरासी सिद्धों की काव्य चेतना और तात्त्विक विचार नाथ सम्प्रदाय के काव्य में अंतर्निहित होकर एक नव्य प्रेरणा का प्रस्फुरण करता है जो भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। सिद्ध साहित्य का विकसित रूप ही मानो संत साहित्य है जिसके मूर्धन्य कवि कबीर माने जाते हैं। सरहपाद के काव्य में प्रकाशित यौगिक साधना कबीर के काव्य में ही पुष्पित पल्लवित होता दृष्टिगोचर होता है। साहित्यिक अपभ्रंश में जो साहित्य विकसित हुआ उस पर सरहपाद का उतना प्रभाव नहीं है जितना नाथ-साहित्य और संत-साहित्य पर है। साथ ही सरहपाद ने दोहा और पदों की शैली अपनी कविता में प्रयुक्त की है। यह शैली उनके बाद सभी हिन्दी कवियों ने परम्परा के रूप में अपनायी है। हिन्दी-मुक्तक काव्य में दोहा सर्वप्रिय छंद रहा है।

आदिकालीन साहित्य :- (साहित्यिक रूप)

विद्वानों ने आदिकालीन साहित्य को मूलत: दो भागों में विभक्त किया है (क) जैन अपभ्रंश साहित्य और (ख) जैनेतर अपभ्रंश साहित्य। जैन साहित्य भी द्विधा विभक्त किया जा सकता है-

i. प्रबंध काव्य ii. आध्यात्मिक या रहस्यवादी काव्य। प्रबंध काव्य के भी दो भाग हैं- (अ) पुराण साहित्य और (आ) चरित साहित्य या कथा साहित्य। जैनेतर साहित्य को दो भागों में बाँट सकते हैं- i. बौद्ध दोहा और चर्यापद ii. अपभ्रंश के शौर्य और श्रृंगारपरक मुक्तक काव्य।

क. जैन अपभ्रंश साहित्य

क. प्रबंध साहित्य : जैन साधुओं ने राम, कृष्ण तथा अन्य देवी देवताओं से संबद्ध रचनाओं विशेषकर वाल्मीकीय रामायण और व्यासकृत महाभारत की घटनावलियों के आधार पर कई प्रबंध काव्यों की रचना की जिनमें मूल घटनाओं को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया गया। उदाहरण स्वरूप स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' और 'महापुराण' जो कि रामायण के आधार पर लिखे गए थे। इनकी एक और कृति 'हरिवंश पुराण' (रिट्ठणेमि चरिउ) है जो महाभारत के आधार पर रचित है। कवि पुष्पदंत कृत 'महापुराण' (विसट्ठिगुणालंकार) में 11 संधियों में रामकथा वर्णित है। कवि रइधू ने 'पद्मपुराण' या बलभद्र पुराण नाम की रचनाएँ लिखीं।

ख. चरित साहित्य या कथा साहित्य: जैन रचित-काव्य मुख्यत: धार्मिक प्रसंगों के आधार पर रचित हैं परंतु कुछ चरित काव्यों में तत्कालीन महापुरुषों व राजाओं के जीवन चरित की व्याख्या है। उदाहरण स्वरूप- जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, जंबूसामि चरिउ, पउमसिरी चरिउ, पास चरिउ, सुकुमाल चरिउ इत्यादि। वस्तुत: ये कृतियाँ एक प्रकार का ज्ञानकोश हैं, जिनमें ज्ञान भरा है। साथ ही इनमें उत्तम कल्पना और उत्कृष्ट भाषा का समावेश है।

आध्यात्मिक रहस्यवादी काव्य: जैनों के अधिकांश मुक्तक रहस्यवादी तथा आध्यात्मिक कोटि के हैं। इस श्रेणी की मुक्तक रचनाओं में कवियों का उद्देश्य मुख्यत: धार्मिक तत्त्वों का विश्लेषण और नीति, सदाचार आदि का प्रतिपादन करना है। इनमें विशेषकर-गुरुमाहात्म्य, कर्मकांड निषेध, आंतरिक शुद्धि पर बल, विषय वासना का त्याग, वैराग्य, यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे की भावना, परमानंद की प्राप्ति आदि की चर्चा की गई है। उदाहरणार्थ- योगींद्राचार्य या जोइंदु कवि कृत परमप्पयासु और योगसार, मुनि रामसिंह कृत पाहुड़ दोहा, सुप्रभाचार्य कृत वैराग्यसार, देवसेन कृत सावयवधम्म दोहा, जिनदत्त सूरि कृत उपदेश रसायन सार, महेश्वर सूरि कृत 'संयम मंजरी' आदि।

जैनेतर अपभ्रंश साहित्य:

i. दोहा और चर्यापद : वज्रयानी सिद्धों ने महासुख और पूर्ण आनंद की प्राप्ति को ही साधना का लक्ष्य मानकर अपने वक्तव्य रखे। सिद्धों ने ब्राह्मणों, जैनियों, शैवों और श्रावस्तीवादी बौद्धों की साधनाओं का खंडन किया। सिद्धों की काव्यदृष्टि केवल उत्कृष्ट ही नहीं वरन् प्रभावोत्पादक भी हैं। इन सिद्धों में कई विद्याकेंद्रों के आचार्य, कुलपति और राजवंशों के राजगुरु और राजा भी रहे हैं। सभी चौरासी सिद्ध साहित्य रचक नहीं थे। सिद्धों की कविता जनभाषा में थी इसलिए साहित्य में उनके भाव भी प्रकृष्ट रूप में उभरे हैं। इनका साहित्य बौद्ध चिंतन को संत साहित्य से जोड़ता है।

शौर्य और शृंगारपरक मुक्तक काव्य : आदिकाल में शौर्य और शृंगारपूर्त रासो काव्यों की आधिकारिक संख्या गरिष्ठता है जैसे चंदबरदाई कृत 'पृथ्वीराज' रासो के अलावा हम्मीर रासो, विजयपाल रासो, बीसलदेव रासो, जयमयंक जसचंद्रिका, परमाल रासो आदि। विद्यापति कृत कीर्तिलता भी इसी श्रेणी का काव्य है। इनमें से पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

इसके अलावा विद्यापति की पदावली, ढोला मारू रा दूल्हा जैसे लौकिक काव्यों की रचना भी इस कालांश में हुई। अनेक ऐसे मुक्तकों की भी रचना हुई जिनका वर्ण्य विषय- श्रृंगार, वीर, वैराग्य, नीति, सूक्ति, प्रकृति-चित्रण रहा है। उदाहरणार्थ हेमचंद्र सूरि कृत शब्दानुशासन, सोमप्रभाचार्य का कुमारपाल प्रतिबोध, अपभ्रंश व्याकरण प्राकृतपैंगलम, राजशेखर सूरि कृत प्रबंधकोश एवं अमीर खुसरो की पहेलियाँ और मुकरियाँ उल्लेख योग्य हैं।

ये स्फुटकाव्य मुख्यत: उपदेशप्रधान अधिभौतिक, रहस्यात्मक तथा सूक्तिपरक हैं। इनमें कवियों के अनुभव और अर्जित ज्ञान राशि भरी पड़ी है। साथ ही वीर, श्रृंगार और शांत रसों से युक्त वर्णन और प्रकृति सौंदर्य का चित्रण इनके अपर वैशिष्ट्य हैं। जैन, बौद्ध और अन्य जनकवियों, दरबारी कवियों और मुसलमान रचयिताओं की सप्रतिभ लेखनी के चमत्कार का उद्‌घाटन इनके काव्य में हुआ है। अनेक मध्यकालीन काव्यरूप इन्हीं के काव्य का विकसित रूप है। इनके रचित पदों में अनेक राग रागिनियाँ निबद्ध हैं जिनमें ध्रुपदी और लोकगीत के धुन झंकृत होते हैं।

आदिकाल में हिन्दी-साहित्य के समानांतर संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य की रचना हो रही थी। इनमें संस्कृत साहित्य का प्रभाव सामान्य जनता पर नहीं पड़ा। इनकी रचना राज्याश्रयी कवियों द्वारा की गई है जिनकी परिधि राजकीय दरबार तक ही सीमित रहा। इन काव्यों को समझने और इनका रसास्वादन करने वाले शिक्षित और उच्च रुचि संपन्न लोग ही हैं। वहीं अपभ्रंश साहित्य की रचना और प्रचार लोक में हुआ। समाज के अपने शब्द और भावों की प्रतिच्छवि इन काव्यों में लक्षित होती है इसी कारण लोक ने इसे ग्रहण किया और इनका उत्तरोत्तर विकास होता गया।

उल्लेख्य है कि इस कालांश में साहित्य की तीन धाराओं को पृथक्कृत किया जा सकता है। प्रथमत: संस्कृत साहित्य का सशक्त प्रवाह था जो परंपरा के साथ निरंतर विकसित होता जा रहा था। नवम् शताब्दी में कन्नौज और कश्मीर प्रदेश संस्कृत रचनाओं के मूल केंद्र रहे और अनेक आचार्य, कवि, नाटककार, टीकाकारों ने विविध विधाओं में अपनी लेखनी चलाई। तीन प्रकांड विद्वानों ने भारत के त्रि-ककारों में जन्म लेकर संस्कृत साहित्य और कौल साधना को पुनर्स्थापित किया। भारतवर्ष के त्रिकोण में स्थित कामरूप, केरल और कश्मीर को त्रि-ककार या ककारत्रय कहते हैं। कामरूप में कुमारिलभट्ट पाद, केरल में श्रीमत्शंकराचार्य और कश्मीर में अभिनवगुप्तपाद अवतीर्ण हुए थे। देवी महामाया क्रमश: कामाख्या, कुमारिका और शारदा के रूप में इन तीनों पीठों में अधिष्ठित हैं। इन ककारत्रय में प्रत्येक कुमारी को देवी स्वरूप मानते हैं।[4]

इनके अलावा आनंदवर्धन, कुंतक, क्षेमेंद्र, भोजदेव, राजशेखर, विश्वनाथ, भवभूति, जयदेव जैसे विदग्ध पंडित इस कालांश में अवतरित हुए थे। संस्कृत साहित्य के साथ इस युग में प्रभूत मात्रा में अपभ्रंश साहित्य की रचना हुई। उल्लेख किया जा चुका है कि जैन आचार्यों ने भारतीय पौराणिक कथाओं को जैन दृष्टि देकर प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्राकृत अपभ्रंश के साथ पुरानी हिन्दी को भी माध्यम बनाया। सिद्धों ने भी अपभ्रंश के साथ पूर्वी भारतीय लोकभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इस काल के साहित्यकार राज्याश्रयी, लोकाश्रयी और धर्माश्रयी के रूप में विभक्त हो गए थे। संस्कृत भाषा का प्रयोग अधिकतर राज्याश्रयी कवि करते थे, अपभ्रंश धर्माश्रितों और हिन्दी लोकाश्रित कवियों की भाषा बन गई। इसी काल से हिन्दी में जनता के हृदय को गुंजित करने की क्षमता का विकास होने लगा था। हालांकि संस्कृत के कवि प्राय: अपभ्रंश से अछूते थे और तत्कालीन परिस्थितियों से भी अप्रभावित थे। वे काव्य रचना और शास्त्र विश्लेषण में ही उलझे रहे और इसी को साहित्यिक विनोद का पर्याय माना।

प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के प्रयोक्ता बौद्ध, नाथ और जैन, धर्म प्रचार में ही लगे रहे। अपने मतवाद के प्रचार के लिए उन्होंने साहित्य को एक अंग मात्र माना जो अनायास ही उनकी कृतियों में विस्फुरित हो उठा। जनभाषा के रूप में हिन्दी अपने मुखर रूप में वर्तमान थी। अमीर खुसरो की मुकरियों और पहेलियों में खड़ी बोली के प्रशस्त इंगित मिल जाते हैं-

तरवर से इक तिरिया उतरी, उनने बहुत रिझाया।
बाप का उसने नाम जो पूछा, आधा नाम बताया॥
आधा नाम पिता पर प्यारा, बूझ पहेली गोरी।
अमीर खुसरो यों कहे, अपने नाम न बोली-'निबोरी॥'[5]

प्रमुख उपलब्धियाँ:

आदिकालीन साहित्य भाषा और साहित्य की दृष्टि से संपन्न थी। उसी का विकसित और परिवर्धित रूप परवर्ती कालों का स्पर्श करता रहा और उसकी अनुगूंज अद्यतन ध्वनित हो रही है। इस कालांश की उपलब्धियों का परवर्ती साहित्य पर विस्तार प्रभाव पड़ा है। यह उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं-

संप्रेषक भाषा का विकास :

हिन्दी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश के साथ चलती हुई लोकभाषा के रूप में प्रकट होकर साहित्य की अभिव्यक्ति का आधार बन गई। रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' के अनुसार 'समस्त आदिकाल में दो भाषाओं में समानांतर रूप से रचना हो रही थी परंतु अधिकांश विद्वान इन दोनों भाषाओं को पृथक्कृत नहीं कर पाए, जिसके चलते अपभ्रंश के नाम पर हिन्दी का आरंभिक

साहित्य छोड़ दिया गया और कभी पुरानी हिन्दी के नाम पर अपभ्रंश साहित्य भी हिन्दी साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया।'[6]

मिथिला से मेवाड़ तक के क्षेत्र में हिन्दी व्यापक जनभाषा का रूप लेकर प्रसरित हो रही थी। यह भाषा कठिनता से सरलता की ओर विकसित हो रही थी। साहित्य में भी जनभाषा के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। यद्यपि आदिकाल में हिन्दी इतनी परिष्कृत रूप न ले सकी परंतु इसी विकास के कारण पंद्रहवीं शती के अंत तक यह समस्त देश की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनी।

2. कथ्य और शिल्प :

आदिकालीन साहित्य लौकिक और पारमार्थिक अनुभूतियों का माध्यम था जिसके चलते इसके कथ्य में विविधता आ गई। इसमें जीवन की विविध दशाओं, हास्य, रुदन, सफलता, आक्रोश, आदि का स्वच्छंद चित्रण किया गया है। असंख्य पुरातन परंपराओं को वहन करने के कारण इनका ऐतिहासिक मूल्य भी कम नहीं है। अपभ्रंश और संस्कृत की रचनाओं में इनमें से कुछ परंपराओं के स्रोत अवश्य हैं, किंतु उनकी शक्ति और गंभीरता हिंदी की अपनी देन है। आदिकालीन सिद्धों एवं नाथों की रचनाओं को हिन्दी साहित्य से निष्कासित कर दें, तो फिर भक्तिकालीन निर्गुणपंथियों के कथ्य का उद्‌गम बताना कठिन हो जाएगा। जो लोग मैदानी भाग से ही गंगा की स्थिति मानते है, जिस गंगोत्री से वह निकली है उसे केवल एक हिमवाह जानकर छोड़ देना चाहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि इस गंगा का मूल जीवन स्रोत कौन सा है?

आदिकालीन रास, रासो और बौद्ध साहित्य की प्रवृत्तियों का विकास भक्तिकालीन 'रामचरितमानस' व 'पद्मावत' में देखा जा सकता है। सिद्धों की रचनाओं में निहित श्रृंगार की भावना का विकास भक्तिकालीन कृष्णकाव्य को प्रभावित करती हुई रीतिकाल तक चली जाती है।

छंद : आदिकालीन साहित्य में छंद का विविध प्रयोग भी लक्षणीय है। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने छंदों को विविध भाषा साहित्य के आधार पर विभाजित किया। उन्होंने श्लोक को लौकिक संस्कृत का, गाथा को प्राकृत का तथा दोहा को अपभ्रंश का प्रमुख छंद स्वीकारा है।[7] आदिकालीन हिन्दी साहित्य का दोहा छंद ही परवर्ती हिन्दी साहित्य की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बना।

स्वच्छंद रूप से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए हिन्दी के कवियों ने इस छंद को चुना। इस छंद की परंपरा भक्तिकाल, रीतिकाल से चलती हुई आधुनिक काल तक आती है। उल्लेखनीय है कि संस्कृत और प्राकृत में तुक मिलाने की परंपरा नहीं थी, दोहा छंद से ही तुक मिलाने की परंपरा शुरू हुई। अरिल्ल छंद का विकास ही चौपाई के रूप में हुआ।[8] भक्तिकालीन प्रबंध काव्यों में इस छंद का काफी प्रयोग किया गया है। चौपाई के साथ दोहा रखकर कडवक बनाने की प्रथा सिद्धों ने शुरू की थी उसका प्रतिबिंब तुलसी और जायसी के काव्य में परिलक्षित होता है।

कथन शैली : आदिकालीन हिन्दी साहित्य में वीर रस की रचनाओं में डिंगल शैली एवं कोमल कांत भावों को पिंगल शैली में व्यक्त किया जाता है। डिंगल शैली में कर्कश, द्वित्ताक्षर युक्त शब्दों के प्रयोग के कारण इसकी लोकप्रियता कम होती गई परंतु कोमल श्रुतिमधुर शब्दों और कदाचित् हार्दिक भावों के उद्‌गिरण करने के कारण पिंगल शैली का उत्तरोत्तर प्रभाव वर्धित होता गया। पिंगल शैली का पर्यावसान ब्रजभाषा में हो गया। भाटों और चारणों

द्वारा इन शैलियों की प्रयुक्ति परवर्ती काल में भी होती गई एवं भक्तिकाल व रीतिकाल में भी इसकी क्षीण परंपरा लक्षित होती है।[१]

आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों का प्रवाह दूरगामी रहा। कथ्य व लेखन शैली का प्रसार विस्तीर्णकाल तक हुआ। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भक्तिकाल का विकास इस्लामी आक्रमण के फलस्वरूप हारी हुई जाति की मानसिकता न होकर यह भक्ति की अंतर्निहित धारा की बाह्य अभिव्यक्ति थी। भारत में अध्यात्म चर्चा कोई नव्य विषय नहीं वरन् औपनिषदिक काल के गहन चिंतना से ही इसका परिवर्धन और परिष्करण होता आया है। यही आदिकालीन साहित्य भक्तिकाल के बीजांकुर के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार कर चुका था। भारत के चार पुरुषार्थों में काम तत्त्व को भी रखा गया है। काम की पवित्रता का आकलन भारतीयों ने ही किया। बौद्ध साहित्य ने भी इस पर विस्तृत चर्चा की है, जो संभवत: रीतिकालीन शृंगार काव्य की जननी रही है। संक्षेपत: कहा जा सकता है कि आदिकालीन साहित्य में परवर्ती युग की प्रवृत्तियों के समस्त बीज विद्यमान थे।

आदिकालीन साहित्य पर प्रभाव :

सिद्धों के साहित्य का प्रभाव आदिकालीन साहित्य में भी परिलक्षित होता है। कहा जा चुका है कि सिद्ध स्वभावत: कवि थे। कविता अनायास ही उनकी वाणी को पद्यमय कर गई है। परवर्ती साहित्य में चर्यापदों या बौद्ध साहित्य का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा है। आदिकालीन साहित्य में सिद्धों या बुद्ध का उल्लेख जैन अथवा अपभ्रंश साहित्य में मिलता है। कतिपय अभिव्यक्तियाँ भी बौद्धों के समान ही परिलक्षित होती है।

सिद्धों की प्रवृत्ति प्रगतिवादी थी। उन्होंने पाखंड का खंडन, जाति-पाति की भावना का तिरस्कार, मंदिर, मठ, तीर्थ, व्रत आदि की व्यर्थता सिद्ध किया। कवि अथवा रचनाकार के रमणिक शाब्दिक अभिव्यक्ति ही काव्य-रूपों का मूल स्रोत है। यह अभिव्यक्ति कवियों की इच्छा ज्ञान और क्रिया का भावात्मक लिप्यंतरण होता है। मनोवृत्तियों के आधार पर जीवन में प्रवृत्तियाँ अनुस्यूत होती हैं। जैसे, सौंदर्य के प्रति मन मुग्ध हो उठता है जबकि भयंकर उपादानों को देखकर मन में त्रास की उत्पत्ति होती है। ऐसी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति भी प्रेमाश्रित शब्द, लज्जावनत नयन, भयत्रस्त विस्फारित नेत्र, शरीर में कंपन आदि के रूप में हो सकती है। यही अभिव्यक्ति यदि साहित्यिक रूप में हो तो उसका प्रभाव और विस्तृत हो जाता है। सिद्धों के इसी साहित्यिक अभिव्यक्ति ने उनके काव्य-प्रभाव को सुदूर प्रसारी बना दिया है। यहाँ भाव के स्तर पर आदिकालीन साहित्य पर पड़े प्रभाव को देखा जाएगा।

जैन और लौकिक साहित्य में बौद्धों का विस्तृत प्रभाव पड़ा। विशेषकर नाथ संप्रदाय पर सिद्धों का प्रभाव पड़ा है। कहा जाता है कि नाथ संप्रदाय मूलत: बौद्ध था। परंतु बौद्धों में व्याप्त अतिचार और व्यभिचार को देखते हुए अपने संप्रदाय को बौद्धों से अलगा लिया। जालंधर नाथ, मत्स्येंद्रनाथ और यहाँ तक कि गोरखनाथ को भी सिद्धों ने अपनाकर चौरासी सिद्धों में उन्हें अंतर्भुक्त कर लिया था। अत: यह अवश्य मान्य है कि सिद्धों और नाथों का दार्शनिक और कथन भंगी भी अवश्य ही समानांतर होगा। भावात्मक दृष्टि से नाथों और सिद्धों की प्रवृत्तियाँ निकट ही बैठती हैं।

भाव की दृष्टि से

जैन मुनियों पर प्रभाव:

जैन मुनियों पर बौद्धों का यत्किंचित् प्रभाव तो अवश्य ही पड़ा है। उन्होंने परम तत्त्व रूपी जिन और बुद्ध को एक समान ही माना है। मानवता की सामान्य भाव भूमि पर खड़े

होने के कारण ही इनका अक्सर अन्य किसी भी मत के साथ विरोधाभास नहीं है इनके अनुसार समस्त विश्वास मानव को ईश्वरत्व की दिशा में ही ले जाते हैं। सभी एक ही परमतत्त्व को विविध नामों से पुकारते हैं-

जो परमप्पउ परम-पउ, हरि-हर शंभु वि बुद्धु।

परम-पयासु भणंति मुणि, सो जिण-देउ विसुद्धु॥ (परमात्म-प्रकाश, 323)

सो सिउ-संकरु विण्हू सो, सो रुद्दवि सो बुद्धु।

सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धु॥ (योगसार, 105)

जैन वाङ्मय में बुद्ध के नाम का समावेश और उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, शिव व जिन के समकक्ष मानने की प्रवृत्ति से यह सुनिश्चित हो जाता है कि उस काल में बुद्ध निर्विववाद रूप से देवता की कोटि में स्थापित हो चुके थे। यहाँ केवल चर्यापद ही नहीं वरन् सामग्रिक रूप से समस्त बौद्ध साहित्य को ही तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत करना श्रेयस्कर है, क्योंकि सिद्धों द्वारा कृत दोहों को छोड़ देने पर समस्त बौद्ध साहित्य ही अधूरा रह जाएगा। चर्यापद इसी बृहद साहित्य का एक भाग मात्र रहा है।

जैन मुनियों के अनुसार आत्मज्ञान ही वह तत्त्व है जिसके बाद और कुछ रह नहीं जाता। आत्मा ही आत्मा को प्रकाशित करती है जैसे सूर्य की लाली समस्त आकाश को-

अप्पु पयासइ अप्पु पइ, जिस अंबर रवि राउ।

इसी प्रकार की अभिव्यक्ति बौद्ध दोहों में भी मिलती है-

(जें) वुज्झिउ विरलउ सहज-खणु कांईं वेअ-पुराण।

तुडिअउ विसअ-विअप्प जगु, रे असेस परिमाण॥[10]

अर्थात्, वह, जिसने सहजावस्था का अनुभव कर लिया है उसके लिए वेद-पुराणों की क्या आवश्यकता है। वह समस्त संकल्प विकल्पात्मक स्थितियों का नाश कर देता है।

सिद्धों ने जिसे 'स्वक् संवित्ति' अर्थात् 'स्व संवेद्य ज्ञान' कहा है, उसे ही जैन मुनियों ने आत्मज्ञान का नाम दिया है जब इस आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है तो-

तइला बाड़ीर पासँ रे जोह्नाबाड़ी उएला।

फिटेलि अंधारि रे आकाश फुलिआ॥ (चर्या सं. 50)

अंधकार मिट जाता है और प्रकाश से आकाश उद्भासित हो उठता है। शास्त्रज्ञान की अपेक्षा अनुभव जन्य तथ्य श्रेयस्कर है, यह घोषणा करके इन मुनियों ने सामान्य लोगों के लिए अध्यात्म का द्वार भी उन्मुक्त कर दिया है। **(चर्या सं.-37)**

अनुभव सहज मा भोलेरे जोइ। (वही)

जब आत्म-ज्ञान तथा अनुभव ही सर्वोपरि है, तो उसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। यह अनुभव इस देह में स्थित चैतन्य मन से किया जाता है। अतः यह देह ही देवालय है और इसमें निहित अनादि अनंत आत्मतत्त्व ही ब्रह्म स्वरूप है जो इसे नहीं जानता वही मूढ़ है-

देहा-देवलि जो बसइ, देह अणाइ-अणंतु। **(परमार्थ प्रकाश/33)**

× × ×

मूढा, देवलि देव णवि, णवि-मिलि, लिप्पइ चित्ति।

देहा-देवलि दउ जिणि, सो बुज्झहि समचित्त॥ **(योगसार,40)**

× × ×

देहा-देवलि जो बसइ, सत्तिहि सहियउ देउ।

को तहि जोइय सत्तसिउ, सिद्धु गवेसहिं भेउ॥ **(पाहुड़ दोहा,53)**

इसी प्रकार के उद्‌गार सिद्धों में भी विद्यमान है-

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ।

देहहि रुद्ध वसंत ण जाणइ॥

अमणागमण ण तेन विखण्डिअ।

तोवि णिलज्जइ भणइ हऊँ पंडिअ॥- सरहपा[11]

सिद्धों ने मुक्त चित्त के स्वभाव को ही मुक्ति का मार्ग माना है यदि किसी का मन समस्त भावाभावों से विमुक्त हो जाए तो उसे योगाभ्यास जैसे कृछ्र साधनाओं की आवश्यकता नहीं रहती। चित्तशुद्धि ही मुक्ति का सहज मार्ग है, इसे समझने के लिए कहीं दूर जाने की कोई आवश्यकता नहीं वरंच यह एक सहज उपादान है-

नाद न बिंदु न रवि न शशि मंडल। चिअराअ सहाबे मुकल।

उजु रे उजु छाँड़ि मा लेहु रे बंक। निअहि बोहि मा जाहु रे लंक।[12]

इसी प्रकार के मत कवि जोइन्दु (योगीन्दु) के भी हैं जो विमल आत्मबोध को छोड़कर तीर्थ भ्रमणादि को व्यर्थ मानते हैं-

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय, अण्णु जि गुरुअ म सेवि।

अण्णु जि म चिंहित तुहुँ, अप्पा विमलु सएवि॥[13]

कवि जोइन्दु उस योगी को ही श्रेष्ठ समझता है जो एकांतप्रिय है या जो एकांत में वास करते हुए साधना में प्रवृत्त रहता है-

उब्बस बसिया जो करइ, वसिया करइ जु सुण्णु।

बलि किज्जउँ तसु जोइयहिं, जासु ण पाउ ण पुण्णु॥[14]

चर्यापद में भी कवि ने साधना के लिए पर्वत का चूड़ा चुना और उनका कोई पड़ोसी नहीं, उसका संसार अभाव से ग्रस्त है पर आशीष माँगने वालों की कोई कमी नहीं है-

टालत मोर घर नाहि पड़बेसी।

हाड़ीत भात नाहि निति आवेशी॥ (चर्या सं. 32)

कवि जोइन्दु ने मन को वशीभूत रखने का उपदेश दिया है क्योंकि मन ही पाँचों इंद्रियों को नायक है, वह वृक्ष के मूल की भाँति है जिसके सूख जाने से समस्त पत्ते सूख जाते हैं-

पंचहँ णायकु वसिकरहु, जेण होंति वसि अण्ण।

मूल विणट्ठइ तरुवरहँ, अवसइँ सुक्कहिं पुण्ण॥[15]

लूइपाद ने भी कहा है कि काया रूपी पेड़ की पाँच शाखाएँ हैं, चित्त की चंचलता के कारण इसमें काल प्रविष्ट होता है-

काआ तरुवर पंच वि डाल।

चंचल चीए पइठो काल॥ (चर्या सं.1)

बौद्धों ने तीर्थ भ्रमण, स्नान, व्रत आदिक का खंडन किया है, उन्होंने तीर्थ भ्रमण आदि को खंडित किया है, उनके अनुसार जिस प्रकार गंगा स्नान से कुत्ता शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार अपवित्र कर्म वाले भी शुद्ध नहीं हो सकते-

प्रतरन्नपि गंगायां नैव श्वान शुद्धमर्हति।

तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थस्नानं तु निष्फलम्॥

धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्त्तानां कृतार्थता।

नक्तं दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादिनां तु का कथा॥[16] सिद्ध आर्यदेव

× × ×

वम्हा-विण्हु-महेसर देवा वोहिसत्तहो मा करहि सेवा।

देव म पुज्जहि तित्थु म जावहि देव पुज्जए मोक्खु ण पावहि॥[17]

× × ×

किन्तह तित्थ तपोवण जाइ। मोक्ख कि लभ्भइ पाणी न्हाइ॥[18]

इसी प्रकार जैन मुनियों ने भी इन समस्त तीर्थाटनादिक का खंडन किया है-

तित्थइँ तित्थ भमंतयहँ, किण्णेहा फल हूव।

बाहिरु सुद्धउ पाणियहँ, अब्भिंतरु किम हूव॥

× × ×

तित्थइँ तित्थ भमेहि बढ़! धोयउ चम्मु जलेण।

एहु मणु किम धाएसि तुहुँ, मइलउ पाव-मलेण॥[19]

अपभ्रंश के कवि हेमचंद्र के उद्‌गार भी एक स्थान पर सिद्ध काण्हपा जैसे हो गए हैं जहाँ हेमचंद्र ने गोरी को प्रेम के लवण में गलते हुए दिखाया है-

लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खल मेह म गज्जु।

बालिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु॥[20]

सिद्ध काण्हपा ने कहा कि-

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएँहि, तिम घरिणी लइ चित्त।

समरस जाई तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त॥[21]

अर्थात् जिस प्रकार पानी में लवण विलीन हो जाता है, उसी प्रकार यदि ज्ञान रूपिणी घरनी को लेकर चित्त को समरसता में ले जाया जाए तो वह उसी क्षण से नित्य समरस की स्थिति में रह जाएगा।

आध्यात्मिक पंथों में गुरुओं का बड़ा महत्त्व रहा है। सभी लक्ष्य सिद्धि के लिए गुरु की आवश्यकता अपरिहार्य मानते हैं। गुरु भ्रम से उद्धार करता है, द्वैत बुद्धि को मिटाकर अंधकार में प्रकाश की किरणें बिखेर देता है। गुरु कोई व्यक्ति विशेष नहीं बल्कि जो अंतर्मन को आलोड़ित कर दे वह गुरु है। जैन मुनियों के अनुसार आगे पीछे दसों दिशाओं में जहाँ खोजो वह मिल सकता है-

अग्गइँ पच्छइँ दहदिहइँ, जहिं जोव तहि सोइ।

ता महु फिट्टिय भंतडी, अवसणु पुच्छइ कोइ॥[22]

बौद्ध सिद्धों ने भी महासुख की प्राप्ति का आधार गुरु को ही माना है उनके अनुसार सद्गुरु से पूछने पर ही साधना में आगत समस्त परेशानियाँ मिट जाती हैं-

करुणा पिहाड़ी खेलहूँ नअबल।

सदगुरु बोहें जितेल भवबल॥

फीटउ दुआ मादेसि रे ठाकुर।

उआरि उएसँ काह्न णिअड़ जिनउर॥ (चर्या सं.12)

जैन मुनियों ने विषयों के त्याग पर अधिक बल दिया है उनके अनुसार विषय वासनाओं का त्याग किए बिना आत्मोपलब्धि संभव नहीं। विषय त्यागी जीव ही परमसुख का अधिकारी होता है। विषय सुख और उससे जड़ित समस्त उपादान क्षणिक है। सब अग्नि की ज्वाला में ईंधन बनकर जल जाने वाले हैं-

देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु।

वत्थु जु दीसइ कुसमियउ इंधणु होसइ सव्वु॥[23]

परंतु सिद्धों ने जीवन में विराग के स्थान पर राग, निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति और ज्ञान के स्थान पर आत्मानुभूति को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया-

घरबइ खज्जइ, सहजे रज्जइ, किज्जइ राअ-विराअ।

णिअ पास बइट्ठी चित्ते भट्ठी, जोइणि महु पडिहाई॥[24]

वे प्रवृत्तियों के दमन को हानिकारक मानते थे। उनको विश्वास था कि प्रवृत्ति की पूर्ण तृप्ति ही जीवन को विकास की दिशा में ले जा सकते हैं और इससे लौकिक जीवन की चेतना को समरस भाव के निर्वाह करने की स्थिति आ जाती है। सिद्ध तिलोपा के अनुसार विष का विधानपूर्वक उपभोग करने वाला ही विष के प्रभाव से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार भव का भी विधानपूर्वक उपभोग करने वाला फिर भव में लिप्त नहीं होता-

जिम विस भक्खइ, विसहि पलुत्ता

तिम भव भुज्जइ भवहि ण जुत्ता।

खण आणंद भेउ जो जाणइ

सो इह जम्महि जोइ भणिज्जई॥[25]

सरहपाद ने जैन साधकों की कठोर साधना पर व्यंग्य करते हुए कहा है कि यदि केवल नग्न होने से मुक्ति मिलती है तो धूर्त शृगालों को भी मुक्ति मिल जाती। यदि लोम उत्पाटन से मुक्ति मिलती है तो युवती को भी मिल जाती, क्योंकि उसका नितंब रोम-विहीन होता है। यदि पंख हाथ में लेने से मोक्ष मिलता तो मोर, हाथी, घोड़ों को भी मिलता और उच्छिष्ट भोजन करने से ज्ञान होता तो घोड़ा भी ज्ञानी होता। वास्तव में इस तरह तत्त्व रहित साधना से मोक्ष नहीं मिलता।

जइ णग्गा विअ होई मुक्ति ता सुणह सिआलह।

लोम उपाडण अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअंबह।

पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख ता मोरह चमरह।

उज्झ भोजणे होइ जाण, ता करिह तुरंगह।[26]

इसी प्रकार जैन साधुओं ने भी सिद्धों की काया साधना को भी मूल्यहीन बताया। उनके अनुसार यदि मन ही स्थिर न हो तो योगाभ्यास की क्या उपयोगिता-

मूलु छंडि जो डाल चडि, कहँ तह जोयाभासि।

चीरुणु-बुणणहँ जाइ बढ़, विणु उट्ठियइं कपासि॥[27]

कुल मिलाकर सिद्धों की रचनाओं में जीवन के प्रति बहुत बड़ा स्वीकारात्मक दृष्टिकोण है। उनके दर्शन का यही सकारात्मक पक्ष है, जो उन्हें निरंतर आशावादी बनाए रखता है। आध्यात्मिक पंथों के विरोधों के सम्मुख अडिग रहना उनके आशावाद का पक्का प्रमाण है। इसी कारण उन्होंने क्षपणक जैन मुनियों के साधना पद्धति पर भी कुठाराघात किया है।

उल्लेख्य है कि सिद्धों की भाँति जैन मुनियों की भी कतिपय कृतियाँ रहस्यावृत थीं। योगसार, परमात्मप्रकाश और पाहुड़ दोहा जैसे रहस्यघन कृतियों की तुलना सिद्धों के साहित्य

के साथ की जा सकती है। 'पाहुड़ दोहा' के रहस्यवाद की ओर संकेत करते हुए हीरालाल जैन ने यह कहा है कि "इन दोहों में जोगियों का आगम, अचित-चित, देह-देवली, शिव-शक्ति, संकल्प-विकल्प, सगुण-निर्गुण, अक्षर-बोध विबोध, वाम-दक्षिण-मध्य, दो-पथ, रवि, शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तांत्रिक ग्रंथों का स्मरण आए बिना नहीं रहता।"[28]

तथ्य है कि इनकी भाषा सांकेतिक है और सांकेतिकता में इनका स्तर बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों व दोहाकोशों के समकक्ष ही परिलक्षित होता है। यदि पाहुड़ दोहा और सिद्धों की कृतियों को एक साथ रखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस प्रकार रहस्यात्मक प्रवृत्ति सबमें विद्यमान है। यदि इन जैन रचनाकारों की परिधि से आगे बढ़कर देखें तो ज्ञात होगा कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह युग ही ऐसा था जिसमें प्रत्येक धर्म के अनंतर एक प्रकार के उदारमना कवि चिंतक उत्पन्न हुए जो धार्मिक दायरों के विरोधों को पार कर मानवीयता के धरातल पर खड़े थे। मानवता की सामान्य भावभूमि पर अटल अडिग रहने के कारण इनका किसी से भी कोई विरोध न था वे सबके प्रति सहिष्णु थे और प्रत्येक मतों पर उनका विश्वास था।

अपभ्रंश काल की कोई भी ऐसी धारा नहीं जिसमें प्रेम और श्रृंगार की प्रवृत्तियाँ न पाई जाती हों। जैन काव्य धारा, जैनेतर-सिद्ध-नाथपंथी काव्य धारा, निर्गुण-सगुण काव्यधारा आदि सभी ने स्वकीय रूप से इन प्रवृत्तियों का चित्रण मिलता है। प्रकृति के प्रत्येक उपादान से प्रेम संभव पर है। साहित्य में विशेषकर नर और नारी के परस्पर मनोभावों का या लौकिक आकर्षण का अमिय चित्रण हुआ है। यही प्रेम है, प्रेम को प्रगाढ़ और अधिक आकर्षणजन्य बनाने की प्रवृत्ति ही श्रृंगार कहलाती है। संस्कृत के महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक सभी काव्यरूपों में प्रेम और श्रृंगार भावना की अभिव्यक्ति बहुतायत में मिल जाएगा।

उल्लेख्य है कि जैन काव्यधारा में भी प्रेम शृंगारिक प्रवृत्तियों का अभाव नहीं है। वैसे तो जैन मुनि सर्वथा विरक्त, निवृत्त और शांत रस का चित्रण करते थे परंतु उनके अधिकांश काव्यों का आरंभ प्रेम और शृंगार से होता है। उल्लेख्य है कि जैन काव्यों की शुरुआत प्रेम, शृंगार के उद्दाम लहरों से होता है और उनकी परिणति शांत रस में होती है।

सिद्ध सहज जीवन व्यतीत करने के पक्षपाती थे। उनमें प्रेम और शृंगार की प्रवृत्ति वर्जित नहीं है। सिद्धों में प्रवर्तित महासुखवाद की भावना इसी मुक्त दर्शन का परिणाम है। इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति उन्होंने उलटबासियों के रूप में की पर यह भावना स्पष्टत: उत्थित होती है। उनके अनुसार, जिस प्रकार पुरुष-स्त्री के आलिंगन में सुख प्राप्त करता है, उसी प्रकार बोधिचित्त शून्य या नैरात्म देवी के आलिंगन में अशेष सुख की प्राप्ति करता है। प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुख दशा की प्राप्ति मानी गई है। यही आनंदस्वरूप ईश्वरत्व का पर्याय बन गया। उपनिषद में ब्रह्मानंद के सुख के परिणाम का अनुमान लगाने के लिए उसे सहवाससुख से सौगुना कहा था पर वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवाससुख के समान बताया गया। शक्तियों सहित देवताओं के युगनद्ध स्वरूप की भावना चली और इसी से शृंगारिकता की भावना भी प्रबल होती गई।[29]

जैन मुनियों में जिनपद्म सूरि और विनयचंद्र सूरि के नाम उल्लेखनीय है। इन दोनों रचनाकारों ने नायिका के कायिक सौंदर्य और संयोग-वियोग शृंगार का भलीभाँति चित्रण किया है। जिनपद्म सूरि की नायिका पाटलिपुत्र नगर की नगरवधू है जिसके यहाँ स्थूलभद्र चौमासा बिताने गए थे। उसके शरीर की सुषमा का वर्णन करते हैं-

नवजोवन विलसंत देह नवनेह गहिल्ली

परिमल लहरिहि मदमयंत रह-केलि पहिल्ली।

अहरबिंब परबाल खंड वर चंपावन्नी

नयन सलूणिय हावभाव बहुगुण संपुन्नी॥[30]

(नवयौवन से विलासता शरीर, नये स्नेह से गर्विली, प्रथम रतिक्रीड़ा जैसी मदमाती, परिमल की तरह लहराती, प्रवाल खंड की तरह अधर वाली, सुंदर चंपावर्णवाली, अनेक गुणों से संपूर्ण हावभाव सलोने नेत्र वाली कोशा नामक नगरवधू।)

वह जब सजधज कर मुनि के पास आई तो आकाश में देवताओं के लिए भी कौतुक की सृष्टि हो गई-

इय सिणगार करेवि वर, जब आवि मुणिपासि।

जे एवा कउतिगि मिलिय, सुर किंनर आकासि॥[31]

इस अखाद्य प्रेम या शृंगार का पर्यावसान वैराग्य में होता है पर सिद्धों में यही उद्दाम शृंगार एकात्मता और शून्यबोध में होता है जैसे काण्हपा डोम्बी के प्रेम में मत्त होकर हाड़माल भी तोड़ने को प्रस्तुत है और शबरपाद ऊँचे-ऊँचे पर्वत में रहने वाली शबरी बाला के प्रेम में इतने उन्मत्त हो गए हैं कि वह शबरी के साथ क्रीड़ारत होकर अपना अस्तित्व ही खो-सा देता है-

ऊञ्चा-ऊञ्चा पावत तहिँ बसई सबरी बाली।

मोरंगि पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुंजरी माली॥

उमत सवरो पागल सबरो मा कर गुली गुहाड़ा तोहौरी।

णिअ घरिणी णामे सहज सुंदरी॥....

हिअ ताँबोला महासुहे कापुर खाई।

सुण निरामणि कंठे लइआ महासुहे राति पोहाई॥ (चर्या सं. 28)

जैनों और सिद्धों में शृंगारिक भावना होते हुए भी उनमें परिणति या सांप्रदायिक स्थिति के अनुरूप भिन्नता अवश्य आ गई है। इन प्रवृत्तियों का विकास विभिन्न कालों में स्वकीय रूप में हुआ। भक्तिकाल के निर्गुण धारा के कवियों में परमात्मा को प्रिय और स्वयं को प्रिया मानने की रचनाएँ मार्मिक भावोच्छ्वासों के साथ मिलती हैं।

सिद्धों और जैन मुनियों के ऐसे दोहे भी उपलब्ध होते हैं जिनमें लगभग समान अप्रस्तुतों में समकक्ष भावों की व्यंजना हुई है जैसे-

सिद्ध : असरिर कोई शरीरहि लुक्को।[32]

× × ×

जैन : असरीरहं सन्थाणु किउ सो धाणुक्कु निरुतु।[33]

सिद्ध : मन्त ण तन्त ण भेउ ण न धारण, सव्वि रे वढ़ विब्भम कारण।[34]

जैन : मन्तु ण तन्तु ण धेउ ण धारणु, ण वि उच्छासइ किज्जुइ कारणु।[35]

× × ×

सिद्ध : अक्खर बाढ़ा सअलु जगु णाहि णिरक्खर कोइ।

ताव से अक्खर धोलिया जाव णिरक्खर होइ॥[36]

जैन : किम किज्जई बहु अक्खरहं जे कालि खउजन्ति।

जेण अणक्खरु सन्तु मुणि तव बढ़ मोक्खु कहन्ति॥[37]

× × ×

सिद्ध : जहि मण पवण ण संचरइ रवि ससि णाह पवेसु।

तहि वढ चित्त विसाम कुरु सरहं कहि उस्स॥[38]

जैन : हत्थ अहुट्ठहं देवली वालहं णाहि पवेसु।

सन्तु निरंजणु तहिं वसइ णिम्मल होइ गवेस॥[39]

× × ×

सिद्ध : हउँ सुण्ण जगु सुण्णु तिहुअण सुण्ण।

णिम्मल सहजे ण पाप ण पुण्ण॥[40]

जैन : उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ ज सुण्णु।

बलि किज्ज्उ तसु जोइयहि जासु ण पाउ ण पुण्णु॥[41]

सिद्धों और जैनों के दोहों में न केवल विषय-वस्तु वरन् भाषा, शैली, प्रतीक-योजना आदि आश्चर्यजनक समता है। उस समय तंत्रों और हठयोग से प्रभावित लगभग सभी धर्म-साधनाओं के साहित्य में और पद्धतियों में आश्चर्यजनक समता पाई जाती थी और लगभग वे सभी इतने समानांतर विकसित होते रहे हैं कि उनमें से किसका प्रभाव किस पर पड़ा है, यह कह पाना बड़ा ही कठिन कार्य है। उल्लेख्य है कि जैन, बौद्ध, शाक्त तथा शैव परम्पराओं में प्रयुक्त प्रतीक और पारिभाषिक शब्दावली भी समकक्ष ही रहे हैं।

धर्मवीर भारती के अनुसार जैनों में भी शाक्त-दर्शन और तांत्रिक साधनाओं का विकास हुआ था।[42] रोबर्ट स्वबोधा कृत 'अघोरा' नामक एक जीवनी में विमलानन्द (अन्य नाम) नामक एक अघोरी साधु की जीवनी का उल्लेख किया है। इस अघोरी का गुरु एक जैन साधु था, जो 'श्मशान तारा' की उपासना वाममार्गीय विधि से करता था।

नाथों पर प्रभाव :

गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के प्राय: चार सौ वर्षों के पश्चात्, बौद्ध धर्म के अंतर्गत महायान-शाखा का विकास हुआ।[43] यह 'महायान' नाम कनिष्क के दरबारी कवि अश्वघोष ने दिया था। इसे महायान इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि इसके साधक इसमें अपनी मुक्ति नहीं वरन् जीव मात्र की मुक्ति के लिए प्रयासरत रहता है।[44] इन साधकों ने बौद्ध धर्म के कष्टसाध्य संन्यासोन्मुख मार्ग को लोकोन्मुख बनाया। लोकपरक होने के कारण इसमें अनेक देवताओं और विविध पूजा विधानों का समावेश भी होता गया। इस क्रम में मंत्र तंत्र का इतना विकास हुआ कि 12वीं शताब्दी के आसपास के कालखंड को विद्वानों ने 'तांत्रिक काल' नाम दिया।[45] इसके चलते अंधविश्वास और चमत्कारवाद की भावना जोर पकड़ती गई। महासुखवाद की अवधारणा व्याभिचार में परिणत हो गई। ''जाब णिअ घर घरिणी न मज्जई, ताब किं पंचवरण विहरिज्जई'' जैसे उपदेशों का प्रयोग मुक्त यौन विचरण के लिए किए जाने लगा। इसकी पुष्टि के लिए चक्रसंवर की युगनद्ध मूर्तियाँ भी शिल्पकारों के कुशल हाथों से प्राणवंत होने लगीं। इसी के बाद बौद्धों का धर्म पतनोन्मुख होने लगा।

नौवीं-दसवीं शती के आसपास नेपाल के तराइयों में शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथ-पंथ का उदय हुआ जिसमें वज्रयानी सिद्धों के विरुद्ध प्रखर स्वर निनादित करने की प्रशस्त शक्ति व्याप्त हुई।[46]

वहीं बौद्ध किंवदंतियों में गोरखनाथ को भी वज्रयानी सिद्ध बताया गया है जो बाद में शैव हो गए। सुप्रसिद्ध तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ के अनुसार गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और उनका नाम अनंगवज्र था।[47] उनके गुरु का नाम मत्स्येन्द्रनाथ था जिन्हें बौद्ध सिद्ध लुईपा (लौहित्यपाद) से अभिन्न माना गया? इनका साधना स्थान चंद्रद्वीप माना गया

जिसके विषय में विवाद है।[48] चंद्रद्वीप दर असल कामरूप में स्थित चंद्रपुर नामक स्थान का नाम था जिसके पास से ब्रह्मपुत्र नद बहता है। यह स्थान पहले द्वीपाकृत था नदी का मार्ग बदलने के कारण यह अब मैदानी भूभाग बन गया। इसी से थोड़े दूर पर राज्ञी राज्य (वर्तमान रानी) है। किंवदंती है कि मत्स्येन्द्र यहीं पर पद्मिनी स्त्रियों के मध्य फँस गए थे। असम में नाथों का बृहद् प्रभाव रहा है यहां पुरातात्त्विक दृष्टि से नाथ संप्रदाय से संबंधित असंख्य स्थान आविष्कृत हुए हैं।

नाथ पंथ का विकास व्रात्यों से माना जाता है। यह व्रात्य संस्कृति आर्य और प्रागार्य संस्कृतियों का मिश्रित रूप है। व्रात्य ही ज्ञानवाद और सांख्यवाद के ध्वजावाहक माने जाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद के वाजसनेय संहिता के ध्वजावाहक माने जाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद के वाजसनेय संहिता में व्रात्यों को द्विधा विभक्त किया गया है। पुंश्वली एवं कीतवक्लीव। ये व्रत और योग का आचरण करते थे। इनमें से पुंश्वली वर्ग नृत्य और गांधर्व विद्याओं में पारंगत थे। कीतवक्लीवगण स्त्री संगम से विरत थे और अलौकिक योगशक्ति की मदद से उदासीन जीवन व्यतीत करते थे। विद्वानों का अनुमान है कि इन्हीं से नाथ सम्प्रदाय का उद्भव हुआ।[49] कतिपय विद्वानों का मत है कि प्राचीन युग के तीर्थंकरों व बौद्ध सिद्धों से लेकर नाथ, बाउल जैसे संप्रदायों का विकास व्रात्यों से ही हुआ है।[50]

एक ही उत्पत्ति बिंदु होने के कारण सिद्धों और नाथों में घनिष्ठ संबंध रहा है। दोहा तथा चर्यापदों में कई स्थलों पर सिद्धों के लिए, गुरु के लिए या वज्रसत्व के लिए 'नाथ' विशेषण का प्रयोग हुआ है। हेवज्रतंत्र में ही वज्रधर को नाथ कहा गया है-

''वज्रधरो नाथः''[51]

सरहपा ने उसे नाथ स्वरूप कहा है जिसका चित्त विस्फुरित हो जाए- ''जत वि चित्तहि विफ्फुरइ तत्त वि णाह सरूअ।[52]

काण्हपा भी उसे नाथ कहते हैं जो मन को स्थिर कर ले-

''जो णत्थु णिच्चल किअउ मण सो धम्मक्खर।''[53]

डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के अनुसार बौद्ध संप्रदाय में ही वज्रयानी संप्रदाय का उद्‌भव हुआ है, अधिकांश बौद्ध सिद्ध विचारधारा के अनुसार नाथपंथी हैं परंतु सांप्रदायिक परंपरा के अनुसार बौद्ध हैं।[54] उल्लेख्य है कि गोरखनाथ ने बौद्ध तांत्रिक प्रभावों का विरोध किया था। इसी कारण गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के साथ उनका निरंतर विरोध अवश्य चलता रहा होगा। इसलिए राज्ञी राज्य में आगत गुरु को गोरख ने ''जाग मछंदर गोरख आया'' कहकर प्रबोधित किया। गोरखनाथ द्वारा संगठित साढ़े बारह संप्रदायों में 'वामारग' नाम का संप्रदाय आधे संप्रदाय के रूप में परिभाषित किया गया है जो कानिपा (कान्हुपा?) द्वारा प्रवर्तित था।[55] जालंधरपाद कृष्णपाद के गुरु व मत्स्येन्द्रनाथ के गुरुभाई थे। इनका संप्रदाय बौद्धों और शैवों दोनों में मान्य रहा। कापालिक मत शैवों के लिए वाम मार्ग है।[56] कापालिक साधना में स्त्री की सहायता आवश्यक थी। आधुनिक नाथमार्ग में प्रयुक्त वज्रोली मुद्रा (पूर्व कथित) में भी स्त्री का सहयोग आवश्यक माना जाता है। कुल मिलाकर यह निश्चित है कि शैव, शाक्त और बौद्ध कापालिक साधनाओं में स्त्री की सहायता आवश्यक थी।[57]

अत: विद्वानों का मानना है कि बौद्ध दर्शन के आधार पर ही नाथ संप्रदाय का महल खड़ा है। अत: इन दोनों की साहित्यिक प्रवृत्ति और अभिव्यक्तियों में समानता परिलक्षित होती है।[58]

बौद्ध सिद्ध चर्पटीपा ने भेष के योगी को बहुत फटकारा और आत्मा के स्तर पर योगी कहलाने वालों को ही श्रेयष्कर माना। साथ ही उन्होंने बाह्यचार पर आधारित संप्रदायों पर भी कुठाराघात किया-

इक सेति पटा इक नीलि पटा, इक तिलक जनेऊ लबि जटा।

इक फीए एक मोनी इक कानि फटा, जब आवैगी कालि घटा॥[59]

उन्होंने हठकारिता से तप करने वालों को भी ललकारा-

इस संसार कंटिओं की बाड़ी

निरख निरख पगु धरना।

चरपटु कहै सुनहु रे सिधो

हथि करि तपु नहिं करना॥[60]

इसी प्रकार के उद्‌गार स्वयं गोरखनाथ के हैं-

गोरष कहै सुनहु रे अवधू, हठ करि बाद न करणा।

यह जग है कांटे की बाड़ी, देखि देखि पग धरणा॥[61]

सिद्धों के अनुसार महासुख की भावना का ज्ञान जागरित करने के लिए गुरु का होना आवश्यक है-

दिढ़ करिअ महासुख परिमाण।

लुई भणई गुरु पुच्छिअ जान॥ - चर्या सं.1

गोरखनाथ ने गुरु की महत्ता स्वीकृत करते हुए कहा-

गुरु की जै गहिला निगुरा न रहिला।

गुरु बिनं ग्यानं न पाईला रे भाईला॥[62]

पूर्वकथित रूप में जिस प्रकार सिद्धों में पिंड-ब्रह्मांडवाद की धारणा के कारण समस्त शरीर में ही तीर्थों की उपस्थिति मानकर बाह्य तीर्थाटन का निषेध किया-

कान्हु कपाली योगी पइठ अचारे।

देह बअरी बिहरए एकाकारे॥ - चर्या संख्या-10

इसी प्रकार गुरु गोरख ने भी देह के अंदर ही स्थित तीर्थों के महात्म्य को समझाते अंतर्मुख साधना पर बल दिया है-

पंथि चलै पवनां तूटै नाद बिंद अरु वाई।

घट ही भीतरि अठसठ तीरथ कहां भ्रमै रे भाई॥ -गोरखबानी, पृ. 217

कठोर साधनाओं के क्रम में यदि योग प्रलोभनों से अभिभूत हुआ तो उसका पतन हो जाता है। समस्त विकारों पर विजय पाने के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और संसार में आवागमन से छुटकारा मिलता है। जयनंदीपा ने कहा है कि माया से मुक्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है-

पेखु सुअणे अदश जइसा।

अंतराले मोह तइसा॥

मोह विमुक्का जइ मणा।

तवेँ तुटइ अवणागमणा॥

नौ ढाढ़ नौ तिमइ न च्छिजइ।

पेख माआ मोहे बलि-बलि बाझइ॥ - चर्या सं.46

वही सच्चा साधक है जिसके सामने विकारों की उपस्थिति के बाद भी मन में विकृति न आए।

नौ लष पातरि आगे नाचै पीछै सहज अषाड़ा।

ऐसे मन लै जोगी षेलै तब अन्तरि बसै भंडारा॥ - गोरखबानी, पृ. 217

यह समस्त संसार भ्रम से भरा है इसलिए यह सतत विवादों से घिरा रहता है इसे समझने के लिए गुरु से पूछ लेना उपयुक्त होगा- भुसुकपाद ने यही उपदेश दिया है कि सभी का स्वभाव ऐसा ही है और यदि किसी को कुछ पूछना ही है तो गुरु से पूछ ले-

राउतु भणइ कट भुसुक भणई कट सएआ अइस सहाव।

जइ तो मूढ़ा अच्छसि शान्ति पुच्छतु सद्गुरु पाव॥ - चर्या सं. 41

इसी प्रकार की अभिव्यक्ति गोरखनाथ की भी है उन्होंने भी वाद-विवाद करने के स्थान पर गुरु से पूछकर अपनी शंका मिटाने की हिदायत दी है-

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौ बाद न करनां।

अठसठि तीरथ समंदि समावै यू जोगी को गुरुमुखि जरनां॥ - गोरखबानी, पृ.5

सिद्धों ने दृश्य जगत में भी शून्यताबोध की सीख दी है तभी चित्त से पाप और पुण्य की अवधारणा भी मिट जाएगी। इसी कारण यही शून्यताबोध बौद्ध सिद्धों का मूल लक्ष्य रहा है-

पेखमि दहदिह सवई सुण।

चिअ बिहुन्ने पाप ण पुन्नु॥

बाजुले दिल मोहकखु भणिआ।

मइ अहारिल गअणत पणिआँ॥ चर्या. सं. 35

गोरख के अनुसार भी व्यक्त में अव्यक्त की अनुभूति के बाद ही योगी की वह निरंतर क्रीड़ा शुरू होती है जो चरम आनंद है-

अंजन मांहि निरंजन भेट्या,

तिल मुष भेट्या तेलं।

मूरति भाँहि अमूरति परस्या,

भया निरन्तरि षेलं॥ - गोरखबानी, पृ. 217

इसके अतिरिक्त भी नाथों और बौद्ध सिद्धों में अनेक समानताएँ हैं। नाथों ने विशेषकर गोरखनाथ ने बौद्धों में निहित वाममार्गी तत्त्वों को छोड़कर काया-साधना को अपना लिया। हालांकि योग की परंपरा भारत में अत्यंत प्राचीन है उसे ही बौद्धों ने अपना लिया। इसी काया साधना को हठयोग नाम देकर नाथों ने अपनाया। बौद्धों ने इसे प्रज्ञोपाय के अद्वैत भक्ति के रूप में स्वीकार किया। सिद्धों में हठयोग महामुद्रा के मैथुन से संबद्ध था किंतु नाथयोगियों में यह देहस्थ शिव-शक्ति के योग के रूप में माना गया।

सिद्धों में तत्त्वज्ञान का मूल आधार विज्ञानवादियों में प्रचलित शून्य की कल्पना थी। यह शून्य तथता रूप माना जाता था। सिद्धों ने प्रज्ञोपाय योग प्रणाली के अंतर्गत इसे नैरात्मा देवी या महामुद्रा रूप में स्वीकारा और महासुखचक्र में इसका अधिष्ठान माना गया। नाथ साहित्य में भी शून्य इसी रूप में ग्रहण किया गया उसे परम तत्त्व के रूप में स्वीकार कर लिया गया। परंतु उसमें नाथ संतों ने अपनी हठयोग साधना के आधार पर संशोधन कर लिया।

अतः यह स्पष्ट है कि बौद्धों का बृहद् प्रभाव नाथों पर पड़ा। गोरखनाथ से संबंधित अनेक किंवदंतियाँ पाई जाती हैं जिनमें उन्हें अखंड ब्रह्मचारी कहा गया है परंतु बौद्ध सिद्ध इस प्रकार के दीर्घ ब्रह्मचर्य आदि पर विश्वास नहीं करते खासकर अनुत्तर तंत्र के साधकों में ही यह प्रवृत्ति पाई जाती है, जबकि बौद्ध तंत्र की अन्य शाखाएँ ब्रह्मचर्य का पालन कठोरता से करती हैं जो कि नाथों के समानांतर ही लगता था।

कला के आधार पर प्रभाव

महायान में प्रत्येक व्यक्ति के निर्वाण प्राप्ति की बात की गई है। महायानी सिद्धों का मानना है कि जब तक इस संसार के प्रत्येक जीव को बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती तब तक अवलोकितेश्वर इस धरा पर अवतरित होते रहेंगे।[63] अत: बौद्धों का समग्र साहित्य ही जनमुखी रहा है। परंतु सिद्धों की दृष्टि लौकिक वासना-क्लेश आदि के भवजाल को अटल शाश्वत वज्रज्ञान द्वारा तोड़ने पर टिकी थी। जन साधारण इनके काव्य में निहित लौकिक प्रतीकों को देखते थे और उसी रूप में समझते भी थे, उन्हें लौकिक रति का आभास मात्र मिल जाता था। परंतु सिद्ध यह नहीं चाहते थे कि लोक में उनकी रचनाओं का प्रचार केवल लौकिक स्तर पर ही हो इसलिए वे नाना प्रतीकों, उलटबासियों और गूढ़ शब्दों की अभिव्यक्ति द्वारा लोगों तक यह भाव पहुँचाना चाहते थे कि यह पथ और यह काव्यिक रस सामान्य धरातल से ऊपर की वस्तु है। यह साधनात्मक गुह्य रस है, जिसे न शिष्य समझ सकता है न गुरु ही कह सकता है।[64] बल्कि कोई बिरला ही इसे समझ सकता है जिसने इस गुह्य रस का पान किया है।

अइसन चर्या कुक्कुरीपाएँ गाइउ।
कोड़ि मझे एकु हिअहि समाइउ॥ (चर्या सं.2)

उनकी साधना साधारण जन के लिए निषिद्ध नहीं थी बल्कि वहाँ सभी के लिए स्थान था, इसी कारण उन्होंने अपनी प्रगतिवादी विचारधारा को लेकर ही समाज के हर उपेक्षित, बहिष्कृत पात्र को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया। इसमें शुंडिनी (मद्य विक्रेता स्त्री), शबरी (जनजातीय स्त्री), साधारण बहू, चंडाली आदि सभी को स्थान मिला। वे सभी को निर्वाण का मधुर अमीय रसपान कराना चाहते थे, इसी कारण इनके काव्य का सुदूरगामी प्रभाव परवर्ती साहित्य में भी पड़ा।

कला पक्ष की दृष्टि से देखा जाए तो सिद्धों द्वारा आयत्त और अभिव्यक्त छांदसिक रूप और कथन भंगिमा ने आदिकालीन साहित्य को प्रभूत मात्रा में स्पर्श किया। इसी कारण सरहपाद को ही हिन्दी का प्रथम कवि होने का भी गौरव प्राप्त हुआ।[65] सरहपाद को प्रथम कवि मानने पर यही प्रशस्त तर्क दिया जाता है कि बौद्ध सिद्धों की चेतना, भावना और विचारणा की परम्परा नाथों से होती हुई कबीर तक गई।[66] केवल निर्गुणवादी संत ही नहीं वरन् इसकी प्रतिध्वनि आधुनिक काल के कवियों मे भी यत्किंचित रूप से परिलक्षित होती है।

सिद्धों की प्रतीक योजना :

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक लामा तारानाथ के अनुसार गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गए। इसलिए तिब्बत के लामा लोग गोरखनाथ को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं।[67] संभवत: गोरखनाथ तथा परवर्ती संत सम्प्रदाय के लोगों ने बौद्ध प्रतीकों को अपनाया जिस कारण उनका काव्य लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।[68]

सिद्धों ने प्रस्तुत अप्रस्तुत विविध रूपों में प्रतीकों को उपस्थित किया। इनमें से अनेक प्रतीकों को परवर्ती साधक संप्रदायों ने भी ग्रहण किया।

1. शून्य : बौद्ध सिद्धों ने मन में अवतरित भावशून्य दशा को ही शून्य या तथता कहा है। जब चेतना महासुख चक्र में विलीन हो जाए और समस्त बाह्य अनुभूतियाँ समाप्त हो जाएँ वही शून्य की अनुभूति है जिसे बौद्धों ने नैरात्मा देवी के रूप में मूर्तिकृत किया है। शून्य की परम्परा इतनी प्रबल हो गई कि जैनों और नाथों ने भी इसे ग्रहण किया। जैन मुनि रामसिंह ने भी शून्य की अभिव्यक्ति इस प्रकार की-

सुण्ण ण होई सुण्ण दीसइ सुण्ण च तिहवणे सुण्ण।

अवहरइ पाव पुण्णं सुण्ण सहावेण गओ अप्पा।।[69]

नाथ संप्रदाय में भी शून्य की व्याख्या उसी रूप में मिलती है परंतु, उन्होंने अपने सांप्रदायिक दर्शन के अनुसार उसमें संशोधन कर लिया।

बसती न सुन्यम् सुन्यम् न बसती अगम अगोचर ऐसा।

गगन सिषर महि बालक बोले, ताका नाँव धरहुणे कैसा॥[70]

2. खसम : सिद्ध साहित्य में प्रथम बार खसम शब्द का प्रयोग किया गया है। साधना के क्रम में सिद्ध अपने मन के शून्य या आकाश के समान विस्तारित करने का प्रयास करता है। मन शून्यरूप होकर स्वयमेव 'ख' (आकाश) में समाहित हो जाता है। सरहपाद के अनुसार-

सब्बरुअ तहिं खसम करिज्जइ, खसम सहावें मणवि धरिज्जइ॥[71]

तिल्लोपाद ने भी कहा है कि जब मन आकाश के समान होकर समसुख में प्रवेश करता है तो इंद्रिय अपनी क्रिया कलाप बंद कर देते हैं। यह आदि अंतहीन परमसुख है। गुरु की कृपा से ही इस अद्वय सुख की प्राप्ति होती है-

चित्तु खसमु जहिं सम सुहे पइसइ इंदिअ विसअतहिं मतण दीसइं।

आइ-रहिअउं एहु अंत-रहिअउं वर गुरु पाएहिं अद्दउ कहिअउं॥[72]

नाथ योगियों ने इसी खसम शब्द का पर्यायवाचक शब्द का प्रयोग 'गगनोपम' के रूप में किया है। अवधूत गीता में अवधूत की इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इनके अनुसार भी इस अवस्था में द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य आदि कुछ भी अनुभूत नहीं होता। यह अवस्था मायाप्रपंच के ऊपर है

अद्वैत रूपं अखिलं हि कथं वदामि

नित्य ह्यसत्यम् अखिलं हि कथं वदामि।

सत्य ह्यसत्यम् अखिलं हि कथं वदामि

ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥

ब्रह्मादयः सुरगणः कथमत्र संति

स्वर्गादयो वसयतः कथमत्र संति।

यद्येकरूपम् अमलं परमार्थ तत्त्वम्

ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥[73]

3. गंगा-यमुना : सिद्धों ने इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना या ललना, रसना और अवधूती को गंगा, यमुना और सरस्वती की उपमा दी है

गंगा जउना माझेँ रे बहइ नाइ।

तहि बुड़िली मातंगी पोइआ लीले पार करेइ॥....

.... चन्द सुज्ज दुइ चका सिठि संहार पुलिंदा।

वाम दाहिण दुइ माग न रेबइ बाहतु छन्दा॥ (चर्या सं.14)

इसी के अनुरूप नाथ सिद्धों ने भी गंगा-यमुना अर्थात् इड़ा और पिंगला को शक्ति तथा शिव का प्रतीक माना गया है। अवधूती और सुषुम्ना समशीला है। इस नाड़ी से जब प्राणवायु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य-ग्राहक का बोध नहीं रहता इसी कारण इसे ग्राह्यग्राहक-वर्जिता'' कहा जाता है।[74]

4. ताला कुंजी : सिद्धों ने प्राणायाम के क्रम में श्वास निरोध की तुलना ताले और चाबी से की है-

सासु घरेँ घालि कोंचा ताल।

चान्दसुज वेणि पखा फाल॥ (चर्या सं.4)

कुंभक योग के रूप में नाथपंथियों में भी ताला-कुंजी का रूपक परिलक्षित होता है-

अरधै उरधै लाइलै कूँची थिर होवै मन तहाँ थाकीले पवणां।

दसवाँ द्वार चीन्सिलै, छुटै आवागवनां॥ गोरखबानी पृ.117[75]

यहाँ तक कि शब्दब्रह्म और मंत्र के लिए भी ताला चाबी के प्रतीकों का प्रयोग किया गया है-

सबदहिं ताला, सबदहिं कूँची सबदहिं सबद जगाया।

सबदहिं सबद सूं परचा हुआ, सबदहिं सबद समाया॥[76]

5. चोर : सिद्धों ने वासनाओं के लिए चोर का प्रतीक रखा है। दो चर्यापदों में चोर का स्पष्ट उल्लेख मिलता है-

ससुरा निद गेला बहुड़ी जागअ।

कानेट चौरि निल अधराती॥ (चर्या सं.2)

× × ×

जो सो चौर सोई साधी॥ (चर्या सं.33)

अतृप्त वासनाएँ जब अचानक मन में उत्थित होकर चित्त को चंचल कर देती है उसी को यहाँ चोर कहा गया है। नाथ पंथ में भी इस प्रतीक का अनुरूप प्रयोग दृष्टिगत होता है-

काया हमारैं सहर बोलिये मन बोलिये हुजदारं।

चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झंकै द्वारं॥[77]

इस प्रकार सिद्धों द्वारा व्यवहृत अनेक प्रतीकों का साधर्म्यमूलक प्रयोग विशेषकर नाथों ने किया है, क्योंकि कहा ही जा चुका है कि नाथ संप्रदाय का अभ्युदय सिद्धों की काया-

साधना के आधार पर हुआ है अतः इनमें प्रवृत्तिगत समानता होना कोई आश्चर्यपरक तथ्य नहीं है।

कथन भंगिमा : बौद्ध सिद्धों से ही साधनात्मक मार्ग में उलटबासियों का प्रारंभ हुआ है, इन्हीं उलटबासियों को न समझ पाने के कारण सिद्धों का साहित्य दुरूह बन पड़ा है। चर्याचर्यविनिश्चय के पदों में उलटबासियाँ अनेक स्थलों पर मिलती है जैसे-

दुलि दुहि पिटा धरण नजाइ।

रुखेर तेन्तेलि कुम्भीरे खाअ॥ (चर्या सं.2)

× × ×

बलद बिआएल गविआ बाँझे।

पिटा दुहिए ए तिना साँझे॥

जो सो बुधि सोइ निबुधी।

जो सो चौर सोई साधी॥

निते निते सिआला सिंहे सम जुझअ।

ढेण्ढण पाएर गीत बिरलेँ बुझअ॥ (चर्या सं.33)

इसी प्रकार की उलटबासियों का प्रभाव नाथों पर भी पड़ा। यह उलटबासियाँ केवल नाथों तक ही सीमित न रहकर इसका दूरगामी प्रभाव भक्तिकाल तक मिलता है-

झरै न पारा बाजै नाद, ससिहर सुर न बाद विवाद।

पवन गोटिका रहणि अकास, महियल अंतर गगन कविलास॥[78]

सिद्धों ने अपने काव्य में अधिकतर उपदेशमूलक बातें कही हैं इनमें साधनात्मक उपदेश और नीतिबोधक उपदेशों का प्रभाव भी परवर्ती साहित्य पर पड़ा। सिद्धों ने अपने शिष्यों को अपने साधनात्मक अनुभवों की थाती चर्यापदों और दोहों के रूप में सौंपी और इसी परंपरा के निर्वहन क्रम में नाथों ने और यहाँ तक कि भक्ति और रीतिकाल के कवियों तक इसके प्रतिशब्द गुंजायमान होते हैं-

पर-अप्पाण म भंति करु, सअलु णिरंतरु बुद्धु।

तिहुअण णिम्मलु परम-पउ चित्तु सहावें सुद्धु॥[79]

× × ×

यहु मन सकती युहु मन सीव, यहु मन पाँच तत्त का जीव।

यहु मन ले जे उनमन रहै, तौ तीनि लोक की वाता कहै॥[80]

सिद्धों ने खान-पान में व्यस्त साधकों को उन्मत्त (पागल) कहा है, वे भ्रांति के कारण इस जगत के विविध बंधनों में बँध जाते हैं। समस्त सुखों से परिवृत घर को वे नहीं पहचानते और तथता को न समझ पाने के कारण वे मूर्ख की भाँति जन्म मृत्यु के फेरे में पड़े रहते हैं-

खाने पाने जो कोई रता। सरुअर हिअ बट भमइ उमता।

भन्तिएँ रे भन्तिएँ जग अइसे बहिउ। आपणु रचि रचि बानुण लाइउ॥

चउकोडि रहिअए सुखसाला। तथत रहिअ मूढ भमन्ति ते काला।

मान छडिआ सद्गुरु से कह। जे सो तथता सरुअें पावह॥

चउक खलभलि आ एल विवहिउ। सदगुरु पुछिया आपाण न चाहिउ॥[81]

नाथों ने भी अपने शिष्यों को मन को स्थिर रखते हुए तत्त्वदर्शन के लिए प्रस्तुत रहने को कहा है। हँसी खेल के बीच भी उन्हें निरंतर ईश्वर चिंतन और जग से लिप्त न होने का उपदेश दिया है-

हसिबा षेलिबा रहिबा रंग, काम क्रोध न करिबा संग।

हसिबा षेलिबा गाइबा गीत, दिढ करि राषि आपना चीत॥

हसिबा षेलिबा धरिबा ध्यान, अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान।

हसै षेले न करै मन भंग, ते निहचल सदा नाथ के संग॥[82]

लोकजीवन के निकट होने के कारण अप्रभ्रंश में लोकगीतों का व्यापक समाहार मिलता है। अपभ्रंश में गेय पदों का विपुल साहित्य था। चर्यापद इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं जो 18 सांगीतिक राग रागिनियों में निबद्ध हैं। इस काव्यरूप का खूब स्वागत हुआ। रास, डोम्बिका, चर्चरी, फागु आदि गेय रूप पद ही हैं। सिद्धों ने दोहों और पदों की रचना कर अपने धर्म को लोकोन्मुखी बनाने के लिए गायन की परंपरा शुरू की होगी। इसी से प्रभावित होकर जैन मुनियों ने फागु, चरित आदि की परंपरा शुरू की। इन्हीं से नाथों में भी इस परंपरा का निर्वहण हुआ।

आदिकालीन साहित्य में प्रगतिशील भावनाओं के तत्त्व मिलते हैं। इनका विश्लेषण आधुनिककाल के प्रगतिशील प्रवृत्तियों के आधार पर करने से यह प्रगतिशील विचारों का पता चलता है। यह सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं-

i. ईश्वर, धर्म, स्वर्ग आदि के विश्वास का विरोध।

ii. सामंत, राजा या पूँजपति जैसे वर्णों का प्रतिरोध

iii. दलितों और मध्यम वर्गीय दरिद्रता का चित्रण।

iv. नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण

v. ऊँच-नीच व जाति-पाति की भावनाओं का विरोध।

इन समस्त प्रवृत्तियों का उन्मुक्त प्रवाह चर्यापदों में परिलक्षित होता है। इनके उद्धरण चर्यापदों में बहुतायत मात्रा में मिल जाते हैं। सिद्धों के साथ जोइन्दु आदि ने भी पाखंड खंडन, जाति-पाँति की भावना का तिरस्कार, तीर्थ यात्रा आदि की व्यर्थता को दिखाया है। बीसलदेव की राजमती भी राजन्यवर्ग की झूठी शान का यवनिका पात करती है। सिद्धों के साहित्य में भी डोम्बि, चंडालिनी, कैवर्तिका, ताम्बोलिणी, शबरी आदि नारियों को अपने काव्य का चरित्र बनाया। स्वयंभू पुष्पदंत ने भी नारी चरित्र का वर्णन किया जो ओज से पूर्ण अपने पति के कंधे से कंधा मिलाकर कठिन परिश्रम के साथ सुखी रहती है।

आदिकालीन लौकिक साहित्य पर प्रभाव

आदिकाल में स्वच्छंद रूप में लौकिक विषयों पर भी ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।यहाँ कतिपय लौकिक साहित्य के काव्य पर पड़े बौद्ध प्रभाव का आकलन किया जाएगा। आदिकाल की अविकसित परिस्थितियों के कारण विविध जनपदों में विशेष संपर्क सूत्र नहीं रहा होगा। इसलिए इस काल में साहित्यिक एकात्मकता देखी नहीं जा सकती। आदिकाल कहने पर साहित्य की किसी प्रवृत्ति विशेष का पता नहीं चलता। पहले ही देखा जा चुका है कि इस कालांश में भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति का साहित्य रचा गया। लौकिक साहित्य में बौद्ध प्रभावान्वेषण के क्रम में खुसरो की पहेलियाँ और विद्यापति की पदावली की चर्चा की जाएगी।

खुसरो पर बौद्ध प्रभाव :

आदिकाल के आलोच्य विषय-सामग्री के रूप में खुसरो की कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। यह सामग्री भाषा और संवेदना की दृष्टि से जितनी महत्वपूर्ण है पाठ की प्रामाणिकता की दृष्टि से उतनी ही संदिग्ध भी है।[83] उनका जन्म एटा के पटियाली ग्राम में 1255 ई. को हुआ। उन्होंने 1283 ई. में काव्य रचना आरंभ की थी और 1324 में उनका देहांत हो गया था।[84] जनजीवन के साथ धुल-मिलकर काव्य रचना करने वाले कवियों में खुसरो का महत्वपूर्ण स्थान है।[85] उन्होंने जनता के मनोरंजन के लिए पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो-सुखने लिखे थे। आदिकाल में खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने वाले वे प्रथम कवि थे।[86] उनके द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या सौ बतायी गयी है जिनमें अब बीस इक्कीस ही उपलब्ध हैं। खालिकबारी, पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सुखने, गजल आदि उनमें अधिक प्रसिद्ध हैं।[87] कुछ विद्वानों के अनुसार अमीर खुसरो नामक कई व्यक्ति हुए, अत: इन सब रचनाओं को पहेलीकार अमीर खुसरो का मानना एक भ्रमात्मक व्यापार बताया है।[88]

अमीर खुसरो का मूल नाम अब्दुल हसन था पर वे खुसरो नाम से ही सुप्रसद्धि थे।[89]

खुसरो के काव्य में बौद्ध प्रभाव का आकलन करना एक कठिन व्यापार है क्योंकि खुसरो जिस परिवेश और संस्कृति में पले बढ़े वह प्रचलित बौद्ध परंपरा से काफी दूर था। इस्लाम उस क्षेत्र में अपनी जड़ें जमा चुका था। विद्वानों के अनुसार खुसरो सूफी मत को मानते थे और अपने सूफी गुरु की आकस्मिक मृत्यु ने खुसरो को काफी प्रभावित किया था। अपने गुरु की कबर देखकर खुसरो के मुँह से यह छंद अनायास ही निकल पड़ा था-

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस॥

खुसरो के कतिपय दोहों का मेल चर्यापदों के साथ दिखाया जा सकता है पर इसे प्रभाव कहने की अपेक्षा जबर्दस्ती कहना उपर्युक्त होगा, उदाहरणार्थ

खुसरू रैन सुहाग की, जागी पी के संग।

तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एक रंग॥[90]

इस दोहे के समान भाव निम्नलिखित चर्यापद में देखा जा सकता है-

अहनिसि सुरत प्रसंगे जाअ।

जोइणिजाले रएणि पोहाअ॥

डोम्बी सङ्गे जो जोई रत्तो।

खणह ण छाड़ह सहज उन्मत्तो॥ चर्या सं. 19.

इस पद में चर्याकार कृष्णपाद कहते हैं कि विवाह के बाद रात दिन रति क्रिया में ही बीत जाता है। साधना संगिनी के मोह में रातें बीतती हैं। जो डोम्बी (प्राणायाम) में निरत हो जाते हैं वे क्षण मात्र भी डोम्बी को नहीं छोड़ते और सहज रूप से उन्मत हो उठते हैं।

खुसरो ने जिस परिदृश्य को अपने काव्य का उपजीव बनाया, कृष्णपाद ने भी उसी दृश्यपट पर रचना की। खुसरो की 'दोउ भए एक रंग' और कृष्णपाद की 'खुणह ण छाड़ह सहज उन्मत्तो' पंक्तियों के भाव मेल खाते हैं।

इसी क्रम में एक और छंद देखा जाए-

'स्याम सेत गोरी लिए। जनमत भई अनीत।

एक पल में फिर जात है, जोगी काके मीत॥'[91]

योगी किसी का मित्र नहीं होता वह सांसारिक बंधनों से सर्वथा मुक्त होता है। श्याम ने राधा को मुफ्त में (सेत) ले लिया यह तो एक प्रकार से अनीति ही है। श्याम ने राधा की गोराई को ग्रहण कर उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया। काला रंग वह रंग है जिस पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता। कृष्ण योगी हैं अत: उनका किसी से कोई मित्रता नहीं। चर्या गीतों में भी एक

अनासक्त योगी की स्त्री अपने पति के अमनोयोगिता की शिकायत करते हुए कहती है कि मैं अपने भर्ता से निराश हो गई हूँ और मेरी मनोव्यथा अकथ्य है।

हाऊँ निरासी खमण भतारे।

मोहोर बिगोआ कहण नजाई॥ चर्या 20

खुसरो की पहेलियाँ और प्रहेलिकामय चर्यापदों की जाँच करने के बाद उनमें किसी प्रकार का साम्य तो नजर नहीं आया परंतु यह प्रश्न अवश्य ही उठता है कि आखिर खुसरो की पहेलियों का मूल उत्स क्या है? ध्यातव्य है कि विद्यापति ने भी कई प्रहेलिकामय पद लिखे थे जिसकी चर्चा बाद में की जाएगी। शशिभूषण दासगुप्त के अनुसार विद्यापति के प्रहेलिकामय पदों का उत्स बौद्ध चर्यापद ही हैं।[92] तो क्या समकालीन या आदिकालीन कवि होने के नाते खुसरो की पहेलियों का उत्स भी बौद्धों को ही माना जाए। बौद्ध सिद्धों ने एक रहस्यघन वातावरण के सृजनार्थ प्रहेलिकामय चर्याओं की रचना की होगी जिसकी गूढ़ वाणी से आकृष्ट होकर लोग उनके धर्म या सिद्धांत को समझने का प्रयास करें। यह सत्य है कि रहस्य सदैव ही मनुष्य की चित्तवृत्ति के आकर्षण का केंद्र रहा है। रहस्य का भेदन न करने तक व्यक्ति आवश्वस्त नहीं होता। अत: बौद्धों ने आम जनता में एक प्रकार की उत्तेजना को जगाने और अपने मत को रहस्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने के लिए इन गीतों की रचना की होगी।

इधर खुसरो के काव्य का उद्देश्य किसी साधनात्मक रहस्यवाद को प्रस्तुत करना नहीं वरन् वे शुद्ध मनोरंजन के उद्देश्य से ही पहेलियाँ लिखते थे। उद्देश्य चाहे जो भी हो एक प्रकार से शशिभूषण दासगुप्त की मानें तो सिद्ध ही इस प्रहेलिकामय साहित्य लेखन के पुरस्कर्ता थे और - "The Sandhya–bhasha or Sandha–bhasha thus becomes an all Indian literary technique for giving expression to esoteric–doctrines.....it has an unbroken history for centuries."[93]

दासगुप्तजी का अनुमान सही प्रतीत होता है क्योंकि नाथों के साथ कबीर, सूरदास जैसे भक्तिकालीन कवियों में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। अत: यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि चर्यापदों के प्रहेलिकामय शैली या प्रवृत्ति का प्रभाव खुसरो पर भी पड़ा। हालांकि यह सत्य है कि खुसरो पर सिद्धों का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा होगा या पड़ा भी होगा तो वह इतिहास के अंध गह्वर में समा चुका है। संभवत: सिद्धों के अवतरण के बाद तत्कालीन साहित्यिक परिप्रेक्ष्य पूरी तरह से उनकी शब्दावली और भावना से गूंजित हो गया होगा। अत: खुसरो उस परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

निष्कर्षत : यह कहा जा सकता है कि अमीर खुसरो ने जिन कृतियों की रचना की उनपर बौद्ध चर्यापदों का प्रच्छन्न प्रभाव देखा जा सकता है। दरअसल यह प्रभाव बौद्ध रचनाओं के फलस्वरूप उदित परिवेश के कारण ही संभव हो पाया है।

विद्यापति पर बौद्ध प्रभाव

कवि विद्यापति की कृतियों से उनके विषय में कोई भी विशेष या स्पष्ट अंत: साक्ष्य प्राप्त नहीं होता तथापि उनकी संस्कृत या अवहट्ठ रचनाओं के आधार पर उनके जीवन में पड़े बाह्य परिवेश का प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है। विद्यापति की कतिपय कृतियों और बहि: साक्ष्य को आधार मानकर उनके जीवन का एक सुविस्तृत ब्योरा अवश्य ही मिल जाता है।[94]

प्राप्त उपादानों के अनुसार उनका जन्म मिथिला प्रांत के दरभंगा जिले के अंतर्गत जरैल परगना के विसपी ग्राम में हुआ था। बाद में महाराज शिवसिंह ने यह ग्राम कवि विद्यापति को निष्कर भूमि के रूप में दान दिया था। राजा शिवसिंह का आश्रयकाल ही विद्यापति के लेखन का स्वर्णकाल था। शिवसिंह की मृत्यु के बाद कवि मिथिला के समाज संस्कार के प्रति तत्पर हो उठे

थे।[95] विद्यापति की ख्याति का मूल आधार उनके द्वारा रचित पदावली है। पदावली के द्वारा ही उनके मनस और शिल्प सौकुमार्य की अभिव्यक्ति होती है। मिथिला की अमराइयों में उनके गीत अभी भी निनादित होते हैं। पदावली में ही विद्यापति की काव्यिक प्रतिभा का संगुंफन लक्षित होता है। दरअसल मिथिला और बंगदेश के भौगोलिक नैकट्य के कारण विद्यापति के पद एक सुविस्तृत अंचल में प्रसरित हुए। साथ ही बंग के शिक्षार्थियों का त्रिहुत में आवागमन भी इन गीतों के संरचण का प्राथमिक स्रोत था। बाद में चैतन्य के प्रभाव से विद्यापति कृत राधा-कृष्ण विषयक पदों को काफी जनप्रियता मिली। फलत: विद्यापति की प्रतिष्ठा मध्ययुग में एक भक्त के रूप में हुई। विद्यापति ने अपनी पदावली में जिस काम प्रसंग को उपजीव्य बनाया उसकी प्रेरणा उन्हें सिद्धों से मिली। ऐसा प्रतीत होता है कि यह काम लौकिक नहीं वरन् लोकोत्तर धरातल की है। सिद्धों ने जहाँ डोम्बी या चंडाली के प्रति प्रेम निवेदन किया है वहाँ पर वह उक्त नायिकाएँ प्राणायाम की प्रक्रियाएँ मात्र हैं। जिनका मानवीकरण किया गया है। अत: यह प्रेमाभिव्यक्ति स्थूल न होकर सूक्ष्म मानी जाएगी। मंदिरों की दीवारों में उकेरी गई युगनद्ध मूर्तियाँ काम के आध्यात्मिक पक्ष को उजागर करती हैं। काम के उत्तेजनापूर्ण कालांश में व्यक्ति के मन से समस्त भाव लुप्त हो जाते हैं वह अपनी स्वकीय इयत्ता को खोकर पूर्णता की उपलब्धि करता है। वहाँ स्त्री और पुरुष का भेद मिट जाता है। इन प्रतीकों के माध्यम से विद्वानों ने भक्तों को भी अपनी स्वकीय इयत्ता खोकर ब्रह्मलीन होने के संकेत दिए हैं। इसी कारण कामालिंगित भंगिमाओं की मूर्तियों की आध्यात्मिक व्याख्याएँ दी जाने लगीं।

इधर वैष्णवों में पौराणिक, तांत्रिक, आध्यात्मिक, अधिदैविक और अधिभौतिक दृष्टियों से भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीक परकता स्वीकार की गई। कृष्ण द्वारा गोपिकाओं के चीर हरण के विषय का आध्यात्मिक विश्लेषण करने के क्रम में कहा गया है कि, ''विवाह के समय वर द्वारा कन्या को वस्त्र प्रदान किए जाते हैं। तत्पश्चात व कन्या को प्राप्त करता हुआ 'कोऽदात् कस्मा

अदात् काऽमोदात कामायादात् कामो दाता काम: प्रतिगृहीता कामैतते तव कामाय वा भुंजामहे।'' इस मंत्र को पढ़ता है। जिसका अर्थ है पत्नी और पति की परस्पर प्राप्ति काम द्वारा काम की ही प्राप्ति है। इस काम सम्बद्धता का आधिदैविक रूप इस लीला में वस्त्रदान के द्वारा सम्पादित हुआ है। भागवत में 'अत्रागत्याबला: कामं स्व स्व वास: प्रगृह्यताम्' अर्थात् हे गोपकुमारियों, यहाँ आकर काम को ही स्व-स्व वास अथवा आच्छादक रूप में प्राप्त करो'- इस कथन द्वारा इसी का उल्लेख किया गया है। रास में रसमय स्वरूप परब्रह्म के साथ रमण के लिए रसमय शरीर का लाभ होता है। इस रसमय शरीर की भगवदनुसंधान से क्रमश: अभिवृद्धि होती है। जितना जितना भगवदनुसंधान बढ़ता है अथवा व्यसनात्मक निरोध जितना पुष्ट होता जाता है, रसमय शरीर भी उतना ही पुष्टि प्राप्त करता है। प्राकृत शरीर क्षीण होता जाता है और अप्राकृत शरीर पीन होता जाता है। यही अधिदैविक संस्कार का रहस्य है।[96]

हालांकि यह सूक्ष्म विश्लेषण वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित दर्शन का अंग रहा है तथापि इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि राधा-कृष्ण विषयक कामपरक काव्यों में एक रहस्यधन तत्त्व व रसमयता का संगुंफन है। भले ही भक्तिकालीन कृष्णभक्तों ने तद्विषयक गंभीर शास्त्रीय चिंतन किया था पर तथ्य यह प्रतीत होता है कि समानांतर विश्लेषणात्मक चिंतनों का दौर आदिकाल से ही शुरू हो चुका था। अत: इस मत को स्थगित करना कठिन प्रतीत होता है कि विद्यापति पर काम के आध्यात्मिक पक्ष का नहीं प्रभाव पड़ा। उत्तरोत्तर यह श्रुतिगोचर होता है कि लौकिक धरातल पर भक्ति, काम बन जाती है और आध्यात्मिक भूमि पर काम, भक्ति में पर्यवसित हो जाता है। अत: भारतीय मनीषा के तात्त्विक मनन में भक्ति और काम में तत्त्वत: भेद नहीं माना जाता। काम और वासना में अंतर है। काम उद्देश्य प्रणीत होता है। मनुस्मृति की मानें तो 'पुत्रार्थे क्रियते भार्या'। अत: वहाँ संयम और मर्यादा की अर्गला स्थित है। वहीं वासना असंयमित उत्तेजना के शमन का निदान मात्र है। भारत में काम को श्रेयष्कर माना गया है इसके विपरीत वासना सदैव निंद्य विषय रहा।

कृष्ण और राधा विषयक रत्यात्मक काव्य कृतियों में काम को प्राधान्य मिला। हालांकि यहाँ पुत्रोत्पत्ति की भावना के स्थान पर भक्ति के उद्रेक को मुख्य विषय माना गया है। कृष्ण और राधा रस एवं रति के उपादेय तत्त्व बने। इसी क्रम में रास लीला भी 'काम-विजय ख्यापन' ही माना जाता है। कृष्ण ने रासलीला के द्वारा सबके मन को मथित करने वाले काम के गर्व को गलित किया। वेणु के द्वारा सुधादान देकर पहले महादेव के कोपानल से दग्ध हुए कंदर्प को पुष्ट किया और पुनः उसे सर्वथा स्वतंत्र रूप में प्रहार करने के लिए अवसर दिया। इस प्रकार कामदेव को सर्वसाधन संपन्न करने के लिए अवसर दिया। इस प्रकार कामदेव को सर्वसाधन संपन्न करके फिर परास्त करने के लिए ही कृष्ण ने यह ललित लीला की। यह रमण-इच्छा कदापि वासनात्मक नहीं है। सर्वशक्तिमान परिपूर्ण परतत्त्व की पराख्या शक्ति के साथ अनादिसिद्ध रिरंसा (रमण-इच्छा) की उत्कंठा के साथ जो चिद्विलास है वही रास है।[97]

विद्यापति ने अपनी पदावली के मंगलाचरण सूचक पद में लिखा है-

नंदक नंदन कदंबक तरु तर धिरे-धिरे मुरलि बजाव।

समय संकेत निकेतन बइसल बेरि-बेरि बोलि पठाव॥[98]

ब्रह्मसंहिता के अनुसार वेणु ब्रह्मस्वरूप है। जो वाक् या शब्दब्रह्म का प्रतीक है और सृष्टि-प्रवर्तन में महामाया का रूप ग्रहण कर लेता है-

शब्द ब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तम् मुखाम्बुजे।

विलासिनी गुणवृतं तैः स्वैरं स्वरमभिष्टुतम्॥

अथ वेणुनिनादस्य त्रयी मूर्तिमती गतिः।

स्फुरती प्रविवेशाशु मुखाब्जानि स्वयंभुवः॥[99]

अत: विद्यापति जैसे अधीत और शास्त्रज्ञ पंडित के लिए ब्रह्मसंहिता के तत्त्व अपरिचित न होंगे। इसी कारण विद्यापति को भक्तकवि की आख्या दी जाती है। इदानीं लोक में उनकी प्रतिष्ठा एक भक्तिकवि के रूप में है। अत: लोक के वृहद् चिंतन का अनुगमन करते हुए विद्यापति को भक्त कवि माना जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर विद्यापति के काव्य की आध्यात्मिक दृष्टि भी लक्षित होती है। यहाँ विद्यापति की पदावली के साथ चर्यापदों की तुलना की जाएगी।

चर्यापदों और विद्यापति के पदों की तुलना के माध्यम से उनपर पड़े बौद्ध प्रभाव का आकलन करना यत्किंचित रूप में सहज इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि दोनों ही विधाएँ गेयात्मक हैं।

इस क्रम में हम सर्वप्रथम विद्यापति के पदों में प्रतिफलित समाज का विश्लेषण करेंगे। विद्यापति ने जिस समाज का वर्णन किया है वह कहीं कहीं नागर रुचि संपन्न है और कहीं कहीं उसमें ग्रामीण सरलता भी नजर आती है। कवि जहाँ नायक और नायिका का चित्रण करते वहाँ पर नागर जीवन का प्रतिफलन मिलता है। और जहाँ वे शिव पार्वती के गार्हस्थ्य जीवन का

वर्णन करते हैं वहाँ ग्राम्य जीवन परिलक्षित होता है। चर्यापदों में भी कहीं-कहीं नागर जीवन तो कहीं ग्राम्य जीवन की झलकियाँ मिलती हैं। उल्लेख्य है कि चर्याकारों का उद्देश्य नागर या ग्राम्य जीवन के चित्रण की अपेक्षा साधनात्मक तत्त्व का विश्लेषण करना था अत: उनके काव्य में नागर या ग्राम्य जीवन का कोई अंतर नहीं मिलता। सिद्धों को जहाँ भी अपने कथ्य के अनुकूल बिंब मिले उन्होंने उसी परिदृश्य का वर्णन किया। विद्यापति ने जिस समाज का वर्णन किया वह वन कांतारों से भरा था जिसके कारण नायक और नायिकाएँ वहीं पर निशायापन करते हैं-

कुसुमित कानन कालिंदि तीर। तहँ चलि आओल गोकुल वीर॥[100]

विद्यापति द्वारा नागर जीवन के वर्णन का पट का उल्लेख स्वयं उनकी नायिका राधा इस प्रकार करती है-

आधि पद धरइत मोए देखल, नागर जन समाज।[101]

चर्यापदों में भी इसी प्रकार नगर के बाहर बसी डोम्बी का वर्णन किया है-

नगर बाहिरी रे डोम्बी तौहोरी कुड़िया। (चर्या सं. 10)

यहाँ जिस स्थान का वर्णन किया है वह नदी झीलों से भरपूर है जिस कारण चर्यापदों में नाव से जुड़े शब्द, पुल आदि का वर्णन मिलता है।

विद्यापति के समस्त शृंगारिक पद राधा और कृष्ण को लेकर लिखे गए हैं। हालांकि अधिकतर पदों में राधा और कृष्ण का नामोल्लेख तो नहीं हुआ पर यह स्पष्ट है कि समस्त कामातुरा नायिकाएँ राधा एवं उसकी कुछ सखियाँ हैं और उन्हें आकृष्ट कर पाने वाला व्यक्ति कृष्ण के अलावा और कोई नहीं। कहीं-कहीं शृंगारपरक पद अन्य नायक-नायिकाओं को लेकर भी लिखा गया है जैसे-

हम जुवती पति गेलाह बिदेस,

लग नहि बसिय परोसिय कलेस।

सासु दोसरि किछुओ नहीं जान,

आंखि रतौंधि सुनय न कान।

जागह पथिक जाह जनु भोर,

राति अंहार गाम बड़ जोर।

भरमहुँ भौंरि न देअ कोतबार,

काहु क केओ केओ नहि करम विचार।

अधिप न कर अपराधहुँ साति,

पुरुख महत सब हमरे जाति।[102]

इसमें स्पष्ट है कि नायिका जिस पथिक से रुकने को कह रही है वह कृष्ण नहीं वरंच कोई इतर व्यक्ति है। इस प्रकार के कुछेक पदों को छोड़ देने पर बाकी श्रृंगारिक पद राधा-कृष्ण विषयक ही हैं।

डॉ. शशिभूषण दासगुप्त के अनुसार बंगाल में हुए सहजिया वैष्णव आंदोलन, बौद्ध सहजिया संप्रदाय का ही रूपांतरण है। उनके अनुसार-

".....Parakiya love was merely recognised as a theogical speculation in standard Vaisnavism, it was accepted even in its paratical bearing by the Sahajiyas."[103]

विद्यापति के काव्य को देखने पर यह सहज प्रतीती होती है कि उनके द्वारा वर्णित प्रेम व्यापार स्वकीया नहीं वरन् परकीया है। चैतन्य चरितामृत से प्राप्त तथ्यों के अनुसार इसी परकीया प्रेम को आदर्श मानने या इसका वर्णन करने के कारण चैतन्य, विद्यापति, चंडीदास, जयदेव जैसे कवियों से खासा प्रभावित थे। इन्हीं सहजिया वैष्णवों के कारण बंगाल के सहजिया मत को काफी प्रश्रय मिला। जयदेव, विद्यापति, चंडीदास जैसे कवियों को ऐतिहासिक दृष्टि से सहजिया सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि उनके काव्य में निहित कथ्य से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सहजिया मत के पुरस्कर्ता थे। उन्हीं के प्रभाव से रूप, जीव, सनातन, दामोदर गोस्वामी जैसे मूर्धन्य वैष्णव पंडितों ने भी सहजिया मार्ग के आदर्शों को अपनाया था। यहाँ तक कि स्वयं चैतन्य ने भी अपनी साधना संगिनियों के साथ मिलकर इस प्रकार की गुप्त साधनाएँ की थीं जिनसे उन्हें साधना में सिद्धि की प्राप्ति हो। श्री दासगुप्त के अनुसार बुद्ध ने भी अपनी साधना संगिनी गोपा के साथ मिलकर सहज साधना की थी।[104]

श्री दासगुप्त के अनुसार बंगाल का वैष्णव सहजिया संप्रदाय न तो बौद्धों के निकट है और न ही हिंदुओं के।

"The most important of the secret practices is the yogic control of the Sex-pleasure so as to transform it into trancedental bliss, which is at the same time conductive to the health bath of the body and the mind, This yogic practice with its accessories being associated with the philosophy of Siva and Sakti stands at the centre for the net-work of Hindu Tantric systems, and when associated with the speculation on Prajna and Upaya of later Buddhism, has given rise to the Tantric Buddhist cults including the Buddhist Sahajiya system; and again when associated with the speculations of Krishna and Radha conceived as Ras and Rati in Bengal Vaishnavism, the same yogic pratice and discipline has been reponsible for the growth and development of the Vaishnav Sahajiya movement of Bengals."[105]

वे आगे कहते हैं कि बौद्ध तंत्र, गीतों, दोहों और हिंदू तंत्रों का मूलभूत कथ्य और सहजिया वैष्णवों का कथ्य एक ही प्रकार का है। केवल कुछ शब्दावली, प्रतीकों और चिंतनों के अंतर के अलावा बाकी काव्य लगभग एक ही प्रकार का है। राधा और कृष्ण के बीच विद्यमान परकीया प्रेम स्त्री और पुरुष के मध्य स्थित सहज आकर्षण का ही द्योतन करता है।[106] श्री दासगुप्त के अनुसार सहजिया बौद्ध संप्रदाय का मूल लक्ष्य महासुख (Supreme bliss) की प्राप्ति करना है। इस पक्ष में सहजिया बौद्ध का अपने पूर्ववर्ती मतों में भेद नहीं है। पूर्ववर्ती बौद्धों में एक समझौते की मानसिकता भी पाई जाती है। सहजिया बौद्धों की महासुख विषयक चिंतना बौद्धों के

विविध संप्रदायों से अलग है। उनके अनुसार महासुख पूर्ण विलयन की स्थिति नहीं है।

..... though it is a state of arrest and a negative state in so far as it involves the arrest of all states and processes of mind, it is a positive state of supreme bliss has been criticised as a state of mere thought-construction and Nirvana as been defined as a pure state of negotiation bereft of all sorts of thoughts construction; but in general Maha-Sukha itself bereft of subjectivity and objectivity, has been held to be the final state- the state of Vacuity and perfect enlightenment. The final state of Maha-Sukha as the state of Sahaja of the Buddhist is also the final state of Sahaj with the Vaishnava Sahajiyas; but the Vaishnavas conceived this Sahaja state as the state of supreme love....."[107]

इस सहज का चरम लक्ष्य अद्वैत भावना है। बौद्ध संप्रदाय इसे प्रज्ञा और उपाय की अद्वैतता के रूप में देखता है। शिव या उपाय और शक्ति या प्रज्ञा के प्रतीक स्त्री-पुरुष के रूप में उभरते हैं क्योंकि साधना के द्वारा स्त्री या पुरुष अपने अंतस में निहित शिवत्व या शक्तित्व को पहचानते हैं। अत: सहजिया वैष्णवों ने उक्त चिंतना को अत्यंत सहज रूप में ही अपने संप्रदाय का महत्वपूर्ण अंग बना लिया।[108] सहजिया बौद्धों में मानसिक शक्ति के विकास की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इस क्रम में साधक एक ऐसी स्थिति में पहुँचता है जहाँ कामजन्य भावनाएँ भी यौगिक क्रियाओं के द्वारा नियंत्रित की जाती हैं और इस क्रम में चिंतन को एक अद्वैत स्थिति तक पहुँचाया जाता है। इसी मानसिक विकास और अद्वैत स्थिति की प्राप्ति पर सहजिया वैष्णवों ने भी बल दिया है।[109]

श्री दासगुप्त जी ने बार-बार सहजिया बौद्धों का उल्लेख किया है जबकि पूर्ववर्ती अध्याय में हम कह ही चुके हैं कि सहजयान नामक किसी अलग संप्रदाय का उल्लेख नहीं मिलता, विद्वानों ने सहजयान के जो लक्षण बताए हैं वह अनुत्तर तंत्र के साथ मेल खाते हैं अत: यह प्रतीत होता है कि इन विद्वानों ने अनुत्तर तंत्र को ही सहजयान कहा है। अत: अनुत्तर तंत्र से ही कृष्ण और विशेषकर राधा का विकास माना जा सकता है। इसकी विस्तृत चर्चा भक्तिकाल में की जाएगी। विद्यापति ने अपने पदों में लगभग हर स्थान पर परकीया प्रेम का उल्लेख किया है। यही अवस्था चर्यापदों में भी परिलक्षित होती है। यहाँ सभी पदों में परकीया प्रेम का वर्णन मिलता है। केवल एक पद में काह्नपाद विवाह और विवाहोत्तर प्रेम या रति-यापन की चर्या करते हैं-

जअ जअ दुन्दुहि सादु उछलिआँ।

काह्न डोम्बि-बिवाहे चलिला॥

डोम्बि बिवाहिआ अहारिउ जाम।

जउतुके किअ आणुतु धाम॥

अहणिसि सुरअ पसङ्गे जाअ।

जोइणिजाले रएणि पोहाअ॥

डोम्बीएर सङ्गे जो जोइ रत्तो॥

खणह ण छाड़अ सहज उन्मत्तो॥ चर्या- 19

केवल यही नहीं चर्यापदों में डोम्बी का चित्रण 'सामान्या' के रूप में भी हुआ है-

बिदुजन लोअ तारँ कण्ठ मेलई॥

काह्ने गाइतु कामचण्डाली।

डोम्बित आगलि णाहि च्छिणाली॥ चर्या-18

यहाँ च्छिणाली (छिनाल) शब्द के प्रयोग से डोम्बी का यह रूप उभरकर आता है। और एक स्थान पर शबरपाद कहते हैं-

शबरो भुजङ्ग णइरामणि दारी पेह्म राति पोहाइली॥ चर्या- 28

यहाँ शबर को भुजंग अर्थात् लम्पट या वेश्यामामी कहा है और साधना संगिनी (णइरामणि) को दारी अर्थात द्विचारिणी या चरित्रहीना कहा गया है। चर्या सं. 2 में भी कुक्कुरीपाद ने घर की बहू का उल्लेख करते हुए कहा है कि दिन में कौवे से डरने वाली बहू रात होने पर कामरूप जाती है-

ससुरा निद गेला बहुड़ी जागअ।

कानेट चौरि निल का गइ मागअ॥

दिवसइ बहुड़ी काउइ डरे भाअ।

राति भइले कामरु जाअ॥ (चर्या सं. 2)

चर्या सं. 20 में कुक्कुरीपाद ने ही एक विवाहिता स्त्री की प्रसव वेदना, पति से निराशा और जीवन के प्रति अनासक्त भाव का चित्रंण उसी के शब्दों में कुछ इस प्रकार किया है-

हाउँ निरासी खमण भतारे।

मोहेर बिगोआ कहण नजाइ॥

फेटलिओ गो मात्र अन्तउड़ि चाहि।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥ (चर्या सं. 20)

इस पद में कुक्कुरीपाद ने एक स्त्री की करुण गाथा का बयान जिस रूप में दिया वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन पदों के अलावा बाकी पदों में परकीया नायिका का ही वर्णन हुआ है। उल्लेख है कि समस्त चर्यापदों में इस प्रकार से नायक नायिका के वर्णन नहीं मिलते बल्कि इनमें

क्रियातंत्र और चर्यातंत्र विषयक गीत भी समाहित हैं जिनमें व्यक्ति के स्थान पर मात्र प्रतीकों का ही प्रयोग किया गया है।

अनुत्तर तंत्र से संबंधित गीतों में उल्लेखित डोम्बी, शबरी, चंडाली जैसी नायिकाएँ स्थूल न होकर प्रतीकों के रूप में आए हैं। यह सभी प्राणायामों के प्रकार हैं और इन्हीं बिंबों व प्रतीकों के माध्यम से गीतकारों ने अपने कथ्य की पुष्टि की है। यदि इन प्रतीकों को सहजिया वैष्णवों ने ग्रहण किए तो कोई आश्चर्यकर व्यापार नहीं क्योंकि यह प्रतीक परवर्ती कवियों को परम्परा में मिले हैं।

सिद्धों के द्वारा चित्रित शबर-शबरी, डोम्बी, मातंगी, शुण्डिनी आदि पात्रों की ऐतिहासिक उपिस्थति महत्व नहीं रखता। ये पात्र स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म जगत् के अधिक निकट हैं। तथापि इन पात्रों का वर्णन स्थान-स्थान पर जीवित व्यक्ति के रूप में हुआ है। इसी प्रकार की भावना विद्यापति में भी लक्षित की जा सकती है। विद्यापति के राधा-कृष्ण ऐतिहासिकता या वृंदावन की परिसीमा में आबद्ध नहीं रह गए। उनका चित्रण स्थूल पात्रों के रूप में किया गया जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि राधा-कृष्ण का रूपांतरण किसी स्त्री या पुरुष के रूप में हो गया है।[110]

सहजिया वैष्णव साधक स्वयं भी परकीया प्रेम के माध्यम से साधना में अग्रसर होते थे। ऐसा माना जाता है कि चंडीदास को रामी नामक एक धोबिन से प्रेम था।[111] वहीं विद्यापति के विषय में भी यह कहा जाता है कि उन्हें राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमादेई से प्रेम था। यही प्रेम चैतन्य ने भी विविध साधना संगिनियों के साथ किया जिससे उनकी साधना सिद्ध हो।[112] इस परकीया प्रेम की परंपरा को वे बौद्धों से आयातित मानते थे। उनके अनुसार स्वयं बुद्ध ने भी अपनी गोपा नामक साधना संगिनी के साथ मिलकर सहज साधना की थी।[113] पर आश्चर्यकर व्यापार यह है कि दासगुप्त जैसे विद्वान ने इस बात पर विश्वास कैसे कर लिया? यदि बुद्ध के संबंध किसी

स्त्री से थे तो उन्होंने बौद्ध संघ में कठोर ब्रह्मचर्य के पालन पर इतना बल क्यों दिया ? यहाँ तक कि अनुत्तर तंत्र के साधकों के अलावा अभी तक बाकी संप्रदाय कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करते आए हैं। अत: बौद्ध होने मात्र से उन्हें एक ही लकड़ी से हाँकना गलत है जैसा कि अब तक के विद्वान करते आए हैं। अनुत्तर तंत्र का स्खलन या विकास सहजिया रूप में हुआ यह विश्वास है पर बुद्ध के विषय में कोई बात करना उचित नहीं। पहले कहा ही जा चुका है कि बौद्ध संघारामों के ध्वस्त होने के बाद हिन्दू मंदिरों में भिक्षुणियों का प्रवेश हुआ इसी के बाद शनै: शनै: राधा का भी क्रम विकास हुआ। उल्लेख्य है कि अठारहवीं शताब्दी तक कहीं भी राधा-कृष्ण का मंदिर नहीं मिलता। वृंदावन में जो मंदिर हैं आरंभिक अवस्था में वहाँ केवल कृष्ण के विग्रहों की प्रतिष्ठा की गई। काफी समय बाद उड़िसा के किसी प्रधान ने कृष्ण के बगल में श्रीमती (राधा) का विग्रह स्थापित किया जिसके देखा देखी यह परंपरा चल गई।[114]

सुभाष चंद्र पटनायक नामक उड़िया विद्वान के अनुसार -

Radha has developed into a major model in the eyes of Krishna worshippers. But she was conceived by Sri Jaidev in consonace with the now extinct, Mahabodhi Civilization of Orissa. The immortal love lyrist Orissa had willfully created her to propagate the female- centric philosophy of Vajrayana.

Antagonists of Buddhism having failed to undo the Buddhist impact of the Sahajia lyrics of Jaidev, has usurped Radha for Hindu religion Projecting her as the beloved concert of Krishna of Dwarka..... Radha as..... wife of Chandrasena was nothing but a product of the tactics of interpolation adopted for burying down her roles as a Sahaja Nayika of the Sahajayana (Kama Vajrayana) school of Buddhism.[115]

चैतन्य के गुरु राय रामानंद पटनायक भी उड़िसा के थे और वे जयदेव द्वारा प्रवर्तित 'राधा संप्रदाय' में दीक्षित थे। जयदेव ने इस संप्रदाय का प्रवर्तन केवल सहजिया बौद्धों सिद्धांतों के रूपांतरण के उद्देश्य से किया।[116]

प्रसिद्ध है कि विद्यापति को राजा शिवसिंह ने 'अभिनव जयदेव' की उपाधि से विभूषित किया था।[117] अत: अभिनव जयदेव बनने के पहले निश्चित रूप से विद्यापति ने जयदेव के सिद्धांत और दर्शन को आत्मसात किया होगा। इसी क्रम में विद्यापति के युगल वर्णन पर भी बौद्ध प्रभाव परिलक्षित होता है। एक स्थान पर जहाँ नव यौवना राधा, कृष्ण को रति क्रीड़ा से विरत रहने को कहती है-

ए हरि बले यदि परसबि मोय। तिरि बध पातक लागए तोय।[118]

इसी प्रकार चर्या संख्या 28 में भी शबरी, शबर से उन्मत्त होकर रति क्रीड़ा न करने की प्रार्थना करती है-

उमत सवरो पागल शवरो मा कर गुली गुहाड़ा तोहौरी। चर्यापद का शबर तो भुजंग है जो किसी प्रकार अभीष्ट की प्राप्ति कर ही लेता है परंतु विद्यापति के नागर कृष्ण समझ जाते हैं कि कच्ची अवस्था में फल में मिठास नहीं होता।[119]

दरअसल विद्यापति के पदों और चर्यागीतों में यह अंतर इसलिए आया क्योंकि चर्यागीत को आदर्श की अपेक्षा अपने सैद्धांतिक लक्ष्य तक पहुँचना था जबकि विद्यापति को कृष्ण के चरित्र का मंडन करना था। परंतु हर बार एक-सा परिदृश्य नजर नहीं आता। विद्यापति ने अपने काव्य को उत्तेजक बनाने के लिए ऐसे भी दृश्य उभारे हैं जहाँ राधा कृष्ण से मुक्ति पाने की प्रार्थना करती रही और कृष्ण उन्मत्त शबर की भाँति आगे बढ़ते गए-

सुन सुन नागर निबि-बंध छोर।

गाँठिते नहिं सुरत बंध मोर।

सुरत क नाम सुनल हम आज।

न जानिअ सुरत करए कौन काज।....

.....बेरी एक माधब सुन मझु बानि।

सखि सयं खोजि माँगि देब आनि।[120]

दरअसल विद्यापति के पद एकालाप, परस्पर संवाद या दृश्य या क्रिया वर्णन के रूप में उभरते हैं जबकि चर्यापदों में इसके लिए स्थान नहीं होते।

विद्यापति ने शिव-पार्वती के दाम्पत्य जीवन के वर्णन के माध्यम से मिथिला के ग्राम्य जीवन के अकाल और दुर्दशा को प्रस्तुत किया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो इस दम्पति के जीवन में व्याप्त अकाल कैलाश शिखर में सीमित नहीं रहा वह तत्कालीन मिथिला की दैन्य दशा है- एक स्थान पर पार्वती शिव से कर्मठ बनने को कहती है और शिकायत करती है-

बेरि-बेरि अरे सिब मों तोय बोलों, फिरसि करिअ मन माप।

बिन संक रहह भीख माँगिए पए, गुन गौरब दुर जाय॥

निरधन जब बोलि सब उपाहासए, नहि आदर अनुकम्पा।....

..... खटँग काटि हर हर जे बनाबिअ, त्रिसुल तोड़िए करु फार।

बसहा धुरन्धर हर लए जोतिअ, पाटए सुरसरि धार।

.... भनइ विद्यापति सुनहु महेसर, इ लागि कएलि तुअ सेवा।

एतए जे बर से बर होअल। ओ तए जाएब जनि देवा॥[121]

इसी प्रकार चर्या संख्या 20 में भी एक भिक्षु की पत्नी अपने अनासक्त पति की शिकायत करते हुए कहती है कि - हाउँ निरासी खमण भतारे।

मोहोर बिगोआ कहण नजाइ॥

फेटलिउ गो माए अन्तउड़ि चाहि।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥

इस स्त्री की 'जा एथु चाहाम सो एथु नाही' की स्पष्ट परछाई पार्वती की उक्ति 'एतए जे बर से बर होअल, ओतए जाएब जनि देवा' अर्थात् यहाँ जो मिलना था वह तो मुझे मिल गया, लेकिन परलोक में मुझे इस प्रकार का फल मत देना, में दिखती है।

विद्यापति ने शिव के जिस स्वरूप का चित्रण किया है उससे काह्नपाद द्वारा किए गए कापालिक के चित्रण में अद्भुत मेल है। हालांकि बौद्धों में भांग निषिद्ध होने के कारण काह्न उसका उल्लेख नहीं करते पर बाकी स्वरूप प्राय: एक ही है- यहाँ खंड-खंड में विद्यापति के शिव का स्वरूप दिया जा रहा है-

अ. बित्ता भरि तन बसन न तिन्हका

आ. बन-बन फिरथि मसान जगाबथि

इ. अभरन आपन रुद्रक माल[122]

कापालिक काह्न का वेश चर्या संख्या 10 में दिया है-

निधिण काह्न कापालि जोइ लाङ्ग।.....

तु लो डोम्बी हाँउ कपाली।

तोहोर अंतरे मोए घलिलि हाड़ेर माली॥

कापालिकों का संप्रदाय प्राक् वैदिक और वेदबाह्य है जिसकी चर्चा की जा चुकी है। संभवत: उसी से शिव के इस स्वरूप का विकास हुआ हो। डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय के पुष्ट उद्धरणों से यह कहा जा चुका है कि बौद्धों से यह कापालिक साधना हिन्दुओं में आई। यहाँ पर विद्यापति अनायास ही उस पुरातन पंरपरा के सूत्र को पकड़ लेते हैं। शिव जाति से कुलहीन हैं अर्थात् नकुल हैं-

हर के माय बाप नहि थिकइन, नहि छइन सोदर भाय।[123]

इसी बात की प्रतीती काह्नपाद के 'निघिण काह्न कापालि' में होती है।

विद्यापति ने अनेक प्रहेलिकामय पदों की भी रचना की

जाहि लागि गेलि हे ताहि कहाँ लइलि है

ता पति बैरि पितु काहाँ?

अछलि हे दुख सुख कहह अपनमुख

भूषन गमओलह जहाँ।

सुन्दरि की कए बुझाओब कंते।

जन्हिका जनम होइत लोहे गेलिहु

अइलि हे नन्हिका अन्ते॥

जाहि लागि गेलहु से चति आएल

से मोयँ धाएल नुकाई।

से चलि गेल ताहि लए चललिहु

तें पथ भेल अनेआई॥

संकर-बाहन खेड़ि खेलाइन

मेदिनि बाहन आगे।.....

..... जाहि दुइ खोज करछथि सासुन्हि

से मिलु अपना संगे। ....[124]

अब सबसे बड़ा प्रश्न यह उदित होता है कि प्रेम की सरस अभिव्यक्ति करने वाले कवि को पहेली रचने की आवश्यकता क्यों पड़ी। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त के अनुसार यह शैली भी परवर्ती कवियों को बौद्धों की देन है।[125] उनके अनुसार चर्या पदों के प्रतीक कबीर व सुंदरदास ने ग्रहण किए और उसी के सामानांतर भावों के गीत बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में अब भी प्रचलित हैं। संधा भाषा या संध्या भाषा पूरे भारतवर्ष में रहस्यात्मक संप्रदायों के लिए गूढ़ तत्त्वों की अभिव्यक्ति एक साहित्यिक कौशल बन गया। बौद्धों और परवर्ती कवियों में यह परंपरा अविच्छिन्न रूप में मिलती है।[126] वे इसी पंरपरा में विद्यापति को भी रखते हुए कहते हैं कि विद्यापति ने भी इसी प्रकार के 'प्रहेलिका गीतों' की रचना की थी।[127]

हालांकि सिद्धों की भाषा मात्र प्रहेलिकामय भाषा थी वह संध्या या संधा भाषा नहीं थी इतना पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। परंतु यह अवश्य है कि बौद्धों के प्रहेलिकामय पदों का प्रभाव निश्चित रूप से विद्यापति पर भी पड़ा जिस कारण उन्होंने उक्त प्रकार के पदों की रचना की। ढेंढनपा द्वारा रचित चर्या संख्या 33 इसी प्रहेलिकामय गीत का एक सशक्त उदाहरण है-

टालत मोर घर नाही पड़बेसी।

हाड़ित भात नाहि निति आवेशी॥

वेगे संसार बडहिल जाअ।

दुहिल दुधु कि बेण्टे समाअ॥

बलद वियाएल गविआ बाँझे।

पिटा दुहिए ए तिना साँझे॥

जो सो बुधी सौ निबुधी।

जो षो चौर सौ दुषाधी॥

नित नित षियाला षिहे षम जुझअ।

ढेण्ढणपाएर गीत बिरलैं बुझअ॥

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि विद्यापति पर चर्यापदों के कथ्य और अभिव्यंजना शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। हालांकि सिद्धों का अभीष्ट शृंगार वर्णन करना नहीं था। अपने सिद्धांतों की प्रतिष्ठा के लिए ही उन्होंने ये गीत रचे। तथापि उन्होंने अपने बिंबों के सृजनार्थ नायक नायिकाओं का वर्णन किया जिनका क्रमविकास राधा-कृष्ण के युगल के रूप में हुआ। सिद्धों और विद्यापति में विशेष अंतराल न होने के कारण सिद्धों के महती अभियानपरक साहित्य का प्रभाव विद्यापति पर पड़ना सहज अनुमेय है।

संदर्भ :

1. हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, करुणापति त्रिपाठी, पृ.7
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', पृ.46, अध्याय 2
3. वही, पृ.43
4. कुमारिल भट्टपाद आरु आचार्य धर्मकीर्ति, मनोरंजन शास्त्री। (पृ.8)
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं.-नगेन्द्र, (पृ.78)
6. वही, पृ.79
7. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.8
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा.नगेन्द्र, पृ.82
9. वही, पृ.83
10. दोहा कोशगीति, कृष्णपादीय: दोहाकोश:, 30, पृ.9
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृ.6
12. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृ.6
13. अपभ्रंश और अवहट्ठ: एक अंर्तात्रा, डॉ. शंभूनाथ पांडेय, पृ.10
14. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, पृ.29
15. वही, पृ. 216
16. हि.सा.ई, शुक्ल, पृ.10
17. दोहा कोश गीत, एच.सी. भयानी, पृ.16
18. अपभ्रंश और अवहट्ठ : एक अंतर्यात्रा, शंभुनाथ, पृ.46
19. वही, पृ.12
20. हि.वि.अ.का योग : डॉ. नामवर सिंह, पृ.315
21. दोहा कोश गीत/एच.सी. भयानी, पृ.20
22. अवहट्ठ और अपभ्रंश : शंभुनाथ, पृ.66
23. अवहट्ठ, शंभुनाथ, पृ. 69
24. हि.वि. अ.यो, नामवर सिंह, पृ.229
25. दोहाकोषगीत, सं.एच.सी. भयाणी, पृ.प्त, दोहा सं.15

26. हि.वि.अ.या, नामवर सिंह, पृ.228
27. पाहुड़ दोहा, संपा.हीरालाल जैन, भूमिका, पृ.13
28. हि.वि.अ.या, नामवर सिंह, पृ.298
29. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृ. 5,6
30. अपभ्रंश और अवहट्ठ : एक अंतर्यात्रा, शंभुनाथ, पृ.34
31. वही, पृ.35
32. दोहाकोष, पृ.35
33. पाहुड़ दोहा, पृ.36
34. दोहाकोष, पृ.20
35. पाहुड़ दोहा, पृ.62
36. दोहाकोष, पृ.35
37. पाहुड़ दोहा, पृ. 36
38. दोहाकोष, पृ.20
39. पाहुड़ दोहा, पृ.28
40. दोहाकोष, पृ.3
41. पाहुड़ दोहा, पृ.58
42. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ.96
43. हिंदी साहित्य की भूमिका, ह. द्विवेदी, पृ.9
44. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर, पृ.155
45. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, डा. बेनीप्रसाद
46. आदिकालीन हिन्दी साहित्य, शंभुनाथ पांडेय, पृ. 275
47. नाथ संप्रदाय, ह.प्र. द्विवेदी, पृ.40
48. वही
49. शिव, निर्मलप्रभा बरदलै, पृ. 289
50. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, पं. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ.365
51. दोहाकोष, बागची, पृ.31
52. वही, पृ. 46

53. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ.259
54. नाथ सम्प्रदाय, द्विवेदी, पृ.80
55. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, न. उपाध्याय, पृ.362
56. नाथ संप्रदाय, द्विवेदी, पृ.82
57. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ.13,14
58. नाथ संप्रदाय, द्विवेदी, पृ.155
59. वही
60. आदिकालीन काव्य संग्रह
61. नाथ सं., द्विवेदी, पृ.199
62. वही
63. रिलीजन ऑफ टिबेट, चार्ल्स बेल, पृ. 129
64. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ.205
65. हिन्दी साहित्य का इतिहास/सं.- नगेन्द्र/पृ.49
66. वही
67. कबीर, द्विवेदी, पृ.42
68. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ.228
69. पाहुड़ दोहा, पृ.64
70. गोरखबानी, पृ.11
71. दोहाकोष, बागची, पृ.32
72. दोहाकोषगीति, तिल्लोपादीयः दोहाकोशः, पृ. 13
73. कबीर, द्विवेदी, पृ.69-70
74. नाथ संप्रदाय, द्विवेदी, पृ.91
75. गोरखबानी, पृ.117
76. वही, पृ.81
77. वही, पृ.120
78. वही, पृ.141
79. दोहाकोशगीति, सं एच.सी भयाणी, पृ.15

80. आदिकालीन काव्य संग्रह, पृ.36
81. दोहाकोशगीति, सं.भयाणी, पृ.23
82. आदिकालीन काव्य संग्रह, पृ.36
83. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेन्द्र, पृ. 85
84. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 24
85. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा नगेन्द्र, पृ. 77
86. वही
87. वही
88. वही
89. हिन्दी साहित्य का इतिहास
90. खुसरो की हिन्दी कविता, संपा. ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी भा, संवत् 2030 पृ. 47
91. वही, पृ. 48
92. Obscure Religious Cults, Dasgupta, पृ. 424 पद टीका
93. वही
94. विद्यापति पदावली, डॉ. देशराज सिंह भाटी, पृ.1
95. विद्यापति विवेचना, शेखरज्योति शील, पृ.9
96. कृष्णलीला-विमर्श, डॉ. जगदीश भारद्वाज, पृ. 36
97. वही, पृ. 51
98. विद्यापति विवेचन, शेखरज्योति शील, पृ.47
99. कृष्णलीला विमर्श, भारद्वाज, पृ.33
100. विद्यापति पदावली, डॉ. देशराज सिंह भाटी, पृ. 234
101. वही, पृ.118
102. वही, पृ.18
103. Obscure Religious cults, Dasgupta, पृ.113
104. वही, पृ.144-115
105. वही, पृ.114-115
106. वही, पृ.119

107. वही, पृ. 120-121
108. वही, पृ. 121
109. वही, पृ. 122.
110. वही, पृ. 133
111. वही, पृ.124
112. वही, पृ. 115
113. वही
114. Orissamatters.com, 2002, 10, 11, radha.
115. वही
116. वही
117. विद्यापति पदावली, डॉ. देशराज सिंह भाटी, भूमिका पृ.1
118. वही, पृ. 182
119. वही, पृ. 182
120. वही, पृ. 186
121. वही, पृ. 381
122. वही, पृ. अ. 382, आ. 382, ई. 385
123. वही, पृ. 384
124. विद्यापति विवेचन, शेखरज्योति शील, पृ. 131
125. Obscure Religious Cults, Dasgupta, पृ. 424. (परिशिष्ट)
126. वही
127. वही, पृ. 424 पाद टीका

अध्याय-4

भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

अध्याय-4

भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

हिन्दी साहित्येतिहास का द्वितीय कालखंड भक्तियुग है। उक्त कलांश में भगवद्-भक्ति के प्रचार-प्रसार के परिणामत: भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हुआ और अपनी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे लोक-प्रचलित भाषाएँ भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गयीं और इसी अंतराल में भक्ति-विषयक साहित्य का चरम विकास हुआ। चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान, जैन हो, चाहे बौद्ध कोई भी इस भक्ति आंदोलन के आकर्षक प्रभाव से अस्पृश्य न रहा। इस्लाम के निरंतर आक्रमण और भारतीय रजवाड़ों की दुर्बल, अशक्त शासन तंत्र के कारण भारत की स्थिति जर्जर हो चुकी थी। भक्ति आंदोलन ने क्रमश: इस विशृंखल होते हुए भारतीय समाज और आस्थाओं का पुनरुद्धार कर अनुषंगिक रूप से महती आदर्शों से परिपूर्ण कर दिया। इसी से भारतीय मनीषा पुन: अपने पुरातन आदर्शों से अनुप्राणित होकर अपनी शिराओं में नव्य तेज संचरित कर स्फुरत् वेग से अग्रसरित हुआ। भारत में इस्लाम जैसे विपरीत प्रवृत्तियुक्त और असहिष्णु धर्म के आगमन के साथ इस देश में विकट परिस्थितियों का उदय हुआ। विशेषकर उत्तर भारत को इस प्रकार की विषम परिस्थितियों से गुजरना पड़ा इसी कारण भक्ति-आंदोलन का विशद् प्रभाव भी इसी क्षेत्र पर पड़ा। सूर, तुलसी, कबीर, जायसी ने अपनी अमृतमय वाणी के वारिद बूँदों से कालाग्नितप्त इस भूखंड को शीतल किया। ब्रज और अवधी जैसी लोकभाषाएँ साहित्यिक सौंदर्य और रचना सक्षमता के साथ उभरीं। महाकवियों ने इन भाषाओं को उत्कृष्ट रूप

प्रदान किया। जिससें भाषा का परिमार्जन और परिष्करण होता गया। इसी के कारण तुलसीदास के लिए ये पंक्तियाँ कही गई हैं-

''कविता करके तुलसी न लसै,

कविता लसी, पा तुलसी की कला॥''

इसी विशिष्ट कालखंड में साहित्य की चिंतन-धारा अत्यंत उच्च भूमि में स्थित हुई जिसके कारण समग्र भारत का सामाजिक दैनन्दिन जीवन प्राणवंत हो उठा। भारतीय मनस् के हृत्तंत्री के तारों को झंकृत कर पाने वाले और भविष्य के लिए उत्कृष्ट और कालजयी उद्धरण प्रस्तुत कर पाने वाले कवियों की गरिष्ठ संख्या फिर कभी सामने नहीं आई। इन्हीं अखंड तथ्यों के कारण यह युग हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है।

पद्मपुराण में उल्लिखित अनुश्रुति के अनुसार भक्ति ने नारद को अपने जन्म की कथा सुनाते हुए कहा है-

उत्पन्न द्राविड़े चाहं, कर्णाटके वृद्धिङ्गता।

क्वचित्क्वाचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥[1]

अर्थात् मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में कुछ कलांश तक रही और गुजरात में जाकर बूढ़ी हो गई।

विद्वानों के अनुसार बहिरागत आर्यों के अग्रासन के चलते द्रविड़ दक्षिणात्य की ओर बढ़ते गए और वहीं पर उनकी संस्कृति का भी चरम विकास हुआ। परंतु कुछ विद्वानों का मानना है कि हड़प्पा और सिंधुघाटी सभ्यता आर्य परंपरा रही थी। वेदों में आर्य शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ और जो संस्कृति श्रेष्ठ है वही आर्य संस्कृति है। इससे आर्यों के बहिरागत होने के तथ्य भी भ्रांतिपूर्ण लगते हैं। आर्यों में दैत्य, म्लेच्छ, दास जैसे शब्द तो प्रचलित थे पर 'द्रविड़' शब्द कहीं भी नीच या निष्कर्मा लोगों के लिए नहीं आया है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो 'आर्य' और 'द्रविड़' पर्यायवाची शब्द लगते हैं। द्रविड़ शब्द 'द्रष्टा विद्' से बना होगा। वेदों को अपौरुषेय मानने वाले यह मानते हैं कि - 'ऋषय:मंत्र द्रष्टारौ न तु मंत्र कर्तारौ'। यही मंत्र द्रष्टा ऋषिगण द्रविड़ कहलाते होंगे। पाँच हजार सालों के विगत इतिहास में क्या-क्या परिवर्तन आए कौन जानता है? द्रष्टा विद् ही भक्ति की चर्चा कर सकते हैं न कि कोई असंस्कृत जाति। पहले के विद्वान आर्यों को बहिरागत मानते थे यह धारणा साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से प्रभावित अंग्रेजों ने शुरू की थी। परंतु अब हाल के नवीन शोधों के आधार पर आर्यों को भारत का मूल निवासी ही माना जा रहा है।[2] कुछ विद्वानों ने सिन्धु घाटी सभ्यता में मिले मछली की आकृति वाले सीलों (Seal) को देखते हुए उन्हें द्रविड़ मूलीय माना है इसके पीछे उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि आर्यों में मछली खाने की प्रथा नहीं थी। आर्यों के आगमन के बाद जिन प्रांतों में उनका वर्चस्व नहीं रहा वहाँ द्रविड़ बस गए और उनकी संस्कृति पुष्पित पल्लवित होने लगी इसी कारण बंगाल, उड़ीसा जैसे क्षेत्रों में शादी-ब्याह, श्राद्ध आदि हर मंगल कृत्य में मछली को शुभ माना जाता है।[3] परंतु यह तथ्य इतना प्रभावशाली नहीं लगता क्योंकि इतनी पुरातन संस्कृति में विस्तारित खाद्याभ्यासों की जानकारी किसे है? वैसे सिंधु घाटी सभ्यता की लिपि अब तक पढ़ी नहीं जा सकी है, क्योंकि वह चित्र लिपि और अक्षरों का मिलाजुला रूप है इसलिए इसका पाठोद्धार इतना सहज भी नहीं है। आखिर इतिहास भी विज्ञान की भांति किन्तु-परन्तु वाले उत्तरों पर आधृत नहीं हैं बल्कि इसमें ठोस उत्तर और एक समान निष्कर्ष की खोज की जाती है। इसी कारण अब तक के लगभग सारे दावों पर सवालिया निशान लगने के कारण खारिज कर दिए गए।

अगर इन द्रविड़ों को मंत्र द्रष्टा मान भी लें तो भक्ति का उद्गम इनके द्वारा होना सहज ही प्रतीत होता है। भक्ति की उत्पत्ति वैदिक युग में ही हो गई थी। प्राकृतिक शक्तियों के प्रति भय और उनसे रक्षार्थ किसी देवता का सृजन और उनकी आराधना द्वारा सांगोपांग रूप से ऐहिक

कामनाओं की प्राप्ति के मार्ग भी खोजे गए। पुराणकाल में देवताओं का विकास और अवतारों की कल्पना भी विशुद्ध रूप में हुई। न जाने कितने ही लोकदेवताओं का हिंदूकरण हुआ और कितने ही हिन्दू देवताओं का बहिर्गमन हुआ और उनकी शास्त्रीय पूजाओं का स्थान लोकाचारों ने ले लिया।

पाणिनी के अष्टाध्यायी (12/3/98) में प्राप्त सूत्रों के अनुसार भक्ति की धारा पाँचवीं शताब्दी ई. पू. में भी मिलती है। ई.पू. चतुर्थ शताब्दी में जब मेगस्थानीज़ भारत आया था उस समय भी मथुरा के निकटवर्ती स्थानों में वासुदेव की पूजा एक बड़े ही प्रभावशाली देवता के रूप में की जाती थी।[4]

बौद्धों और वैष्णवों में अवतारवाद की धारणा विशद् रूप में पाई जाती है, पर यह कह पाना संभव नहीं कि यह अवधारणा कब शुरू हुई ? यह कह पाना भी संभव नहीं कि आखिर यह अवधारणा बौद्धों में शुरू हुई या वैष्णवों में। वैष्णवों में विष्णु के दशावतार, शैवों में एकादश रूद्रावतार और शाक्तों में नवदुर्गा या दशमहाविद्या की वर्णना मिलती है वहीं बौद्धों में भी जातक की कथाओं में बुद्ध के विविध अवतारों का उल्लेख मिलता है। परंतु द्वितीय शताब्दी ई.पू. में प्राप्त विष्णु के विविध अवतारों की मूर्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अवतारवाद की धारणा का आरंभ हो चुका होगा।[5]

पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दुओं और बौद्धों ने एक दूसरे को सशक्त रूप में प्रभावित किया था और उनके देवताओं में भी काफी आगमन-निगमन हुआ। यहाँ तक कि स्वयं बुद्ध भी विष्णु के नवम अवतार मान लिए गए।

निन्दसि यज्ञ विधेरहह श्रुतिजातम्।

सदयहृदय दर्शित पशुधातम्॥

केशवधृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे॥1/13॥ (गीतगोविंदम्)

कतिपय बौद्ध पीठ भी वैष्णव पीठों में बदल गए और उनके देवता बुद्ध से विष्णु में पर्यवसित हो गए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण पुरी का जगन्नाथ मंदिर है। माना जाता है कि जगन्नाथ मंदिर पहले बौद्धों का था, बाद में बुद्ध-मूर्ति के सामने किसी वैष्णव राजा ने एक दीवार खड़ी कर दी और इन दिनों जिसे जगन्नाथ ठाकुर की मूर्ति कहते हैं, वह भी बुद्धदेव की अस्थि रखने के पिटारे के सिवा और कुछ नहीं है। उड़िसा का महिमा संप्रदाय, बंगाल के रमाई पंडित का शून्यपुराण आदि बौद्ध धर्म के ही भग्नावेश हैं।[6]

जगन्नाथ मंदिर पर विशद् शोध करने वाले मुरलीधर मोहंती के अनुसार-

The legend is assignable to 6th/7th century AD when Buddha was established as a Avatara of Vishnu. The Bhauma rulers who were mostly Buddhist and caused the spread of Tantric Budhism and incorporated Tantric elements in Brahmanical religion might have introduced Buddhist influence on Jagannath culture. The famous car festival of Jagannth is asserted to have been brrowed from the Buddha, Dharma and Sangha identifying Jagannath, Subhadra, Balabhadra respectivelly. The denouncement of casts in Buddhism is reflected in the worship pattern of lord where all casts are allowed to pertake food together. On the analysis of Buddhism and Vaishnavism we find a lot of similar triats which through gradual process of appreprіation and assimilation become constituent parts of either religion.

Jagannath as the mainfestation of Buddha is mentioned forst in the work ' Jnanasiddhi' of Indrabhuti, the king of Uddiyana, the founder of Vajrayana system in Buddhism. In the verses 1, 27 and 92 of Jnanasiddhi.[7]

बौद्ध धर्म में लोकेश्वर नामक एक देवता हैं जो कि जगन्नाथ का ही पर्याय स्वरूप लगता है। इसी प्रकार खोजने पर अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ इन दोनों धर्मों की निकटता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। बौद्धों की योगिनियाँ ही हिन्दू मंदिरों में देवदासियों के रूप में प्रविष्ट हुईं। चांडाली,शबरी आदि परकीया प्रेमिकाओं का विकास परकीया राधा के रूप में हुआ जबकि मूल भारतीय संस्कृति के अनुसार परकीया प्रेम अपराध है और जबकि स्त्री विवाहिता हो अर्थात् किसी और की पत्नी हो तो वह माता के समान होती है।

'मातृवत् परदारेषु य: पश्यति स: पंडित: ।'

परंतु तिब्बती संस्कृति में जहाँ जनजातियों की अधिकता है वहाँ परकीया प्रेम कोई अपराध नहीं माना जाता है।

जिस समय भक्तिकाल चल रहा था उस समय भारत में भारी राजनैतिक उथल-पुथल चल रहा था। इस अवधि में दो प्रमुख मुस्लिम वंशों-पाठान और मुगल वंश का ही वर्चस्व रहा। इनमें लोदी, सैयद और तुगलक वंशों के सुल्तान विशेषत: उल्लेखनीय हैं। मुगल बादशाहों में अकबर को विशेषकर महती गुणों से विभूषित किया गया। उसने दीन-ए-इलाही धर्म बनाया और स्वयं को पैगंबर या देवदूत के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता रहा। 'आइने-अकबरी' में लेखक अबुल फजल बताता है कि 'शाहंशाह के महल के पास ही शराब की एक दुकान स्थापित की है। .... दुकान पर इतनी अधिक वेश्याएँ राज्य भर से आकर एकत्रित हो गईं कि उनकी गिनती करना भी कठिन कार्य हो गया। ... दरबारी लोग नचनियों को अपने साथ ले जाया करते थे। यदि कोई प्रसिद्ध दरबारी किसी असंभुक्ता को ले जाना चाहता है तो उसको सर्वप्रथम शाहंशाह से अनुमति प्राप्त करनी होती थी।... शाहंशाह ने स्वयं कुछ वेश्याओं को बुलाया और उसने पूछा कि उनका कौमार्य किसने भंग किया था?'[8] अकबर के इसी मीना बाजार की संस्कृति ने मध्यभारत को दूषित कर दिया। समस्त समाज नशे की चपेट में आ गया था और दिग्भ्रष्ट-सा हो गया था।

अकबर के दरबार में रहने वाला ईसाई पादरी अक्वावीवा (Aquaviva Jesuit Priest) ने लिखा है कि अकबर इतनी अधिक शराब पीता था कि वह बातें करते-करते सो जाता था। कुछ विद्वानों के अनुसार अकबर की मौत जहर की उन गोलियों के सेवन से हुई जो उसने मानसिंह को खिलाने के लिए रखे थे। उसके शासनकाल में इतने विद्रोह हुए कि वह उन्हें दबाते-दबाते थक गया था। यहाँ तक कि अकबर के पुत्र जाहंगीर द्वारा न्याय की जंजीर बँधवाने की बात भी झूठ थी बल्कि यह कार्य दिल्ली के राजा अनंगपाल ने काफी पहले ही किया था। यह जाहँगीर के नाम से जड़ दिया गया था। इतिहासकार विसेंट स्मिथ के अनुसार अकबर द्वारा प्रवर्तित दीन-ए-इलाही में लोगों को एक-दूसरे से मिलने पर 'अल्लाह-हो-अकबर' कहकर संबोधित करने को बाध्य किया जाता था। इसका मूल अर्थ है 'ईश्वर सर्वशक्तिमान है।' पर गहराई से देखने प्रतीत होता है कि 'अकबर स्वयं अल्लाह ही है।'[9]

अकबर के शासन काल में चार बार अकाल पड़ा और देश की दुर्दशा को देखते हुए स्वयं तुलसीदास ने कवितावली में कहा-

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली,

बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।

जीविका विहीन लोग सीद्यमन सोच बस,

कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी॥

मुगल शासनकाल के विषय में पेलसपार्ट नामक लेखक ने लिखा था कि उस समय समाज में तीन ऐसे वर्ग - श्रमिक, नौकर और दुकानदार थे जिन्हें न तो कोई स्वच्छापूर्वक कार्य करने का अवकाश था, न यथेष्ट पारिश्रमिक ही मिलता था। दुकानदारों को अपनी चीजें छिपाकर रखनी पड़ती थीं कि कहीं क्रूर कर्मचारियों की दृष्टि न पड़ जाए।[10]

साहित्य समाज का दर्पण होता है अत: उसी साहित्य में तत्कालीन कवियों ने भी असहिष्णु राजशाही का विद्रोही स्वर भरकर सम्राटों को ललकारकर कहा-

(क) सन्तन कहा सीकरी सों काम

(ख) वेद धर्म दूरी गये, भूमि चोर भूप भये।

साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की॥

साहित्यिक रूप से इस कालांश में समस्तकवि राजनैतिक परिस्थितियों से दूर रहकर रचना करते थे और उनकी समाज सापेक्ष रचनाओं में भविष्य में रामराज्य गढ़ने या समाज में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा और शांति स्थापित करने के स्वर गुँजायमान होते हैं। इस समय मूलत: दो प्रकार की रचनाओं का विकास हुआ-

(क) सगुण काव्य धारा

(ख) निर्गुण काव्य धारा

इन दोनों धाराओं के भी दो-दो उपभेद हैं-

(क) सगुण काव्य धारा

राम भक्तिकाव्य कृष्ण भक्तिकाव्य

(ख) निर्गुण काव्य धारा

ज्ञानाश्रयी शाखा प्रेमाश्रयी शाखा

सिद्धांत-प्रतिपादन तथा भक्ति-प्रचार की भावना उस समय के समस्त साहित्य में कार्यरत थी। सूर, तुलसी, कबीर, जायसी जैसे महती प्रतिभायुक्त कवि भी इसी युगीन मानसिकता से प्रभावित हुए। हिन्दुओं का कुलीन या सवर्ण वर्ग अपनी अभिव्यक्तियों का माध्यम संस्कृत को

मानता था। फारसी में भी प्रभूत मात्रा में इतिहास ग्रंथों के लेखन के साथ काव्य सृजन भी हुआ। हिन्दी में लोकभाषाओं, विशेषकर ब्रज और अवधी में विपुल संख्या में रचनाएँ की गईं। कबीर के काव्य में अनेक भाषाओं का स्वरूप ही अलग है जिसे सधुक्कड़ी या पंचमेल खिचड़ी कहा जाता है। इस काल में प्रबंध-काव्य, मुक्तक काव्य तथा गीति काव्यों की भी रचना हुई। संस्कृत भाषा के कुछ ग्रंथों की टीकाएँ भी लिखी गईं। इस कालखंड की भक्ति कालीन परिस्थितियों ने उच्चकोटि का साहित्य रचने की लिए पृष्ठभूमि ही प्रस्तुत नहीं की अपितु चरम विकास प्राप्त किया।

भक्तिकालीन काव्य कोई ऐंद्रजालिक छद्मावरण नहीं बल्कि यह समाज को भावादर्श और स्वस्थ मानवीय मूल्यों से परिचित कराने वाला वरेण्य काव्य है। यह क्षणिक भावावेग अथवा इंद्रियजन्य भावोन्माद की अभिव्यक्ति मात्र नहीं वरन् यह शब्दों से तपस्यारत भगीरथ की साधना से फलीभूत स्वच्छल गंगधार के समान है जिसने सामाजिकों के साथ युगांतव्यापी आध्यात्मिक हृदयों को भी आप्लावित कर दिया।

दार्शनिक आधार :

भक्ति शब्द की उत्पत्ति 'भज्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'सेवा'। अपनी वैयक्तिक सत्ता को भुलाकर पूर्णत: समर्पित रूप में ईश्वर की आराधना करना और किसी साध्य की इच्छा न रखने की मानसिकता ही भक्ति कहलाती है।

आदिगुरु शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार किया। शंकराचार्य के इसी अद्वैतवादी दर्शन के कारण उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' भी कहते हैं। अद्वैतवाद में जीव और ब्रह्म में अंतर नहीं माना जाता, उन्होंने 'ईश्वर सत्य जगत् मिथ्या' या 'सर्वम् खलुम् इदम् ब्रह्म' कहकर समस्त जागतिक कार्यव्यापार

को खारिज कर दिया। ठीक उसी प्रकार जैसे 'रज्ज्वां भुजंगमयिवा प्रतिभासितं वै।' परंतु वही अद्वैतवादी शंकराचार्य ने जब 'सौंदर्यलहरी' नामक स्तोत्र की रचना की और शिव और शक्ति में शक्ति (प्रकृति) की सत्ता को उत्कृष्ट दिखाया तो उनका अद्वैतवादी दर्शन क्षीण होता नजर आता है-

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवित्तुं

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

अतस्त्वामाराध्यां हरिहर विरिञ्चादिभिरपि

प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृत पुण्यः प्रभवित॥ 1 ॥[11]

शक्ति द्वारा शंकराचार्य की परीक्षा लेने की कथा भी काफी प्रसिद्ध है। कुल मिलाकर अद्वैतवाद के विरोधी आचार्यों ने शांकरमत को मायावाद कहकर उसे नकार दिया क्योंकि जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति में अभीष्ट नहीं था, क्योंकि भक्ति के लिए जीव और ब्रह्म का होना आवश्यक है। प्राचीन भागवत मत इसे स्वीकार करता था। दक्षिण के अलवार भक्तों को भी यही मान्य था। इसलिए बारहवीं शताब्दी में जब भागवत धर्म का पुनर्गठन हुआ तो सर्वाधिक विरोध मायावाद का ही हुआ।[12]

भारतीय षड्दर्शनों में सांख्य दर्शन भी एक महत्त्वपूर्ण दर्शन रहा। इसका प्रादुर्भाव ब्रह्म की अवधारणा के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। यह वैदिक अवधारणा नहीं वरन तर्क पूर्ण चिंतन के माध्यम से सत्य को प्रतिपादित करने का समर्थक रहा है। सांख्य दर्शन के उद्भावक महर्षि कपिल (सातवीं शती, ई.पू.) थे और उन्होंने पहली बार ब्रह्माण्ड की रचना के बारे में कहा कि इसका उद्भव पदार्थ से हुआ है किसी कल्पित ब्रह्म से नहीं।[13] इसी कारण सांख्य दर्शन को भी नास्तिक दर्शन कहा जाता है। यही सांख्य दर्शन समस्त भक्ति काल के विविध संप्रदायों में विस्तारित आत्मा (जीव) और परमात्मा (ब्रह्म) से संबंधित सूत्रों की रचना का माध्यम बना।

सांख्य अर्थात् संख्या से संबंधित। यहाँ ब्रह्म, जीव, पुरुष, प्रकृति उनमें एकात्मकता, द्वैतता, द्वंद्व, साम्य हर विषयों का निरूपण किया गया है। इन्हीं के आधार पर मूलभूत रूप से चार संप्रदाय स्थापित किए गए हैं ये रामानुजाचार्य का श्री संप्रदाय, मध्वाचार्य का ब्राह्म संप्रदाय, विष्णुस्वामी का रुद्र संप्रदाय और निम्बार्काचार्य का सनकादि संप्रदाय। उक्त चारों मतों के दार्शनिक मतों में भेद है, परंतु एक बात में वे सब सहमत हैं, वह है मायावाद का विरोध। आद्यशंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिखकर अपने अद्वैतमत की स्थापना की। अत: परवर्ती वैष्णवाचार्यों को भी इसी परंपरा में चलकर अपने मत की स्थापना करनी पड़ी। बाद के आचार्यों के दार्शनिक मतवाद इस प्रकार हैं-

विशिष्टाद्वैत सिद्धांत: इस मत की स्थापना रामानुजचार्य ने की। उनके अनुसार पुरुषोत्तम ब्रह्म सगुण और सविशेष हैं और भक्तों के रक्षार्थ वे पाँच रूप धारण करते हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र के 'तत्त्वमसि' सूत्र के आधार पर दास्यभक्ति का प्रवर्तन किया। तत्=उनका; त्वम्=तू; असि=सेवक है। उन्होंने जीव और ब्रह्म का शेषशेषी अवसंबंध स्थापित किया है- जीव शेष (दास) और ब्रह्म शेषी (स्वामी) है। दास्य भाव से भगवान के शरण में जाने पर जीव अपना कल्याण कर सकता है। यही विशिष्टाद्वैत दर्शन है। गोस्वामी तुलसीदास इस दर्शन से अत्यंत प्रभावित हुए।[14]

द्वैतवाद : इस मत के संस्थापक मध्वाचार्य थे। इनके अनुसार भगवान् विष्णु आठ गुणों से संयुक्त सर्वोच्च तत्त्व हैं। यह जगत् सत्य है; ईश्वर और जीव का भेद, जीव का जीव से भेद एवं जड़ से जीव का भेद वास्तविक है। जीव अशक्त है, वह विष्णु का अनुचर बनकर ही कार्य करता है। जीवों में भी भेद है। यह भेद संसार में रहने और मोक्ष प्राप्ति के बाद भी बना रहता है। मुक्ति की श्रेष्ठ साधना अमला भक्ति है।[15]

भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद : इस दर्शन के प्रतिष्ठापक निम्बार्काचार्य थे। इस मत में जीव की अवस्था के अनुसार उसे ब्रह्म से भिन्न या अभिन्न माना गया है। जीव ब्रह्म का अंश है

और ब्रह्म अंशी है। जीव अणु या अल्पज्ञ है। इस संप्रदाय में राधाकृष्ण के युगल उपासना का विधान है। समस्त ब्रजमंडल में इन्हीं की लीलाओं का विस्तार है। स्वामी हरिदास का सखी संप्रदाय इसकी शाखा है।[16]

शुद्धाद्वैतवाद : इसके प्रतिष्ठापकाचार्य वल्लभाचार्य माने जाते हैं। विद्वानों ने विष्णुस्वामी के रुद्र संप्रदाय से इसका संबंध माना है। इनके अनुसार ब्रह्म माया से सर्वथा अलिप्त है, शुद्ध है। जिस प्रकार विविध अलंकार बनाने के बाद भी स्वर्ण शुद्ध रहता है उसी प्रकार ब्रह्म की सत्ता भी माया के प्रपंच से निर्लिप्त रहता है। ब्रह्म अपनी संधिनी शक्ति द्वारा सत् का, संवित शक्ति द्वार चित् का और ह्लादिनी शक्ति द्वारा आनन्द का आविर्भाव करता है। जीव सत्य और नित्य है। जड़ जगत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट बल्कि इसका केवल आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता है। भगवान के अनुग्रह को ही भक्त को अपना संबल मानना चाहिए. भगवान को जब रमण करने की इच्छा होती है तब वह अपने आनन्द आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव-रूप ग्रहण करते हैं। यह केवल भगवान की इच्छा पर निर्भर करता है इसमें माया का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। कवि सूरदास इसी शाखा के कवि थे।[17]

अचिंत्यभेदाभेद : यह मतवाद इसी गौड़ीय संप्रदाय का है जिसके पुरष्कर्ता चैतन्य महाप्रभु हैं। इनके अनुसार कृष्ण ब्रज में गोलोक की लीलाओं-सहित विहार करते हैं। वे परम तत्त्व, पूर्णज्ञान तथा पूर्ण आनन्द रूप हैं। श्री कृष्ण की अनन्त शक्तियाँ हैं और राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति है। उन दोनों में कोई भी व्यवधान नहीं है और अगर है तो वह अचिंत्य है इसलिए इसका नाम अचिंत्य भेदाभेद है।[18] ब्रह्मवैवर्त पुराण का इस सम्प्रदाय पर पूरा प्रभाव पड़ा है, क्योंकि गौड़ीय वैष्णव आचार्यगण अपने संप्रदाय की व्याख्या करते हुए ब्रह्मवैवर्त पुराण का ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

द्वैत और अद्वैत वादों को ही जोड़ घटाकर नवीन वाद या सिद्धांत गढ़े गए। दार्शनिकों और गुरुओं के मुक्त चिंतनों ने भारतीय दर्शन की परंपरा को और विकसित कर दिया। भारत में मूलत: प्राय: अद्वैत चिंतन को ही प्रश्रय मिला था। दाण्डायन जैसे दार्शनिकों ने अद्वैतवादी विचारों को ही आगे रखा। अद्वैतवाद ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की भी प्रभविष्णुता प्रस्तुत करता है। श्रीमद्भागवद गीता में भी ब्रह्म के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यहाँ एकादश अध्याय में कृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाया था पर वह स्थूल की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म था क्योंकि अर्जुन ने उस रूप का आदि अंत कुछ नहीं देखा-

अनेकबाहूदरवक्त्र नेत्रं

पश्यामि त्वं सर्वतोहनन्तरूपम्।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादि

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ 11/16

इसी क्रम में अर्जुन ने कृष्ण को 'वेदितव्यं'[19] कहा अर्थात् 'तुम परम ब्रह्म और एकमात्र जानने योग्य तत्त्व हो।' इन्हीं श्लोकों की व्याख्या-सगुणवादी आचार्यों ने अपने सिद्धांत के अनुसार की और निर्गुणीय आचार्यों ने इसकी व्याख्या अपने सूत्रों के आधार पर की। कोई पूर्णत: गलत नहीं और कोई पूर्णत: सही नहीं।

तुलसीदास जी ने कहा है कि ब्रह्म के दो रूप हैं, अगुण और सगुण। इनका सगुण रूप निर्गुण रूप की अपेक्षा अधिक दुर्लभ है। वास्तव में सगुण, अगुण और निर्गुण रूप में कोई भेद नहीं। जो भगवान अगुण, अरूप, अलख और अज हैं, वही भगवान भक्त के प्रेमवश रूप धारण करते हैं। जो लोग उनके केवल निर्गुण रूप को मानते हैं, वे असल में भगवान के एक अंशमात्र को मानते हैं-

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गवाहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो सोई॥[20]

यह तो कहा नहीं जा सकता कि ईश्वर का गुणमय रूप नहीं है। अगर गुण होते नहीं तो गुण की बात कहाँ से आती है। बीज के बिना पेड़ कहाँ से आएगा?

जो अनेक गुण नहीं और गुन भये कहाँतें?

बीज बिना तरु जमै मोहिं तुम कहौ काँतें?[21]

भक्ति की भावभूमि :

भक्तिकाल की पृष्ठभूमि की विवेचना के समय यह देखा गया था कि इस कालांश में बाहरी आक्रमण अनेक बार हुए थे। भारत में इस्लाम की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस्लाम का विजयध्वज फहराने वाले आक्रांता या तो समग्र भारत को उस ध्वज के तले झुका देना चाहता था या फिर विरोधियों को दंडित करता था। भारत में प्रचलित आध्यात्मिक-चिंतन की उन्मुक्तता और सहिष्णुता उनमें नहीं थी इसी कारण भारत एक बार हिल-सा उठा। धीरे-धीरे इस्लाम भी भारतीय आध्यात्मिक चिंतन से प्रभावित होते हुए और उसे प्रभावित करते हुए विकसित हुआ। इस्लाम के एकेश्वरवाद से भारतीय धर्म साधना अतिश: प्रभावित हुई और उसके निगुर्णवादी उपासना का खंडन भी किया गया। त्रस्त भारतीय जनमानस को एक सुरक्षित आश्रय स्थल की आवश्यकता अनुभूत हुई। देशीय राजन्यवर्ग वीर्यहीन हो चुका था। अत: जनता ने अपने ऐक्यबद्ध शक्ति के द्वारा अपने धर्म और जाति की रक्षा की यत्परोनास्ति चेष्टा की। गीता में कृष्ण ने कहा था-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥[22]

दुर्गा सप्तशती में भी स्वयं देवी ने असुरों के उत्थान के साथ उनके वर्चस्व को ही समूल नष्ट करने का वचन दिया है-

इत्यं यदा-यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।

तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम॥[23]

देवताओं के इन्हीं पूर्वकृत घोषणाओं पर विश्वास कर जनता ने त्रास जर्जर मरुस्थल में भक्ति का आश्रय स्थल खोजा। शुक्लजी ने भक्तिकाल को पराजित जाति का आश्रयस्थल कहा। उनके अनुसार बाहरी आक्रांताओं के आक्रमणों का प्रतिरोध न कर पाने के कारण राजन्य वर्ग तो हतवीर्य हो गया और साधारण जनता के लिए ईश्वर का आश्रय प्राप्त कर अपनी सुरक्षा की गुहार लगाने के अलावा और कोई इतर मार्ग नहीं बचा था।[24] पंरतु हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार आदिकाल के बाद भक्तिकाल का उदय स्वाभाविक था। यह हारी हुई जाति के रंघ्रित मनोबल की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि भक्ति की पुरातन धारा का लोकार्पण था। द्विवेदी जी के अनुसार 'उत्तर कालीन मध्ययुग में भक्तों में यह विश्वास पाया जाता है कि भगवान ने नर रूप में अवतार लेने का एकमात्र कारण यही नहीं है। प्रधान कारण भी यह नहीं है। मुख्य कारण है अपने भक्तों पर अनुग्रह करना। तुलसीदास की रचनाओं में यह विश्वास अत्यंत पुष्ट और विकसित रूप में प्राप्त होता है।[25]

परंतु सत्य यह लगता है कि उत्पत्ति के दोनों ही कारण सत्य और अन्यान्य आश्रित लगता है। एक तो भक्ति की धारा वैदिक युग से ही भारत में प्रवाहमान थी और अनुकूल समय पाकर प्रकट भी हो गई। यह अनुकूल समय लोगों के निरंतर हार के चलते प्रकट हुआ। जनता अपने आकुल-मन:स्थिति को स्थिर करने के लिए ईश्वर का सान्निध्य खोजने लगी जिससे कि पुन: शक्ति संचित कर आक्रांताओं को वापस खदेड़ा जा सके। राम ने रावण आदिक राक्षसों का वध कर अपने शांतिपूर्ण राज्य की स्थापना की। कृष्ण ने कंस, कालयवन आदि का वध किया और

महायुद्ध के नेतृवृंदों में अग्रपूज्य रहे उन्होंने समस्त भारतवर्ष में सत्य के राज्य की स्थापना की। इसी कारण शक्ति और शौर्य प्राप्ति के लिए इनकी आराधना की जाने लगी। हरिद्वार में आयोजित महाकुंभ (2010) में आगत नागा संन्यासियों पर हुए शोध से यह पता चला कि ये संन्यासी शस्त्रधारी हैं और धर्म के रक्षार्थ ही इन्होंने शस्त्रधारण किया था। अनेक युद्धों में इन साधुओं ने स्थानीय राजाओं की मदद की थी। यही साधु लोग धर्म का आश्रय लेकर शक्त्यार्जन करने लगे जिससे कि भविष्य में आने वाली विपदाओं से लड़ सके।[26] अंग्रेजों के शासनकाल में बंगाल में आयोजित कतिपय दुर्गापूजाओं में 'सफेद छाग' की बलि चढ़ाई जाती थी। ये सफेद छाग अंग्रेजों के प्रतीक थे।[27] इसी प्रकार भक्तिकाल में भी भक्ति की स्रोत द्वारा शक्ति के आहरण के लिए सब लोग तत्पर थे।

मनुष्य के जीवन में धर्म ही ऐसा एक तत्त्व है जो उसे उत्तेजित कर सकता है। भारतीय मनीषा को पुनः तेजः स्फूर्त करने के लिए ही इस साहित्य का लोकार्पण हुआ और लोग अपने धर्म की अस्मिता कायम रखने के लिए प्राणपन से जुट गए।

यहीं उल्लेख्य है कि वेबर, ग्रियर्सन, केनेडी, भांडारकर जैसे विद्वानों को वैष्णव भक्ति भावना में इसाईयत की गंध मिलती है। उन्होंने 'क्राइष्ट' से ही 'कृष्ण' का विकास माना और ईसा के बाल-लीला का साम्य कृष्ण लीला के साथ देखकर इसका मूल उत्स योरोप को ही मानते हैं। उन्होंने वैष्णव के प्रेम प्रसाद विकास को Love feast का हिंदू संस्करण बताया।[28] पर बाद के शोधों से यह ज्ञात हुआ कि ईसा मसीह की मृत्यु के कई वर्षों बाद बाइबिल का 'न्यू टेस्टामेंट' लिखा गया था जो कि रोमन साम्राराज्य के सान्निध्य में आने के बाद ही फला,फूला और विकसित हुआ। उल्लेख्य है कि बाइबिल के 'ओल्ड टेस्टामेंट' में परमेश्वर यहोवा का जो रूप दिया गया है वह भारतीय ईश्वर चिंतना से बिल्कुल में मेल नहीं खाता-

'2 यहोवा जल उठानेवाला और बदला लेनेवाला ईश्वर है; यहोवा बदला लेनेवाला और जलजला करनेवाला है; यहोवा अपने द्रोहियों से बदला लेता है, और अपने शत्रुओं का पाप नहीं भूलता।'

'3 यहोवा विलंब से क्रोध करनेवाला और बड़ा शक्तिमान है; वह दोषी को किसी प्रकार निर्दोष न ठहराएगा।'

यहोवा बवंडर और आंधी में होकर चलता है, और बादल उसके पावों की धूल हैं।

4 उसके धुड़कने से महानद सूख जाते हैं; और समुद्र भी निर्जल हो जाता है ..... इत्यादि।[29]

हाल के शोधों से पता चला है कि ईसा मसीह विवाहित थे और उनकी पत्नी का नाम मैरी मैक्डेलीन था। उनकी एक पुत्री भी हुई थी जिसका नाम सोफिया था। ईसा को क्रूस में चढ़ाने के बाद मैरी कहीं और चली गई थी। ईसा का पवित्र रक्त वहन करने के कारण उसे 'होली ग्रेल' (Holy Grail) कहा गया। पर बाद के ईसाई पादरियों ने इन अंशों को हटाकर ईसा को ब्रह्मचारी बना दिया। ई.पू. का उनका धर्म भारतीय शाक्त धारा से काफी मेल खाता है। The Gospel of Philip : And the companion of the Saviour is Mary Magdalene. Christ loved her more then all the disciples and used to kiss her often on her mouth. The rest of the disciples were offended by it and they said to him, 'Why do you love her more than all of us?'[30] अत: जो भी धर्म ग्रंथ हमारे सामने प्रस्तुत हैं वे काफी फैब्रिकेशन के बाद प्रस्तुत किए गए। इस अवस्था में यदि योरोपीय विद्वान वैष्णव भक्ति पर ईसाई प्रभाव नापते हैं तो यह एक पूर्वाग्रहग्रसित निर्णय के समान होगा। यह दु:ख की बात है कि ईसा मसीह जैसे धर्मगुरु के जन्म दिवस की गणना आज तक नहीं हो पाई। अमेरिकी वैज्ञानिक आइजैक

असीमोवा ने अपनी चर्चित पुस्तक 'अइजैक असीमोव्स बुक ऑफ फैक्ट्स' में लिखा है कि 'ईसा की मृत्यु के 543 वर्षों के बाद जिस व्यक्ति ने प्रथम बार उनके जन्म दिवस की गणना की उससे गलती हो गई। 25 दिसंबर उनका मूल जन्मदिन नहीं बल्कि यह रोम में मनाए जाने वाले एक त्योहार की तिथि को ही जीसस के जन्म दिवस के लिए चुन लिया गया।[31]

कतिपय विद्वानों का मानना है कि ईसा भारत आए थे और वे बौद्ध एवं वैष्णव सिद्धांतों से काफी प्रभावित हुए थे यहीं से लौटने के बाद उन्होंने करुणा और अहिंसा का विचार प्रचारित किया जिससे कि वे लोग अज्ञात थे। साथ ही कुछ विद्वानों का यही भी कथन है कि बाइबिल में निबद्ध ईसा के उपदेशों का मूल आधार बौद्ध 'त्रिपिटक' थे। अन्यथा यहोवा जैसे देवता को मानने वाले लोगों में करुणा और अहिंसा के बीज कहाँ से आए?

भारतीय धर्म साधना में मूलत:, दर्शन को ही उच्च स्थान दिया गया था। जितने भी पुरातन साधक थे वे मूलभूत रूप से दार्शनिक ही रहे थे। आद्यशंकराचार्य के पूर्वार्द्ध का जीवन भी इसी दर्शन की चर्चा में ही बीता, बाद में ही वे भक्त बने। विद्वानों का अनुमान है कि भक्ति की भावना का उत्स बौद्धों से हुआ। बौद्धों में भक्ति की विशद चर्चा मिलती है। हालांकि बौद्ध धर्म भी 'निरीश्वरवादी' दर्शन था। वह ईश्वर के अस्तित्व के स्थान पर कर्मवादी जीवन पर बल देता था। पर बाद में महायानी धारा में जब धर्म का स्वतंत्र विकास होने लगा तो चर्या तंत्र,क्रिया तंत्र, योगाचार तंत्र, अनुत्तर तंत्र, महाअति तंत्र धाराओं की उत्पत्ति हुई। इनमें क्रियातंत्र और चर्यातंत्र में भक्ति की प्रगाढ़ भावना देखी जा सकती है।[32] ईसा के कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व वासुदेव की पूजा चल पड़ी थी जिसके प्रमाण पाणिणी के अष्टाध्यायी में मिलता है। बौद्ध जातकों से यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि वासुदेव की पूजा और भी पुरानी है। बुद्धदेव का पूर्वजन्म में वासुदेव होना सिद्ध करता है कि जातक युग में वासुदेव की पूजा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यह काल ईसा के चार सौ वर्ष से कम पुराना नहीं है।[33] अत: यह सहज अनुमेय है कि कृष्ण का विकासशील चरित्र

चाहे किसी भी रूप में क्यों न उभरा हो परंतु यह निश्चित अवश्य है कि उसका विकास इसी भूखंड पर हुआ भले ही इसका प्रभाव बाहर गया हो। संभवत: बौद्ध कथाओं के साथ कृष्ण की कथाएँ भी बाहर प्रचलित हो गई होंगी। थाइलैंड में रामायण से संबंधित स्थल और संस्कृति इस प्रचार का सबसे सशक्त प्रमाण है।

भारत में भक्ति का स्वतंत्र विकास हुआ और इसकी धारणाएँ और मान्यताएँ भी लगभग इसी देश के आर्य और अनार्य जातियों की सांस्कृतिक वैविध्य का सम्मिश्रण है। भारतीय हृदयों में जो भक्ति की होमाग्नि जाज्वल्यमान है उसकी शुरुआत वैदिक युग में प्रचलित ऋत् की पंरपरा से ही मानी जा सकती है।

सगुण काव्य धारा पर चर्यापदों का प्रभाव :

बौद्ध धर्म मूलत: निर्गुण मत था पर धीरे-धीरे उसमें सगुण मत का प्रचार होने लगा।

सोनी भरिली करुणा नावी।

रूपा थोइ नाहिके ठावी॥

चर्या सं. 8 में कम्बलांम्बरपाद ने कहा है कि 'करुणा की नाव को सोने से भर दिया और रूप (चाँदी) रखने के लिए कोई स्थान ही नहीं छोड़ा।' दरअसल यहाँ कम्बलाम्बरपाद ने स्वर्ण और रजत जैसे मूल्यवान धातुओं की बात नहीं की है। 'सोने' शब्द द्वारा उन्होंने प्राणायाम के स्वर्णाक्षर ध्वनि और 'रूपा' शब्द द्वारा ध्यान के माध्यम से इष्टदेवता के रूप दर्शन का उल्लेख किया है। जप प्राणायाम के द्वारा साधक का चित्त चंद्रमंडल में केंद्रित होता है। चंद्र मंडल में स्वर्णाक्षरों के रूप में इष्ट देवता का अवस्थान कल्पित किया जाता है। (The contemplation of its aspect as the aspect of the letters of liquid gold.....[34]

प्राणायाम के पूरक क्रिया के समय स्वर वर्ण (अ,आ इत्यादि) साधक के देह में प्रवेश करते हैं और रेचन क्रिया के समय व्यंजन वर्ण (क,ख आदि) अक्षर निकल जाते हैं। कम्बलाम्बरपाद ने इसी से स्वर्णाक्षर और जपकार्य का आभास दिलाया है। वहीं अक्षर देवता 'हूँ' वज्रसत्व वज्रधर का स्वरूप अधिगृहित कर रूपहले प्रकाश के द्वारा साधक के चित्त से संवेदना, अज्ञान, दुख, पाप, द्वेष आदि दूर कर आनन्द के भाव संचरित करते हैं। शनैः-शनैः ये वर्ण आलोक और अक्षर का रूप लेकर देवता के रूप में रूपांतरित हो जाते हैं। इसी प्रक्रिया को रूप ध्यान कहते हैं (Letters emanate innumerable rays..... then the rays, together with the letters transforms its into perfect body of the god contemplated. This is form of God Rupa devata–[35]

प्राणायाम और जप दैहिक क्रिया है और रूप दर्शन मानसिक कार्य व्यापार है। इस पद में कम्बलाम्बरपाद ने यह कहा है कि- प्राणायाम आदि शारीरिक (दैहिक) क्रियाओं में ही शक्ति का क्षय कर डाला पर रूप ध्यान के लिए शक्ति संचित नहीं किया जो तुम्हें महासुख का आभास दिला सकता है।

कालांतर में बुद्ध को लोकोत्तर कोटि का देवता बना दिया गया। आज समग्र विश्व में बुद्ध की जितनी प्रतिमाएँ मिलती हैं शायद ही उतनी प्रतिमाएँ किसी और की हों। भारतीय सुगणवादी सिद्धांत के अनुसार निर्गुण ब्रह्म जब सत्व, रज और तमोगुण से रंजित होता है तभी वह सगुण होता है और पृथ्वी में ही यह तीनों गुण विद्यमान हैं अतः देवता अवतार धारण कर पृथ्वी के दुःख भार का हरण करता है। इसी क्रम में वह ब्रह्म त्रिगुणतीत होते हुए भी गुणलिप्त बनकर मानव समाज में रहकर जीने के प्रशस्त मार्ग का उत्थान करता है। पंचभूतों को ही ईश्वर या ब्रह्म का स्थूल शरीर माना गया है अतः इनके द्वारा ईश्वर की दारुमयी, लौहमयी या लेपमयी-प्रतिमा का निर्माण भी किया जा सकता है। इन विग्रहों में देवताओं के साक्षात् निवास की बात की गई।

संभवत: बौद्धों और हिंदुओं में समानांतर रूप से मूर्त्तिकला का विकास हुआ होगा। 'विष्णुधर्मोत्तर' नामक संस्कृत पुस्तक में मूर्ति निर्माण या देवालय निर्माण के समस्त सूत्रों का संघटन किया गया है। शिला चयन से लेकर विग्रह में अंतिम स्पर्श देने तक के समस्त विधान इसमें उपस्थित हैं।

प्रतिमा निर्माण के साथ-साथ बौद्धों में तंत्र का भी विकास होता गया। वैष्णवों में भी पांचरात्रों के माध्यम से तंत्र की शंखध्वनि हुई। संहिताओं की परंपरा अत्यंत प्राचीन है कुछ संहिताएँ ईस्वी शती से पहले भी विद्यमान थीं।[36] दाक्षिणात्य के मंदिरों में पहले वैखानस संहिताएँ व्यवहृत होती थी परंतु रामानुजाचार्य ने उनके स्थान पर पांचरात्रों का प्रचलन किया। यह वैखानस संहिताएँ वेदों पर आधृत थीं।[37]

दार्शनिक भाव : इन पांचरात्र संहिताओं में निबद्ध विषयवस्तु को चतुष्पादों में विभक्त किया गया था ये हैं- ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद। इनमें से ज्ञान तत्त्व-दर्शन, योग चित्तवृत्ति-साधना, क्रिया-मंदिरों व प्रतिमाओं की स्थापना और पूजनादिक का विधान और चर्या में तंत्र-मंत्र की साधना की व्याख्या है।[38]

उल्लेख है कि बौद्ध तंत्रों में भी क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगाचारतंत्र आदि का विधान है। इनमें से क्रिया तंत्र में पूजा, जप, प्राणायाम के माध्यम से भक्ति, चर्यातंत्र में पूजा, जप, प्राणायाम और ध्यान विश्लेषण द्वारा देवएकात्म बोध और योगाचार तंत्र में पूजा, जप, प्राणायाम, ध्यान विश्लेषण द्वारा देव एकात्म बोध और देवता के बोध से मुक्ति का विधान दिया गया है।

चक्रधर विष्णु और व्रजधर बुद्ध की भावनाएँ भी समकक्ष प्रतीत होती हैं। देवता के साथ उसके आयुधों की भी पूजा बौद्धों में प्रचलित थी। जगन्नाथ पुरी में भी जगन्नाथ के साथ सुदर्शन की पूजा इसी तथ्य की ओर इंगित करता है।

पांचरात्र सांहिताएँ, बौद्ध धर्म से प्रभावित थीं और वे बुद्ध को अपना प्रतिरूप मानती थीं। बौद्धों के शून्यवाद की गिनती उस समय के प्रमुख संप्रदायों में थी। पद्मतंत्र में प्रलय के उपरांत वटपत्र शायी विष्णु को भी शून्य की संज्ञा दी गई है। सुदर्शन चक्र को कालचक्र का प्रतीक माना गया जिसमें बौद्धों को बुद्ध रूप दृष्टिगोचर होता है।[39]

धर्मवीर भारती के अनुसार 'सहज' शब्द का प्रयोग बौद्धों ने जिस रूप में किया है उसी रूप में उसका उल्लेख विष्णुपुराण में भी मिलता है यथा-

तता सा सहजा सिद्धिस्तासांम्नातीवजायते।

रसोल्लासादयश्चान्याः सिद्धियो दष्टौ भवन्ति याः ॥[40]

परंतु यहाँ स्वाभाविक मार्ग के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है जबकि बौद्धों में सहज शब्द सहजात के लिए प्रयोग किया है। तथता और शून्यता जैसी भावनाओं की युगपत् उपलब्धि ही सहजानंद प्राप्ति है। इसकी चर्चा पूर्व अध्याय में ही की जा चुकी है। वैष्णवों ने बौद्धों से इस 'सहज' शब्द का आयात किया और बंगाल में सहजिया वैष्णव संप्रदाय की उत्पत्ति हुई जिसमें प्रेम की प्रधानता मानी जाती थी। इसी से सहजिया नामक यान की सृष्टि कर डाली। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे महायान के अंतर्गत वज्रयान के समानांतर विकसित यान की तरह दर्शाया, 'आगे चलकर महायान के कई टुकड़े हो गए। सबसे अंतिम टुकड़े हैं वज्रयान और सहयान, जो अपनी गाड़ी को सचमुच इतनी मजबूत और सहज बना सके कि उनमें पांडित्य और कृछ्रसाध्यता का अर्थात् कष्टपूर्ण व्रतनियम आदि का कोई अंग रहा ही नहीं।'[41] सहजयान को पृथक संप्रदाय मानने वाले विद्वान 'सहजाम्नाय पंजिका' नामक एक ग्रंथ का उल्लेख अवश्य करते हैं पर यह निश्चित है कि बौद्ध सहज और वैष्णव सहज में आकाश पाताल का भेद है।

देवताओं का आगमन निगमन : भक्तिकाल तक आते-आते बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म में घुल मिल गया था। इस कालांश में हिन्दू-सभ्यता भी मात्र वैदिक परंपरा नहीं रह गई थी। उसमें नाना भाँति के अवैदिक उपादान आ मिले थे। बौद्ध धर्म का दु:खवाद, वैराग्य, मूर्ति पूजा इत्यादि हिन्दू धर्म की अपनी चीज हो गई थी।[42] यहाँ तक कि नाम-जप का पुराना सबूत भारतवर्ष के प्राचीन शास्त्रों में न मिलता हो सो बात तो नहीं, पर मध्ययुग के समाज में इसका जो रूप रहा, वह निश्चयपूर्वक महायान संप्रदाय से ही अधिक संबंध था।[43]

अनेक वैष्णव देवता भी बुद्ध के अनुकरण में ही गढ़ लिए गए हैं उनमें से हयग्रीव का स्वरूप भी इस प्रकार है-

शरच्छशाङ्कप्रभमश्वक्त्रं, मुक्तामयैराभरणै: प्रदीप्तम्।

रथांग शंखार्चितबाहुयुग्मम् जानुद्वय न्यस्तकरं भजाम: ॥[44]

हयग्रीव के जानुओं में स्थित हाथ उनके ध्यान करने की स्थिति को बताता है। हयग्रीव किसी किसी स्थान पर बुद्ध की भांति 'विद्या व्याख्यान मुद्रा' भी धारणा करते हैं। हयग्रीव मूलत: बौद्ध देवता थे और बौद्ध ग्रंथों में उनकी साधना के उपरांत मिलने वाली सिद्धियों का भी वर्णन है-

While describing the merits and advantages to be gained by worshipping Hayagriva, an exceedingly attractive future happiness is held before the pubilc ... The worshipper, when he attains perfection, goes to the Vidyadhara land, installs himself as king, and enjoys all sort of pleasure. All Hindu gods flock together to him, and he assigns various duties to the different gods.'[45]

उल्लेख्य है कि बौद्ध सिद्ध हिन्दू देवताओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। नेपाल में हरिहरिहरिवाहन की मूर्तियाँ मिली हैं, इनमें अवलोकितेश्वर विष्णु के कंधे पर ठीक उसी प्रकार आरूढ़ दिखाए गए हैं जिस प्रकार विष्णु, गुरुड़ की सवारी करते हैं।[46] 'वज्रज्वालानलार्क' नामक देवता के पदतल में विष्णु और लक्ष्मी पड़े हुए हैं।[47] संभवत: इसी के चलते हिन्दुओं में काली की प्रतिमा के पदतल में बौद्धदेवता 'महाकाल' को डाल दिया होगा जिसका पर्यावसान शिव के रूप में हो गया। हिन्दुओं ने बौद्ध देवताओं को भले ही अपना लिया हो पर यह निश्चित है कि हिन्दू देवताओं के लिए बौद्धों के मन में लेश मात्र भी आस्था न थी। फिर भी बौद्धों के देवता और बौद्ध विश्वासों का आगमन हिन्दू समाज में होता गया और हिन्दू समाज ने भी बाहें पसारकर इन तथ्यों और सूत्रों को अपना लिया जो कि निविड़ सहवासिता का प्रकट परिणाम है।

राधा का विकास : इसकी सबसे सशक्त श्रृंखला है राधा का विकास। भीमराव अम्बेडकर और जमनलाल के शोधों से यह ज्ञात होता है कि सबसे पहले वैष्णवों में देवदासी प्रथा का प्रवेश हुआ था। दाक्षिणात्य के राजा, राजा तृतीय द्वारा 966 ई. में लिखित एक शिलालेख में एम्पेरूमंदियर यानि वैष्णव मंदिर में देवदासी उत्सर्ग करने का उल्लेख मिलता है।[48] अनेक विद्वानों के अनुसार 'Devdasis were Buddhist nuns who were degraded to the level of prostitutes after temples were taken away by Brahmins.'[49] बौद्धों के पतन के बाद भिक्षुणियाँ हिन्दू मठों में देवदासी के रूप में स्त्री आ गईं। अनुत्तर तंत्र में साधना के स्तर पर प्रयुक्त होती थीं। अनुत्तर तंत्र में ही देवताओं की युगनद्ध मूर्तियों की पूजा होती थी जैसे चक्रसंवर और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ शक्ति संयुक्त होती थीं। इस से वैष्णवों में भी युगलोपासना की परंपरा चल पड़ी। राधा जो कि भागवत और हरिवंश पुराण में कहीं भी नहीं थी उसका अवतरण आश्चर्यकर है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने राधा को आभीरों की प्रेमदेवी कहा और बाल कृष्ण को भी आभीरों का देवता माना गया।[50] उनके अनुसार बाद में इन्हीं का संयोग हो गया होगा। पर

प्रश्न यह है कि जिस प्रकार कृष्ण के पूरे पारिवारिक तथ्य का ज्ञात होता है उस प्रकार राधा का क्यों नहीं होता ? जयदेव ने राधा और कृष्ण के अंतरंग केलि क्रीड़ाओं का वर्णन तो बड़ी तन्मयता से किया पर राधा के घर का पता बताना भूल गए। 'गीतगोविंदम्' की राधा, कृष्ण के लिए केवल शारीरिक तृषा के शीतलीकरण की माध्यम भर बन गई थी। यह अवश्य ही है कि पुराने भारतीय वाङ्मय में देवताओं की केलि कल्लोलित चेष्टाओं का वर्णन है परंतु जो मांसलता जयदेव में वर्तमान है वह कहीं और नहीं था। परंतु यदि हम बौद्धों के शबर और शबरी को देखें तो उनमें यही मांसलता प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित होती है।

एकेली सबरी ए बण हिण्डइ कर्ण कुण्डल बज्रधारी॥

तिअ-धाउ खाट पड़िला सवरो महासुहे सेजि छाइली।

सवरो भुजंग णइरामणि दारी पेह्म राति पोहाइली॥ ....

सुन निरामणि कंठे लइआ महासुहे राति पोहाइ॥ **(चर्या सं. 28)**

× × ×

तिउड्डा चापी जोइणि दे अंकवाली।

कमल कुलिश घाण्टे करहुँ बिआली॥

जोइणि तँइ बिणु खनहि न जीवमि।

तो मुह चुम्बी कमलरस पीवमि॥ **(चर्या सं. 4)**

× × × × × ×

नगर बाहिरि रे डोम्बि तोहोरि कुड़िआ।

छइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥

आलो डोम्बि तोए सम करिबे मा साङ्ग।

निधिण काह्नु कापालि जोइ लाङ्ग॥ (**चर्या सं. 10**)

इन चर्यागीतांशों का अध्यात्मपरक अंश चाहे जो भी हो परंतु इनमें जो भी वक्तव्य प्रस्तुत है वह स्थूल और मांसल प्रकृति का है। अत: इन्हीं वज्र-योगियों में राधा का प्रेम कहीं प्रकट हो सकता है। तथ्य यह है कि राधा के प्रेम की अनन्यता और गहनता का विकास भक्तिकाल के कवियों ने ही किया। विशेषकर सूरदास ने रुक्मिणी के बाद कृष्ण का विवाह राधा से करवाया था। दही बेचने के लिए गई हुई राधा जब 'श्याम ले लो, श्याम ले लो' की गुहार लगाती है तो उसकी विपन्न सामाजिक मर्यादा सहज ही अनुमेय है। वह विक्षिप्तावस्था में पड़ी तरुणी प्रेम की पीर से जर्जर हो चुकी थी। पर भागवत और हरिवंश जैसे आर्ष ग्रंथों में राधा को स्थान क्यों नहीं मिला? यदि द्विवेदी जी के मत से बाल कृष्ण को आभीरों का देवता और राधा को प्रेम देवी मान भी लें तो भी एक प्रकार से अन्याय ही होगा क्योंकि कृष्ण कथा का ब्योरा तो दोनों उक्त ग्रंथों में मिल गया पर इसी बीच राधा कहाँ छिप गई और छिप-छिपाते आदिकालीन काव्य में ही कृष्ण ने उसका नीलांबर क्यों थाम लिया? यदि दोनों आभीरों के देवता होते तो दोनों का ही सांगोपांग और समानांतर विकास हुआ होता। पर ऐसा न होकर कृष्ण का विकास ही एकल रूप में क्यों हुआ? कृष्ण के लिए कहा जाता है-

'स्मरेद् वृंदावने रम्ये मोहयनामनारतम्।

गोविन्दम् पुण्डरीकाक्षं गोपाकन्या सहस्रकम्॥'

कृष्ण की सहस्र गोपियों में राधा भी कोई रही होगी। पंरतु कृष्ण की अष्ट महीषियों और अष्ट सखियों में कहीं भी राधा का नामोल्लेख नहीं मिलता।

सुभाष चंद्र पटनायक के अनुसार- Radha has developed into a major model in the eyes of Krishna worshipper. But she was conceived by Sri Jaydev in consonance with the now extinct Mahabodhi civilization of Orissa. The immortal love lyricist of Orissa had willfully created her to propagate female centric philosophy of Vajrayana.

Antagonists of Buddhism having failed to undo the Buddhist impact of Sahajia lyrics of Jaydev has usurped Radha for Hindu religion projecting her as the beloved concert of Krishna of Dwarka.....Radha as daughter of Brishabhanu or wife of Chandrasena was nothing but a product of tactics of interpolation adopted for burying down her role as a Sahaja Nayika of the Sahajayana (Kama Vajrayana) school of Buddhism.

Till 18th century we do not find any Radha Krishna temple we find only Gopinath temple. It is note worthly that, Orissa Vaishnav saints were so much averse to Radha that had opposed glory to her under the influence of Chaitanya whom Ray Ramanada Pattanayak had initiated into Radha cult, the cult created and developed by Sri Jaydev with the sole purpose of propagating the tenents of Sahajia Buddhism.

The deities intalled by Goswamis in Vrindavana were single images of Krishna; that long after their times a chief of Orissa sent to Vrindavana the first Srimati (Image of Radha) which was installed by the side of one of the deities and omission in case of others was made good gradually.[51]

भारतीय काव्य ग्रंथों में परकीया प्रेम को अधिक प्रश्रय नहीं दिया गया। परकीया के स्थान पर स्वकीया प्रेम को ही श्रेयष्कर और सामाजिक दृष्टिकोण से मर्यादित माना गया है। उसी क्षेत्र में कृष्ण परकीया राधा के साथ वृंदावन के कुंजों में निशायापन किस अधिकार से या किस मर्यादा से करते हैं जबकि राधा 'अयान' नामक आभीर की पत्नी भी थी। इसे जीवात्मा परमात्मा के आकर्षण या आत्मसमर्पण का चोला तो वैष्णवों ने पहनने की अभूतपूर्व चेष्टाएँ की यहाँ तक कि उन्होंने राधा को स्वकीया प्रेमिका में बदलने के लिए विविध कथानक तक रच डाले पर इससे राधा का ऐतिहासिक व्यक्तित्व और अधिक संदिग्ध बन जाता है।

उल्लेख्य है कि चर्यापदों में वर्णित शबरी, योगिनी, डोम्बी आदिक नायिकाएँ भी स्वकीया नहीं वरन् परकीया ही थीं। समाज के उच्चवर्गीय कुलीनता या मर्यादाओं से इन्हें कोई सरोकार न था। इसी कारण इनका जीवन अपनी स्वच्छल गति से ही बढ़ता जा रहा था। याद रहे कि चर्यापदों में सिद्धों का लक्ष्य सामाजिक मर्यादा की स्थापना करना नहीं था बल्कि वे इसके द्वारा अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहते थे।

इसी प्रकार संभवत: वैष्णवों में भी राधा की उपस्थापना, सामाजिक मर्यादा की स्थापना की अपेक्षा अपने लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् जीवात्मा में परमात्मा को प्राप्त करने की प्राणपण से उद्भूत इच्छा का द्योतन करना है। इसी कारण सूरदास के अलावा पूर्ववर्ती वैष्णव कवियों में केवल राधा के मन में स्थित कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की अभिव्यक्ति करना ही मूल उद्देश्य रहा होगा। इसी कारण उसके वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा उसके प्रेमी हृदय की परिचर्चा ही प्रत्येक वैष्णव भक्त कवि के काव्य का उपजीव्य रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों की शुंडिनी, डोम्बि, चंडाली जैसी नायिकाएँ जो अब तक उपेक्षित थीं उनका प्रस्फुरित और एकीभूत चित्र राधा बन गई है।

सूर और चर्याकारों के दृष्टिकूट पद : अभिव्यक्ति के माध्यम सूरदास ने अपने 'सूरसागर' में दृष्टिकूट पदों की रचना की जिसकी भाषा और अभिव्यक्ति काफी दूरूह है, ऐसा लगता है कि मानो कि बौद्धों की वही उक्ति 'कोड़ि मझेँ एकु हिअहिँ समाइउ' **(चर्या सं. 2)** की ध्वनि यहाँ भी गुँजायमान हो रही है। सूर दास की अभिव्यक्ति-

कहत परदेसी की बात।

मंदिर अरध अवधि बदि हमसौं, हरि अहार चलि जात॥

ससि रिपु बरष, सुर रिपु जुग बर, हर रिपु कीन्हौ घात।

मघ पंचक लै गयौ साँवरी, तातै अति अकुलात॥

नखत, वेद, ग्रह जोरि अरध करि, सोइ बनत अब खात।

सूरदास बस भईं बिरह के कर मींजैं पछितात॥[52]

सूर की इस अभिव्यक्ति का उत्स क्या है ? यदि इस ओर ध्यान दिया जाए तो बौद्धों के चर्यापदों की ओर ध्यान जाएगा। साहित्य में इस प्रकार के कूट पदों की रचना का प्रारंभ उन्हीं लोगों ने किया था जिससे कि (सुनने वाला व्यक्ति) श्रोता उनके पांडित्य से चमत्कृत हो जाए। इसी परंपरा को सूरदास जैसे वैष्णव कवि ने भी अपनाया। यदि गौर से देखा जाये तो वैष्णव धर्म एक लोकार्पित धर्म था जो सामान्य जन मानस की बुद्धि चेतना और ग्राह्य क्षमता को देखकर गढ़ा गया। यह सहजसाध्य और सुबोध्य काव्य की शृंखला की एक कड़ी थी परंतु इसमें दृष्टिकूट पदों की दुर्बोध्यता का अवतरण कहाँ से हुआ ? इस परंपरा का आविर्भाव बौद्ध युग से ही हुआ था। सूरदास की इस अभिव्यक्ति को बौद्धों का अनुकरण कहना कवि के प्रति अन्याय होगा बल्कि यह परंपरा जो भारतीय वाङ्मय में उपस्थित था और जिसके होता बौद्ध थे उसी परंपरा का पालन सूर ने भी किया।

अब प्रश्न यह है कि बौद्धों के काव्य की भाषा को 'आलो आंधारी' भाषा कहकर संधा या संध्या भाषा मानने वाले सूरदास के इन पदों में भी संधा भाषा की मुहर क्यों नहीं लगाते ? केवल दुर्बोध्य होने के कारण ही बौद्धों की भाषा को मुनिदत्त की टीका के आधार पर संधा भाषा कह देना कोई युक्तिपूर्ण तर्क नहीं है। अगर संधा भाषा का यही मानदंड है तो कबीर का आधिकारिक साहित्य भी संधा भाषा मान लिया जाता।

अवतारवाद : जातक कथाओं में बौद्धों ने बुद्ध के विविध पूर्वावतारों का वर्णन किया है। उनके अनुसार बुद्ध अपने पूर्वजन्मों में कृत संस्कारों के आधार पर ही अंतत: बुद्ध या ज्ञानी बने। केवल यही नहीं अमोघ सिद्धि, अमिताभ, पद्मसंभव अवलोकितेश्वर आदि बुद्धों ने अवतरित होकर जनमानस में करुणा का प्रचार किया। उनका विश्वास है कि अवलोकितेश्वर ही दलाई लामा के रूप में बारम्बार अवतरित होकर इस पृथ्वी के दुख से पीड़ित जीवों को प्रशांति प्रदान करते हैं।[53]

सगुण मतवाद के अनुसार भी ब्रह्म-सत्व, रज या तमो गुणों से विभूषित होने पर अवतार धारण करते हैं। विष्णु के दशावतारों की अवधारण भी संभवत: शाक्तों की दशमहाविद्याओं के संकल्पना के बाद ही हुई थी। दश महाविद्याओं में तारा, बगला (बगडा योगिनी) और छिन्नमस्ता (वज्रवैरोचिनी) बौद्ध देवियाँ थीं जिनका बाद में हिन्दूकरण हुआ।[54] कुल मिलाकर यह माना जा सकता है कि बौद्धों से ही हिन्दुओं में अवतारवाद की धारणा प्रविष्ट हुई थी जिसने अंतत: हिन्दू समाज को एकत्रित करने का प्रयास किया। विविध देवताओं के एकीभूत स्वरूप की चिंतना अवतारवाद से ही आरंभ हुई। वैष्णवों में स्वयंभूत, तदेकात्म व आवेशरूप नामक तीन प्रकारों के अवतारों की कल्पना की गई। इनमें दशावतारों को तदेकात्म अवतार माना गया।[55] बुद्ध भी विष्णु के तदेकात्म अवतारों में परिगणित होते हैं।

कला परक प्रभाव :

अतीत की गौरवोज्ज्वल आधारों से शक्ति संचित कर ही नवोन्मेषणात्मक काव्य का प्रस्फुरण होता है। समाज में श्रेष्ठ संस्कृति का अभिव्यंजक, पोषक, संरक्षक और दिशावाहक होता है। समरसता और समन्वय से ही समाज-संस्कृति-साहित्य पुष्पित-पल्लवित होते हैं।

समाज,संस्कृति और साहित्य को एकसूत्रता में बाँधने वाली प्रमुख शक्ति है परम्परा। परम्परा के माध्यम से ही इन तीनों के संबंधों की जटिलता की मीमांसा होती है। परम्परा कदाचित सामाजिक परिस्थितियों से निष्पक्ष नहीं रह सकती। वह पल्लवित होते हुए युगानुरूप सामाजिक और मानवीय मूल्यों पर हस्तक्षेप करती है। यदि परम्परा निरंतर प्रगतिशील और समाज सापेक्ष नहीं रहती तो जनमानस उसे बहिष्कृत कर विकास के नूतन पर्याय का अन्वेषण करता है। समय की क्रोड़ में अंतहीन परम्परा की थाती भारतीय संस्कृति और समाज के हर अणु में व्याप्त है। इस विशद् परिव्याप्तता का सुदृढ़ परिचायक हमारी कला, संस्कृति है जो चिर् पुरातन होकर भी नित्य नूतन है। संस्कृत साहित्य से प्रवाहित धाराएँ आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल से गुजरती हुई अद्यतन साहित्य को कभी प्रकट तो कभी गुप्त रूप से प्रभावित करती आई है।

आदिकालीन चर्यागीतों की भावपूर्ण धारा अपनी कलात्मक सौष्ठव और गीतात्मक अभिव्यंजना के साथ भक्तिकालीन काव्य को भी आप्लावित करती हुई आगे बढ़ी। आदिकालीन काव्य धारा के अनेक सूत्र सगुण साहित्य में परिलक्षित होती हैं।

गेय मुक्तक काव्यों की परंपरा :

चर्यागीतियों में जो पंचाशत गीत सन्निहित हैं वे मुक्तक हैं। उनमें वज्राचार्यों ने अपने मन में उत्थित समस्त आशा और अवसाद के भावों को अभिव्यक्त किया। युगीन परिप्रेक्ष्य में गीतों की

रचना का शुभारंभ चर्यागीतों में हुई। इसके नायक-नायिकाएँ न ही राजकुँवर थे और न स्वप्नद्रष्टा राजबलाएँ ये साधारण उपेक्षित श्रेणी के लोग थे उन्हीं की भावनाएँ वज्राचार्यों ने अपनी शब्दावली में अभिव्यक्ति किया था। प्रत्येक पद में उन आचार्यों ने अपने पंथ या साम्प्रदायिक वैशिष्ट्य को ध्यान में रखा और इतर पंथों के मत के प्रति अपनी अनास्था व्यक्ति की। किसी भी पद का किसी के साथ कोई सरोकार नहीं। प्रत्येक पद स्वयं परिपूर्ण और उनका अपना भी अलग लक्ष्यार्थ भी विहित था। चर्यागीतों का संकलन ही एक आश्चर्यकर कार्यव्यापार था। न जाने किसने अलग-अलग मतों को एक ही ध्वज तले एकत्रित कर दिया था। उल्लेख्य है कि मुनिदत्त चर्यागीतों के टीकाकार थे। उन्होंने ही इस चर्यागीतों का संकलन किया होगा इसका कोई पुष्ट और वैज्ञानिक आधार भी प्राप्त नहीं होता।[56] हरप्रसाद शास्त्री द्वारा आविष्कृत पांडुलिपि में एकादश चर्या के बाद 'सूनेत्यादि चर्याया व्याख्या नास्ति' वाक्य से यह प्रमाणित होता है कि अनुलिपिकार व्यक्ति ने मुनिदत्त की टीका और चर्यागीतों को दो पृथक पुस्तकों को देखकर प्रस्तुत किया होगा।[57] चर्यागीतों में एक ही लिपिकार द्वारा विभिन्न कालांश में रचित भिन्न तांत्रिक दर्शनों पर आधारित गीत संकलित किए। इन गीतों में निहित लक्ष्य एक ही जैसे नहीं भी हो सकते हैं। कुल मिलाकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि चर्यागीत एक मुक्तक ग्रंथ है।

यही मुक्तक काव्यों की परंपरा सगुण वैष्णव काव्यों में भी विक्षित होता है। चाहे 'सूरसागर' को लें, मीरा के पदों को लें या तुलसी की 'कवितावली' या 'विनयपत्रिका' को लें। यह समस्त काव्य गेय मुक्तक शैली में लिखित हैं। संस्कृत काव्य परंपरा में मुक्तकों की पंरपरा इतने सशक्त रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती परंतु अप्रभंश काल में आकर विशेषकर बौद्ध युग में मुक्तकों की रचना का विशेष पट मोचन हुआ। वह परंपरा जो उस युग से चली उसका यवनिका पात अब तक नहीं हुआ है। सूरदास, मीरा और तुलसी जैसे मूर्धन्य वैष्णव रचनाकारों ने मुक्तक शैली में ही रचना की इसे अनुकरण कहने के स्थान पर 'Missing Link' की संज्ञा से अभिहीत करना श्रेयष्कर प्रतीत होता है।

मानवीय चरित्रों के आधार पर पात्रों का रूपायण :

चर्याकारों ने सामाजिक जीवन को दृष्टि में रखकर चर्यायदों में साधारण जनता के अनुभवों और क्रिया कलापों की चिंतना की। उनके काव्य के नायक शबर, कपाली और शबरी, डोम्बी, चंडाली आदिक नायिकाएँ मृत्तिका के सुवास से मंडित हैं। उनमें दिव्यता नहीं। कहीं तो 'सबरो भुजंग णइरामणि दारी' (**चर्या सं. 32**) भी हो गए हैं। इनका देवत्व से कोई सरोकार नहीं। नगर के बाहर डोम्बी की कुटिया है जिसे ब्राह्मण युवा छू-छूकर चले जाते हैं। वे डोम्बी की ओर आकृष्ट तो हैं पर समाज-मर्यादा को देखकर वे उसका साथ नहीं रह सकते (चर्या सं. 10), परंतु सिद्धों ने इसे आध्यात्मिक रूप अवश्य ही दिया है।

वहीं सूर के कृष्ण जो जगन्नाथ हैं उनमें भी ईश्वरत्व का लेश मात्र भी नहीं है। वह एक साधारण बालक की भाँति है जो 'शोभित कर नवनीत लिए घुटरूनि चलत रेणु तन मंडित, मुख दधि लेप किए'[58] ब्रज की वीथियों और अपने घर के आंगन में घूमते रहते हैं। वे ऊँचे द्वारा को पार करने की कोशिश बार-बार करते हैं और अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए रोते हैं अपनी जननी को पुकारते हैं।[59] बाल सुलभ अबोध चेष्टाएँ उनमें भरपूर हैं। कृष्ण यहाँ पर कोई दिव्य आत्मा नहीं रह गए। वे अपनी माँ से पूछते हैं-

'मैया कबहूँ बढ़ैगी चोटी।

काचौ दूघ पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी॥'[60]

सूर ने वात्सल्य वर्णन के क्रम में शायद ही कोई पार्श्व छोड़ा हो। उनके लोकरंजक कृष्ण लीला करने के लिए पृथ्वी पर अवरित हुए हैं जो माखन चोर के रूप में ब्रज में प्रसिद्ध है पर मानवीय क्षमताओं से बढ़कर उसने कोई काम नहीं किया। केवल दानवों के संहार के समय ही उनका भव्य रूप उजागर होता है। परंतु जब यशोदा मैया कन्हैया पर पड़ी कूदृष्टि निवारण के लिए तत्पर होती हैं तो कृष्ण पुनः मानवीय सीमाओं में बँध जाते हैं।[61]

यदि गौर से देखा जाए तो देवता को मानवीय गुणों से विभूषित करने की परंपरा बौद्धों से शुरू होती है, अन्यथा देवताओं को इस प्रकार अशक्त और मानवीय अक्षमताओं से युक्त दिखाने की परंपरा संस्कृत काव्य में तो कदाचित रही ही नहीं थी। हाल की 'गाहा सतसई' मैं कृष्ण का रसिक स्वरूप भले ही प्रकट हुआ हो पर उसमें यह मानवीय आधार प्रस्फुरित नहीं हो पाता।

खंडन मंडन की पद्धति :

चर्यागीतों में वज्राचार्यों ने अन्यान्य दर्शनों का खंडन और अपने वैचारिक सिद्धांतों का मंडन किया है। चर्यापदों के अधिकतर गीत इसी खंडनमंडनात्मक भावों से विजड़ित था जैसे अनुत्तर तंत्र, जहाँ स्त्री सहवास का समर्थन किया गया है, का विरोध अनेक चर्यापदों में किया गया है। जैसे-

नाद न बिंदु न रवि न ससि मंडल।

चिराअ सहावे मुकल॥ (**चर्या सं. 40**)

इस पद में सरहपाद ने क्रिया तंत्र, चर्या तंत्र और अनुत्तर तंत्र का खंडन कर योगाचार तंत्र के शून्यवाद की प्रतिष्ठा की है।

टालत मोर घर नाहि पड़बेषी।

हाड़ीत भात नाँहि निति आवेशी॥(**चर्या सं. 33**)

इस पद में ढेण्ढनपाद ने अनुत्तर तंत्र के यौनाचार और कलशाभिषेक जैसी क्रियाओं का मुक्तकंठ से खंडन किया है। यहाँ तक कि कुक्कुरीपाद ने क्रिया तंत्र के गृहस्थ साधकों की साधना को भी व्यर्थ बताते हुए कहा है कि दिन भर के जप का फल रात को काम रूपी मगर खा जाता है। रात्रि में जब सभी निद्रासक्त हो जाते हैं तो साधक की वासना जगती है और उस समय वह

अपने गुरु दत्त मंत्र भी भूलकर स्त्री के आलिंगन पाश में बद्ध हो जाता है-

दुलि दुहि पिटा धरन नजाइ।

रुखेर तेन्तेलि कुम्भीरे खाअ॥

आंगन धरपन सुन भो बिआती।

कानेट चौरि निल अधराती॥

सुसुरा नदि गेल बहुड़ी जागअ।

कानेट चोरे निल का गइ मागअ॥ (**चर्या सं. 2**)

यही खंडन मंडन की पद्धति सूर के भ्रमरगीतों में भी दृष्टिगोचर होता है। सूर ने निर्गुण मत का खंडन कर सगुण मत को अभिमंडित किया। कृष्ण के मथुरा गमन के बाद विरहकातर गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का आश्रय लेकर सगुण मत का परित्याग करने का उपदेश देने 'मधुकर' उद्धव आए थे। वे गोपियों की अवस्था देखकर आश्चर्यचकित थे। उन्होंने निर्गुण मत की व्याख्या की परंतु गोपियों के माध्यम से सूर ने उनके मत को द्विखंडित कर दिया। अंतत: उद्धव गोपियों के के रंग में रंगकर सगुण ब्रह्म के मतवाले हो गए। उन्होंने सगुण ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सूर ने निर्गुण मत पर सगुण मत का विजयध्वज फहराया था। खंडन-मंडन की यह पद्धति सर्वप्रथम बौद्धों से ही शुरू हुई थी। चर्यापदों में स्वतंत्र पदों में जिस प्रकार वज्राचार्यों ने इतर दर्शनों का खंडन किया था उसी प्रकार सूर दास ने भी मुक्तक पदों में ही निर्गुण मत, जो उस कालांश में उनका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी रहा था, उसका खंडन कर यह निष्कर्ष निकाला कि निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा केवल उच्च कोटि के साधकों के लिए ही प्रशस्त है, साधारण जनता या अल्पज्ञ लोगों के लिए सगुण ब्रह्म की लीलाएँ, अवतार पर विश्वास ही भक्ति उत्पत्ति कर सकता है।

अबोध गोपियाँ पूछती हैं-

निर्गुण कौन देश कौ वासी ?

मधुकर हंसि समुझाय सौंह दैं, बूझति साँच न हाँसी।

को है जनक, जननी को कहियत कौन नारी को दासी ?

कैसो वरन भेष है कैसी केंहि रस को अभिलाषी ?

पावैगो पुनि कियो आपनौ, जो रे कहैगा गाँसी।

सुनत मौन ह्वै रह्यो ठगों सो 'सूर' सबै मति नासी॥[62]

गोपियाँ कृष्ण के संदेश के विषय में उद्धव से कहती हैं कि कृष्ण के चरण कमलों की सौगंध 'यह संदेश मोंहि विष सम लगात।'[63] उन्होंने स्पष्ट रूप में कह दिया। यह निर्गुण ब्रह्म का संदेश उन्हीं को दो जिनका मन चकरी के समान अस्थिर है। हमने अपने प्रभु के स्वरूप को ठीक उसी प्रकार पकड़ रखा है जिस प्रकार हारिल पक्षी लकड़ी को पकड़े रहता है जो कभी छूट नहीं सकता। इसी प्रकार हमारा मन ईश्वर के स्वरूप से शून्य नहीं हो सकता-

हमारैं हरि हारिल की लकरी ?

मन क्रम वचन नंद-नंदन ओर, यह दृढ़ करि पकरी।

जागत सोवत स्वप्न दिवस-निसि, कान्ह-कान्ह जकरी।

सुनत जोग लगात है ऐसो, ज्यौं करुई ककरी।

सु तौ ब्याधि हमकौं लै आए, देखी सूनी न करी।

यह तौ सूर तिनहिं लै सौंपौ, जिनके मन चकरी॥[64]

उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि हम योग साधन के योग्य नहीं हैं, क्योंकि हम अबला नारी हैं हमें ज्ञान-मार्ग, ध्यान धारण करना ही नहीं आता। आँखें बंद करते ही कृष्ण की मूरत हमारे सामने आ जाती है-

उधौ जोग जोग हम नाहीं।

अबला सार-ज्ञान कह जानै, कैसें ध्यान धराही।

तोई मूँदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माहीं।[65]

और हम तुम्हारी बात को कृष्ण का आदेश मानकर स्वीकार भी करते पर-

ऊधौ, मन नाहीं दस बीस।

एक हुतो सो गयो स्याम संग, को अवराधै ईस ?[66]

अंततः सूर कहते हैं कि जिसे जो पंथ भा जाए वही उसके लिए श्रेयष्कर है। जिसके मन को योग सुहाए वह योगी बने और जिसका मन ब्रह्म के सगुण रूप में रमै उसे उसी प्रकार रहने दिया जाए क्योंकि चित्त की प्रकृति के अनुसार ही व्यक्ति की पसंद-नापसंद निर्भर करता है। यहाँ वृथा तर्क-वितर्क का वितंडा खड़ा कर किसी के भी मत को हीन या महान सिद्ध करने की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हैं-

उधौ मन माने की बात।

दाख छौहरा छाड़ि अमृतफल विषकीरा विष खात।

जो चकोर को दैइ कपूर कोइ, तजि अंगूर अधात।

मधुप करत घर फोरि काठ में बँधत कमल के पात।

ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटाता।

'सूरदास' जाको मन जासों, सोई ताहिं सुहात।[67]

उपर्युक्त विवेचन से यह दृष्टिगोचर होता है कि खंडन-मंडन की प्रवृत्ति वैष्णव भक्तों में भी विद्यमान थी। जिस प्रकार बौद्धों ने अप्रत्यक्ष रूप में इतर संप्रदायों या दर्शनों के मत को खंडित किया था उसी प्रकार की भावधारा वैष्णव भक्त सूर में भी परिलक्षित होती है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को कहीं भी झूठ नहीं कहा है पर उन्होंने सगुण स्वरूप में डूबे अपने मन की अवश्य ही प्रश्रय दिया है।

निर्गुण भक्ति काव्य पर प्रभाव

अविच्छिन्न भावों की धारा-प्रवाह काव्यिक अभिव्यक्ति ही साहित्येतिहास का एक मुख्य बिन्दु है। इसके निमित्त पूर्व स्रजित साहित्य-विशेष की वृहद पृष्ठभूमि होती है। जैसे आदिकालीन साहित्य के लिए अपभ्रंश का और भक्तिकालीन रचनाओं के लिए आदिकालीन साहित्य सोपान की भाँति थे। इतिहासविद् अपनी कल्पना शक्ति और सूक्ष्म दृष्टिकोण द्वारा भूत की कड़ियों को जोड़ता हुआ एक शृंखला प्रस्तुत करता है। एक स्वस्थ दृष्टिभंगी ही कल्पना को एक स्थूल आधार प्रदान करता है। यह आधार मूलत: सामाजिक और सांस्कृतिक नींव पर गढ़ी जाती है क्योंकि मानव के सांस्कृतिक विकास का अन्वेषण ही इतिहास का मूल उपजीव्य है। साहित्य न मनुष्य को छोड़ सकता है न मानवीय तत्त्व को। उसमें मनुष्य की आशाएँ, आकांक्षाएँ, प्रवृत्तियाँ, क्रियाकलाप, चेतना स्वातंत्र्य, सृजन की भावभूमियाँ अभिव्यक्ति पाती हैं।

बौद्ध धर्म अपने मूल स्वरूप में निरीश्वरवादी चिंतन था। बुद्ध ने केवल कर्मवाद को ही आधार मानकर पंचशील के नियम बनाए थे। परंतु बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध धर्म अपनी मूलभूत धारा से विच्युत होकर लौकिक संस्कृति को समेटते हुए विकसित होता गया। मूल धारा से वियुक्त होते हुए भी वे अपनी मूल प्रवृत्तियों से विच्युत नहीं हुए और बुद्ध का निरीश्वरवादी दर्शन नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन के शून्यवाद में प्रतिफलित हुआ। उनके अनुसार इस जगत की

सृष्टि हुई ही नहीं इसी कारण भ्रम युक्त आँखों से ही यह दृष्टिगोचर होता है। भ्रम युक्त नेत्रों से हम देखते हैं कि यह जगत् परिवर्तनशील और नश्वर है जबकि इस जगत् का कोई अस्तित्व ही नहीं। योगाचार तंत्र के अनुसार यदि किसी वस्तु की सृष्टि हुई होगी तो उसकी सत्ता भी स्थिर होनी चाहिए। अस्तित्वहीन में कोई स्थिरता नहीं होती अत: सृष्टि का भी कोई अस्तित्व नहीं है। यही सर्वशून्यतवाद की उक्ति है-

आइए अणुआन ए जग रे भांतिएँ सो पड़िहाइ।

राजसाप देखि जो चमकिइ जोर किँङ्कँ बोड़ो खाइ॥

अकट जोइआ रे मा कर हथा लोह्ना।

आइस सहावेँ जइ जग बुझषि तुट बाषणा तोरा॥ **(चर्या सं. 41)**

इसी ज्ञानमार्गी परम्परा का विकास निर्गुण मत के कवियों ने किया। बौद्धों का योगाचार तंत्र पूर्णत: निर्गुण मत का पोषक रहा। कबीर, नानक आदि ने तो शब्द ब्रह्म भावना को आगे रखा। परंतु योगाचारियों ने नैरात्मा की बात की, इसका अर्थ है आत्महीनता या अपनी अस्मिता को भी वे स्वीकार नहीं करते थे और इस जगत के साथ स्वयं को भी शून्य मानते थे। इस स्तर में पूजक-पूज्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, विधि-निषेध कुछ भी शेष नहीं रह जाता और साधक शून्यमय, भावमुक्त होकर महासुख या निर्वाण की प्राप्ति करता है। बौद्ध सिद्धों को सहजयानी कहने वाले या उसकी तुलना सहजिया वैष्णवों से करने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि बौद्ध सहज और वैष्णवीया सहज में कितना अंतर है। केवल शबर, शबरी के प्रेमाभिव्यक्ति को देखकर उसकी तुलना राधा कृष्ण से करना एक पूर्वाग्रह ही माना जाएगा जिसका आरंभ बंगला विद्वानों ने किया था।

नाथ योगियों ने केवल योगमार्ग को ही प्रश्रय दिया था वे लेश मात्र भावुकता भी सह्य नहीं करते थे।[68] **गोरख जगायो जोग। भक्ति भगायो लोग॥** परंतु कबीर, नानक, दादू आदि में

भक्ति का स्वर सूच्च स्वरों में गुंजायमान हुआ। कबीर को जिस गुरु से दीक्षा मिली थी, वह भी योगमार्ग और भक्ति को विरोधी तत्व नहीं मानते थे और इसी कारण कबीर ने भक्ति के साथ-साथ योग को भी प्रश्रय दिया और योगमार्गी परंपराओं में जो भी वज्रयानी साधना पद्धतियाँ, पारिभाषिक शब्द, प्रतीक और उलटबासियाँ चली आ रही थीं वे सब को तथा उनके अनुयायी सन्तों को उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुईं। तब तक वज्रयानी सिद्धों का कोई प्रभाव शेष रहा हो ऐसी कोई संभावना नहीं है।[69]

दस असल नाथ पंथ केवल बौद्धों के योगाचार दर्शन को लेकर ही आरंभ हुआ था। योगाचार में भक्ति का अंश मात्र नहीं था। परंतु क्रिया तंत्र और चर्या तंत्र में भक्ति का उल्लेख अवश्य ही मिलता है जिसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। निर्गुण मार्गी संतों ने अप्रत्यक्ष रूप से ही बौद्ध सिद्धों से भक्ति और योग दोनों ही मतों को ग्रहण किया था। बौद्धों और नाथों में यही एक वृहद् अंतर है। कहते हैं कि विजेता का अपना इतिहास होता है। जब बौद्ध परंपराओं पर इतर संप्रदायों ने अपना विजयध्वज फहराया तो उन्होंने तंत्र को ही आचार भ्रष्ट और निकृष्ट बताया क्योंकि केवल अनुत्तर तंत्र में ही महामुद्रा (स्त्री) के संग द्वारा निर्वाण प्राप्ति या महासुख की प्राप्ति का मार्ग सुझाया था। अनुत्तर तंत्र में महामुद्रा के प्रवेश के कारण की चर्चा भी पूर्व अध्यायों में की जा चुकी है।

भाव परक प्रभाव :

सिद्धों का प्रभाव संत मत पर प्रत्यक्ष रूप में न पड़कर परंपरा के रूप में ही आया है।[70] इसी परंपरा का विकास उत्तरोत्तर होता गया। इसका प्रमुख कारण यही है कि सिद्धों से लेकर संतों तक लोकभाषा की काव्य परंपरा को एक विशेष सामाजिक वर्ग का प्रश्रय मिलता रहा है जिसके इतिहास के साथ इस साहित्य के विकास का घनिष्ठ संबंध है। सिद्धों की परंपरा को जीवित रखने

वाले आम जनता ही थी जिनका सुदूरगामी प्रभाव संतों में परिलक्षित होता है। सिद्धों ने प्रथम बार साधना का द्वार आम लोगों के लिए खोल दिया। संतों की परंपरा को इस्लामी संस्कृति से मानने वाले इस देश के इतिहास और पुरानी परंपरा से अनभिज्ञ लगते हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार –

'यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह पूर्णत: भारतीय है और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों ... के पदादि से उनका संबंध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं, जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं।'[71]

जाति प्रथा का विरोध :

बौद्धों में जाति प्रथा नहीं है। सरहपाद जातिवाद के तीव्र विरोधी थे। उनके अनुसार 'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, जब हुए थे तब हुए होंगे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा। यदि संस्कार से ही ब्राह्मण होता है तो चंडाल को भी संस्कार दो वह भी ब्राह्मण हो जाएगा। यदि आग में घी डालने से मुक्ति होती हो तो सबको क्यों नहीं डालने देते? होम करने से मुक्ति हो न हो, धुआँ लगने से आँखों को कष्ट अवश्य ही होता है।'[72]

ब्रह्मणेहि म जागंत हि भेऊ। एवइ पढ़िअउ एच्चउ बेऊ॥

मट्टी पाणी कुस लइ पढ़ंत। घरहि बइसी अग्गि हुणंत॥

कज्जे विरहइ हुवहें होमें। अक्खि डहाविअ कहुएँ धुम्में॥[73]

इसी प्रकार कबीर ने भी पंडित या पांडे को संबोधित करके कहा है कि पवन, वीर्य और रज के संबंध में गर्भाशय में गर्भ रहता है, फिर वह अष्टकमल के नीचे से उतरकर पृथ्वी पर आता

है, ऐसी हालत में यह छूत कैसे आ गई ? एक ही पाट पर परमपिता ने सबको बिठाया है तो फिर छूत कैसे रही ?[74]

पंडित, देखहुँ मन महँ जानी।

कहु धौ छूति कहाँ ते उपजी तबांह छूति तुम मानी।

बादे बदे रुधिर के संगे घट की मँह घट सपचै।

अस्ट कँवल होय पहुमी आया छूति कहाँ ते उपजै।

लाख चौरासी नाना वासन सो सभ सरि भौ माटी।

एवं पाट सकल बैठाए छूति लेत धौं काकी।

छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन-छूतिहि जगत उपाया।

कहहि कबीर ते छूति विवरजित जाके संग न माया।[75]

सिद्धों ने केवल किताबी ज्ञान पर पंडित बने लोगों पर कशाघात करते हुए कहा है कि-

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ।

देहहि रुद्ध बसंत ण जाणइ॥

अमणागमण ण तेन विखण्डिय।

तोवि णिलज्जइ भणइ हऊँ पण्डिअ।[76]

सारे संत स्वयं को पंडित बताते है परंतु वे देह में निहित परम तत्त्व को नहीं जानते। वे इस संसार से आवगमन के बंधन को तोड़ना नहीं जानते फिर भी निर्लज्ज स्वयं को पंडित कहते हैं।

इसी प्रकार कबीर ने भी पंडितों के सामने सवालिया निशान खड़ा किया है कि किस प्रकार आवागमन छूट सकता है और धर्म, अर्थ-काम-मोक्ष ये सब फल किस दिशा में बसते हैं-

पंडित, सोधि कहहु समुझाई, जाँते आवागवन नसाई।

अरथ-धरम अरु काम-मोच्छ-फल, कवन दिसा बस भाई॥[77]

कबीर ने मुक्त कंठ से गाया -

जाति-पाति पूछै नहीं कोई।

हरि को भजे सो हरि का होई॥

जाति न पूछो साध की, पूज लीजिए ज्ञान।

मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान॥

इसी प्रकार कान्हपाद ने भी जब स्वयं को निघृण कपाली कहकर डोम्बी के संग सुख की कामना की। ब्राह्मण युवक उसकी कुटिया छू-छूकर चले जाते हैं पर उसका साथ देने का साहस किसी में नहीं है-

नगर बाहिरि रे डोम्बी तोहोरी कुड़िया।

छइ-छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥

आलो डोम्बि तोए सम करिबे म साङ्ग।

निघिण काह्न कापालि जोइ लाङ्ग॥ (चर्या सं. 10)

पर काह्न कपाली उसका साथ देंगे। उसकी के लिए वे अपनी हड्डियों की माला भी तोड़ने को तैयार हैं। परंतु ये ब्राह्मण अपनी वासना को दबा भी नहीं सकते और कुल मर्यादा के बंधनों को छोड़ सकते हैं।

सिद्धों का यही सुधारवादी स्वर संतों ने भी ग्रहण किया। शंकराचार्य ने भी जातिवाद की कठोरता को तोड़कर 'सर्वम् खल्विदम् ब्रह्म' की घोषणा की जिस कारण उन्हें भी 'प्रच्छन्न बौद्ध' की संज्ञा मिली। रामानंद ने भी भक्ति काल में जातिवाद के विरुद्ध ही अपना मत रखकर कबीर, रैदास जैसे नीच जाति के लोगों को भी दीक्षित किया।

गुरु का माहात्म्य प्रचार :

सिद्ध सरहपाद ने कहा है कि गुरु के वचन अमृत के समान है और जो शिष्य इसका पान नहीं करता वह विविध शास्त्रार्थों के मरुस्थल में प्यास के कारण मर जाता है। क्योंकि गुरु ही अपने शिष्य के मानसिक स्वर को समझकर उसे उपयुक्त शिक्षा दे सकता है-

गुरु वअण-अमिअ रस, धवहिं ण पिबिअइ जेहिं।

बहु सत्थात्थ मरुत्थलहिं, तिसिअ मरिब्बो तेहिं॥[79]

सरहपाद ने शिष्यों को भी भावाभाव विवर्जित होकर बालक की भाँति निश्छल आचारण करने का उपदेश दिया है। साथ ही गुरु के वचनों पर भक्ति रखने से ही सहज रूप से ही महासुख प्राप्त होने का भी मर्म समझाया है-

चित्तचित्त वि परिहरहु, तिम अच्छहु जिम बाल।

गुरु वअणें दिढ़ भत्ति करु, होइहइ सहज उल्लाल॥[80]

सिद्धों ने भ्रम के दूर करने के लिए भी प्रत्येक शंका की चर्चा गुरु से करने के लिए कहा है जिससे कि शिष्य का मन नि:शंक हो जाए-

जइ तो मुढ़ा अच्छसि भान्ति पुच्छतु सद्गुरु पाव॥ **(चर्या सं. 41)**

यदि शिष्य के चारों ओर माया आच्छादित हो जाए तो माया रूपी हरिणी को बाँधने की प्रक्रिया सद्गुरु ही बता सकते हैं कोई और नहीं-

माआजाल पसरिउ रे बाँधोलि माआ हरिणी।

सद्गुरु बोहे बुझि रे रासु कदिणी॥ **(चर्या सं. 23)**

जब चंचल चित्त साधक की साधना को दिक् भ्रष्ट करे और निरंतर चेष्टाओं के बाद भी वह केंद्रित न हो तो मूषक की तरह चंचल चित्त को सद्गुरु के प्रबोध वाक्य के द्वारा ही नाश किया जा सकता है-

तब सो मुसा उज्जल पाञ्चल।

सद्गुरु बोहे करिह सो निच्छल॥ **(चर्या सं. 21)**

निर्गुण वादी संतों में भी गुरु का स्थान सर्वोच्च है। कबीर ने तो गुरु की सत्ता को ईश्वर से भी बढ़कर माना है क्योंकि गुरु ही शिष्य को ईश्वर से मिलन का मार्ग बताता है-

गुरु गोविन्द दोउ खड़े काकै लागूँ पाय।

बलिहारी गुरु आपणें, जिन्ह गोविन्द दिया बताय॥

कबीर गुरु को भृंग के समान बताते हैं। जिस प्रकार भृंग अन्य कीड़ों को भी अपने समान ही बना लेता है उसी प्रकार गुरु भी भक्तिमान शिष्य को अपनी ही भाँति तत्त्वदर्शी और ब्रह्मज्ञ बना लेता है। गुरु में व्यक्तित्व परिवर्तन करने की शक्ति होती है। उसके आश्लेष में आकर जाति कुल सब समान हो जाते हैं किसी में भी कोई भेद नहीं रह जाता-

गुरु बड़े भृंगी हमारे गुरु बड़े भृंगी।

कीटसों ले भंग किन्हा आपसो रंगी।

पाँव औरै कोई सब भये भृंगी पंख औरै रंगी रंगी।

जाति कुला ना लखै कोई सब भगे भृंगी।

नदी नाले मिल्वै गंगै कहलावै गंगी।[81]

सभी बस उसी गुरु के रंग में रंग जाते हैं।

लेकिन कभी ज्ञान के अभाव में लोग भटकते रह जाते हैं और उनके हाथ पाखंड ही लगता है। सतगुरु के अलावा मन को प्रशांत कर ईश्वर भक्ति का मार्ग और कोई बता ही नहीं सकता-

नैहर मैं दाग लगाय आय चुनरी

ऊ रँगरेजवा कै मरम न जानै,

नहिं मिलै धोबिया कौन करै उजरी

तन कै कूँडी ज्ञान कै सौंदन

साबुन महँग बिचाय या नगरी।

पहिरि-ओढ़िके चली ससुरिया

गौंवाँ के लोग कहैं बड़ी फुहरी।

कहैं कबीर सुनो भाई साधो,

बिना सतगुरु कबहूँ नहिं सुधरी।[82]

गुरु ही वह तत्त्व है जो ईश्वर से साक्षात्कार करा सकता है जब 'सेवक को सतगुरु मिले कछू रही न तबाही'[83] सद्गुरु के मिलते ही मन के समस्त भाव शांत हो जाते हैं और कुछ भी अभाव नहीं रह जाता उसी के बाद आध्यात्मिक साधना शुरू होती है-

अब गुरु दिल में देखिया, गावन को कछु नाहिं।

कबिरा जब हम गावते, तब जाना गुरु नाहिं।

सुन्न मँडल में घर किया, बाजै सब रसाल।

रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल।[84]

सद्गुरु तो शिष्य के लिए पारस मणि की भाँति है जो शिष्य के मन को स्वर्णमय भक्ति से भर देता है। परंतु सारे गुरु एक जैसे नहीं थे कुछ अल्पज्ञ गुरु ब्रह्मवेत्ता होने का ढोंग करते हैं जबकि वे अपने साथ अपने शिष्य को भी ले डूबते हैं-

इस विषय में सरपाद कहते हैं कि -

जाव ण अप्पा जाणिज्जइ ताव ण सिस्स करेइ।

अंधे अंध कढ़ावइ तिम वैण्ण वि कूप पड़ेइ॥ [85]

इसी प्रकार के भाव कबीर ने भी अभिव्यक्त किए हैं-

जाका गुरु भी अन्धला चेला खरा निरन्ध।

अन्धै अन्धा ठेलिया दून्यूं कूप पड़न्त॥

समानांतर भाव दादू ने भी व्यक्त किए हैं-

अन्धे अन्धा मिलि चले दादू बाँधि कतार।

कूप पड़े हम देखता अंधे अंधा लार॥[86]

अनाड़ी गुरु के निषेध का दोहा लगभग सभी ने रचा है। इसी कारण प्रत्येक हिन्दू तंत्र में गुरु और शिष्यों के लक्षणों की चर्चा कर योग्य और अयोग्य गुरु एवं योग्य और अयोग्य शिष्य का सम्यक् वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार के भाव कुक्कुरीपाद ने भी व्यक्त किये हैं कि वे अपने गुरु से असंतुष्ट हैं क्योंकि वह जिस तत्त्व की खोज में आए थे वह यह नहीं है -

हाऊँ निरास खगण भतारे।

मोहोर विगोआ कहण न जाई॥ ...

जा एथु चाहमि सो एथु नाहि॥ **(चर्या सं. 20)**

इसी प्रकार सिद्धों ने गुरुओं को साधना के मार्ग में जो उत्कृष्ट स्थान प्रदान किया उसी की परंपरा स्वरूप नाथों और संतों ने भी उसे उसी रूप में स्वीकृति दी।

उलटबासियाँ :

सिद्धों के अनुसार यह संसार भ्रम है इसी कारण यह चिर परिवर्तनशील है। अत: साधारण जन इस संसार को जिस दृष्टि से देखते हैं सिद्ध उसे उस दृष्टि से उल्टी बात कहने को अभ्यस्त हो गए। उनकी अद्‌भुत वाणी के कारण सामाजिकों में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही गई। इसी के कारण ये लोग अपनी बात को उच्च स्वर में और अधिक जटिल रूप में कहने लगे जिससे कि समाज में उनका स्थान रहस्यावृत्त रहे और लोग उनकी ओर जिज्ञासु दृष्टि रखकर आकृष्ट हो जाएँ। वे स्पष्ट रूप से तीर्थ व्रतादिक का खंडन करते हैं और यहाँ तक कि वे पूजा पाठ आदि को भी अनावश्यक मानकर केवल अपनी घरणी को लेकर केलि करने का उपदेश देते हैं। इस तरुणी घरनी के बिना होम जपादि सब व्यर्थ हैं, क्योंकि वही महामुद्रा है जिसके बिना निर्वाण प्राप्ति नहीं हो सकती -

एक्कु ण किज्जइ मंतु ण तंतु णिअ-घरिणिअ लइ केलि करंतु।

णिअ-घरे घरिणि जावं ण मज्जइ तावं पंच वण्णे विहरिज्जइ॥

एअ-जव-होमें मंडलकम्में अणुदिणु अच्छसि काइं अधम्में।

तइं विणु तरुणि णिरंतर-णेहें वोहि किं लब्भइ एण-वि देहें॥[87]

कृष्णपाद यह घोषणा करते हैं कि जिस प्रकार नमक पानी में घुल जाता है उसी प्रकार यदि कोई अपनी घरिणी में चित्त लगाए तो वह शीघ्र ही समरसता की अनुभूति कर सकता है उसके बाद भी उसका चित घरिणी में ही लगा रहता है-

जिवं लोणु विलिज्जइ पाणिअहिं तिवं घरणिअ लइ चित्तु।

सम रसु जाअइ तक्खणें जइ पुणु तहे समु णित्तु॥[88]

यदि एक सामान्य साधक की दृष्टि से देखा जाए तो सिद्धों का यह कार्यव्यापार अत्यंत ही निकृष्ट प्रतीत होगा परंतु यह इन सिद्धों के सुदीर्घ शोध का परिणाम है। इसी कथ्य को परंपरा के रूप में नाथों और संतों ने भी ग्रहण किया। इसी कारण इनकी शब्दावली एक जैसी होते हुए भी सांप्रदायिक दर्शन व मान्यताओं के अनुसार उनका वाच्यार्थ भी अलग-अलग होगा। इसी कारण ये सिद्ध यह कहते हैं कि कोई बिरला ही उनके शब्दों को समझ सकता है। कहते हैं कि सहस्रार तक पहुँचे हुए योगी का चित्त व्युत्थान--काल में अर्थात् समाधि टूटने के बाद फिर वासना से ग्रस्त हो जाता है। इसी को सिद्धों ने इस प्रकार कहा है-

दुलि दुहि पिटा धरण नजाई।

रुखेर तेंतेलि कुम्भीरे खा अ॥

आंगन घरपण सुन भो बिआती।

कानेट चौरि निल अधराति॥

ससुरा निद गेल बाहुड़ी जागअ।

कानेट चोरे निल का गाइ मागअ॥

दिवसइ बहुड़ी काउइ डरे भाअ।

राति भइले कामरू जाअ॥

अइसन चर्या कुक्करी पाएँ गाइउ।

कोड़ि मझे एकु हिअहि समाइउ॥ **(चर्या सं. 2)**

यह पूरा पद ही उलटबाँसी है जिसमें कहा गया है कि कछुए के दोहन से इतना दूध निकला कि पात्र में भी स्थान न रहा। कुंभीर (मगर) पेड़ की इमली खाता है। हे वधू, घर की गृहिणी सुनो, बीच रात को चोर कर्णफूल ले गया। इस प्रकार की शब्दावली के प्रयोग के बाद कुक्कुरीपाद कहते हैं कि करोड़ों के बीच कोई एक ही व्यक्ति इस बात को समझ सकता है।

ढेंढणपाद ने भी मातृ तंत्र और पितृ तंत्र में तुलना करते हुए कुछ और ही रूप में अपनी बात रखी-

टालत मोर घर नाहि पड़बेषी।

हाड़ीत भात नाहि निति आवेशी॥

वेग संसार बडहिल जाअ।

दुहिल दुधु कि बेण्टे समाअ॥

बलद बिआअल गविआ बाँझे।

पिटा दुहिए ए तिना साँझे॥

जो सो बुधी सौइ निबुधी।

जो सो चौर सोई साधी॥

निते निते सिआला सिहे सम जुझअ।

ढेण्ढन पाएर गीत बिरलेँ बुझअ॥ **(चर्या सं. 33)**

यहाँ पर ढेंढणपाद ने अनुत्तर तंत्र के कलशाभिषेक, महामुद्रा साधन आदि को अनावश्यक क्रिया बताकर उन साधकों की तुलना निर्बुद्धि और चोरों से की है। साथ ही उन्होंने अनुत्तर तंत्र के समर्थक कृष्णपाद को सियार कहा है जो बुद्ध के साथ युद्ध के लिए तत्पर है। और अंतत: वे कहते हैं कि, 'मेरे गीत समझने वाले बिरले ही हैं।'

इस प्रकार बौद्धों ने उलट बासियों की सुदृढ़ परंपरा की शुरुआत की जिसे नाथों और भक्तिकालीन संतों ने ग्रहण किया। इनमें शिष्यों को आँख मूँदकर उनके शब्दों को ग्रहण न करने का उपदेश देने के क्रम में कहा है-

संतों, जागत नींद न कीजै।

काल न खाय, कल्प नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै॥

उलटि गंग समुद्रहिं सोखै ओ, सूर गरासै।

नवग्रह मारि रोगिया बैठे जल में बिंब प्रकासै॥

बिनु चरनन को दस दिसि धावै, बिन लोचन जस सूझै॥

ससा सो उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज कोउ बूझै॥

औंधे घड़ा नहीं जल डूबै, सूधे सौं घट भरिया॥

जेहि कारण न भिन्न-भिन्न, कुरु गुरु प्रसाद तें तरिया॥

पैठि गुफा में सब पग देखै, बाहर कछुक न सूझै।

उलटा बान पारधिहि गाले, सूरा हो सो बूझै॥

गायन कहै, कबहुँ नाहिं गावै, अनबोला नित गावै॥

नटवर बाजी पेखनी पेखै, अनहद हेतु बढ़ावै।

कथनी-वदनी निजुकै जोहै, ई सब अकथ कहानी।

धरती उलटी आकासहिं बैधैं, ई परुषहि की बानी॥

बिनां पियाला अमृत अचवै, नदी नीर भरि राखै।

कहै कबीर सो जुग-जुग जीवै, राम सुधारस चाखै॥[89]

यहाँ कबीर द्वारा प्रयुक्त शब्दावली की व्याख्या अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत किया है परंतु एक ही निष्कर्ष पर कोई पहुँच नहीं पाया है। यहाँ प्रयुक्त 'ससा सो उलटि सिंह को ग्रासै' उक्ति 'निते निते सिआला सिहे सम जुझअ' के साथ अभिव्यक्ति साम्य तो रखता है परंतु दोनों का व्यंग्यार्थ भिन्न है।

कबीर ने परमेश्वर की सत्ता का स्वरूप बताते हुए उसे अगम अगोचर कहा है। उनके अनुसार योग द्वारा प्राप्त सम-भाव तो ठीक है, पर शाश्वत नहीं है। शाश्वत है सहज समाधि, सहज भजन। अनहदनाद बजता ठीक है, पर वही सत्य नहीं है, चरम सत्य वही है जो इसे बजाता है-

बाजै जंत्र नाद-धुनि हुई, जो बजावै सो और कोई।

बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहुँ न पेखा॥[90]

बौद्धों और कबीर में प्रयुक्त अनेक शब्दों में समानता है पर उनका अर्थ अलग-अलग है। उनकी तुलना यहाँ इस प्रकार ही गई है-

शब्द	चर्या सं.	बौद्ध प्रयोग	कबीर का अर्थ
हरिण	6	साधक	चित्त
हरिणी	6	साधक की संगिनी	हरण करने वाली
अहेरी	6,23	उपुयक्त अवसर की ताक में रहने वाला	साधना के लक्ष्य को पाने वाला
भुजंग	28	व्यभिचारी	अंत: करण
मूसा	21	विक्षिप्त मन	जीवात्मा
गाय/बाँझ गाय	33	मातृतंत्र	माया

गंगा-यमुना		इड़ा-पिंगला	यथावत्
कुंभीर/मगरमच्छ	2	काम तत्त्व	मन
सहज	3	तथता और शून्यता बोध की युगपत् उत्पत्ति	आसान
खसम/खमण	20	आकाश के समान	यथावत्
कमल	4.27	देहस्थ चक्र. स्त्री तत्त्व (योनि)	विशेषकर सहस्रार चक्र
गगन	16,35	आज्ञाचक्र	ब्रह्मरंध्र
घड़ा	3	देह	यथावत्
वारुणी	3	देहस्थ जैव शक्ति	सहस्रार च्युत अमृत

यहाँ मात्र कबीर के शब्दों की व्याख्या डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के आधार पर की गई है।[91] अत्यंत खेद का विषय है कि अनेक विद्वानों ने कबीर के उलटबासियों के आधार पर ही चर्यापदों की व्याख्या की है। पिता और पुत्र में रूप साम्य देखकर यदि कोई यह कह दे कि- 'बाप, बेटे पर गया है' तो चिंतनीय विषय है। द्विवेदी जी ने बौद्धों की उलट बासियों और योगशास्त्रीय रूपकों को परवर्ती संतों की वाणियों को समझने में सहायक अवश्य माना[92] परंतु उनकी व्याख्या कबीर को आधार मानकर ही की गई। उपर्युक्त शब्दों की भाँति अनेक शब्द अपनी-अपनी गरिमा के साथ बौद्धों और कबीर आदि संतों में प्रयुक्त हुए हैं। विद्वान सिद्धों की इस कथन भंगिमा को संध्या या संधा भाषा कहते हैं। जिसकी चर्चा पूर्ववर्ती अध्याय में की जा चुकी है। पंरतु इस प्रकार के प्रयोगों के पुरष्कर्ता संभवत: बौद्ध नहीं वरन् वेदों और उपनिषदों में भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं कि जिनमें समानांतर भाषा जैसे भाषा प्रयोग मिल जाते हैं।[93]

काया साधना :

बौद्धों का साहित्य पूर्णत: काया साधना से परिपूर्ण था। बौद्धों के योगाचार तंत्र का दर्शन 'पिंड ब्रह्माण्डवाद' को लेकर चला था। शरीर की अंतरंग नाड़ियों और विविध प्रकार के प्राणायामों का विकास भी बौद्ध तंत्र में ही हुआ। सरहपाद ने कहा है कि इसी देह में गंगा, यमुना और समस्त तीर्थों का समावेश है। अत: बाहर घूमने की अपेक्षा देह का अन्वेषण करना ही श्रेयष्कर है।

एत्थु सैँ सुरसरि जमुणा, एत्थु सैँ गंगा साअरु।

एत्थु पआग बणारसि, एत्थु सैँ चंद्र दिवाअरु॥[94]

कृष्णपाद ने कहा है कि साधना के आसन में जैवशक्ति को अविचल रखो इससे हृदय में शक्तिशाली अनुभूतियों की सृष्टि होती है। जब कपाली काह्न योगनिविष्ट होते हैं तो देह की समस्त शक्तियाँ एकाकृत हो जाती हैं जिससे साधक का मन स्थिर नहीं रह सकता-

नाड़ि शक्ति हिढ़ धरि अ खट्टे।

अनहा डमरु बाजए बीर नादे॥

काह्न कपाली योगी पइठ अचारे।

देह नअरी बिहरए एककारैँ॥ **(चर्या सं. 21)**

कृष्णपाद अनुत्तर साधक थे इसी कारण उन्होंने अपने मत के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी योगचार मत का खंडन तो किया पर इससे बौद्ध तंत्र में प्रचलित काया साधना का ज्ञान अवश्य ही होता है।

चर्यापदों के प्रथम पद में ही लुईपाद ने योग और काया साधना का द्वार मुक्त कर दिया। उन्होंने कहा है कि देह रूपी वृक्ष की पाँच शाखाएँ हैं और चंचल चित्त में ही मृत्यु-भय प्रवेश करता है। महासुख के विषय में दृढ़प्रज्ञ बनो और गुरु से पूछकर यह ज्ञान प्राप्त करो-

काआ तरुवर पंच वि डाल।

चंचल चीए पइठो काल॥

दिढ़ करिअ महासुख परिमाण।

लुई भणइ गुरु पुच्छअ जाण॥ **(चर्या सं. 1)**

यही अंतस्साधन या काया साधना शाक्त तंत्रों में भी बहुल रूप में प्रचलित है। शंकराचार्य कृत 'सौंदर्य लहरी' में इसकी स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है-

महीं मूलधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं।

स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरी।[95]

बौद्ध दर्शन वस्तुतः अंतर्मुखी साधना पर अधिक बल देता है। इसी कारण उनके द्वारा निर्धारित चार पीठों की उपस्थिति वे शरीर के अभ्यंतर में ही मानते हैं। जालंधर, कामरूप, ओडियान तथा श्रीहट्ट नामक पीठों में से कामरूप व उडडीयान पीठों का उल्लेख मिलता है।[96] कुक्कुरीपाद की चर्या में दिन में अदमित यौनस्पृहा, अर्द्धरात्रि में जागृत होकर वासना लोलुप हो उठती है-

दिवसइ बहुड़ी काउइ डरे भाअ।

राति भइले कामरू जाअ॥ **(चर्या सं.-2)**

संतों ने भी देह में ही समस्त तीर्थों और देवता की स्थिति का उल्लेख किया है-

इस घट अंतर बाग-बगीचे, इसी में सिरजन हारा।

इस घट अंतर सात समुंदर, इसी में नौ लख तारा।

इस घट अंतर पारस मोती, इसी में परखन हारा।

इस घट अंतर अनहद गरजै, इसी में उठत फुहारा।

कहत कबीर सुनो भइ साधो, इसी में साईं हमारा।[97]

योगाचारी तांत्रिक साधकों ने मन पर नियंत्रण और विश्लेषण पर सर्वाधिक बल दिया था। उनके अनुसार मन ही सर्वस्व है। मन के द्वारा ही साधक, पेट की आँतड़ियाँ, फेफड़े और दिल की गति में परिवर्तन या उसे पूर्णत: बंद भी कर सकता है। उनके अनुसार श्वास को नियंत्रित करना सबसे आसान और मन को नियंत्रित करना सबसे कठिन है। इसी कारण वे श्वास के द्वारा धीरे-धीरे मन को भी नियंत्रित करते हैं।

क्रियातंत्र में प्राणायाम का वृहद वर्णन मिलता है। चर्या सं. 1,3,7,11,17,19,21,36 व 49 में प्राणायाम का वर्णन मिलता है। श्वास-प्रश्वास के नियंत्रण द्वारा विक्षिप्त चिंताओं की निवृत्ति करना ही प्राणायाम का मूलभूत लक्ष्य है। इस क्रम में ऊर्ध्ववायु को नीचे और अध: वायु को ऊपर खींचकर नाभि में अवद्ध किया जाता है। तत्पश्चात् मन: विक्षिप्ति उत्पादन कार्य, चिंता (व्यसन) को ध्वंस कर केवल शुभ और सकारात्मक अनुभूतियाँ ही हृदय में स्थापित की जाती है। बिरुवापाद ने इस क्रिया का उल्लेख इस प्रकार किया है-

एक से शुण्डिनी दुई धरे सान्धअ।

चीअण बकालअ बारुणि बान्धअ॥

सहजे थिर करि बारुणि सान्ध।

जैँ अजरामर होइ दिढ़ कान्ध॥

दशमि दुआरत चिह्न देखइआ।

आइल गराहक अपने बहिआ॥

चउशठी घड़िये देत पसारा।

पइठेले गराहक नाहि निसारा॥

एक घडुली सरू इ नाल।

भनन्ति बिरुआ थिर करि चाल॥ **(चर्या सं.3)**

प्राणायाम की इसी क्रिया को गोरखनाथ ने भी इस प्रकार अभिव्यक्त किया था-

अरध उरध बिच धरी उठाई, मधि सुंनि मैं बैठा जाई।

मतवाला की संगति पाई, कथंत गोरषनाथ परमगति पाई।[98]

संत परंपरा में भी इस अरध उरध की कुंभक साधना का उल्लेख मिलता है:

अध-उरध मुखि लागौ कासु

सुं मंडल महि कर परगासु॥

जहाँ सूरज नाहीं चंद

आदि निरंजनु करै आनन्द॥[99]

धधा अरधहिं उरध निबेरा

अरधहि उरधह माँझि बसेरा॥

अरधह छाड़ि उरध जउ आवा

तओ अरधहि उरध मिलिया सुख पावा॥[100]

यहाँ तक कि जायसी ने भी तन में अरध और उरध में बसने वाले शक्ति और शिव का उल्लेख किया है और सिंघल जाने के पूर्व अपने मन में या चित्त में इस शक्ति और शिव को एकात्म कर लेने का निर्देश दिया है :

गजपति यह मन सकती सीऊ। पै जहि पेम कहाँ तेहि जीऊ॥

जो पहिलै सिर पै पगु धरई। सुए केर मीचहु का करई॥

सुख संकलपि दुख सांबर लीन्हेउ। तो पयान सिंघल कह कीन्हैं॥[101]

परंतु जायसी ने यहाँ प्राणायाम क्रिया के स्थान पर प्रेम व्यापार को ही प्राधान्य दिया है।

असम में भी लोक गीतों की श्रेणी में एक प्रकार के 'देह विचारर गीत' प्रचलित हैं जिनमें बौद्ध मूलीय संबंध सारे लुप्त हो गए हैं और उनमें शैव या वैष्णव रूप अधिक स्पष्ट देखा जा सकता है :

'इंगला पिंगला चित्रा सुषुम्नार

एइ चारि-गचि गुणा।

दाइने इंगला वामेसे पिंगला

सुख मन मेरु भागे।

देह अरण्यर माजे कोन जन बहि आसे

इहांक चिनाब लागे॥

इंगलार रजोगुण पिंगलार तमोगुण

सुषुम्नार शुद्ध सत्वगुण।

हिया कमलर माजे हंस हंसिनी आछरय

इयाके बोले निर्गुण॥'[102]

× × ×

'देहार भितरे आछे छय चक्र

बावरि हाजार नाड़ी

मेरु गिर बन जत नदीगण

लयोक तत्त्व बिचारि ॥'[103]

काया साधना की परंपरा को बौद्धों ने विशेष रूप से प्रश्रय दिया और बौद्ध तंत्रों में भी चंडाली, डोम्बी जैसे प्राणायाम भी विकसित हुए। इस काया साधना के द्वारा ही वे अपने इंद्रियों को ज्ञानशून्य बना देते हैं जो कि महासुख का पर्याय माना जाता है। इसी महासुख वाद या सहजवाद को भी बाकी के संतों ने भी न्यूनाधिक मात्रा में ग्रहण किया। सरहपाद ने इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है-

इन्दी जत्थ विलीअ गउ, णट्ठो अप्प सहाव।

सो हलें सहजानंद तणु, फुड पुच्छह गुरु पाव ॥[104]

बाह्याडंबरों का खंडन :

बौद्ध सिद्धों ने अपनी व्रजमयी भाषा द्वारा अपने समस्त प्रतिद्वन्द्वियों के बाह्याचारों का खंडन किया उन्होंने जैनियों व ब्राह्मणों के मतों का भी खंडन किया। लामा तारानाथ के अनुसार तत्कालीन समाज में गहन सांप्रदायिक प्रतिस्पर्धा विद्यमान थी। इसके लिए बौद्ध विद्वान वेदादि ग्रंथों का सूक्ष्मता से अध्ययन कर अपने विपक्षियों के मतों को खंडित करते थे। सरहपाद ने मध्यप्रदेश में जाकर त्रिपिटकों का अध्ययन किया था। बहुत दिनों तक वे नालंदा के आचार्य भी रहे। सरह के आदेश पर ही उनके शिष्य नागार्जुन ने वेदादि ग्रंथ का अध्ययन कर शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित किया।[105] इसी क्रम में विभिन्न बौद्ध कवियों ने दूसरे धर्मों में प्रचलित बाह्याचारों का खंडन किया। केवल अन्य धर्मों में

ही नहीं वरन् वे बौद्ध धर्म की भी इतर शाखाओं में प्रचलित मतों का भी खंडन करते रहे। तिल्लोपाद ने ब्राह्मण्य धर्म में प्रचलित बाह्याचारों का इस प्रकार निषेध किया-

जन्म-मरणे मा करहो रे भंति णिउ चित्तु तहिं णिरंतरु हौती।

तित्थ तवोवण म करहो सेवा देह-सोएहिं ण संतिहे पावा॥

× × ×

वम्हा-विण्हु-महेसर देवा वोहिसत्त हो म करहि सेवा।

देव म पुज्जहि तित्थु म जावहि देव पुज्जए मोक्खु ण पावहि॥[106]

कुक्कुरीपाद ने बाह्याचारों पर वज्राघात करते हुए कहा है कि-

प्रतरन्नामपि गंगायां नैव श्वानमशुद्धमर्हति।

तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थ स्नानं तु निष्फलम्॥

पुण्यो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्तानां कृतार्थता।

नक्तं दिव प्रविष्टानां मत्स्यदीनां तु का कथा॥[107]

सरहपाद ने क्षपणक जैनों के मलिन वेश आदि को तत्त्वरहित साधना मानकर यह कहा है कि इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती-

दीह णग्ग जइ मलिणो वेसें। णग्गल होइ उपाडिअ केसें।

खवणेहि जाण बिडंबिअ बेस। आप्पण बाहिअ मोक्ख उवेसें॥

जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।

लोमप्पाडणे अत्थि-सिद्धि ता जुअइ णिअम्ब॥

पिच्छी-गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चारह।

उज्झे भोअणें होइ जाण-ता करिह तुरंगह॥[108]

चर्यापदों में भी विविध चर्याचार्यों में अलग-अलग बौद्ध दर्शन के मतों का खंडन किया है। विशेषकर योगाचार तंत्र के आचार्यों ने अनुत्तर तंत्र के आचार्यों के मत का खंडन किया-

उदाहरणार्थ अनुत्तर तंत्र के समर्थक कृष्णपाद ने योगाचारियों के योग का खंडन करते हुए कहा है कि प्राणायाम करते-करते मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध हो गया यही देखकर काह्न का मन उदास हो गया -

आलिएँ कालिएँ बाट रुन्धेला।

ता देखि काह्न बिमन भइला॥ **(चर्या सं. 7)**

वहीं देंढणपाद ने भी अनुत्तर के मतों का खंडन कर योगाचार मत को श्रेयष्कर बताया है उनके अनुसार अनुत्तर रूपी मातृतंत्र निष्फल है और योगाचार रूपी पितृतंत्र सफल है। अनुत्तर साधक जो स्वयं को बुद्धिमान मानते हैं असल में वे मूर्ख है। और जो चोर हैं वही साधु बने फिरते हैं-

बलद बिआएल गबिआ बाँझे।

पिटा दुहिए ए तिना साँझे॥

जो सो बुधि सोइ निबुधी।

जो सो चौर सोई साधी॥ **(चर्या सं. 33)**

इसी खंडनात्मक व्यवहार को सिद्धों से नाथों और संतों ने लिया। सारे संत आजीवन बाह्याचारों का खंडन करते रहे। संतों के काव्यों का बहुलांश इसी खंडन मंडन पर आधृत है। इसी में कबीर का स्वर सूच्च मात्रा में प्रतिध्वनित होता है। कबीर के इस प्रकार के खंडनात्मक दोहे विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने हिन्दुओं और मुलसमानों दोनों के धर्मों का खंडन किया। इस प्रकार के पद बहुल प्रचलित हैं-

दुनिया ऐसी बावरी, पाथर पूजन जाय।

घर की चकिया ना पुजै जाहि का पीसा खाय॥

× × ×

कंकर पत्थर जोड़ि कै मस्जिद लियो चुनाय।

ता चढ़ि मुल्ला बांग दै क्या बहिरा हुआ खुदाय॥

× × ×

कबीर दास के समय मुनि थे, पीर थे, दिगंबर थे, योगी थे जंगम थे, ब्राह्मण एवं सन्यासी भी थे। सभी अपने पीछे एक-एक संप्रदाय स्थापित करते चलते थे। कबीरदास ने देखा कि किसी-किसी संप्रदाय में तोप-बंदूकें तक चला करती थीं। वे आश्चर्यचकित होकर अपने शिष्यों से कहा करते थे कि भई, यह भी अजब रोग है कि महादेव के नाम पर पंथ चलाया जाता है। लोग बड़े-बड़े महंत बनते हैं, हाट-बाजार में समाधि लगाते हैं और मौका पाते ही तोप-बंदूकें लेकर पिल पड़ते हैं। भला दत्तात्रेय ने भी कभी किले तोड़ी थी, शुकदेव ने भी तोप संग्रह किए थे, नारद ने भी कभी बंदूक दागी थी ?

ऐसा लोग न देखा भाई, भूला फिरै लिए गफिलाई।

महादेव को पंथ चलावै, ऐसो बड़ौ महंत कहावै।

हाट-बजारे लावैं तारी, कच्चे सिद्ध न माया प्यारी।

कब दत्ते मावासी तोरी, कब सुखदेव तोपची जोरी।

नारद कब बंदूक चलाया, व्यासदेव कब बंब चलाया।

करहि लराई मतिकै मंदा, ई अतीत की तरकस बंदा।

भये बिरक्त लोभ मन ठाना, सोना पहिरि लजावै वाना।

घोरा-घोरी कीन्ह बटोरा, गाँव पाय जस चलै ककोरा।

साखी-(तिय) सुंदरी ना सोहई, सनकादिक के साथ।

कबहुँक दाग लगाबई, कारी हाँडी हाथ॥[109]

वे काजियों पर भी कुठाराघात करते हैं कि-

काजी कौन कतेब बसाना।

पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहिं जानै॥

सकति से नेह पकरि करि सूनति यह न बदूं रे भाई।

जोर खुदाइ तुरक मोंहि करता तौ आपै कटि किन जाई॥

हौं तौं तुरक किया करि सुन्नति औंरतिसौ का कहिए

अधर सरीरा नारि न छूटे आधा हिन्दू रहिए॥

छाँड़ि कतेब राम कहि काजी खून करत हौं भारी।

पकरी टेक कबीर भगति की काजी रहे झख मारी॥[110]

कबीर ने अपने नाम पर कोई पंथ या संप्रदाय भी नहीं चलाया था। यहाँ तक कि उनके पुत्र कमाल भी नवीन पंथ के पक्षपाती नहीं थे। कबीर के शिष्य कमाल से अनुरोध करते रह गए पर वे अपने मत में अचल रहे। बाद में धरमदास ने कबीर पंथ की स्थापना की। कमाल से मतवैविध्य होने के कारण बाद के संतों ने 'बूड़ा वंश कबीर का उपज्यो पूत कमाल' कहा परंतु उल्लेख्य है कि कमाल निर्गुण संत दादू दयाल के भी गुरु थे।[111]

कबीर के अनुसार ईश्वर मंदिर, मस्जिद, काबा, कैलाश कहीं नहीं हैं वह तो केवल मनुष्य के मन में ही स्थित है जो कि आत्म-विश्लेषण से ही ज्ञात हो जाता है। इसी कारण समस्त बाह्याचार, भ्रम और अनावश्यक कार्य व्यापार है-

मोकों कहाँ ढूढ़े बंदे, मैं तो तेरे पास में।

ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलाश में।

ना तो कौने क्रिया-कर्म में, नाही योग बैराग में।

खोजी होय तो तुरतै मिलिहौ, पल भर की तलास में।

कहै कबीर सुनो भई साधो सब स्वाँसों की स्वाँस में।[112]

कबीर के राम और बौद्ध शून्यवाद :-

बौद्ध अनात्मवादी दर्शन के अनुसार समस्त वासनाओं के त्याग का एक ही पथ है, वह है व्यक्ति को किसी भी वस्तु भी या तत्त्व से जुड़ना नहीं चाहिए। यहाँ तक कि 'स्व' या 'मम' जैसी सत्ता को भी अस्वीकार करना पड़ेगा, इसी भाव को आत्महीनता या अनात्मवादी दर्शन कहते हैं। अनात्म शब्द ही बाद में नैरात्मा के रूप में प्रफुल्लित हुआ। उनके अनुसार एक बार नैरात्मा की अनुभूति से कामना-वासना स्वयंक्रिय रूप से लुप्त हो जाता है -

सहज महातरु फरिअ ए तैलोए।

खसम सभावे रे बा णमुका कोए॥

जिम जले पाणिआ टलिआ भेउ नजाअ।

तिम मण रअणा रे समरसे गअण समाअ॥

जासु णाहि अप्पा तासु परेला काहि।

आइ अणुअणा रे जाम मरण भव नाहि॥

भुसुकु भणइ कट राउतु भणइ कट सअला एक सहाव।

जाइ ण आवयि रे ण तँहि भावाभाव॥ **(चर्या सं.24)**

भुसुकुपाद के अनुसार जन्म के समय चित्त में कोई अनुभूति नहीं होती। अनुभव के आधार पर ही समस्त भाव मन में स्थान लेते हैं। जब मन में शून्यता की अनुभूति होती है तो ज्ञान होता है कि संसार में अपना कहने को कुछ नहीं है अत: दूसरा या पराया भी कोई नहीं होता। शून्य की अनुभूति के बाद स्थिति-अनुपस्थिति, गमन-आगमन, जन्म-मृत्यु में कोई पृथकता दृष्टिगोचर नहीं होता। जिस प्रकार जल में विविध धाराओं का अस्तित्व होते हुए भी उसका पार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी लोग जन्म-मृत्यु, अस्तित्व-अनस्तित्व में भेद नहीं करते। यही बौद्धों का शून्यवाद है। जब साधक की व्यक्तिगत अस्मिता मिट जाती है तभी वह बोधिचित्त की प्राप्ति कर सकता है।

परंतु कबीर के राम निर्गुण ब्रह्म होते हुए भी अस्तित्वहीन नहीं हैं। उनके राम दशरथ के पुत्र या सीतापति भी नहीं हैं। न उसे यशोदा ने कभी गोद में खिलाया और न ही उन्होंने कभी कोई अवतार ग्रहण किया-

ता साहिब के लागौं साथा। दुख सुख मेटि जौ रह्यो अनाथा।

नां दशरथ घरि औतरि आवा। नां लंका का रांव सतावा।

देवैं कख न औतरि आवा। नां जसवै ले गोद खेलावा।

ना वो ग्वालन के संग फिरिया। गोवरधन ले ना कर धरिया।

बांबन होय नहीं बलि छलिया। धरनी वेद ले न ऊधरिया।

गंडक सालिगरांम न कोला। मच्छ कच्छ ह्वै जलहि न डोला।

बद्री बैठा ध्यांन नहिं लावा। परसराम है खत्री न सतावा।

द्वारमती सरीर न छांड़ा। जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा।

कहै कबीर विचार करि, ये ऊले व्यवहार।

याहीथें जे अगम है, सो वरति रह्या संसार॥[113]

परंतु उनके राम ऐसे हैं जिनका नाम लेकर अजामिल, गज और पिंगला नामक गणिका भी अपने कूकर्मों से मुक्त हो गए-

अजमल-गज-गनिका पतित करम कीन्हाँ।

तेउ उतरि पार गए राम नाम लीन्हा॥[114]

कबीर ने अवतारवाद का तो खंडन किया परंतु जिन पौराणिक कथाओं में भक्तों के उद्धार की कथा आती हैं उन्होंने उन कथाओं को अवश्य ही ग्रहण किया।

उल्लेख्य है कि प्रत्येक पुराणों में ब्रह्म के स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार के रूपों का वर्णन किया गया है। कबीर ने ब्रह्म के सूक्ष्म रूप को ग्रहण कर कुंडलिनी स्वरूप को ही ब्रह्म माना। इस कुंडलिनी का जागरण शब्द ब्रह्म के द्वारा होता है जिसका वर्णन नाथ योगियों ने भी किया-

सबदहि कूंजी सबदहि ताला, सबदहि सबद जगाया।

सबदहि सबद सू परच्या हूया, सबदहि सबद समाया॥[115]

वह राम प्रत्येक जीव के अंदर है और इस घट के नष्ट होने पर वह ब्रह्म का अंश पुनः ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इसमें औपनिषदिक दर्शन की छाया स्पष्टतः परिलक्षित होती है-

पूर्णमद : पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

इसी भाव को कबीर ने कुंभ के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया था-

जल में कुंभ कुंभ में जल है,

बाहर भीतर पानी।

फूटा कुंभ जल जलहि समाना

यह तथ कहो गियानी ॥[116]

देखा जा सकता है कि कबीर के राम निर्गुण ब्रह्म होते गुए भी उनका स्वत्व सचराचर में परिव्याप्त है जबकि बौद्धों का बोधिचित्त समस्त जगत के अनस्तित्व को लेकर चलता है। वे अपने अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते जबकि कबीर ने भक्त हृदय के माध्यम से अपनी भावनाएँ उस निर्गुण राम के समक्ष प्रस्तुत किया। निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है। कि बौद्धों का शून्यवाद अभ्यास प्रसूत योगसाध्य कार्य व्यापार है और कबीर का राम भक्ति साध्य हृदय की भावना है जिसका कोई रूप, रेखा, गंध तो नहीं पर वह अस्तित्वहीन भी नहीं। वे केवल शब्द ब्रह्म है-

साधो शब्द साधना कीजै।

जे ही शब्द ते प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै।

शब्द गुरु शब्द सिखी भये, शब्द सो बिरला बूझै ॥[117]

नारी का स्थान :

बौद्ध तंत्र के विद्वान डॉ. प्रणव ज्योति डेका के अनुसार वज्रयान संप्रदाय मंत्रयान का एक अंग है। मंत्रयान तंत्र में यौनाचार का समर्थन करने वाला पथ ही वज्रयान है। वज्रयान की दो प्रमुख शाखाएँ हैं महाअति तंत्र और अनुत्तर तंत्र। महा अति तंत्र अत्यंत गुह्य तंत्र है और इस साधना की शिक्षा शिष्य को केवल मौखिक रूप से दिया जाता है अत: इसका लिखित शास्त्र दुष्प्राप्य है।

महासिद्ध पद्मसंभव (गुरु रिन्पोचे), महासिद्ध तिरोपा ने इस साधना में सिद्धि पाई थी। इस तंत्र के लिखित तथ्यों में पद्मसंभव द्वारा उनकी साधना संगिनी चौगीयाल खारसेन को दिए उपदेश और तिरोपा द्वारा उनके शिष्य नारोपा को दिए उपदेश के कुछ अंश विशेष ही सन्निहित हैं। पद्मसंभव और विमलमित्र इस पंथ के प्रतिष्ठापकाचार्य माने जाते हैं। महा अति तंत्र के सिद्ध के लिए ध्यान मग्न और ध्यानहीन अवस्थाओं में कोई पृथकता नहीं, उनका समस्त जीवन ही ध्यानपूर्ण रूप में गुजरता है। इस पंथ का सिद्ध अस्तित्व-अनस्तित्व, देने और लेने में कोई पार्थक्य नहीं मानता।[118]चित्त में शून्यता बोध के साथ ही It is a mistake to try to concentrate on emptiness and after meditation intellectually to regard everything as a mirage."[119] " Temporay realization is like a mist which will surely disappear" [120] महाअति तंत्र में यौनाचार स्वीकृत हैं पर इसका प्रयोग इतने गुप्त रूप से रखा जाता है कि बाहर से कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

इस पंथ में साधक यौन संगम में वासना के लिए कारण लिप्त नहीं होता बल्कि इसका मूल कारण करुणा है। बौद्ध तंत्र के अन्य दर्शनों में कठोर ब्रह्मचर्य पर बल दिया जाता है इसके चलते साधक का जीवन नीरस, और चरित्र क्रूर, असहिष्णु और संकीर्ण हो जाता है। इसके साथ जब अनात्म और सर्वशून्यबोध का योग हो जाए तो साधक के मन में नैराश्य, निरर्थकता और उद्देश्यहीनता का भाव उदित हो जाता है। इसके चिकित्सा स्वरूप आर्यदेव ने भय, घृणा, लोकाचार और शून्यता की इच्छा त्याग कर यौनाचार ग्रहण करने का उपदेश दिया है -

जहि मण इन्दिअ पवण हो णहा।

ण जानमि अपा कँहि गइ पइठा॥

अकट करुणा-डमरुलि बाजअ।

आजदेव निराले राजइ॥

चांदेर चान्दकान्ति जिम पड़िभासअ।

चिअ विकरणे तहि टलि पइसइ॥

छाड़िअ भय घिण लोआचार।

चाहन्ते चाहन्ते सुण बिआर॥

आजदेवँ सअल बिहरिउ।

भय घिण दुर निबारिउ॥ **(चर्या सं 31)**

अनुत्तर पंथियों के अनुसार इंद्रियानुभूति के ऊपर और कुछ नहीं है। सारी इंद्रियूर्द्ध अनुभूतियों वास्तवत: इंद्रियानुभूति का ही रूपांतरण मात्र है-

सँ एँ संवेअण बोलथि सान्ति। **(चर्या सं. 26)**

आनुष्ठानिक यौनाचार के द्वारा साधक मानसिक रूप से सर्वशून्य नास्तिक्यवाद से करुणा के माध्यम से वास्तविक पृथ्वी में लौट आता है। सर्वशून्य का अनुभव कर संसार में लौटने वाले साधक केवल अपना ही वहीं वरंच अन्य जीवों का उपकार ही करता है। ऐसे साधकों के लिए संसार में भला-बुरा, सुख-दु:ख कुछ नहीं रह जाता है। अत: केवल करुणा की सृष्टि के लिए स्त्री संगम की अनुमति दी जाती है। यह महामुद्रा का संगम साधक के जीवन के केवल एक ही बार कलशाभिषेक के समय गुरु की उपस्थिति और निर्देशानुसार ही होता है।

"The idea is that the Lord has entered the sameness of father-mother union, who fuse together by the fire of great possion (maharaga) and become indivisible from the water of the flask."[121]

इसी को पद्म और वज्र का मिलन कहते हैं और अनुत्तर तंत्र में इसे 'कर्ममुद्रा' कहा गया है। रेत: स्खलन के बाद गुरु उस रेत: को शिष्य के कंठ में स्थापित करते हैं इसी को अनुत्तर तंत्र में 'महामुद्रा' कहते हैं। प्रतिलोम प्राणायाम के द्वारा शिष्य, प्राण वायु को आज्ञा चक्र से विशुद्ध चक्र से होते हुए अनाहत चक्र तक लाता है। अर्थात् साधक के मन में पुन: अनुभूति की उत्पत्ति होती है और यह अनुभूति केवल करुणा है।[122]

परंतु योगाचार तंत्र के समर्थक इस प्रथा के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते हुए अनुत्तर साधक को वेश्यागामी और साधना संगिनी को वेश्या कहते हैं (चर्या 28); उन्होंने इस यौनाचार को साधारण काम या वासना की संतुष्टि बताया (चर्या 50); उन्होंने यह भी कहा कि यह क्रम एक बार शुरू हुआ तो उसका कोई अंत नहीं है (चर्या 49); साधकों को सावधान करते हुए कहा है कि साधना संगिनी के साथ रहने पर साधना भी खतम हो जाती है (चर्या 44) यहाँ तक कि स्वयं अनुत्तर साधकों ने भी मन में पूर्णत: शून्यता की अनुभूति न होने तक यौनाचार में लिप्त होने से निषेध किया है (चर्या 16)।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि साधना में स्त्री के संसर्ग के पक्ष में जितना समर्थन मिलता है उसके विपक्ष में भी उतनी ही आवाज़ें उठती है। अत: समस्त बौद्ध वाङ्गय को ही कामसिक्त मानना व्यर्थ है।

ऐसा लगता है कि बौद्धों के योगाचार तंत्र के दर्शन के आधार पर ही बाद में नाथ संप्रदाय का उदय हुआ होगा। कहा भी जा चुका है कि योगाचार तंत्र कठोर ब्रह्मचर्य का पोषक और यौनाचार का निंदक रहा था। इसी कारण नाथ पंथ भी कठोर ब्रह्मचर्य का पोषक और यौनाचार का निंदक रहा था और इसमें साधना संगिनी विषयक असहिष्णुता के स्वर गूँजायमान होते हैं। इसी मत को मध्ययुगीन संतों ने भी ग्रहण किया।

कबीर में स्त्री के कामिनी रूप की निंदा करते हुए कहा है कि-

नारी की झाइ पड़त काला होत भुजंग।

कबीर उनकी कौन गति जो नित नारी संग॥

परंतु उसी कबीर ने स्त्री को प्रेम का आदर्श मानते हुए यह कहा है कि जिस प्रकार सती स्वयं जलकर भी प्रिय का साथ निभाने का वचन पालन करती है। उसी प्रकार ब्रह्म के प्रेम से भी मुकरना नहीं चाहिए -

जैसे सती चढ़े अगिन पर, प्रेम वचन न टारा हो।

आप जरै औरनि को जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो।[123]

उन्होंने स्थान-स्थान पर स्वयं को स्त्री मानकर ही ब्रह्म के समक्ष अपने उद्दाम प्रेम की अभिव्यक्ति की है। यह प्रेम स्थूल नहीं वरन् इसमें अव्यक्त ब्रह्म के प्रति पारलौकिक भावों की अभिव्यक्ति भी हुई है-

निस दिन सालै घाव, नींद आवै नहीं।

पिया-मिलन की आस, नैहर भावै नहीं।

खुल गए गगन-किवाड़, मंदिर उजियार भयो।

भयो है पुरुष से भेंट तन-मन वार दियो।[124]

जिस प्रकार लोक में विरहिनी स्त्री अपने प्रवासी प्रिय के समक्ष अपना प्रेम निवेदित करने के लिए आतुर रहती है परंतु उसमें लौकिक लज्जा भी अभी शेष है जिस कारण वह अपने प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती वही भाव कबीर में भी दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं यह सूक्ष्म या अन्योक्ति परक प्रेम अपनी मांसलता के साथ भी उभरता है-

बालम आवो हमारे गेह रे।

तुम बिन दुखिया देह रे।

सब कोई कहे तुम्हारी नारी, मोको लागत लाज रे।

दिल से नहीं दिल लगायो, तब लग कैसा सनेह रे।

अन्न न भावै नींद न आवै, गृह बर धरै न धीर रे।

कामिन को है बालम प्यारा, ज्यों प्यासे को नीर रे।

है कोई ऐसा पर उपकारी, पिवसों कहै सुनाय रे।

अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जीव जाय रे।[125]

कबीर ने संसार को चलाने के लिए वीर्य संरक्षित करने का उपदेश दिया है नाकि काम को ध्वंस कर नपुंसक बनने का। इसी कारण ऐसा करने वाले योगियों को वे 'हिजड़े' की संज्ञा देते हैं -

जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले

काम जराय जोगी होय गैले हिजरा।[126]

कबीर ने स्त्री का रूपक माया के रूप में प्रस्तुत किया है। वह माया न मैके में रहती है और न ससुराल जाती है, फिर भी पति के साथ सोती है। माया अनादि है इसलिए उसके मैके का प्रश्न ही नहीं उठता, उसका पतिगृह समस्त जगत है अतः ससुराल जाने का प्रश्न भी नहीं उठता। वह मायापति अपर ब्रह्म के साथ नित्य बनी रहती है-

बूझहु पंडित, करहु बिचारी, पुरुष अहै की नारी।

बाह्मन के घर ब्राह्मनी होती, योगी के घर चेली।

कलमा पढ़ि पढ़ि भई तरुकिनी, कलि में रही अकेली।

बर नहिं बरै ब्याह नहीं करई, पुत्र जन्म होनिहारी।

कारे-मूंडे एक नहिं छाँड़ै, अब ही आदिकुँवरी।

रहै न मैके जाइ न ससुरे साँईं के संग सोवै।

कह कबीर वह जुग-जुग जीवै जाति-पाँति कुल खोवै।[127]

कबीर ने माया को अनादि अनंत कहा है, वह चिर युवती है और उसे किसी ने जन्म भी नहीं दिया है यह अपने बालकों को ही मारकर खा जाती है और सबकी प्रिय भी है-

तुम बूझहु पंडित कवन नारि। कोई नाहिं बिआइल रह कुमारी

योही सब देवन मिलि हरिहिं दिन्ह। तोहि चारहुँ युग हरि संग लीन्ह

यह प्रथमहिं पद्मिनी रूप पाय। है साँपनि सब जग खेदि खाय

ई बर युवती के बर नाह। अति रे तेज तिया रै निताह॥

कह कबीर सब जग पियारी। यह अपने बलकवै रहै मारि॥[128]

कबीर ने नारी का चित्रण स्पष्टत: माया के रूप में किया और यह माया सबको भरमाती है। योगाचारी सिद्धों ने भी नारी का चित्रण यदा-यदा माया के रूप में ही किया है जो साधक को साधना मार्ग से भटकाती है और साधक उसकी चपेट में आकर गुरु दत्त मंत्र भी भूल जाता है। दिवा काल में जो बहू वासना से घबराती है रात्रि में वही काम को प्रश्रय देती है-

आंगन घरपण सुन भो बिआती।

कानेट चौरि निल अधराती॥...

दिवसइ बहुड़ी काउइ डरे भाअ॥

राति भइले कामरू जाअ। **(चर्या सं. 2)**

कबीर ने स्त्री के मनोभाव को लेकर ब्रह्म को अपना प्रेम निवेदित किया है यह वैष्णव संप्रदाय की देन प्रतीत होती है क्योंकि उनके अनुसार इस चराचर ब्राह्मांड में कृष्ण ही एक मात्र पुरुष हैं और बाकी सभी प्रकृति के अंश होने के कारण स्त्री हैं। अत: स्त्रैण मनोभावों से आप्लुत होने पर ही पुरुष ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। चर्यापदों में संभवत: पहली बार कुक्कुरीपाद ने स्त्रैण अभिव्यक्ति द्वारा अपनी व्यथा का उद्‌गार किया था जिसका प्रभाव परवर्ती साहित्य में पड़ा होगा-

हाँउ निरासी खमण भतारे। मोहोर बिगोआ कहण न जाई॥ **(चर्या सं.20)**

कबीर ने कहा है कि यदि मनुष्य चौरासी लाख योनियों से मुक्ति लेना चाहे तो स्त्री संग त्याग दे क्योंकि यह रूप सौंदर्य का मायाजाल ही भव विष में सबको निमग्न रखता है-

चौरासी जा उबरा चाहे, छोड़ कामिन का चसका रे।

कहै कबीर सुनो भाई साधो, नख-सिख पूर रहा बिस का रे।[129]

स्वानुभूति पर बल : सिद्धों ने साधना के क्रम में स्वानुभूति पर बल दिया है। क्योंकि अनुभूति अकथ्य है जिसे न गुरु कह सकता है और न शिष्य समझ सकता है। जहाँ मन मर जाता है और वायु लीन होकर नि:शेष हो जाता है इस तत्त्व का वर्णन कौन किससे सकता है, यह तो केवल स्वानुभूति जन्य व्यापार है-

चित्तु मरइ जहिं पवणु तहिं लीणउ होइ णिसेसु।

सअ-संवेअणु तत्त फलु कस्सु कहिज्जइ कीसु॥[130]

आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया इंद्रियों से परे है, यह पंडितों के लिए भी अगम्य है। यह केवल गुरु की कृपा से ही संभवपर है-

अणालोउ अगोअरु तत्तु पंडिअ-लोअ-अगम्मु।

जहो गुरु पाअ पसण्णा तहो किं तत्तु अगम्मु॥[131]

सिद्ध तिल्लोपाद यह मानते हैं कि आत्मनुभूति ही दर्शन में प्रतिफलित होती है परंतु जो मन द्वारा गोचर है वह परमार्थ नहीं हो सकता-

सअ-संवेअणु तत्त-फलु तिल्लोपाउ भणेइ।

जो मण-गोअरे पईसइ-सो परमत्थु ण होइ॥[132]

और जिसने एक क्षण के लिए भी सहज का अनुभव कर लिया हो उसके लिए वेद पुराणादि शास्त्र व्यर्थ हैं। वह साधक विषय और विकल्पों से मुक्त हो जाता है-

बुज्झिउ विरलउ सहज खणु कोई वेअ पुराण।

तुडिअउ विसअ-विअप्प-जगु रे असेस परिमाण॥[133]

काह्नपाद कहते हैं कि सहज की अनुभूति कोई किसी को नहीं समझा सकता यह न गुरु कह सकता है न शिष्य समझ सकता है। इसे समझाने का प्रयत्न करना गूँगे द्वारा बहरे को पाठ पढ़ाने जैसा है अत: स्वानुभूति ही उत्तम है-

जो मण गोएर आलाजाला।

आगम पोथी इष्ट माला॥

भण कइसँ सहज बोलवा जाअ।

काअ-वाक चिअ जसु न समाअ॥

आले गुरु उइसइ सीस।

बाक पथातीत काहिब कीस॥

जेतन बोली तेत वि टाल।

गुरु बोब से सीसा काल॥

भणइ काह्न जिण रअण बि कइसा।

काले बोब संबोहिअ जइसा॥ **(चर्या सं. 40)**

यदि कोई साधक अनुभूति प्रवण नहीं है तो किसी एक भाव का अनुभव करने पर दूसरा भाव नष्ट हो जाएगा उसके लिए साधना वृथा है-

बिंदु नाद ण हिएँ पइठा।

अन चाहन्ते आण बिणठा॥ **(चर्या सं. 44)**

इस प्रकार के समकक्ष भाव कबीरादि मध्यकालीन निर्गुण वादी संतों के भी हैं। उन्होंने भी ब्रह्मसाक्षात्कार की अनुभूति को गूँगे का गुड़ बताकर स्वानुभूति पर विशेष बल दिया है।

ऐसा लो नहीं तैसा लो, मैं केहि बिधि गँभीरा लो।

भीतर कहूँ तो जगमय लीजै बाहर कहूँ तो झूठा लो॥

बाहर-भीतर सकल निरंतर चित्त अचित्त दोउ पीठा लो।

दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर, बातन कहा न जाई लो।[134] जिसने ब्रह्म का रस चख लिया उसकी वाणी ही सुख के कारण मौन हो जाती है-

सुक्ख बानी तिको स्वाद कैसे कहे

स्वाद पावै सोइ सुक्ख मानै।

कहैं कबीर या सैन गूँगा तईं

होय गूँगा जोई सैन जानै॥[135]

ईश्वर से प्रेम के घाव का दर्द वही समझ सकता है जिसने यह दर्द सहा है-

मार्‌या बान घाव नहीं तन में, जिन लागा तिन जाना है।

कहै कबीर सुनो भाई साधो, जिन जाना तिन माना है॥[136]

× × ×

घायल की गति घायल जाने, की जानै जात पतंगी हो।[137]

कबीर ने गुरुओं से अनुभूतिहीन शिष्य का त्याग करने का निर्देश दिया है। जिनकी बुद्धि 'व्यवसायात्मिका' है वे हमेशा दुविधा में पड़े रहते हैं। ऐसे अनुभूतिहीन शिष्य कभी भी अपने हृदय से पूर्वाग्रह की गाँठ खोल नहीं सकता है-

मन बनियाँ बनिज न छोड़ै।

जनम-जनम का मारा बनियाँ, अज हूँ पूर न तौले।

पासँग के अधिकारी लैले, भूला भूला डोलै।

घर में दुविधा कुमति बनी है, पल-पल में चित तोरै।

कुनबा वाके सकल हरामी, अंमृत में विष घोलै।

तुम्हीं जल में तुमहीं थल में , तुमही घटघट बोलै।

कहै कबीर या वा को डरिये, हिरदे गाँठि न खोलै।[138]

आत्मोपलब्धि, स्वानुभूति के बिना असंभव है। यह एक अकथ्य अनुभव है जिसे साधक को स्वयं अनुभव करना चाहिए। इसी कारण सिद्धों और संतों ने इन गुह्य भावों को अनुभूत करने के लिए साधकों को अनुभूतिप्रवण बनने का उपदेश दिया।

सहज का प्रयोग बौद्ध तंत्रों में साधना सिद्धि की एक अवस्था के रूप में किया गया है। बौद्धतंत्र की सभी शाखाओं में सहज शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में हुआ। प्रत्येक सांप्रदायिक दर्शन के अनुसार सहज की विभिन्न व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उदाहरणार्थ तिब्बती लामा ज्लाऑड-ज़्हॉन-नू (Zlaod-gzhon-nu) के गुरु थे मिलारेपा, मिलारेपा के गुरु मारपा, उनके गुरु महासिद्ध तिरोपा। तिरोप अघोरी थे और महामुद्रा (यौनाचार) के द्वारा महा-अति तंत्र के अंतर्गत वज्रयोगिनी की साधना करते थे। तिरोपा के शिष्य नरोपा सेकोद्देश टीका के रचयिता थे। वे अपने जीवन के अंतिम दिनों में विक्रमशिला विद्यालय के शिक्षक बने।[139] नरोपा ने ही अभयंकर गुप्त, आर्यदेव आदि के साथ मिलकर अनुत्तर तंत्र के दर्शन को जन्म दिया। तिरोपा ने शून्यता भाव को ही बोधिचित्त माना-

Tilopa speaks of emptiness... he talks of the Suminous nature of mind... because the unity of emptiness and luminosity that is the nature of mind is sponteneously present in all experience and need not be saught.[140]

यही तिरोपा का सहज है।

खंध-भूअ-आअत्तण-इंदिअ सहज सहावें सअल-वि बद्धअ।

सहजहिं भावाभाव न पुच्छहो सुण्ण करुण तहिं सम-रस इच्छहो॥[141]

नरोपा के अनुसार 'सहज=तथता+महासुख है और महासुख=शून्यता+करुणा है। नरोपा के शिष्य मारपा, विवाहित त गृहस्थ 'लामा' अर्थात शिक्षक थे। मारपा, लुइपा द्वारा उपदिष्ट उच्च क्रिया तंत्र की साधना करते थे। उनके शिष्य मिलारेपा संन्यासी व योगाचार तंत्र के साधक थे। उनके सहज की व्याख्या सुख प्रभाश्वर और निर्विकल्प स्थिति के रूप में की जा सकती है- Happiness lustare and non dichotomizing thought.[142]

अत: यह स्पष्ट है कि सहज शब्द की कोई निश्चित व्याख्या या संज्ञा नहीं है। कुल मिलाकर विविध तंत्रों की सहज अनुभूति की संज्ञा निम्नलिखित है-

क्रिया तंत्र का सहज=प्रज्ञा (तथात ज्ञान)+सुख

चर्या तंत्र का सहज=प्रशान्ति (भक्ति जनित)+सुख

योगाचार तंत्र का सहज=सुख+शून्य (तथता द्वारा उद्‌भूत शून्यता बोध)

अनुत्तर तंत्र का सहज = तथता+महासुख (महासुख=शून्यता+करुणा)

ज्ञात हो कि परवर्ती संत संप्रदाय में प्रचलित सहज और बौद्ध सहज में अंतर है। संतों के सहज का अर्थ प्राकृतिक स्वाभाविक, नैसर्गिक या अनायास सिद्ध है और बौद्धों का सहज कष्टार्जित है। सहज की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए काह्नपाद कहते हैं कि-

चिअ सहजे शुन संपुन्ना।

कांधबियोए मा होहि बिसन्ना॥ **(चर्या सं. 42)**

भुसुकुपाद ने भी सहज का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है-

सहज महातरु फरिअ ए तैलोए।

खसम सभावे रे बाण मुका कोए॥

जिम जले पाणिआ टलिया भेउ न जाअ।

तिम मन रअणा ऐ समरस गअण समाअ॥ **(चर्या सं. 43)**

कहा ही गया है कि बौद्ध सहज और संतों के सहज में अंतर है। कबीर ने कृच्छ्राचार द्वारा प्राप्त समाधि को बहुत ऊँची अवस्था नहीं माना है। मेरुदंड पर दुलैचा डालकर समाधि लगाने को वे कच्चा योग ही समझते थे :

मेरुदंड पर डारि दुलैचा जोगी तारी लावैं।

सो सुमेर की खाक उड़ैगी कच्चा योग कमावैं॥

इसलिए कबीर मे शून्य समाधिवाली गगनोपमावस्था को क्षणिक आनंद ही माना है, बड़ी चीज सहज समाधि है, जिसके लिए न डंडे की जरूरत है, न कंथा की, न मुद्रा की-[143]

संतो, सहज समाधि भली।

साँई ते मिलन भयो जा दिनतें सुरत न अंत चली॥

आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।

खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुंदर रूप निहारूँ॥

कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कुछ करूँ सो पूजा

गिरह-उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा॥

जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कुछ करूँ सो सेवा

जब सोऊँ तब करूँ दंडवत, पूजूँ और न देवा॥

शब्द निरंतर मनुआ राता, मलिन बचन का त्यागी।

उठत बैठत कबहूँ ने बिसरै, ऐसी तारी लागी॥

कहैं कबीर यह अनमुनि रहनी, सो परगट कर गाई।

सुख-दुख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई॥[144]

कबीर के अनुसार काया की स्थापना सहजता से की जानी चाहिए कृच्छ्राचार से नहीं। जिस प्रकार वट के बीज में ही उसके वृक्ष की सत्ता रहती है और उसे सत्ता के अभाव में वृक्ष भी नहीं होता उसी प्रकार आत्मा में ही काया है काया में आत्मा समाहित है। आत्मा में ही सबकुछ है। जल

से भरा हुआ घड़ा जैसे समुद्र में डुबाया जाए वैसे ही भगवान की असीम सत्ता के भीतर ही इस शरीर से आच्छन्न भगवद अंश जीव है। यही कबीर का सहज भाव है जो उसे भगवद् सत्ता से जोड़े रखता है। मध्यकालीन संतों ने बौद्धों और नाथों से अनेक शब्दों का आयात अवश्य ही किया परंतु उनके अर्थ में वृहद् परिवर्तन के साथ नया सांप्रदायिक रंग दिया गया।

प्रेम द्वारा ब्रह्म का अन्वेषण :

स्पष्ट है कि बौद्धों के अनुत्तर तंत्र में सहजयोगिनी के साथ साधना करते हुए उत्तरोत्तर सिद्धि प्राप्ति की बात की गई है। चर्यापदों में करुणा का मेघ के रूप में वर्णन आया है। यद्यपि प्रज्ञा सदैव गगन के रूप में वर्णित है, गगन जिसमें मेघ विहार करता है और प्रवेश करता है जो शून्य रूप है ख-सम है। किंतु पति-पत्नी या नारी पुरुष के रूप में प्रज्ञा और उपासक का वर्णन विमल कीर्ति सूत्र में मिलता है जिसमें तांत्रिक साधनाओं की अपेक्षा शुद्ध महायानी दृष्टि से प्रज्ञा की बोधिसत्वों की माता और उपाय की पिता के रूप में परिकल्पना है।[145] इसी प्रज्ञोपाय के कारण सिद्धों की साधना भी मिथुन परक हो गई थी और मन को भगवान और ख-सम शून्य को भगवती रूप में प्रतिष्ठित करने का उपदेश मिलता है। उसी से रात दिन सहज की साधना होती है। इससे उद्भूत अद्वय ज्ञान प्रज्ञोपाय युगनद्ध ही वास्तव में तथागत बुद्ध है और उसकी अविकल चित्त से उपासना करनी चाहिए-

हउं जगु हउं बुद्ध हउं णिरंजणु हउं अमणसिआरु भव भंजणु।

मणु भगवंतउ खसमा भगवइ दिवा रत्तिहिं वि सहजे रहिअइ॥[146]

डॉ. धर्मवीर भारती के अनुसार, 'देवताओं को सिद्धों ने प्रज्ञोपायात्मक स्वभाव का माना है। जब वे प्रज्ञोपायात्मक हैं, सहज रूप में हैं तो उनकी उपासना का एक ही रूप हो सकता है, अपने चित्त को प्रज्ञोपायात्मक बनाना, सहज बनाना। अपने में और बुद्ध में अद्वय स्थापित करना और यह

समझना कि मैं बुद्ध हूँ। अपने मन को बुद्ध तथागत के लिए प्रेरित करना और दिन रात प्रज्ञोपायात्मक मिथुन परक सहज रूप में रहना चाहिए। यही प्रज्ञोपाय समाधि का लक्ष्य है जिससे अनुत्तर सिद्धि होती है... तब वह स्वत: बुद्ध हो जाता है, निरंजन हो जाता है।[147] इसी कारण कृष्णपाद ने डोम्बी से प्रणय निवेदन करते हैं। **(चर्या सं. 10)** वे डोम्बी से विवाह करने के पश्चात दहेज में अनुत्तर दर्शन प्राप्त करते हैं और दिवारात्रि डोम्बी के साथ रहने के कारण वे सहज ही उन्मत्त हो गए हैं। **(चर्या सं. 14)** शबरपाद ऊँचे पर्वत में रहने वाली शबरी वाला के प्रेम निमग्न होकर शून्य नैरात्मा को कंठ से लगाए रहते है और इसी प्रकार पूरी रात गुजार देते हैं। **(चर्या सं.28)** इसी प्रेम की पीर का विकास मध्युकालीन प्रेमाश्रयी शाखा में हुआ होगा। इस्लाम अद्वैत वादी होते हुए भी 'अनलहक़' (मैं खुदा हूँ) की भावना को प्रश्रय कभी नहीं दे सकता। इसी कराण 'सूफ़ी मत' इस्लाम पर आश्रित होते हुए भी वह पूर्णत: उसके दर्शन का पालन नहीं करना। ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत में इस्लामी आक्रमण के बाद अनेक बौद्ध संघारामों में रह रहे भिक्षुओं ने हिंदुओं की असहिष्णुता से बचने के लिए इस्लाम ग्रहण कर लिया था। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर की जाति का आकलन करते हुए कहा था कि 'जिन दिनों कबीर दास इस जुलाहा जाति को अलंकृत कर रहे थे उन दिनों, ऐसा जान पड़ता है कि इस जाति ने अभी एकाध पुश्त से ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।[148] संभवत: सूफी मत का विकास क्भी इसी प्रकार की किसी धर्मातंरित जाति द्वारा किया गया होगा जो बौद्ध रहा था। चर्यापदों में जिस प्रकार पुरुष का ही हृदय वर्णन है उसी प्रकार सूफी काव्यों में भी पुरुष की ही मनोव्यथा का वर्णन मिलता है। उनमें यौगिक या रासायनिक क्रियाओं का उल्लेख मिलता है जो कि बौद्ध मूलीय क्रियाएँ हैं उनको भी सूफ़ियों ने परंपरा से ही ग्रहण किया होगा। सूफ़ियों में विद्यमान प्रेम की पीर का वर्णन अनुत्तर तंत्र दर्शन की ओर इंगित करता है।

इस्लाम के संसर्ग ने इनके सांप्रदायिक अर्थों या व्याख्याओं को अवश्य ही बदल दिया होगा पर इस्लाम जैसे धर्म में अचानक प्रेम की पीड़ा की कराह सुनाई पड़ना एक आश्चर्यकर कार्य व्यापार

है। साहित्येतिहास मर्मज्ञाचार्यों ने सूफी काव्य की परंपरा को भारतीय सिद्ध करते हुए इसका विकास ऋग्वेद के 'उर्वशी-पुरुरवा' के प्रेम प्रसंग से लेकर संस्कृत-अपभ्रंश काव्य की शृंखला का वर्णन किया है और यह प्रतिपादित किया है कि यह परंपरा मसनवी शैली नहीं बल्कि पूर्णत: भारतीय है।[149] अस्तु 'उर्वशी-पुरुरवा या मेघदूत के यक्ष में कहीं भी ब्रह्म या ब्रह्म के अन्वेषण की तृषा दृष्टिगोचर नहीं होती जो कि सूफी काव्यों का उपजीव्य रहा है, यह मत केवल बौद्धों के 'प्रज्ञोपाय' दर्शन के काफी निकट बैठता है। यही रत्नसेन अन्वेषक है तो पद्मावती ब्रह्म उसी के प्रेम की अकुलाहट यहाँ प्रस्तुत है क्या इसी प्रेम के आकुलस्वर चर्यापदों के शबर-शबरी में श्रुतिगोचर नहीं होता?

कला परक प्रभाव :

तंत्रों की भाषा-शैली एक अलौकिक रहस्यात्मक गुह्य स्वभावयुक्त है। बौद्धों ने इसी रहस्यमयी प्रतीकात्मक शैली में अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी। चर्यापद के अंत में अक्सर चर्याकारों ने कहा है 'बिरले बूझआ' अत: देखा जा सकता है। कि इसी रहस्यावरण की ओट में सिद्धों ने अपनी कलात्मक अभिव्यक्तियाँ प्रस्तुत कीं। इन्हीं का सुदूरगामी प्रभाव हिंदी साहित्येतिहास के हर कालखंड में अनुमेय हैं।

दोहे और मुक्तक :

बौद्ध सिद्धों ने अपने आध्यात्मिक अनुभूतियों और शिष्यों को दिए जाने वाले उपदेशों का निबंधन दोहों और मुक्तकों के रूप में किया। बौद्ध सिद्धों ने साधानात्मक कृत्यों के क्रम के ज्ञान के अलावा और किसी भी प्रबंध काव्यों की रचना नहीं की। काणह्पा का दोहाकोष, तिल्लोपा का दोहाकोष आदि दोहाकोषों में बौद्धों ने अपने शिष्यों को उपदेश दिए थे। इसी प्रकार संत कवियों ने भी दोहों के माध्यम से साधारण शब्दों में सशक्त भावों की परंपरा दी।

सिद्धों ने मुक्तक चर्यापदों के माध्यम से अपनी साधनात्मक अनुभूतियों को व्याख्यायित करने का सफल प्रयास किया। सिद्धों ने अपनी साधना के उच्चावस्था में स्थित होकर अपनी अनुभूतियों को गहन गुह्य शब्दों में व्यक्त किया जिसे केवल इस संप्रदाय में दीक्षित साधक ही भाव के माध्यम से इनका अनुधावन कर सकते हैं। वहीं संतों ने भी अज्ञातवश इसी परंपरा का निर्वहण किया। संतों ने कुंडलिनी जागरण के माध्यम से ब्रह्मोपलब्धि की गहन अनुभूतियों को पदों के माध्यम से व्यक्त किया जिसे केवल सांप्रदायिक ज्ञान से उद्‌भूत मनस् का धाता ही अनुभूत कर सकता है।

अनसुलझी भाषा :

ब्रह्म की उपलब्धि अत्यंत गुह्य विषय है जिसे कोई बिरला ही समझ सकता है। यह अनुभूति गूँगे के गुड़ के समान है। यदि कोई ब्रह्म की उपलब्धि कर भी ले तो उसे व्यक्त नहीं कर सकता और अगर व्यक्त करने का प्रयास भी करे तो उसकी वाणी रुद्ध हो जाती है। तुलसी के शब्दों में 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी।' अत: उस अनुभूति को व्यक्त करने के क्रम में कवि की वाणी लाघव हो जाती है और उनकी भाषा अनसुलझी सी हो जाती है। इसी कारण सिद्धों की वाणियाँ एक रहस्यघन वातावरण का सृजन करती है।

यही रहस्यावरण कबीर आदिक संतों में भी परिलक्षित होता है। ब्रह्म से साक्षात्कार के क्षण के अथाह आनंद को समझाने के लिए कोई उपमा शेष नहीं रहा जाती और कवि शरीर के भीतर बह रही गंगा, यमुना की उर्मियों में बह जाता है, हंस के पक्षों के थपेड़ों से आगे बढ़ते हुए विविध चक्रों का भेद करते हुए 'सोऽहम' की अनुभूति करता है। इसी कारण उसकी काया में ही समस्त तीर्थों का वास मानकर वह अंतर्मुखी साधना का प्रश्रय लेता है। इस प्रकार की गुह्य साधना का इहलौकिक

क्रिया व्यापार से कोई सरोकार नहीं। इसी कारण आम लोगों के लिए यह भाषा अनसुलझी ही बनी रहती है। इसी रहस्यात्मक शब्दावली के कारण जनता सिद्धों को चामत्कारिक गुण संपन्न समझती थी और संतों के इसी रहस्यघन प्रवृत्ति के उद्‌गाता भी सिद्ध ही रहे थे। संतों ने सिद्धों की शब्दावली के मुक्तकंठ से ग्रहण किया और उन्हें नव्य रूप में व्याख्यायित, विश्लेषित किया।

दोहों की सहज भाषा :

सिद्धों द्वारा सृष्ट दोहों में उन्होंने खंडन-मंडन और उपदेश के शब्द व्यक्त किए हैं। इस क्रम में उनकी भाषा वज्रमय, प्रवाहमयी, सरल और सहज स्फूर्त हो गई है। जहाँ भी शब्दों में पेचीदगी आ गई है। वहाँ उसे गुरुगम्य विषय कह दिया गया है। अत: दोहों में सिद्धों ने अपनी भाषा को सर्वजनग्राह्य बनाए रखा है।

इसी प्रकार संतों ने भी दोहों में अपनी भाषा को सरल और प्रवाहमय बनाए रखा है जिससे कि साधारण जनता उनके साम्प्रदायिक दर्शन को समझे और उनकी ओर आकृष्ट हो। इसी कारण लोक में कबीर के दोहों को जो स्थान मिला वह उनके पदों को नहीं मिल पाया। यह परंपरा सिद्धों से शुरू हुई और नाथों से होते हुए अभिव्यक्ति की यही शैली संतों तक आई।

पदों की गुह्य भाषा :

चर्यागीतों का गायन कालचक्र के अनुष्ठान के समय प्रशिक्षित गायकों द्वारा समझदार श्रोताओं के सम्मुख होता था।[150] इसी कारण इन पदों का अर्थबोधन भी एक मस्तिष्क का व्यायाम है। सिद्धों ने जानबूझ ही यहाँ शब्दों की योजना इस प्रकार की कि जिसे केवल कोई बिरला ही समझ सकता है। और जो यह समझ जाए वही उस संप्रदाय में प्रवेश पाने का अधिकारी मान लिया जाएगा।

आधिकारिक संख्यक पद अन्योक्तिपरक शैली में रचित है जिनके शब्द और कथ्य में वृहद अंतर पाया जाता है। उदाहरणार्थ पद सं 2 में कुक्कुरीपाद ने गृहस्थ साधकों में उत्थित वासना के ज्वार की ओर इंगित किया है जिसके लिए उन्होंने बहू, चोर, कुंभीर आदि की योजना की। परंतु इन शब्दों का यथायथ रूप में अर्थबोधन नहीं होता बल्कि यह प्रहेलिकामय भाषा में लिखित हैं।

उसी प्रकार संतों के द्वारा रचित पदों में घनीभूत भावों का कबीर की उलटबासियों का उदाहरण सर्वथा ग्राह्य है जिनमें उनके कथ्य इस प्रकार छिप गए हैं कि उनकी सही व्याख्या अब तक नहीं हो पाई है और निष्कर्षत: कोई स्थिर मत उभरकर नहीं आ पाया है। पदों को दुरूह शैली में रचने की परंपरा भी संतों ने सिद्धों से ली है। संत कवियों द्वारा रचित यह पद संभवत: संप्रदाय में दीक्षित लोगों के लिए ही किया गया होगा या फिर संस्कृत भाषी ब्राह्मण वर्ग की देवभाषा को समझ पाने की अक्षमता की प्रतिक्रिया स्वरूप इस प्रकार के गुह्य भाव संतों के मनस् में प्रतिभात हुआ होगा।

रामचरितमानस पर चर्यापदों का प्रभाव

रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास द्वारा कृत कालजयी और मनस्य काव्य है। मानस का आध्यात्मिक, सामाजिक और साहित्यिक पक्ष इतना सबल और प्रकृष्ट है कि अब भी साहित्य मर्मज्ञाचार्यों के बीच यह चर्चा का विषय बना हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास ने नाथ पंथियों के प्रभाव से नष्ट होती हुई जन मानस के मध्य व्याप्त विश्वासमयी रागात्मिका वृत्तियों को राम भक्ति के माध्यम से पुन: स्थापित करने का प्रयास किया–

बरन धरम गयो आस्रम निवास तज्यो

त्रासन चकित सो परावो परो सो है।

करम उपासना कुबासना बिनास्यो ज्ञान

वचन विराग वेस जतन हरो सो है।

गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग

निगज नियोग ते सो केलि ही छरी सी है।

काय मन वचन सुभाय तुलसी है जाहि

राम नाम को भरोसो ताहि को भरोसो है।[151]

उन्होंने रामकथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के आदर्शों को समाज के समक्ष प्रस्तुत कर विशृंखलित हिन्दू समाज को केंद्रित किया। उनकी भक्ति-भावना कबीर आदि निर्गुण भक्तों की ज्ञानमयी भावना की भाँति रहस्यमयी नहीं है वरन वह सीधी, सरल एवं सहजसाध्य है। तुलसी एक समन्वयवादी कवि थे। उनके समन्वयवाद का प्रभाव उनकी भक्तिभावना में भी पड़ा। 'रामचरितमानस' में उन्होंने राम और शिव दोनों को एक-दूसरे का भक्त बनाकर वैष्णव और शैव संप्रदायों को मिलाने का प्रयत्न किया। भारतीय जनता में विविध प्रकार के परस्पर विरोधी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ और विश्वास प्रचलित हैं। मानस में आदि से अंत तक इस प्रकार के दो-भिन्नमुखी छोरों को मिलाने का प्रयास किया गया है।

रामचरितमानस की रचना का आरंभ 1574 ई. और समाप्ति 1576 ई. में हुई थी।[152] स्वयं तुलसीदास ने 'मानस', 'सतसई' और 'पार्वती मंगल' की रचना की तिथियाँ दी हैं।[153] इसी समन्वय की भावना के कारण तुलसी ने अपने युग में प्रसरित शत-शत विरोधी तत्त्वों में भी समन्वय स्थापित करने का सफल दायित्व निभाया। तुलसी के जीवित काल में भारत में धर्म के क्षेत्र में प्रमुखत: दो धाराएँ बह रही थीं उनमें एक वैदिक धारा थी और दूसरी बौद्ध। हालांकि उस

कालांश तक आते आते बौद्ध-धर्म की धारा हतश्री और निस्पंद हो चुकी थी तथापि तुलसी ने बौद्ध धर्म में वर्तमान दार्शनिक मणियों को हिन्दू अलंकारों में जड़कर समन्वय के अप्रत्यक्ष साधना-मार्ग को प्रशस्त करने का महती प्रयत्न किया। तुलसी में हमें बौद्धों के बहुत से सिद्धांत नाम रूप भेद से ज्यों के त्यों मिलते हैं।[154]

डॉ. गोन्विद त्रिगुणायत के अनुसार तुलसी ने बौद्धों के त्रिकायवाद को ग्रहण किया। उनका वक्यव्य है कि, 'बौद्धों ने भगवान बुद्ध के तीन कायों की कल्पना की है; यथा- (1) संयोगकाय, (2) धर्मकाय और निर्माण काय।

तुलसी ने भी अपने राम की कल्पना इन्हीं कायों के आधार पर की थी। राम का निर्गुण स्वरूप धर्मकाय माना जा सकता है। उनके अवतारी रूप को निर्माणकाय का प्रतिरूप कह सकते हैं और उनका महाविष्णुत्व रूप संयोग काय का प्रतिनिधित्व करता है।[155]

उल्लेख्य है कि श्री त्रिगुणायत ने जिस बुद्ध की कल्पना करते हुए संयोगकाय, धर्मकाय और रूपकाय के विषय में कहा है। दरअसल यह तीनों नाम देहस्थ चक्रों के नाम हैं। गले में संभोग चक्र, हृदय में धर्म चक्र और नाभि में निर्माण चक्र का स्थान है। **(चर्या सं.-16)** इसके अतिरिक्त भी जो धर्मकाय, रूपकाया और संभोगकाया की बात की गई है उसका विवरण इस प्रकार है- रूपकाया शरीर है। यह स्थूल शरीर का पर्याय है क्योंकि इसी के माध्यम से साधक कार्य करता है। धर्मकाया साधक की मानसिक अवस्था का पर्याय है। और संभोगकाया अनुभूतियों का व्यंजक है। साधारणलोगों के लिए रूपकाया का महत्त्व सर्वाधिक है और वे अपनी अधिकांश शक्ति उसी के पीछे खर्च कर देता है। **(चर्या सं. 3)**

श्री त्रिगुणायत के वक्तव्य का विश्लेषण किया जाए तो वह आंशिक रूप से सत्य प्रतीत होता है। उन्होंने राम के निर्गुण स्वरूप को धर्मकाय माना वह सही है। राम का अवतारी स्वरूप रूप काया और महाविष्णुत्व रूप संभोग काया का परिचायक माना जा सकता है।

यहीं पर तुलसी कृत 'विनय-पत्रिका' का उल्लेख करना भी समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि विनय पत्रिका में एक स्थान पर उन्होंने राम के शून्य की जो अवधारणा की है उसकी तुलना बौद्ध शून्यवाद से किया जा सकता है। आद्य शंकराचार्य के गुरु गौड़पादाचार्य ने बौद्धों के शून्यवाद को पहली बार ब्रह्मवाद में परिणत करने की पूर्ण चेष्टा की थी।[156] अतः उन्होंने अपने ब्रह्म को शून्य के रूप में प्रतिपादित किया था। इसी का प्रभाव ग्रहण कर तुलसी ने भी राम को अनिर्वचनीय और शून्य माना है-

केशव! कहि न जाइ का कहिये।

देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये॥ 1॥

सून्यभीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु-बिनु लिखा चितेरे।

धोये मिटै न, मरइ भीति, दुख पाइय इति तनु हेरे॥ 2॥

रबिकर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहिं माहीं।

बदनहीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥ 3॥

कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै

तुलसीदास परिहरै तीनि, सो आपन पहिचानै॥ 4॥[157]

इस पद में बौद्ध शून्यवाद की छाप स्पष्ट रूप से नजर आती है। बौद्ध तंत्र में भी शून्य मनस होने पर अनुभूतियाँ शून्य होने की बात की गई है। तुलसी की भाँति वह अनस्तित्व को स्वीकार करता है। आर्य नागार्जुन के माध्यमिका दर्शन के अनुसार जिस प्रकार अस्तित्व नहीं है उस प्रकार अनस्तित्व भी नहीं है।[158] अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों ही आपेक्षिक अवस्था है-

भाव न होइ अभाव ण जाइ। (चर्या 29)

× × ×

भावाभाव बलाग न छुध। (चर्या-9)

शून्यभाव में पहुँचने पर कुछ भी कहने को नहीं रह जाता और माया मोह का कष्टदायक द्वन्द्व भी मिट जाता है। शून्य को द्वारपाल बनाकर रखने से साधक महासुख की प्राप्ति करता है-

गअणत गअणत तइला बाड़ी हेञ्चे कुराड़ी।

कण्ठे नैरामणि बालि जागन्ते उपाड़ी॥

छाड़ छाड़ माआ मोहो बिषमो दुन्दोली।

महासुहे बिलसन्ति शवरो लइआ सुण मेहेली॥ (चर्या 50)

उल्लेख्य है कि तुलसी के मानस में बौद्ध साहित्य के साथ नाथ साहित्य का भी प्रभाव पड़ा। विशेषकर मानस की कथा पर इसका प्रभाव स्पष्टतया देखा जा सकता है।

मानस के एक कथा-प्रसंग में सती द्वारा राम की परीक्षा लेने का उल्लेख मिलता है। तुलसी ने बालकाण्ड में एक कथा कही कि 'सीता-हरण के उपरांत राम, सीता की खोज में व्याकुल होकर इतस्तत: विचरण कर रहे थे। उसी मार्ग से शिव भी सती के साथ चल रहे थे। शिव काफी दिनों से राम के दर्शनों के अभिलाषी थे अत: राम को देखकर उन्होंने दूर से प्रणाम किया और भक्ति से गद्‌गद् हो गए। सती ने शिव के भाव देखे और उसका कारण पूछा। शिव ने कहा कि साक्षात् ब्रह्म ने पृथ्वी का भार हरण करने के लिए राम का अवतार लिया है। यह सुनकर सती के मन में भ्रम उत्पन्न हुआ कि जो ब्रह्म त्रिगुणातीत और सर्वव्यापी है वह अज्ञानी की तरह अपनी पत्नी की खोज कर रहा है। शिव ने सती को समझाया पर सती न मानी। उसने राम की परीक्षा लेनी चाही और शिव ने आज्ञा दे दी वह सीता का वेश बनाकर राम की परीक्षा लेने गई। सीता के रूप

में सती के कपट वेश को देखकर राम सब समझ गए और राम ने हाथ जोड़कर सीता वेशधारी सती को प्रणाम कर कहा कि वे इस एकांत वन में अकेली क्यों हैं शिवजी कहाँ है ? राम का कथन सुनकर सती डर गई और वापस शिव के पास आ गई। मार्ग में सती ने दसों दिशाओं में राम-सीता और लक्ष्मण को देखा जिससे कि उनके मन से राम के ब्रह्मत्व की शंका मिट गई। राम की परीक्षा लेने की चेष्टा करने के कारण शिव ने सती के शरीर का त्याग कर दिया। इसी मनोव्यथा से पीड़ित सती अनिमंत्रित होकर भी अपने पिता दक्ष के यज्ञ में गई और वहाँ शिव-निंदा सुनकर यज्ञाग्नि में कूद गई।'[159]

नाथ योगियों के बीच भी गौरी द्वारा सिद्धों की परीक्षा लेने की कथा मिलती है। कथा के अनुसार- 'गौरी ने शिव से सिद्धों को विवाह कर वंश वृद्धि करने की आज्ञा देने को कहा। शिव ने कहा कि सिद्धों में काम विकार नहीं होता। गौरी ने इसे असत्य मानकर उनकी परीक्षा लेने की सोची और शिव ने आज्ञा दे दी। उस समय चारों सिद्ध चार दिशाओं में तप कर रहे थे। पूर्व में हाड़िफा, दक्षिण में कानफा, पश्चिम में गोरक्ष और उत्तर में मीननाथ। देवी को परीक्षा का अवसर देने के लिए शिव ने ध्यान द्वारा चारों सिद्धों का आह्वान किया। चारों सिद्ध उपस्थित हुए और देवी ने भुवन मोहिनी का रूप लेकर सिद्धों को अन्न परोसा। मीननाथ, हाड़ीफा और कानफा देवी के सौंदर्य से मुग्ध होकर अभिशाप के भागी बने परंतु गोरक्ष ने सोचा कि ऐसी सुंदरी मेरी माता हो तो गोद में बैठकर स्नेह पाऊँ और दूध पाऊँ। गोरक्ष परीक्षा में खरे उतरे और वर भी पाया। इसके बाद भी देवी ने गोरक्ष की अनेक परीक्षा ली और हर परीक्षा में वे खरे उतरे।'[160]

उल्लेख्य है कि दोनों ही कथानकों में नायक देवी की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए। वाल्मीकि कृत रामायण में देवी द्वारा राम की परीक्षा लेने का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता साथ ही 'मानस' में सती का चरित्र एक साधारण स्त्री के समान ही चपल है उनमें दिव्यता का अभाव

देखा गया। संभवतः यह तुलसी का शाक्तों के प्रति दुराग्रह की भावना के कारण उभरी या स्त्री को अज्ञानमयी बताने के संदर्भ में उठी यह कह पाना कठिन है।

'मानस' में सती द्वारा राम की परीक्षा लेकर वापस लौटते समय चारों ओर राम-सीता की छवि दिखने का प्रसंग 'वृहदर्म पुराण' से लिया गया है। उक्त पुराण में सती जब अनाहूत ही दक्ष-यज्ञ में जाने के लिए शिव से प्रार्थना करती है तो शिव मोहवश उन्हें अपना स्त्री मानकर यह भूल बैठते हैं कि वही देवी सचराचर विश्व की धात्री और सृष्टिकर्त्री हैं। शिव के भ्रम को दूरीभूत करने के लिए देवी ने दशों दिशाओं में अपने भयंकर दशमहाविद्या स्वरूप को प्रकट किया जिसे देखकर भयाक्रांत शिव ने देवी की इच्छा और उद्देश्य को जानकर दक्ष-यज्ञ में जाने की अनुमति दे दी-

तां धावमानं गिरीशं दृष्ट्वा दाक्षायनी सती।

माभैर्माभैरिती गिरा मा पलायेत्युवाच सा॥

तथा प्येन पलायन्तं ह्यनिवृन्तं विलोक्य ह।

दशभूर्तिर्बभौ देवी दशदिक्षु शिवेक्षिता॥[161]

मानस के 'उत्तर-कांड' में भी राम द्वारा सीता का त्याग, शंबूक वध, राम द्वारा स्वर्णमयी सीता का निर्माण, लव-कुश द्वारा अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा पकड़ना, राम और लव-कुश का पुनर्मिलन, सीता का पाताल प्रवेशादिक घटनाएँ भी नहीं हैं, बल्कि इसके स्थान पर राम राज्य की समृद्धि और राम सीता के सुख मय दाम्पत्य जीवन का वर्णन मिलता है।

मानस की रचना तुलसी ने अपने अंतः करण के सुख के लिए किया था।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्

रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा

भाषा निबंधमतिमञ्जुलमातनोति ॥[162]

अतः इसका मूल रामायण के साथ संपर्क खोजना भी अनावश्यक प्रतीत होता है। इस काव्य में तुलसी का महती उद्देश्य केवल राम-भक्ति की प्रतिष्ठा करना और राम के गुण-गरिमा का प्रचार कर लोगों में उनके प्रति आस्था को पुनरुज्जीवित करना था। अतः यहाँ तुलसी ने अपने मनोनुकूल घटनाओं और अन्य संप्रदायों में प्रचलित घटनाओं का ही विवरण प्रस्तुत किया। मानस में राम के निर्गुण रूप का भी वर्णन है ही विवरण प्रस्तुत किया। मानस में राम के निर्गुण रूप का भी वर्णन है।

अगम सगुण दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथन अगाध अनादि अनूपा॥

मोरें मत बड़ नाम दुहू ते। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥....

.... निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाओ अपार।

कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥[163]

इस स्थान पर कबीर के राम और तुलसी के राम में अथाह सामंजस्य स्थापित होता है। कबीर ने जहाँ केवल राम नाम को ही महत्व दिया और उसके रूप को नकार दिया। (दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।) वहीं तुलसी ने भी राम के नाम की ही महिमा का वर्णन करते हुए राम के नाम को स्वयं राम से भी बड़ा बताया है। यहाँ तुलसी के विचार बौद्ध तंत्र के क्रिया तंत्र और चर्यातंत्र के दर्शन के साथ मेल खाता है। क्रिया तंत्र का साधक जप और प्राणायाम द्वारा अपनी भक्ति अर्पित करता है और चर्यातंत्र का साधक पूजा, जप, ध्यान और प्राणायाम द्वारा अपने इष्ट से एकात्मबोध का लक्ष्य रखता है। सिद्ध कम्बलांपरपाद ने जप के साथ देवता के रूप ध्यान को भी समान रूप से महत्त्व प्रदान किया है-

सोने भरिली करुणा नावी।

रूपा थोई नाहिके ठावी॥ (चर्या सं. 8)

तुलसी के मानस में कम्बलाम्बरपाद के शब्दों की प्रतीती होती है जहाँ नाम का माहात्म्य और रूप ध्यान का परस्पर संयोग हुआ है।

सिद्धों ने अपने काव्य में केवल पंचबुद्धों के प्रति ही निष्ठा रखने को कहा है और उनके अतिरिक्त किसी और देवता की शरण में जाना हेय माना है।

पाञ्च केडुआल पड़न्तेँ माङ्गे पीटत काच्छी बान्धी। (चर्या सं. 14)

× × ×

हेरि से काह्नि णिअड़ी जिनउर बट्टइ। (चर्या सं.7)

× × ×

दशबल र अण हरिअ दशदिसेँ।

अविद्या करि दमकूँ अकिलेसे॥ (चर्या सं. 9)

× × ×

पञ्च तथागत किअ केडुआल। (चर्या सं. 13)

ऐसा प्रतीत होता है कि यही स्वर तुलसी के 'मानस' में भी प्रतिध्वनित हो रहा है। तुलसी ने केवल राम से ही अभीष्टपूर्ति की कामना की जबकि उन्होंने अन्य देवताओं से केवल राम के चरणों में अनन्य भक्ति का वरदान माँगा है। 'मानस' के अंत में उन्होंने शिव के यही प्रार्थना की है-

मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।

उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥ 29॥[164]

तुलसी अपने दुख-दुगर्ति का शमन करने का अनुरोध श्री राम से ही करते हैं-

मो सम दीन न दीन हित समान रघुबीर।

अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर॥ 130क॥[165]

बुद्ध ने देवभाषा संस्कृत को छोड़कर जनभाषा में उपदेश दिए थे उसी के बाद बौद्ध वाङ्मय की रचना जनभाषा में होने लगी ताकि साधारण लोगों तक भी धर्म का दर्शन पहुँचाया जा सके इसका प्रकृष्ट उदाहरण चर्यापद हैं। उसी के बाद अन्यान्य कवियों ने जनभाषा में भी काव्य रचना की। इसी परम्परा में तुलसी का रामचरितमानस भी एक कड़ी है। संस्कृत के प्रकांड विद्वान होते हुए भी तुलसी ने अवधी भाषा में अपने काव्य की रचना की।

तुलसी के निर्गुण राम और बौद्धों के शून्यवादी दर्शन में एक विराट अंतर यही है कि तुलसी के राम सर्वव्यापी, रूप-गुण हीन होते हुए भी अस्तित्व रखते हैं जबकि बौद्धों के शून्यवादी दर्शन में अस्तित्व-अनस्तित्व कुछ है ही नहीं। वहीं तुलसी ने सगुण और निर्गुण को ब्रह्म का दो स्वरूप मानकर दोनों को ही 'अकथ, अगाध, अनादि अनूपा' कहा है उसी प्रकार चर्यापदों में भी अस्तित्व-अनस्तित्व और भाव-अभाव के बीच बाल की नोंक के बराबर भी अंतर नहीं माना-

भावाभाव बलाग न छूध। (चर्या सं. 9)

इस प्रकार मानस पर चर्यागीतों का यत्किंचित प्रभाव तो लक्षित होता है क्योंकि तुलसीदास के समन्वयवादी दृष्टि ने उदारता से सभी दर्शनों से उस सत्य का अधिग्रहण किया जो उनकी दृष्टि में मान्य था और जिससे उनकी रामभक्ति का उपदेश गहनता से दिया जा सके।

सूरसागर पर चर्यापदों का प्रभाव

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कृष्ण भक्त कवि सूरदास का नाम सूर्य के समान साहित्याकाश में जाज्ज्वल्यमान है। कृष्ण भक्ति की अनिरुद्ध धारा को तीव्र रूप में प्रवाहित करने में सूर का स्थान मूर्धन्य है। नाभादास कृत भक्तमाल, गोकुलनाथ कृत चौरासी वैष्णवन की वार्ता, यदुनाथ कृत वल्लभदिग्विजय में सूरदास के जीवन-चरित्र का वर्णन है। श्री हरिराय कृत ''चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार सूरदास का जन्म दिल्ली के निकट ब्रज की ओर स्थित 'सीही' नामक गाँव में सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था।[166] सूरदास का जन्म काल 1478 ई. स्थिर किया जाता है। उनके जन्मांध होने या बाद में अंधत्व की प्राप्ति करने के विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं।[167]

सूर के काव्य का मूल उपजीव्य कृष्ण भक्ति रहा है। भागवत पुराण को मूल आधार मानकर उन्होंने 'सूरसागर' में राधा-कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन किया है। भागवत के आधार पर रचित होने पर भी सूरसागर एक स्वतंत्र ग्रंथ है। उन्होंने कृष्ण-चरित्र के समस्त भावनात्मक स्थलों को उकेरकर अनिरुद्ध काव्यधारा प्रवाहित की है। उन्होंने श्रीकृष्ण के बाल्य और किशोरावस्था का बड़ी ही तन्मयता के साथ वर्णन किया है। सूर की दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप में अधिक रही। उन्होंने दुष्ट दमन आदि का वर्णन सामान्य रूप से किया और लीला चित्रण में उनका ध्यान भाव पर रहा।

सूर के भाव चित्रण में वात्सल्य-भाव को सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। बालक की विविध बाल-सुलभ चेष्टाएँ, क्रीड़ाएँ, मातृहृदय की अभिलाषाओं और उदात्त भावनाओं का अत्यंत सूक्ष्म वर्णन सूरदास ने किया है। वात्सल्य के बाद सूर ने श्रृंगार के वियोग और संयोग पक्षों का भी बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया हैं। इसी क्रम में सूरदास के भ्रमरगीतों में उनकी मेधा और

कवित्वशक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। इसी प्रकार सूर के काव्य में प्रकृति-सौंदर्य, जीवन की विविध अवस्थाओं, बाल कृष्ण की क्रीड़ाओं, गोचारण, रास आदि का वर्णन प्रभूत मात्रा में मिलता है।

सूर ने अपनी अप्रतिम रचनाओं के द्वारा ब्रजभाषा को नूतन गौरव प्रदान किया है जिसके कारण आधुनिक युग के आरंभिक कालांश तक कवियों ने काव्य रचना के लिए ब्रजभाषा को ही चुना।

इन समस्त भावनात्मक सृजनों के बाद भी सूर की दृष्टि सदैव ही पुष्टिमार्गीय दर्शन पर टिकी हुई थी।[168] इस नागरोचित दर्शन की उपलब्धि के बाद भी सूर की दृष्टि ग्राम्य जीवन पर ही लक्षित थी। क्योंकि यह ग्राम्य क्षेत्र ही श्रीकृष्ण की लीला भूमि और गोचारण रास का प्राणबिंदु था। सूर के कृष्ण लीला के जिन भावात्मक पक्षों का सुललित कंठ से गायन किया उन लीलाओं की क्रीड़ा भूमि गोकुल और वृंदावन ग्राम्यांचल ही थे। गोप-गोपिकाएँ ही कृष्ण की लीला के सहचारी थे। इन्हीं के माध्यम से सूर ने एक शुद्ध ग्रामीण परिवेश का वर्णन किया।

गोविंद त्रिगुणायत ने सूर के द्वारा चित्रित ग्रामीण जीवन का वर्णन करते हुए कहा है कि- ''सूर ने अपने काव्य में अपने युग की ग्राम्य संस्कृति का यदि संश्लिष्ट, सांग और व्यवस्थित चित्र देखना हो तो सूर काव्य का अध्ययन करना चाहिए।[169]

श्री त्रिगुणायत ने सूर द्वारा चित्रित अनेक ग्रामीण दृश्यों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार ''जगह-जगह गाँवों के समीप वनों में धेनुओं के चरने का कवि (सूरदास) ने कैसे सुंदर चित्र खींचा है, यथा-

''चरित धेनु अपने-अपने रंग अति ही सघन बन चारु।''

गांवों में बछड़े के लिए रम्भाती हुई गाय का एक चित्र देखिए-

''रम्भाती गो खरिकनि में बछरा हित धाई।''....

.... उस समय के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में स्त्री-पुरुषों में परस्पर मिलने, हँसने, बोलने की प्रथा थी, किंतु वे लोग नीची दृष्टि से देखे जाते थे जो स्त्री पर कुदृष्टि डालते थे, यथा-

''पर दारा कै जायँ आपु कतु लज्जा हारी''

उस युग में ग्रामीण वधुओं का पारिवारिक जीवन सुखी नहीं था। सास, ननदें वधुओं को बहुत सताया करती थीं, यथा-

''सासु ननद घर त्रास दिखावै''

उस युग के गांवों में बिना विवाह के ही किसी को घर में डालने की प्रथा भी थी, यथा-

''लौंडी की डौंडी जग बाजी बद्यौ स्याम अनुराग।''.....

... गाँवों में बहुत से वर्णों के लोग रहा करते थे, जैसे-कहार, केवट, धीवर।

उनका वर्णन दृष्टव्य है-

''बार बार श्रीपति कहैं धीवर नहि मानै।

लै भइया केवट उतराई॥''.....

..... उस समय गाँवों में नगर-वधू अथवा वेश्याएँ भी हुआ करती थीं, यथा-

''मानहु बिट सबहिन अवलोकत परसत गनिका गात।''.....

.... भारतीय ग्रामीण जीवन के सबसे प्रमुख पर्व होली और दिवाली माने जाते हैं। होली का उत्सव ब्रज में बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता था, जिसकी परंपरा अभी तक अक्षुण्ण है। इस अवसर पर सब प्रकार के लोग भेद-भाव भूलकर आनंद विहार करते थे। होली के अवसर पर वेश्या और वधू समान समझी जाती थी। पंडित और मूर्ख में भी अंतर नहीं था। सबके साथ सबको

जी भरकर होली खेलने का अधिकार था।

यथा-

''सम पण्डित वेस्या वधुहरि हेरी है।''....

ग्राम्य जीवन में शकुन-अपशकुन का बहुत बड़ा महत्व होता है। अंध विश्वासों में शकुन-अपशकुन विशेष रूप से आते हैं। जब आँगन में कौआ बोलता है तो प्रियजन के आने की आशा होती है-

तेरे आवेंगे आज सखि हरि खेलन को फाग री।

सगुन संदेसो हौं सुन्यो तेरे आँगन बोले काग री॥

जब समाज में कोई अनर्थ होने वाला होता है, तो पशु पक्षियों की स्थिति अपशकुनमूलक हो जाती है। बैल, घोड़े और हाथी रोने लगते हैं। रात को कौवे और दिन में सियार बोलने लगते हैं, यथा-

रोवै वृषभ तुरग अरु नाग,

स्यार द्यौस निसि बोलै काग।

कम्पय भू वर्षा नहिं होय,

भयो सोच नृप चित यह जोय॥.....

ग्राम्य जीवन में प्रयुक्त होने वाले वस्त्रादि की भी सूर-काव्य में बराबर चर्चा आयी है। ग्रामीण को सबसे अधिक प्रिय अपनी कमरी होती है वह भी अधिकतर काली होती है, ताकि उस पर दूसरा रंग न चढ़ सके-

''सूरदास कारी कमरी पर चढ़त न दूजो रंग।''

स्त्रियाँ लहँगा और साड़ी आदि भी पहनती थीं, यथा-

दच्छिन्न चीरती पाई को लहँगा।

पहिर विविध पट मोलनि महँगा॥

पुरुष लोग सिर पर पगड़ी धारण करते थे। ''सिर पगिया बीरा मुख सोहै'' लिखकर सूर ने इस बात की ओर संकेत किया है। एक संभ्रात युवक के हाथ में एक लकुटी अवश्य रहती है, साथ ही सिर पर मुकुट, कंधे पर एक उपरना और कमर पर एक लाल कछनी भी रहती है। सूर ने एक ग्रामीण युवक का अच्छा चित्र खींचा है, यथा-

लकुटि मुकुट पति उपरैना, लाल काछनी काछै।

ग्रामीण जीवन में विशेष वस्त्रों के साथ आभूषणों का भी महत्त्व था। बच्चों को अधिकतर बाघ का नाखून, कठुला आदि पहनाने की परंपरा थी, यथा-

उर बघनहा कंठ कठुला झँड्डले बाल।''[170]

इस प्रकार पूर्ववर्ती चर्यापदों में भी ग्रामीण जीवन का उल्लेख मिलता है। चर्यापदों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि वहाँ नगर जीवन की अपेक्षा ग्राम्य जीवन और परिवेश का ही समुचित वर्णन है। हालांकि चर्यागीतों में धार्मिक दर्शन का आधिक्य है तथापि उसमें एक ग्रामीण समाज की छवि स्पष्टतया उभरती है।

समाज में ब्राह्मणों का दर्जा सर्वोपरि था और कतिपय निकृष्ट या अपस्पृश्य समझी जाने वाली जातियाँ नगर या ग्राम के बाहर ही रहती थी-

''नगर बाहिरि रे डोम्बी तो होरि कुड़िया।

छइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िया॥ (चर्या सं.10)

अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों की स्त्रियों के साथ एक वर्ग के लोग संबंध स्थापित करना चाहते थे। उनके मन में समाज के प्रति कोई भय या सामाजिक दायबद्धता से कोई सरोकार न था-

बालो डोम्बी तो ए सम करिबे म सांग। (चर्या सं. 20)

× × ×

तिअड्डा चापि जोइनि दे अंकवालि। (चर्या सं. 4)

× × ×

जोइनिजाले रअनि पोहाअ। (चर्या सं. 19)

उस समय साधारण लोगों का जीवन दुर्विसह था। जिसे जहाँ स्थान मिले वह वहीं अपना आसरा बना लेता था। उनके पास खाने तक का चावल नहीं बचता था और संसार बढ़ता ही जाता था-

टालत मोर घर नाहि पड़वेषी।

हाड़ीत भात नाहि निति आवेसी॥

बेग संसार बडहिल जाअ। (चर्या सं. 33)

शिशु के जन्म के बाद उसकी मृत्यु या माता की मृत्यु एक साधारण सी बात थी-

फेटलिउ गो माए अन्तउड़ि चाहि।

जा एथु चाहमि सो एथु नाहि॥

पहिल बिआन मोर बासन-पुड़ा।

नाड़ि बिआरन्ते सेव बापुड़ा॥

जाण जोवण मोर भइलेसि पुरा।

मूल नखलि बाप सङ्हारा॥ (चर्या सं. 20)

इस युग की भी बहुओं के जीवन को उसके सास और ननद ने त्रस्त कर रखा था इसलिए कृष्णपादाचार्य ने बहुओं को इनका विनाश कर माया के आवरण को चीर देने का उपदेश दिया है-

मारिया ननद सासु घरे साली।

माअ मारिआ कान्हु भइअ कबाली॥ (चर्या सं.20)

चर्यागीतों में शिकार का भी वर्णन है। उस युग में चारों ओर की भूमि वन-प्रांतरों से भरी थी जिसमें बाघ, हाथी, हिरण जैसे जीव भरे थे-

काहैरि घिनि मेलि अच्छह कीस।

बेढ़िल हाक पड़ह चौदीस॥

अपणा मांसेँ हरिणा बैरी।

खणह न छाड़अ भुसुक अहेरी॥ (चर्या सं. 6)

उस युग में चोरों का भी बड़ा उपद्रव था। 'कानेट चौरि निल अधराती।' (चर्या सं.2) कहकर कुक्कुरीपाद ने इस कथन की पुष्टि की है। यहाँ चर्या 39 और 49 में कवियों ने बंगाल शब्द का प्रयोग करते हुए उसे एक उपेक्षित क्षेत्र माना है। चर्या 39 में सरहपाद ने कहा है कि 'बंग में जाकर उनकी साधना संगिनी अपहृत हो गई' एवं चर्या 49 में भुसुकपाद ने कहा है कि 'अद्वैत बंगाल सारा देश लूटकर ले गया जिससे भुसुकुपा दीन हीन (बंगाली) हो गया।

बङ्ग जाया निलेसि परे भागेल तोहोर विणाणा। (चर्या सं.39)

× × ×

बाज णाव पाड़ी पँउआ खालैं बाहिउ।

अदअ बङ्गाले देश लुड़िउ।

आजि भुसुक बङ्गाली भइली।

णिअ घरिणी चण्डाली लेली॥ (चर्या सं.49)

इससे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में बंगाल और बंगालियों के प्रति दृष्टि अत्यंत खराब थी।

चर्यापदों में कृषि केंद्रिक ग्रामीण जीवन की चर्चा की गई है जिसमें गायों से भरी सुंदर गोशाला और कृषि को नष्ट करने वाले मूषक का वर्णन है-

सरह भनइ बर सुन गोहालि कि मोदुट्ठ बलन्दे (चर्या सं.39)

× × ×

निसि अन्धारी मुसार चारा।

अमिअ भखअ मुसा करअ आहारा॥ (चर्या सं.21)

चर्याकालीन समाज में मद्य विक्रेता भी थे और मधुशालाएँ भी थीं जहाँ ग्राहकों का आना जाना लगा रहता था-

एक से शुण्डिनी दुइ घरे सान्धअ।

चीअण बाकलअ बारुणी बान्धअ॥....

.... दशमि दुआरत चिह्न देखइआ।

आइल गराहक अपने बहिआ॥ (चर्या सं.3)

इस गीतियों में जिस क्षेत्र का वर्णन है वह तीव्रधार नदियों से परिपूर्ण था। अत: वहाँ इस पार से उस पार जाने के लिए नाव की आवश्यकता थी। चर्यागीतों ने नावों से संबंधित अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया जैसे- भेला, नौका, नावी, फुटि, पिट, चजा, पाल, हाल, पुलिन्दा, थाही, दाड़, पाड़ि, केडुवाल इत्यादि। चर्या संख्या 5,8,14,15,38 में इनकी चर्चा की गई है। इस अकाल ग्रस्त समाज में कभी किसी से पास नाव की उतराई देने तक के लिए पैसे नहीं बचते थे। नाविक यात्री के कपड़े और थैली देखकर पहले ही अनुमान लगा लेते थे कि किस व्यक्ति में पार होने का सामर्थ्य है-

बाण्ड कुरुण्ड सन्तारे जानी (चर्या सं.37)

इसके अतिरिक्त भी चर्यापदों में अनेक समाज सापेक्ष चित्र उपस्थित हैं। संभवत: ग्रामीण समाज का चित्रण लोकभाषा में रचित इन काव्यों से ही आरंभ हुआ जिस परंपरा का निर्वहन परवर्ती कवियों ने भी किया।

इसके अतिरिक्त भी चर्यापदों में कूट पदों की रचना और सूरसागर में विद्यमान कूट पदों की तुलना की जा सकती है। उल्लेख्य है कि सूरसागर एक भक्त के हृदय का स्वर है इसमें इस प्रकार के कूट पदों की परंपरा कहाँ से आई ? संभवत: चर्यापदों में रचित बुद्धि-बोझिल पदों में ही इनका उत्स खोजा जा सकता है। चर्यागीत स्वरूप एक कूट पद इस प्रकार है-

दुलि दुहि पिटा धरण नजाइ।

रुखेर तेन्तेलि कुम्भीरे खाअ॥

आङ्गन घरपण सुन भो बिआती।

कानेट चौरि निअ अधराती॥

ससुरा निद गेल बाहुड़ी जागअ।

कानेट चोरे निल का गाइ मागअ॥

दिवस बहुड़ी काउइ डरे भाअ।

राति भइले कामरु जाअ॥

अइसन चर्या कुक्कुरीपाएँ गाइउ।

कोड़ि मझे एकु हिअहि समाइल॥ (चर्या सं.2)

इसी प्रकार सूरसागर में भी कवि सूरदास ने कूट पदों की रचना की, यथा-

कहत कत परदेशी की बात।

मंदिर अरध अवधि बदि हमसौं, हरि अहार चलि जात।

ससि रिपु बरष, सुर रिपु जुग बर, हर रिपु कीन्हौ घात।

मघ पंचक लै गयौ साँवरी, तातैं अति अकुलात।

नखत, वेद, ग्रह, जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात।

सूरदास बस भईं बिरह केकर मौंजैं पछितात॥ [171]

इसके अतिरिक्त सूरसागर के भ्रमरगीत प्रसंग में उद्धव द्वारा गोपियों को योग की शिक्षा दी गई। उद्धव ने उन्हें वायु निरोध द्वारा माया त्याग करने का उपदेश दिया जिसे गोपियों ने अस्वीकार कर दिया-

परि पुकार द्वार गृह-गृह तैं, सुनौ सखि इक जोगी आयौ।

पवन सधावन भवन छुड़ावन, रवन रुसाल, गोपाल पायौ।

आसन बाँधि परम उरध चित, बनत न तिनहि कहा हित ल्यायौ।

कनक बेलि कामिनि ब्रजबाला, जोग अगिनि दहिबै को धायौ॥[172]

यह प्राणायाम की क्रिया मूलत: बौद्धों की साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग था जिसे बाद में नाथ योगियों ने ग्रहण किया। यहाँ योगीचारी पंथ को प्रत्यक्ष रूप से अस्वीकार किया गया।

अत्र उल्लेखित 'आसन बाँधि परम उरध चित' में बौद्ध मुद्रा-बंधादि का छायाभास मिलता है। इन्हीं मुद्राओं और बंधों को बाद के नाथ योगियों ने ग्रहण किया।[173]

सूरसागर में गोपियों ने उद्धव द्वारा मुद्रा, भस्म और मृग छाल के प्रयोग का उल्लेख किया है-

आसन ध्यान वायु आराधन, अलि मन चित तुम नाए।

अतिहिं विचित्र सुबुद्धि सुलच्छन, गुनी जोग मत गाए॥

मुद्रा भस्म विषान त्वचा मृग ब्रज जुवतिनि नहि भाए।

अतिसि कुसुम बरन मुख मुरली सूरज प्रभु किन ल्याए॥[174]

यहाँ मुद्रा, भस्म, सिंगी और मृग छाला का उल्लेख है। नाथ संप्रदाय के कनफटा योगी संप्रदाय के साधक कान के मध्यभाग को चीरकर कुण्डल धारण करते हैं जिसे 'मुद्रा' कहते हैं।[175] बौद्ध संप्रदाय में भी मुद्रा का उल्लेख है परंतु वह कोई कुंडल न होकर हस्तादि कृत बंध विशेष या साधना संगिनी के लिए प्रयुक्त होता है।[176] इसके अतिरिक्त भस्म सिंगी और मृग के छाला का उल्लेख नाथ संप्रदाय में वृहद् रूप से मिलता है। सूरदास ने योगियों का वर्णन भ्रमरगीत में जिस प्रकार किया उसी प्रकार पद्मावत में भी जायसी ने रतन सेन के योगी वेश का वर्णन किया है-

.... तन विषेभर मन बाउर रटा। अरुद्ध प्रेम परी जटा॥

चंद बदन औ चंदन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा॥

मेखल सिंगी चक्र धँधारी। जोगौटा रुद्राक्ष आधारी।

कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्धि होइ कहँ गोरख कहा॥

मुंद्रा स्रवन कंठ जपमाला। कर गढ़पान काँध बघछाला॥

पाँवरी पाँव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस कै राता॥[177]

'योगि संप्रदाया विष्कृति' नामक ग्रंथ के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव के वरदान माँगने को कहा। मौका देखकर मत्स्येन्द्रनाथ ने शिव का स्वरूप ही वरदान में माँगा। प्रारंभ में शिवजी ने इतस्तत: किया पर मत्स्येन्द्रनाथ के तप:पूर्त तेज से प्रभावित होकर वे राजी हो गए। शिव ने भस्म जलादि से मत्स्येन्द्र का अभिषेक किया और प्रत्येक उपादान मत्स्येन्द्र के हाथ में देकर उसका गूढ़ तत्व भी समझा दिया।[177]

उल्लेख्य है कि सूरदास ने योगी के जिस वेश का वर्णन किया है उसका आधिकारिक रूप इसी प्रकार का है।[178] अत: यह माना जा सकता है कि सूर पर सिद्धों की अपेक्षा नाथ योगियों का विपरीत प्रभाव पड़ा है। रही बात राधा और कृष्ण के प्रेम कथा की, विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि राधा का विकास बौद्धों में वर्णित डोम्बी, चण्डालिनी आदि से माना है जिसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। अनेक विद्वानों ने यही अनुमान लगाया राधा का विकास भी बौद्ध धरातल से ही हुआ होगा।

प्रसिद्ध असमिया विद्वान लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा ने 'राधा के विकास' के विषय में चर्चा करते हुए कहा है कि – 'हरिवंश में भी रास लीला का वर्णन है परंतु वहाँ राधा का नाम गंध भी नहीं, श्रीमद्भागवद् में भी नहीं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा का आविर्भाव प्रथम बार हुआ था।

असली या आदि ब्रह्मवैवर्तपुराण आज उपलब्ध नहीं है। वर्तमान जो ब्रह्मवैवर्तपुराण मिलता है उसके विषय में पंडितों का अनुमान है कि मत्स्य पुराण में ब्रह्मवैवर्त पुराण के जो लक्षण मिलते हैं उसके साथ वर्तमान प्रचलित ब्रह्मवैवर्तपुराण का किंचित भी मेल नहीं दिखता। मुसलमानों के देश आक्रमण के फलस्वरूप हिंदू और मुसलमानों के संसर्ग से नई जातियों का उदय हुआ उसी बीच इस पुराण की रचना हुई थी। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार कही गई है- प्रलय काल में सूर्य के समान प्रदीप्त अनेक अविनश्वर ज्योतिःपुंज थे। उस उज्ज्वल ज्योति के अंतराल में स्वेच्छामय परमेश्वर के तीन लोक थे। उस त्रिलोक के ऊपर ईश्वर के समान अविनश्वर और त्रिकोटि योजन विस्तृत गोलोकधाम है जिसे परमेश्वर ने अपने योगबल से धारण कर रखा है। प्रलयकाल में वहाँ केवल श्रीकृष्ण ही रह जाते हैं परंतु सृष्टि के समय गोप-गोपियाँ भी रहते हैं। उस गोलोकधाम के दक्षिण की ओर पचास कोटि योजन नीचे वैकुण्ठ स्थित है। यहाँ लक्ष्मीनारायण रहते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण सृष्टि के आरंभ से ही देवताओं के साथ रासमंडल में विद्यमान थे। कृष्ण के शरीर के वामांग से एक कन्या आविर्भूत हुई उसका नाम राधा रखा गया। वह राधा परमात्मा श्रीकृष्ण के प्राणों की अधिष्ठात्री और प्रियतमा थी। राधा पूर्णयौवना षोड़शी और जगत की समस्त सुंदरियों की अपेक्षा सुंदर थी।[179]

उल्लेख्य है कि प्राचीन वैष्णव पुराण एवं हरिवंश से लेकर भागवत धर्म के प्रचार काल तक समाज में केवल कृष्ण को ही देवता के रूप में पूजा जाता था, क्योंकि उस समय राधा शक्ति के विषय में किसी ने कुछ सुना भी न होगा। इसी कारण भारत के अनेक प्राचीन मंदिरों में केवल कृष्ण के विग्रह की ही पूजा होती है। परंतु ब्रह्मवैवर्त पुराण के प्रचार के बाद जब राधा शक्ति का आविष्कार हुआ उसी के बाद कुछ सम्प्रदायों में राधाकृष्ण के युगलोपासना की प्रवृत्ति बढ़ी।[180] अंग्रेज विद्वान विलसन ने भी ब्रह्मवैवर्तपुराण को कनिष्ठतम मानकर उसे छोड़ दिया। उनके

अनुसार यह एकादश शती से अधिक पुराना नहीं है। परंतु अनेक विद्वान इसे 700 वर्ष से अधिक पुराना नहीं मानते। ब्रह्मवैवर्त पुराण को आधार मानकर ही जयदेव, विद्यापति जैसे मूर्धन्य कवियों ने राधाकृष्ण विषयक शृंगारिक पदों की रचना कर डाली। इसी के आधार पर बंगाल के चैतन्य ने भी गौड़ीय मत का प्रचार किया। भारतीय संस्कारों में पले बढ़े स्वदारानिरत पुरुषों और साध्वी स्त्रियों के लिए यह धर्म अस्वाभाविक और विपथ प्रेरिका धर्म बन गया। आश्चर्यजनक विषय है कि बाद में वैष्णवों के बीच कृष्ण की अपेक्षा राधा की प्रतिष्ठा अधिक हो गई।[181]

साहित्य मर्मज्ञाचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने राधा के विकास विषयक गहन चिंतन के क्रम में उसके आविर्भाव के दो आयामों का अनुमान किया-

1. राधा आभीर जाति की प्रेम देवी थी जिसका संबंध बाल-कृष्ण से रहा होगा (पुराणों के अनुसार राधा कृष्ण से उमर में बड़ी थी। बाल-कृष्ण की कल्पना के सिवा और किसी तरह इस बात को समझाया नहीं जा सकता)। .....

2. दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि राधा इसी देश की किसी आर्य पूर्व-जाति की प्रेम-देवी रही होगी। ... जयदेव (12वीं शताब्दी) के काल में राधा की प्रतिष्ठा परमा शक्ति के रूप में हो चुकी थी।[182]

संभवत: बौद्धों के आसन्न पतन को देखकर अनेक भिक्षु सद्धर्म छोड़कर वैष्णव या मुसलमान बन गए थे।[183] वे अपने साथ अपने देवी-देवताओं को भी लेकर आए। अनेक बौद्ध भिक्षुणियाँ मंदिरों में देवदासी बन गईं। इसी से हिंदू धर्म में 'राधा' का विकास हुआ होगा। आभीरों की प्रेमदेवी की अपेक्षा बौद्धों से राधा के विकास का तथ्य अधिक विश्वस्त प्रतीत होता है, क्योंकि जिस समय ब्रह्मवैवर्तपुराण का लेखन हो रहा था उसी समय बौद्ध मठ धराशायी हो रहे थे और बौद्धों और हिंदुओं में धार्मिक दार्शनिकता का आदान-प्रदान हो रहा था। बुद्ध को विष्णु का नवम् अवतार मान लेने के साथ बौद्ध देवियों का भी रूपांतरण उनकी प्रिया के रूप में हो गया होगा।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सूर के काव्य में इन्हीं सिद्धों के स्वर गुप्त रूप में विद्यमान थे। दरअसल एक प्रशस्त पुरातन परंपरा का क्रमविकास उत्तरोत्तर होता गया। भले ही स्पष्टत: बौद्ध और वैष्णव धर्मों के दर्शनों में विशद भेद हैं तथापि बाद में बुद्ध को विष्णु का तदेकात्म अवतार मान लेने पर दोनों ही दर्शनों में सहवासिता के फलस्वरूप सहिष्णुता के भाव देखने को मिलते हैं। बंगाल में प्रेम मार्गी सहजिया पंथ का विकास भी बौद्धों से माना जाता है अत: इन धर्मों ने निश्चित ही एक दूसरे को बड़ी निकटता से प्रभावित किया है। इसी का फलित प्रभाव सूर के साथ अन्य वैष्णव संतों पर पड़ा।

वैष्णव सम्प्रदाय में विशेषकर राधावल्लभ संप्रदाय में शाक्त मत का प्रभाव देखा जा सकता है। राधावल्लभ संप्रदाय के अनुसार राधा ही कृष्ण को उनके पौरुष या शक्ति का परिचय कराती है। कृष्ण एक प्रकाश का स्रोत है जिसे अपनी शक्ति का आभास नहीं है। राधा रूपी तत्त्व (object) जब कृष्ण के आगे आती है तो वह कृष्ण की प्रकाशिका शक्ति का अनुभव कराती है।[184]

उल्लेख्य है कि इसी तथ्य को अष्टम शती में आद्य शंकराचार्य ने 'सौंदर्य लहरी' में इंगित किया था-

क्वणत्कांची-दामा करिकलभ-कुंभ-स्तन-नता

परिक्षीणा मध्ये परिणत-शरच्चन्द्र-वदना।

धनु-र्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलै:

पुरस्ता-दास्तां न: पुरमथितु-राहो-पुरुषिका॥[185]

शिव की अहमिका भाव की विमर्शशक्ति होने के कारण देवी को 'अहो पुरुषिका' कहा गया है।

कुल मिलाकर भक्तिकालीन कृष्णभक्ति धारा में पूर्ववर्ती दर्शनों का न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य ही लक्षित होता है। इसी क्रम में यदि सूर पर भी यह प्रभाव पड़ा तो कोई आश्चर्यकर विषय नहीं है।

संदर्भ :

1. पद्मपुराण, उत्तरखंड, पृ. 50-51
2. इतिहास कथा, अरविंद मोहन, पृ. 49
3. वही, पृ.19
4. Origin & development of Vishnu Cult, Muralidhar Mohanty pg. 3
5. Chinese Religion through Hindu Eyes, Benoy Kumar Sarkar, Pg. 147
6. हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्विवेदी, पृ. 19
7. Origin and development of Vishnu Cult, Muralidhar Mohanty, Pg. 234-235
8. कालचक्र, वीरेंद्र कुमार सिंह चौधरी, पृ. 96
9. वही, पृ. 97-101
10. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेन्द्र, पृ. 97
11. सौंदर्यलहरी, संपा. तपस्यानंद, अद्वैत आश्रम, मद्रास, पृ.1
12. हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्विवेदी, पृ. 54
13. ब्राह्मण, लीलाधर दुःखी, पृ. 110
14. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. नगेंद्र, पृ.177
15. वही, पृ. 177-178
16. वही, पृ. 178
17. वही, पृ. 179
18. वही, पृ. 179
19. गीता, 11,18
20. रामचरित मानस, संपा. हनुमान प्रसाद पोद्दार, बालकांड, पृ. 79
21. हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्विवेदी, पृ. 75-76
22. गीता, चतुर्थ अध्याय, श्लोक संख्या-7,8
23. दुर्गा सप्तशती, एकादश अध्याय, श्लोक संख्या- 54, 55

24. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृ.70
25. हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्विवेदी, पृ. 75
26. India TV पर प्रचारित एक कार्यक्रम के अनुसार, दिनांक 12फरवरी 201 रात आठ बजे
27. साप्ताहिक वर्तमान, बांग्ला पाक्षिक पत्रिका
28. सूर साहित्य, द्विवेदी, पृ 22
29. बाइबिल, नहूम, नीनवे के विरुद्ध परमेश्वर का क्रोध, पृ. 1034
30. The Da-Vinci Code, Dan Brown, पृ. 94-119
31. दैनिक जागरण, समाचार पत्र, वाराणसी, मंगलवार, 25 दिसंबर सन् 2007, पृ. 1, 2
32. चर्यागीत आरू बौद्ध तंत्र, प्रणव ज्योति डेका, पृ. 45
33. सूर साहित्य, द्विवेदी, पृ. 19
34. Introduction to the Buddhist Tantric system, F.D. Lessing and A. Wayman, pg. 161
35. वही, पृ.167
36. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ.88
37. वही
38. वही
39. वही, पृ. 89
40. वही, पृ. 116
41. हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्विवेदी, पृ. 46
42. सूर साहित्य, द्विवेदी, पृ.46
43. हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्विवेदी/पृ.21
44. पुरोहित दर्पण,पी.एम. बक्शी एंड कंपनी (प्रा:) लि.,पृ.515
45. An introduction to Buddhist Esoterism, Benoytosh Bhattacharjya, पृ.118-119
46. वही, पृ.118
47. वही, पृ.117
48. अम्बेडकर रिसर्च फाउन्डेशन के वेबसाइट से गृहित

49. भारतीय संस्कृति कोष, भाग-IV, पृ. 448
50. सूर साहित्य, द्विवेदी, पृ. 25
51. Amarnath Roy, Indian culture (Vol. V No.2) Orissa matters. com/2002/10/11/Radha,Subhash Chandra Pattanayak
52. सूरदास, खंड-2, दशम स्कंध, पद सं. 4595, पृ. 1444 नागरी प्रचारिणी सभा
53. Buddhism in Tibet, Charles Bell, पृ.147
54. चर्यापद आरु बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणव ज्योति डेका, पृ. 49
55. हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास, ह.प्र. द्विवेदी, पृ. 126
56. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणव ज्योति डेका, पृ. 5
57. वही, पृ. 6
58. सूरसागर, संपा. डॉ व्रजेश्वर वर्मा, पृ. 758
59. वही
60. वही
61. वही
62. हिन्दी काव्य संग्रह, केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा,पृ. 64
63. वही, पृ. 65
64. वही, पृ. 64
65. वही, पृ.64
66. वही, पृ. 63
67. वही
68. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ. 261
69. वही
70. वही, भूमिका
71. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 42
72. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 109
73. दोहकोष, बागची, सरहपादानाम, पृ. 40
74. कबीर, द्विवेदी, पृ.107

75. वही, परिशिष्ट, बीजक, शबद 41
76. हिंदी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृ.7
77. कबीर, द्विवेदी, पृ.245
78. वही, पृ. 247
79. आदिकालीन काव्य संग्रह, संपा. डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय डॉ. शंभुनाथ पांडेय, पृ. 17
80. वही
81. कबीर, द्विवेदी, पृ. 257
82. वही, पृ. 260
83. वही, पृ.262
84. वही, पृ. 267
85. सरहपाद, दोहाकोश, बागची, पृ.17
86. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ. 312
87. दोहाकोषगीति,कृष्णपादानाम्, पृ.9, संपा. एच.सी. भयाणी
88. वही,पृ. 10
89. कबीर ग्रंथावली, पृ.230-231
90. कबीर ग्रंथावली, पृ. 230
91. कबीर, द्विवेदी, पृ. 75-80
92. वही, पृ. 74
93. वही
94. अपभ्रंश और अवहट्ठ : एक अंतर्यात्रा, शंभूनाथ पांडेय, पृ. 1
95. सौंदर्यलहरी, संपा. तपस्यानंद, अद्वैत आश्रम, मद्रास, श्लोक सं. 32
96. सिद्ध साहित्य, भारतीय, पृ. 313
97. कबीर, द्विवेदी, पृ. 184
98. आदिकालीन काव्य संग्रह, नागेंद्रनाथ उपाध्याय, शंभूनाथ पांडेय, पृ. 36
99. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ.316
100. वही

101. पद्मावत, संपा. वसुदेव शरण अग्रवाल, राजा गजपति संवाद खंड, चौपाई सं.142, पृ.137
102. चर्यापद, दिलीप बोरा, पृ. 56-67
103. वही, पृ. 57
104. आदिकालीन काव्य संग्रह, पृ. 17
105. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ.242
106. दोहाकोष, संपा. एच.सी. भयाणी, पृ.16
107. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ. 6
108. दोहाकोष, बागची, पृ.86
109. कबीर, द्विवेदी, बीजक, 69वीं रमैनी
110. कबीर ग्रंथावली, पद सं. 59
111. अपभ्रंश और अवहट्ठ : एक अंतर्यात्रा, डॉ. शंभूनाथ पांडेय, पृ. 269
112. कबीर, द्विवेदी, पृ. 179
113. कबीर ग्रंथावली, पृ.242-43
114. वही, पद सं. 320
115. आदिकालीन, काव्य संग्रह,संपा. शम्भू नाथ, नागेंद्र, पृ.17
116. कबीर ग्रंथावली, पद सं. 44
117. कबीर, द्विवेदी पृ. 206
118. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणज्ज्योति डेका, पृ. 39
119. Entering the stream, Jigme Lingpa, Random House Publica tion, 1993, Pg. 287
120. वही, पृ.228
121. Introduction to Buddhist Tantric system, Lessing & Wayman, Pg. 289
122. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणव ज्योति डेका, पृ.16
123. कबीर, द्विवेदी, पृ.208
124. वही, पृ.198
125. कबीर, द्विवेदी, पृ.199

126. वही,पृ.209
127. वही, पृ.230
128. वही, पृ.224-25
129. कबीर, द्विवेदी, पृ.264
130. दोहाकोष, एच.सी. भयाणी: सपा, पृ.14
131. वही
132. वही
133. वही, पृ. 9
134. कबीर, द्विवेदी, पृ.184
135. वही, पृ. 192
136. वही, पृ. 262
137. वही, पृ. 257
138. वही, पृ. 258
139. 2500 years of Buddhism, Ed. H.V. Guenther, pg. 229
140. Entering the stream, Jigme Lingpa, pg.267
141. दोहाकोष, एच.सी. भयाणी, पृ.13
142. 2500 years of Buddhism, Ed. H.V. Guenther, Pg.376-81
143. कबीर, द्विवेदी, पृ. 70
144. कबीर, द्विवेदी, पृ. 202
145. सिद्ध साहित्य, भारतीय, पृ.140
146. दोहाकोषगीति, संपा. एच.सी. भयाणी, पृ. 16 तिल्लोपाद
147. सिद्धसाहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 144
148. कबीर, द्विवेदी, पृ. 17
149. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेंद्र , पृ. 146
150. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणव ज्योति डेका, पृ. 121
151. कवितावली, उत्तरकांड, 85
152. हिन्दी साहित्य का इतिहास, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ-144

153. वही
154. नवीन साहित्यिक निबंध, डॉ. गोविंद त्रिगुणायत, पृ.166
155. वही
156. वही, पृ.168
157. विनय-पत्रिका, संपा. वियोगी हरि, पृ.185
158. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणवज्योति डेका, पृ.33
159. रामचरितमानस, संपा. हनुमान प्रसाद पोद्दार, बालकांड-पृ. 53-68
160. नाथ संप्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 43,44
161. बृहद्धर्मपुराण, मध्यखंड, षष्ठ अध्याय, 73-74
162. रामचरिमानस, संपा. पोद्दार, बालकांड, पृ. 25
163. वही, पृ.29
164. वही, पृ. 1028
165. वही, पृ. 1030
166. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेन्द्र, पृ.201
167. वही
168. वही, पृ. 203
169. नवीन साहित्यिक निबंध, गोविंद त्रिगुणायत, पृ. 154
170. वही, पृ. 149, 154
171. सूरसागर खण्ड 2, दशम स्कंध, पद सं.4595, पृ.444 (नगरी प्रचारिणी सभा)
172. वही, पृ. 1327
173. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 172
174. सूरसागर, खण्ड2, पृ. 1325
174. नाथ संप्रदाय, आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.7
175. पद्मावत, जोगी खण्ड, 126
176. 126 पृ. 121
177. नाथ संप्रदाय, हजारी प्र., पृ.19
178. वही

179. बेजबरुवा ग्रंथावली, संपादक - अतुलचंद्र हजारिका, पृ. 502-503
180. वही, पृ. 503
181. वही, पृ. 504
182. सूर साहित्य, हजारी प्र. द्विवेदी, पृ. 22-25
183. साप्ताहिक वर्तमान (बंगला पत्रिका) 2005, पृ.16
184. वैष्णवाचार्य गौड़ कुमार गोस्वामी से हुए साक्षात्कार के आधार पर।
185. सौंदर्यलहरी, श्लोक सं.-7, संपा- तपस्यानंद

अध्याय-5

रीतिकालीन काव्य पर प्रभाव

अध्याय-5

रीतिकालीन काव्य पर प्रभाव

क. रीतिकालीन कविता : सामान्य विवेचना

हिन्दी साहित्येतिहास का उत्तर मध्यकाल का कालांश लगभग 1643 ई. से सन् 1843 ई. तक माना जाता है। इस कालांश में मुख्यत: श्रृंगारपरक लक्षण ग्रंथों की रचना हुई। मिश्रबंधुओं ने इसे 'अलंकृत काल' कहा है, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे 'रीतिकाल' एवं पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'श्रृंगारकाल' नाम से अभिहित किया है।[1] भगीरथ मिश्र के अनुसार रीति-साहित्य की प्रवृत्ति उतनी मौलिक नहीं जितनी आवश्यक थी। उनके अनुसार इसका विकास संस्कृत के लक्षण ग्रंथों की परंपरा से हुआ।[2] बुद्ध ने जब अने उपदेश संस्कृत के स्थान पालि में दिए तो वहीं से जनभाषा में अभिव्यक्ति का स्रोत उन्मुक्त हो गया था। इसी कारण परवर्ती कवियों ने भी काव्य और अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति को जनमुखी बनाने के लिए जनभाषा का प्रयोग किया।

रीतिसाहित्य के विकास के मुख्य कारणों में प्रथम तो यह है कि इसे संस्कृत की विशाल साहित्यिक परंपरा विरासत में मिली। जिस समय लोकभाषा में साहित्य का प्रणयन हो रहा था उस समय भी संस्कृत में काव्य सृजन की धारा अक्षुण्ण थी। यहाँ तक कि शाहजहाँ के राजत्वकाल में भी पंडितराज जगन्नाथ की कृति 'रसगंगाधर' प्रणीत हुआ था। जब भक्तिकाल में समस्त भारत भक्ति गद्‌गद् स्वर में ईश भजन में लीन था तब भी केशवदास की 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिय' और कृपाराम की 'हिततरंगिणी', नंददास की 'रसमंजरी' आदि अनेक रीति ग्रंथों

की रचना हुई।[3] अतः हिन्दी रीति साहित्य के लिए न केवल संस्कृत ग्रंथ वरन् समकालीन जनभाषा की रचनाएँ भी पर्याप्त इंधन प्रस्तुत कर रही थीं। इन्हीं लक्षण ग्रंथों की परंपरा में परवर्ती युग की प्रवृत्ति का विकास हुआ।

द्वितीयतः जनभाषा के कवियों को प्राप्त राज्याश्रय ने रीतिकाल के विकास में सहायता प्रदान की। उल्लेख्य है कि पठान बादशाहों ने हिन्दी जनभाषा के कवियों को अपने दरबारों में आश्रय नहीं दिया।[4] उनके दरबारों में अधिकतर अरबी, फारसी के कवि थे। परंतु पहली बार अकबर ने जनभाषा के कवियों को अपने दरबार में स्थान दिया, जिससे उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इसके पहले छोटे-छोटे राजाओं के दरबारों में जनभाषा के कवि अवश्य ही रहे होंगे तथापि संस्कृत के कवियों का ही हिंदू दरबारों में प्राधान्य रहा। जो भी जनभाषा के कवि थे वे अपनी कवि प्रतिभा को छोड़कर राजविरुदावली गायन में व्यस्त थे। उनकी स्थिति भाट और चारणों से अच्छी नहीं थी। इसी कारण संस्कृत काव्य में जनभाषा के कवियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। लोक में ये कवि भाट के रूप में ही परिचित थे। इन्हें अपनी काव्य प्रतिभा के लिए कोई क्षुद्र दान भले ही मिल जाए पर ये कोई उल्लेखनीय पदक्षेप नहीं उठा पाए। अकबर के देखा-देखी राजपुताना तथा मध्यभारत के कुछ उल्लेखनीय रियासतों जैसे ओरछा, जयपुर, बूँदी आदि में भी जनभाषा के कवियों को राजाश्रय प्राप्त हुआ। बाद में हिंदू और मुसलमान उभय संप्रदाय के राजाओं ने जनभाषा के कवियों को अपने दरबारों में ससम्मान प्रतिष्ठित किया।[5]

जनसाधारण और राजपुरुषों के बीच एक विशाल खाई थी। एक तरफ सौंदर्य और विलासिता का बोलबाला था और दूसरी तरफ भक्तिकाल के प्रभाव में बद्ध जनता थी। नैतिक मूल्यों की दृष्टि से साधारण लोगों का चरित्र इन विलासी राजपुरुषों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और उन्नत था। केवल भक्तिकाल के दूरगामी प्रभाव के कारण ही भारतीय संस्कृति जीवित

बच गई, अन्यथा वह भी इतिहास के पृष्ठों में समाहित हो जाती। हिंदुओं के धार्मिक आंदोलन तथा भक्त कवियों के आध्यात्मिक काव्य कृतियों ने जनता के चित्त में स्थित नैतिक मूल्यों की नींव को मजबूत बना दिया था।

भारत में जीवन को देखने के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही पक्षों का अपना-अपना महत्व है। उत्तर मध्यकालीन भारत में उच्च वर्ग में प्रवृत्ति पक्ष का प्राधान्य रहा। मुगलीया दरबार के प्रभाव के कारण विलासिता के भाव ने समस्त भारत को ही जकड़ लिया था। इस विलासिता की पृष्ठभूमि में सबसे पहला कारण था देश में मुगलों का सुदृढ़ शासन। इसी के चलते लोगों के बीच शांति बनी रही। द्वितीयतः इसी राजनैतिक शांति के चलते कला और संस्कृति को विकसित होने के लिए उर्वर भूमि मिली। शिष्ट और कलापूर्ण सृष्टियों से साहित्य पूर्ण हो गया। तृतीयतः इस शांतिपूर्ण उन्नति के कारण लोगों में विलासिता और सौंदर्य प्रेम की मानसिकता जागृत हुई। निश्चिंतता और आंतःसुरक्षा की भावना के कारण हुए आर्थिक उन्नति ने वैभव, विलास, शृंगार और प्रमत्त भावों को जन्म दिया।

निवृत्ति पक्ष लगभग साधारण लोगों के बीच में रहा जहाँ संकीर्ण रूप से ही सही पर धर्म को प्रधानता दी गई। भक्तिकाल के प्रभाव के कारण एवं अपनी दैन्य दशा की निवृत्ति के हेतु जनता में भक्ति का स्पंदन हो रहा था। उस समय जितने भी यूरोपीय यात्री भारत में आए उन्होंने हिंदुओं के जीवनचर्या को देखकर उनके सदाचार की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[6]

साहित्य मर्मज्ञाचार्यों ने रीति साहित्य को विशुद्ध साहित्य के अंतर्गत रखने का दावा किया है। यहाँ प्रथम बार 'कला-कला के लिए' की भावना का विकास मूर्त रूप में हुआ। उसके अंतर्गत स्वच्छ काव्यात्मक प्रतिभा, सौंदर्य का मनोरम एवं प्रभावी चित्रण प्रस्तुत होता परिलक्षित हुआ है इसी कारण दो-ढाई सौ वर्षों के विगत कालांश में रीति-काव्यों का अपना स्वकीय

विशिष्ट महत्व रहा है। केवल राजन्य वर्ग या सामंती सभा में ही नहीं वरन् जन साधारण के मन में भी काव्य कला और सौंदर्य-चेतना के अवगाहन के लिए कलात्मक दृष्टि प्रदान की।

आधुनिक युग के नवोन्मेषक कवियों और विद्वानों ने इस काव्य के संबंध में अपनी निंदासिक्त दृष्टिकोण रखी और रीतिकाव्य पर अनेक दोषारोपण किए गए। उसे कव्यिक दृष्टि से हेय एवं सामाजिक दृष्टि से पतनोन्मुख कहकर उसके विरुद्ध गर्हित भावनाओं को जन्म दिया। कतिपय विद्वान काव्यशास्त्रीय व मौलिकता की दृष्टि से इसे उत्कृष्टतम काव्य की श्रेणी में उत्थापित करते रहे। केवल आधुनिक

युग के कवि ही नहीं वरन् तत्कालीन (रीतिकालीन) कवियों ने भी इस श्रृंगारिक काव्य के लिए मालिन्य भरा था जिसका प्रस्फुरण इन शब्दों में देखा जा सकता है-

नृपति नैन कमलनि वृथा, चितवत बासर जाहि।

हृदय कमल में हेरि लै, कमलमुखी कमलाहि॥[7]

इसी प्रकार भिखारीदास की उक्ति भी है-

आगे के कवि रीझिहैं, तो कविताई, न तौ

राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानौ है॥ 1/8॥

(भिखारीदास/काव्यनिर्णय)

इन उक्तियों से स्पष्टत: यह ध्वनित होता है कि इस प्रकार के श्रृंगारिक काव्य को वे 'काव्य' कहने में संकोचबोध करते थे। गोप, रसरूप, सेवादास आदि कतिपय कवियों द्वारा अपने काव्य से श्रृंगार का बहिष्कार भी इस बात को प्रमाणित करता है कि इन कवियों की मूल प्रवृत्ति श्रृंगारिक नहीं थी वरन् वे अपने ग्रंथों का सृजन सामान्यत: काव्यांग-निरूपण के

उद्देश्य से ही करते थे।[8] परंतु संस्कृत में नाट्य शास्त्र से लेकर साहित्य दर्पण तक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की उपस्थिति के बाद भी पुनः नए सिरे से काव्यांग-निरूपण करने की बात क्यों की गई होगी। यह अवश्य हो सकता है कि साधारण जनता तक काव्यशास्त्रीय सूत्रों को पहुँचाने के लिए यह प्रयास किया गया या संस्कृत साहित्य में अपने अगाध पांडित्य को दिखाने का बहाना था? उस काल में झाँका जाए तो देखा जाएगा कि केवल कुलीन लोग ही इस काव्य रस में डूबे हुए थे। साधारण जनता के लिए तो लोकगीत आदि की परंपरा थी वे उसी के रस से सराबोर थे।

रीतिकाव्य पर अश्लीलता, चमत्कार प्रियता एवं रूढ़िवादिता के आरोप लगाए जाते हैं। सत्य तो यह है कि अश्लीलता की धारणा युग सापेक्ष है। भारत में चार पुरुषार्थों में 'काम' को भी रखा गया है। यह 'काम', धर्म के द्वारा नियंत्रित था और इसे बुरा भी नहीं माना जाता था। लिंग और योनि की पूजा भारत में प्रचलित थी, शिवलिंग की आकृति विश्व का प्रथम 'एब्सडसट्रैक्ट आर्ट' माना जाता था। क्या यह अश्लीलता का द्योतक है? पुरातन मंदिरों की दीवारों में अंकित काम की विविध भंगिमाएँ अश्लीलता की परिचायक थी या दिव्यता की? इस बात की व्याख्या किस प्रकार की जाए? शिव तांडव स्तोत्र में एक स्थान पर रावण ने शिव के उस प्रेमिक स्वरूप की उपासना की है, जो अपने कलाकुशल हाथों द्वारा पार्वती के स्तनों में चित्र अंकित करते हैं-

धराधरेन्द्र नन्दिनी कुचाग्रचित्र पत्रक-

प्रकल्पनैक शिल्पिनि त्रिलोचने रतिमर्म ॥7॥

रावण को शिव के अंतःपुर में प्रवेशाधिकार किसने दिया? क्या भक्त हृदयी रावण के मन में अपने इष्ट के अश्लील कृत्य का चित्रण करने का साहस था? जहाँ देवी के अंगयष्टि

की शोभा का वर्णन करते हुए ''पीनोन्नत पयोधरा'' कहा गया हो क्या वहाँ अश्लीलता पायी जाती है? इससे भी बढ़कर सूरदास, जायसी आदि कवियों ने भी अनेक ऐसे वर्णन किए हैं जिन्हें अश्लील कहने का स्थान रह जाता है जैसे सूरदास ने सूरसागर में लिखा था-

ललित लला गह्यो हरिराई

ज्योंहि हाथ धर्‌यो श्रीफल पर

त्यों जसुमति गई आई॥

साथ ही जायसी ने पद्‌मावती के अंगशोभा वर्णन के क्रम में योनि का भी वर्णन कर डाला-

चंदन माँझ कुरंगिनी खोजू।

दहुँ को पाव को राजा भोजू॥3॥[9]

यहाँ तक कि आधुनिक युग में भी इस प्रकार के अश्लील वर्णन मिल जाते हैं। कामाध्यात्म से प्रेरित दिनकर कृत 'उर्वशी' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। बौद्ध वाङ्मय विशेषकर चर्यापदों में भी शबर शबरी की प्रेम क्रीड़ा के क्रम में इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। इसे रीतिकाव्य को बौद्धों की देन माना जाए तो भी अत्युक्ति न होगी।

उल्लेख्य है कि रीतिकाव्य में कुछ ऐसे वर्णन हैं जो कामशास्त्र के आधार पर किए गए हैं जो वासना को उभारते हैं। ऐसे वर्णनों की उपस्थिति क्या सभी काव्यों में वर्णित माने जाएँ? तथ्य है कि इस प्रकार के वर्णन संस्कृत काव्य में भी मिलते हैं जैसे जयदेव कृत 'गीतगोविंदम्।' जयदेव ने स्वयं अपने गीत गोविंदम् में कहा था कि, यदि कोई हरिस्मरण के साथ विलास भी करना चाहे तो कोमलकांत पदावली में निबद्ध जयदेव की रचना अवश्य सुने-

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।

मधुर कोमलकांत पदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥ 4॥[10]

रीतिकवियों ने अनेक स्थानों पर अपने आश्रयदाताओं के शौर्य और सौंदर्य का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है। परंतु उस युग के लिए आश्रयदाता की प्रशंसा करना, कला और काव्य कला के संरक्षण के लिए कतिपय पक्षों में अनिवार्य भी था। इस कालांश में यदि ललित कलाओं को राजाश्रय प्राप्त न होता तो इनका विकास भी रुक जाता। अत: सामंतों और राजाओं की प्रशंसा द्वारा कवियों ने उनके हृदय में इन कलाओं के लिए भी प्रेम जागृत किया। आदिकाल में विद्यापति के काव्य में शिवसिंह भूप और रानी लखिमा देई के स्तुतिगीत भरे हैं, यहाँ तक कि उनकी तुलना कृष्ण और लक्ष्मी से भी की गई है। जायसी ने भी पद्मावत में शाहे-वक्त, दिल्ली के सुल्तान शेरशाह की सेना, उसका न्याय, उसका रूप और दर्शन, उसका दान सबका विशद वर्णन किया है-

अदल कहौं जस प्रथिमी होई।

चाँटहि चलत न दुखवइ कोई॥1॥

नौसेरवाँ जो आदिल कहा।

साहि अदल सरि सोउ न अहा॥2॥[11]

इसके अतिरिक्त रीतिकाल के राजाओं का यह वर्णन नितांत असत्य भी नहीं। वे उसकी पात्रता भी रखते हैं। कुल मिलाकर यही सत्य है कि यदि उस युग में कवियों को राजाश्रय प्राप्त न हुआ होता तो काव्य का विकास भी नहीं हो पाता। राजाश्रय से काव्य न केवल विकसित हुए बल्कि सुरक्षित भी रहे। अलंकार, रस, नायक-नायिका भेद आदि के लक्षण उदाहरण के लेखन क्रम में अपने आश्रयदाता का वर्णन किया। उनकी यह प्रतिभा भी सराहनीय है।

इस युग के कवियों ने एक ही प्रकार के प्रसंगों और विषयों पर अपनी रचनाएँ लिखीं इसी कारण उन्हें रूढ़िवादी कहा गया। परंतु एक ही प्रसंग की कविता लिखने के बावजूद उनकी अभिव्यक्ति की भंगिमा में नूतनता और मौलिकता अवश्य थी। उनमें वैविध्य भी मिलता है। इसके पीछे कवियों की वह मानसिकता कार्यरत थी जो शुद्ध काव्य लेखन का मार्ग प्रवर्तित करना चाहते थे। अतएव परिपाटी का अनुगमन तद्युगीन वैशिष्ट्य रहा है और न्यूनाधिक रूप में यह रूढ़िबद्धता समस्त युग के काव्य में व्याप्त था। यहाँ तक कि सूर, तुलसी, जायसी इत्यादि कवि भी इस वृत्ति से अछूते नहीं रहे। आधुनिक युग के छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद आदि 'वादों' में यह रूढ़िबद्धता ही परिलक्षित होती है।

रीति-साहित्य के रूप में एक ऐसी परंपरा का विकास हुआ, जिसके माध्यम से भक्ति, शृंगार, नीति, चरित्र आदि सबका चित्रण किया गया है। चामत्कारिक कथन भंगिमा इस युग का विशेष गुण था। दरअसल यह वैभव विलास का युग रहा है अतः समाज का दर्पण होने के कारण कवि की वाग्मिता में भी उसी विलास का प्रदर्शन होता है। साहित्य का सृजन श्रोता की रुचि के और मनोवृत्ति के अनुसार भी होता है, इसी कारण इस युग के काव्य में शब्दाडंबर और चामात्कारिक अभिव्यक्ति खूब मिलते हैं। परंतु इस शब्द चमत्कार में अर्थ गांभीर्य भी गहन रूप से समाविष्ट है। चिंतामणि, भूषण, मतिराम, बिहारी, देव, घनानंद, दास, पद्माकर आदि इतने अधिक प्रतिभावान कवि इस युग के मंच में अवतरित हुए जितने अन्य समय में नहीं मिलते हैं।

(i) प्रवृत्तियाँ

रीतिकाल में एक ओर राजाओं व सामंतों का विलासितापूर्ण जीवन था और दूसरी ओर साधारण जनता का सीधा जीवन जो भक्तिरस से पूर्ण था। भक्तिकाल में संतों और भक्तों

ने जो धारा बहायी थी उसी से साधारण जनता का जीवन अकालग्रस्त होते हुए भी शांतिपूर्ण था। इसी कारण रीतिकाल में नीतिकाव्यों का विशेष रूप से विकास हुआ। राजा तथा सामंतगण अपने अहं की तुष्टि के लिए निरंतर युद्धों में लिप्त रहते थे। कवियों ने भी उनकी शौर्यगाथा का वीररसात्मक वर्णन किया। इसी क्रम में राष्ट्रीयता का विकास हुआ, परंतु इस क्षुद्र राष्ट्रीयता की भावना ने राष्ट्र को बहुधा विखंडित कर दिया तो कहीं अखंड भारत के गठन की कामना का भी स्फुरण हुआ। कुल मिलाकर आलोच्य कालखंड में भक्ति, नीति व वीरकाव्यों की त्रिधारा ने समस्त लोक को आप्लावित कर लिया था। इसके इतर रीतिकाल में गद्य साहित्य का भी विकास होने लगा।

हिन्दी काव्य का उदय धार्मिक, आध्यात्मिक अनुभवों के रूप में हुआ, जिसका महती उद्देश्य जन-जन तक आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करना था। इस परंपरा का विकास सिद्धों, नाथों व भक्तिकालीन काव्य से हुआ। परंतु आध्यात्मिकता में रुचि रखने वाले लोगों के बीच ही इसका आदर था, इसका प्रभाव इस काल में सीमित ही रहा। इनके काव्य में केवल आध्यात्मिक पिपासा को शांत करने के तत्त्व ही मिलते हैं साथ ही व्यक्ति को धर्मपूर्ण व सदाचारी जीवन के लिए प्रस्तुत करने के साधन उपस्थित थे। परंतु इस काव्य में सौंदर्य बुभुक्षु मनस् की तृषा निवारण के आयाम न थे। और न ही उन्होंने इस विषय में कोई प्रयत्न भी नहीं किया। सूफी संतों ने भारत में प्रचलित लोक-कथाओं को काव्यिक रूप देकर प्रेमतत्त्व के माध्यम से आध्यात्म संघान का प्रयत्न किया। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप राम और कृष्ण के अशेष प्रेमकाव्यों की रचना भी हुई। तत्कालीन संत काव्य परंपरा में यारी साहब, दरिया साहब, जगजीवन दास, पलटू साहब, चरनदास, शिवनारायण, तुलसी साहब के अतिरिक्त सिक्खों के नवें गुरु, गुरु तेगबहादुर की रचनाएँ ली जा सकती हैं।[12]

इसके अतिरिक्त रीतिकाल में लिखित सूफी काव्यों की भी धारा प्रबल रही। लौकिक प्रेम की अलौकिक दिव्यता के दर्शन के द्वारा सूफियों ने हिंदुओं और मुसलमानों के आपसी वैमनस्य को काफी कम किया। मुसलमान सूफी कवियों में कासिमशाह, नूर मुहम्मद और शेख निसार के नाम अग्रगण्य हैं। हिन्दू सूफी कवियों में सूरदास और दुखहरनदास आदि प्रसिद्ध कवि हैं। लौकिक प्रेमाख्यानों में बोधा, चतुर्भुजदास आदि के नाम लिए जा सकते हैं।[13]

रीतिकाल में लौकिक प्रेमपरक आख्यान काव्यों की भी प्रभूत रचना हुई। दामोदर कवि कृत 'माधवानल-कामकन्दला' जो दोहा चौपाई शैली में रचित है, उल्लेख्य कृति है। इसके अतिरिक्त हंस कवि कृत पाप पुण्य बेणि तिड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भा ठाणा। 'चंद्रकुमार की बात' में कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग हुआ है। सत्रहवीं शताब्दी में राजस्थान में अनेक प्रेम कथाओं (बातों) का सृजन हुआ जिनमें मोभल री बात, मलगिरि री बात, रावल लषणसेन री बात, सोहण री बात, बीझरै अहीर री बात अग्रगण्य हैं। अठारहवीं शताब्दी में भी प्रेमाख्यानों की परंपरा जारी रही और इनमें बोध (विरहवारीश), जनकुंज (उषाचरित्र), चतुर्भुजदास (मधुमालती), सेवाराम (नलदमयंती)आदि प्रमुख हैं। उन्नीसवीं शती में भी प्रेमाख्यान सृजन की अनिरुद्ध धारा प्रवाहित रही जिनमें जीवनदास नागर (उषा-अनिरुद्ध), मुरलीदास (उषा-अनिरुद्ध), रामदास (उषा-अनिरुद्ध) का उल्लेख आवश्यक है।[14]

उपर्युक्त प्रेमपरक काव्य ग्रंथों में लोक-प्रचलित या पौराणिक आख्यानों का आधार अवश्य है परंतु इनके चरित्रों में सूफियों के प्रेम की पीर की भावना भी झलकती है।

रामानंद की शिष्य परंपरा में राम भक्ति की धारा बही। इस धारा के कवियों ने राम को ही ब्रह्म मानकर काव्य रचना की। सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक रामभक्ति से संबंधित काव्यों की रचना हुई। इनमें सेनापति (कवित्त रत्नाकर), लालदास (अवधविलास) प्रमुख थे।

इनके अतिरिक्त सिक्खों के दशम गुरु, गुरु गोविंदसिंह (गोविंदरामायण), जानकीरसिकशरण (अवधसागर), भगवंत राय खीची (रामायण), जनकराजकिशोरीशरण (सीतारामसिद्धांत मुक्तावली, सीतारामसतरंगिणी, जानकीकरुणाभरण आदि), नवलसिंह (रामचंद्र विलास, आल्हा रामायण आदि)

विश्वनाथसिंह (रघुनंदन प्रामाणिक, आनंदरघुनंदन नाटक {यह हिन्दी का प्रथम नाटक माना जाता है} आनंदरामायण आदि) जैसे अनेक ज्ञात अज्ञात कवियों ने राम काव्यों की सृष्टि की।[15] रीतिकाल में रामभक्ति में मधुरा भक्ति का समावेश होने के कारण इसमें विलासिता और शृंगारिकता के भाव भी समन्वित हो गये। अत: भक्ति का मूल भाव भक्तिपूर्ण न रहकर लौकिक शृंगार की ओर झाँकता-सा दिखाई देता है। रीतिकालीन कवियों की भाँति रामभक्त कवियों में भी कलात्मक चामत्कारिकता दृष्टिगोचर होती है।

कृष्ण रस के आधार हैं, रीतिकाल के रसपूर्ण धरातल पर कृष्णकाव्य का भी विकास हुआ। इस काल में प्रबंधात्मक और मुक्तक दोनों रूपों में ही कृष्णकाव्य का विकास हुआ। प्रबंध कवियों ने गुमान मिश्र (कृष्णचंद्रिका), ब्रजवासी दास (ब्रजविलास, कृष्णायन) प्रमुख रहे। मुक्तक काव्य रचनाकाल में रूपरसिकदेव (नित्यविहार पदावली), नागरीदास (जुगलरसमाधुरी, फागविलास, रासरसलता आदि), अलबेली अलि, चाचा हितवृंदावन दास (लाड़ सागर, ब्रजप्रेमानंद सागर, जुगल सनेह पत्रिका आदि), भगवतरसिक (अनन्यनिश्चयात्मक ग्रंथ), पीतांबरदास (समय प्रबंध आदि) के काव्य प्रसिद्ध रहे हैं।[16] इन कवियों ने कृष्ण के कर्मयोगी स्वरूप को भुलाकर केवल उनके प्रेमसिक्त रूप का ही वर्णन किया है। यह एकांगी होने के कारण सामाजिकों के लिए आदर्श न बन सके। यहाँ शुद्धा माधुर्य के स्थान पर लौकिक वासना का आधिक्य ही परिलक्षित होने लगा।

रीतिकाल में नीतिकाव्यों की रचना की प्रवृत्ति प्रमुख रही। संस्कृत, बौद्धों, नाथों से होती हुई यह परंपरा रीतिकाल तक आई। नीतिविषयक काव्य स्रष्टाओं में वृंद, गिरिधर कविराय, बैताल, सम्मन, रामसहायदास, दीनदयाल गिरि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।[17] भक्तिकालीन काव्यों में भक्ति और नीति दोनों का ही समावेश था परंतु रीतिकालीन नीतिकाव्यों में शुद्ध नीति की व्याख्या की गई है। समाज-कल्याण और सांसारिक व्यावहारिकता की ज्ञान-प्राप्ति के दृष्टिकोण से नीतिविषयक काव्य परमोपयोगी सिद्ध हुए हैं। सामान्य जनता के लिए ये काव्य चरित्र निर्माण के लिए मार्ग प्रस्तुत करते हैं।

रीतिकाल में भी वीरकाव्य की उत्ताल तरंगों का उद्दाम वेग परिलक्षित होता है।

आदिकाल में वीरभाव, श्रृंगार के साहचर्य में प्रकट हुआ है। परंतु रीतिकाल में वीरकाव्य की अभिव्यक्ति स्वतंत्र रूप से हुई है। इनमें देश-भक्ति के विचारों की चमक भी दिखाई देती है। यह वीरकाव्य पूर्णत: ऐतिहासिक पात्र के जीवन चरित्र पर आधारित होने के कारण समाज के लिए भी प्रेरणास्पद हुए। वीरकाव्यों की रचना प्रबंध और मुक्त दोनों रूपों में है। इसके प्रमुख कवि हैं- लाल, पद्माकर, सूदन, खुमान, जोधराज, भूषण, बांकीदास, छत्रसाल आदि।[18]

रीतिकाल में ज्ञान, प्रेम, भक्ति, नीति तथा वीर काव्यों की अनिरुद्ध धारा का प्रवाह रहा। इस युग में अभिव्यंजना की दृष्टि से उत्तम काव्य की रचना हुई है और काव्य कलापक्ष का चमत्कारी विकास हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार यह रीतिकाव्य आध्यात्मवादी काव्य नहीं, इनमें ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है। इन्हें एक प्रकार से सेक्यूलर रचना मान सकते हैं। ऐसी रचनाएँ आरंभ में प्राकृत में लिखी जाने लगीं फिर इनकी धारा संस्कृत की ओर आई। यह पुरातन परंपरा ऋगवेद अथर्ववेद तथा बौद्धों की थेर-गाथा और थेरी गाथाओं से शुरू हुई। दरअसल इस प्रकार की ऐहिकता परक रचनाएँ अभीरों से संसर्ग के कारण रचित

हुई। इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से संस्कृत और प्राकृत साहित्य को प्रभावित किया, फलस्वरूप दोनों ही भाषाओं में स्वतंत्र ऐतिकतापरक फुटकल पद्यों का प्रचार हुआ।[19]

रीति कवियों के विविध वर्ग

हिन्दी के रीतिकाल के अंतर्गत संवत् 1700 से संवत 1900 तक का कालखंड अंतर्भुक्त होता है। इस कालांश में रचित सम्पूर्ण साहित्य को रीति साहित्य नहीं कहा जाता वरन् एक विशेष प्रवृत्ति और उद्देश्य के वशीभूत होकर सृजित काव्य ही रीतिकाव्य है। इसमें रस, अलंकार, ध्वनि, नायिका, भेद, नख-शिख, गुण आदि को लेकर रचित काव्य आते हैं। हिन्दी रीति साहित्य ने हिन्दी काव्यशास्त्र में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं दिया। कतिपय काव्यों को छोड़कर अन्य काव्य परंपरा निवर्हण के नाम पर लिखे गए हैं। काव्य सिद्धांतों को ध्यान में रखकर, लक्षण उदाहरण की शैली में लिखित काव्य का अपना महत्त्व है। रीतिकाल के इसी लेखन शैली के आधार पर कवियों को तीन भागों में विभक्त किया गया ये थे- रीतिबद्ध, रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध। रीतिमुक्त कवियों के विषय में किसी प्रकार का कोई विवाद नहीं परंतु रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के विषय में पर्याप्त मतभेद है। आचार्य विश्वनाथ मिश्र ने रीतिबद्ध कवियों की श्रेणी की व्याख्या करते हुए कहा है कि ये रचना लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होता है, परंतु डॉ. नागेन्द्र इस श्रेणी के कवियों को रीतिकार या आचार्य मानने के पक्षपाती हैं। उनके अनुसार इन कवियों ने काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए इन ग्रंथों की रचना की होगी। उनके अनुसार रीतिबद्ध कवि वे हैं जिन्होंने काव्य सिद्धांतों या लक्षणों के अनुसार काव्य रचना की है। इन्होंने रस, अलंकार, नायिका भेद आदि को ध्यान में रखा परंतु उनका प्रत्यक्ष निरूपण न कर उनके अनुसार उत्कृष्ट काव्य की रचना की। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस श्रेणी के कवियों को रीतिसिद्ध कवि घोषणा की है।

जो कवि रीति-निरुपण में ही मनोनिवेश करते रहे उन्हें रीतिबद्ध कवि कहते हैं। रीतिनिरूपण के आधार पर कवियों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं - क. सर्वांग निरूपक और ख. विशिष्टांग निरूपण।[20] सर्वांग निरूपक कवियों ने लक्षण-उदाहरण की शैली में काव्य के समस्त अंगों- काव्य-लक्षण, काव्य हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य भेद, काव्य की आत्मा, शब्द शक्ति, गुण, दोष, रीति, अलंकार और छंद आदि का विवेचन किया है। चिंतामणि, कुलपति, सुरति मिश्र, श्रीपति, देव, दास, जनराज आदि ऐसे ही आचार्य हैं। विशिष्टांग-निरूपकाचार्यों ने काव्य के प्रत्येक अंगों का विवेचन न कर कतिपय विशिष्ट अंगों का ही निरूपण किया। उन्होंने या तो समस्त रसों या केवल शृंगार के आधार पर नायक-नायिका के भेदोपभेदों का विवेचन किया है। इस कोटि के आचार्यों में तोष, याकूब खाँ, बेनी प्रबीन, पद्माकर मतिराम, भूषण, दलपतिराय, सेवादास आदि उल्लेखनीय कवि हैं।

रीतिसिद्ध कवियों में बिहारी, बेनी, कृष्णकवि, रसनिधि, नृपशंभु, नेवाज, हठी जी, रामसहायदास, पजनेस, द्विजदेव, सेनापति, वृंद, विक्रम जैसे कवियों के नामोल्लेख किए जा सकते हैं।

रीतिमुक्त काव्यधारा एक स्वच्छंद विचारों वाली धारा है। यह धारा रीति-परंपरा के साहित्यिक बंधनों और रूढ़ियों से मुक्त है। यह समसामयिक काव्य-प्रवृत्ति से शैली और कथ्य की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न थी। यह कवि अपने समय में प्रचलित साहित्यिक परंपराओं को छोड़कर अपने तीव्र भावों के मुक्तांगन में विचरण करते हैं और इतर कवियों या युगीन परिस्थितियों से सर्वथा निर्लिप्त रहे। अभिव्यक्ति या काव्य के स्तर पर यह काव्य व्यंजनाप्रधान होता है। उसमें सांकेतिकता होने के कारण रहस्यवादी पुट भी अवश्य मिल जाता है। इन कवियों ने इंद्रियानुभूति के स्थान पर हृदय के आवेगों को प्रश्रय दिया। ये दूसरों की अपेक्षा स्वानुभूति पर विशेष बल दिया है। रीति मुक्त काव्यधारा के विकास में घनानंद, ठाकुर, आलम, बोधा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

रीतिकाव्यों पर चर्यापदों का प्रभाव

भाव परक प्रभाव :

देखा जाए तो रीतिकालीन कवियों पर बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा परंतु बौद्ध तांत्रिकों में व्याप्त एक अंतर्धारा मौन रूप से प्रवाहित होती हुई इस वाङ्मय को प्रभावित करती रही। कतिपय विद्वानों के अनुसार राधा का विकास बौद्ध साहित्य से हुआ था। महायान, तंत्र के अनुसार बुद्ध, धर्म और संघ की सूक्ष्म अभिव्यक्ति ही क्रमशः उपाय, प्रज्ञा और बोधिसत्व के रूप में हुई। देखते ही देखते इनका मानवीकरण हो गया और प्रज्ञा, उपाय की शक्ति बन गई। क्योंकि 'प्रज्ञा' शब्द स्त्रीलिंग और 'उपाय' शब्द पुल्लिंग वाचक है। इन्हीं के संयोग से बोधिसत्व की उत्पत्ति हुई। प्रज्ञा और उपाय दोनों ही निष्काम और निष्क्रिय है। अतः साधकों में सकाम सक्रिय 'बोधिसत्व' की उपासना का बोलबाला था। प्रत्येक ध्यानी बुद्धों की शक्तियों की कल्पना की गई जैसे अमिताभ की शक्ति पाण्डुरा थी और उनके संयोग से अवलोकितेश्वर की उत्पत्ति हुई। इस समय 'एकाभिप्पायी' (एकाभिप्रायी) भिक्षु और भिक्षुणियों का दल उभरा जो एक साथ मिलकर साधना करने के पक्षपाती थे और इसके द्वारा निर्वाण की प्राप्ति भी आसानी से होने की घोषणा की गई। बाद में बौद्ध संघाराम व्याभिचार और अधर्म के केंद्र बन गए और ये बौद्ध भिक्षु सामाजिकों के अवज्ञा और असम्मान के शिकार बन गए। लोग इतने असहिष्णु हो गए कि वे भिक्षुओं के छाया स्पर्श से भी घृणा करने लगे। ऐसे में अनेक बौद्ध इस सामाजिक घृणा और अत्याचार से बचने के लिए या तो मुसलमान बन गए या फिर उन्होंने वैष्णव धर्म ग्रहण कर लिया।[21] वैष्णव बनने के बाद भी बौद्धों के देवता और देवियों का हिंदूकरण हुआ, कुछ देवता बौद्ध रूप में ही पूजित होते रहे जैसे तारा, वज्रवैरोचिनी, वज्रप्रस्तारिणी आदि। और कुछ देवताओं में परिवर्तन आया। भागवत में अनुपस्थित राधा का आविर्भाव इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। परंतु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी

कृति 'सूर साहित्य' में राधा के विकास की चर्चा करते हुए कहा है कि 'राधा' की भक्ति का नया रूप दक्षिण से आया है। राधा आभीर जाति की प्रेम देवी रही होगी जिसका संबंध बाल-कृष्ण से रहा होगा। या फिर राधा इसी देश की किसी आर्य-पूर्व जाति की प्रेम देवी रही होगी और बाद में उनका संबंध कृष्ण से जोड़ दिया होगा।[22] यह स्थिर है कि राधा अनार्य मूलीय थी और बाद में उसका संबंध कृष्ण से स्थापित हुआ पर क्या वह बौद्ध प्रज्ञा का रूपांतरण नहीं हो सकती? कृष्ण के दशावतारों में बुद्ध को भी एक अवतार मान लिया गया अत: बुद्ध की शक्ति का रूपांतरण या पर्यावसान राधा के रूप में हो तो कौन सी बड़ी बात है।

इधर बौद्ध तंत्रों में तारा के स्वभाव के अनुसार उसे श्वेत, नील, रक्त आदि रंगों से रंजित किया गया है। तारा के पाँच रंग माने गए हैं- रक्त, शुक्ल, पीत, हरित और नील। इन पांच रंगों का अपना-अपना वैशिष्ट्य है। तारा का नील वर्ण उसकी भयंकरता का द्योतक है, श्वेत रंग शांत भाव का प्रतीक है, पुष्टि कर्मों में तारा पीत वर्णा है, वश्य कर्मों में वे रक्त वर्णाभा और रक्षिका के रूप में वे हरित वर्णा हैं। केवल तारा ही नहीं पर्णशबरी, खदिरवनी तारा, वसुंधरा, कुरुकल्ला आदि देवियों का साधनमाला में विस्तृत वर्णन है। उनके कायिक और स्वभावजनित प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है।[23] तारा के विविध स्वरूपों और रंगों में उसके स्वभाव की व्यंजना स्पष्ट रूप से हुई है-

क. वज्रतारा/एकमुखी/**सीतवर्णा**/द्विभुजा दक्षे सवज्रम् कमंडलम् वामे सपाशम् कमलम् पद्मेसरलासना।

ख. अशोककांततारा/एकमुखा/चतुर्भुजा/**पीतवर्णा**/जपमाला/अशोकमंजरी धरा/कृतांजली मुद्रा।

ग. रत्नांजली तारा/एकमुखा/**रत्नोज्ज्वला**/द्विभुजा/पुष्प मुद्राङ्कितेन सनालपद्मे च विश्वकमंडलम् वामे नवरत्नज्वालिकाम्।

घ. प्रज्ञापारमिता-सत्वपर्यंकिनी देवी षोड़शाब्दवपुष्मती। **नीलवर्णा** महाभागा अक्षोभ्येन च मुद्रिता।[24]

वहीं गौड़ीय वैष्णवों ने भी राधा की विविध सखियों के स्वभाव के आधार पर उनके वस्त्रों के रंग निर्धारित किए हैं। उज्ज्वल नीलमणि में गोपियों के स्वभावानुसार उनके वस्त्राभूषण का वर्णन किया है। जैसे-

''कुछ गोपियों प्रखर स्वभाव की थीं, जैसे श्यामला, मंगला आदि। श्री राधा और पाली आदि कुछ गोपियों मध्यम और चंद्रावली आदि मृदु स्वभाव की थीं। इनमें भी स्वपक्षा, सुहृत्पक्षा, तटस्थपक्षा और प्रतिपक्षा ये चार भेद हैं। इनमें कुछ वामा हैं कुछ दक्षिणा हैं। श्रीमती राधा वामा-मध्या थीं, कभी नील वस्त्र धारण करती थीं, कभी लाल। ललिता प्रखरा थीं और मयूर-पुच्छ जैसे वैसे धारण करती थीं। विशाखा वामा-मध्य थीं और तारावली खचित वस्त्र पसंद करती थीं। इंदुलेखा वामा-प्रखरा और अरुणवस्त्रा थी। तुंग विद्या, दक्षिणा-प्रखरा और शुक्ल वस्त्रा थीं इत्यादि।[25]

बौद्धों के पहले देवियों के स्वभावानुसार विविध रंगों के वस्त्रों की बात पहले संभवत: नहीं आई थी। उज्ज्वल नीलमणि जैसे ग्रंथ रीतिकाल में नायिका भेद के आधार हैं और प्रकारांतर से यहाँ बौद्धों का अप्रयत्क्ष प्रभाव जड़ित है। यही लुप्त अंतर्धारा है जो बौद्ध वाङ्मय से बहती हुई रीतिकाल तक आई। बौद्ध चर्यापदों में भी विविध प्रकार की नायिकाओं का वर्णन है जैसे शुंडिनी, चंडाली, शबरी, ताम्बोलिनी इत्यादि पर यहाँ नायिकाओं की अंग चेष्टाओं या सौंदर्य की दृष्टिभंगी के स्थान पर आध्यात्मपरक इंगितों और रहस्यात्मक अर्थों पर अधिक बल दिए गए। इसी कारण चर्यापदों में नायिकाओं का आंगिक सौंदर्य तो नहीं झलक पाया परंतु उनकी विविध भंगिमाओं में नायिकाभेद के लक्षण अवश्य ही वर्तमान थे।

द्वितीयत: रीतिकाल के रीतिमुक्त कवि, काव्य रचना के शास्त्रीय तत्त्वों से दूर थे। वे स्वभावत: कवि थे उनको काव्यशास्त्र के गुण दोषों से कोई सरोकार न था। इसी प्रकार चर्याकारों की भी प्रवृत्ति थी। चर्याकार स्वभाव-कवि थे और उन्होंने अपने भावों को शब्दों में पिरोया। उनके भाव जितने तीक्ष्ण रूप में अभिव्यक्त होते हैं उसमें उनकी हृदय-दशा का अवलोकन स्पष्ट रूप से किया जा सकता है। जब कुक्कुरीपा किसी मृतवत्सा स्त्री के आर्तक्रंदन में स्वर मिलाकर अपने काव्य में कहते हैं-

हाँउ निरासी खमण भतारे

मोहोर बिगोआ कहण नजाइ॥

फेटलिउ गो माए अंतउड़ि चाहि।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥ (चर्या सं. 20)

तो क्या इसमें किसी स्त्री का आर्त स्वर प्रतिध्वनित नहीं होता यहाँ घनानंद के प्रेम की पीर का दृश्यपट भी उभरता है-

''घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एकते दूसरौं आँक नहीं।

तुम कौन धौ पाटी पढ़े हौ कहो मन लेतु पै देहु छटाँक नहीं॥''

दोनों ही पदों में कवियों ने अपने प्रिया या प्रिय से शिकायत की है। प्रथम पद में तो कुक्कुरी पाद ने कहा कि मैं जो चाहती थी वह यह नहीं है उसी के समकक्ष भाव ''मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं'' में मिलने लगता है। यहाँ तक चर्यापदों में संयोग और वियोग दोनों ही शृंगारों का वर्णन है पर हमें यह सदैव याद रखना चाहिए कि चर्यापदों में लौकिक दृश्यपट में अंकित आध्यात्मिक छवि है।

बिना राजाश्रय के अपने काव्य लेखन की परंपरा का आरंभ भी बौद्धों ने ही किया था। इन्होंने कोई प्रबंध काव्यों की रचना नहीं की बल्कि फुटकल रचनाओं के माध्यम से ही अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया। इसी प्रकार की प्रवृत्ति रीतिकाल के फुटकल रचनाकारों में स्पष्टतया उभरती है।[26]

आदिकाल की चर्चा के समय भी देखा गया था कि बौद्ध सिद्धों ने अपने साधनात्मक अनुभवों को उपदेश के रूप में कहा था और चर्यापदों में उन्होंने परवर्ती साधकों के लिए जीवन चर्या के विधिनिषेध छोड़े थे। यही परंपरा रीतिकाल के नीतिकाव्यों में भी परिलक्षित होती है। हालांकि दोनों ही प्रकार के उपदेशों में युगसापेक्ष कथ्य पर अवश्य ही भेद रहा होगा। जिस प्रकार जैनों की अभिव्यक्ति बौद्धों के निकट थी उस प्रकार बौद्धों और रीतिकवियों में नहीं मिलता क्योंकि उसके बीच करीब अर्द्धशताब्दी का व्यवधान है परंतु आदिकाल में उपदेश या नीतिकथन की जो परंपरा बौद्धों से शुरू हुई वह लुकते-छिपते, गिरते-पड़ते रीतिकाल तक अवश्य ही आ गई। युगीन परिस्थिति और सैद्धांतिक अवक्षय या वैचारिक दृष्टिभंगी के चलते दोनों के ही उपदेशों में विभेद अवश्य आता है परंतु सामाजिकों में नैतिक मूल्यों के गठन की जो प्रक्रिया बौद्धों ने शुरू की थी उसका विस्तार रीतिकाल तक हुआ।

भावात्मक दृष्टि से रीतिकवियों पर बौद्ध कवियों के प्रत्यक्ष प्रभाव का आकलन करना तो संभवपर नहीं है परंतु इतना अवश्य है कि बौद्ध सिद्धों ने अपने युग में जिस काव्य धारा को प्रवाहित किया था वह सरस्वती की भाँति अंतर्धारा के रूप में बहती हुई भी परवर्ती युगों को सिक्त करती रही जहाँ उसी काव्य परंपरा में एक दीर्घ कालांश तक काव्यरचना अविरल रूप में होती रही।

कला की दृष्टि से प्रभाव :

रीतिकाल में काव्यिक और छांदसिक स्तरों का विकास हुआ। रीतिकालीन काव्य को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य माना जा सकता है। इस कालांश में 'कला-कला के लिए' के भाव का उदय हुआ है। कवियों ने प्रकृत रूप में अपने मनोजगत के भावों को छांदसिक अभिव्यक्ति दी। भले ही इन कवियों को राजाश्रय में रहकर काव्य रचना करनी पड़ी परंतु तथ्य यह है कि उनके भावों और कथ्य में शक्ति अवश्य थी। ''लीक छाड़ि तीनों चले कवि, शेर,सपूत'' की धारणा यहाँ किस हद तक फलवती हुई यह कह पाना तो मुश्किल है पर यहाँ के हरेक कवि के शिल्प में मौलिकता के निदर्शन अवश्य ही उपस्थित हैं।

बौद्धों ने हिंदी में दोहा इत्यादि छंदों का आरंभ किया था। हाल की 'गाह सतसई' (गाथासप्तशती) में दोहे तो मिलते हैं पर उनकी भाषा हिन्दी की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक निकट है। इसी कारण सरहपाद का दोहाकोष ही हिन्दी के निकट माना जा रहा है। हाल के गाथा के दोहों का अधिकांश प्रक्षिप्त भी माना जा रहा है परंतु युग परिवर्तन के एक सुदीर्घ व्यवधान के कारण अवांछित तत्त्वों का समावेश हो जाना को आश्चर्यकर विषय नहीं है। वैसे सतसई या सप्तशती की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। 'श्रीमद्भागवद्गीता,' दुर्गा सप्तशती आदि ग्रंथों में भी सात सौ श्लोकों का समाहार है उसी का विकास अपभ्रंश से होकर हिन्दी में हुआ। सिद्ध कवियों ने दोहाकोषों के माध्यम से अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति शिष्यों और सामाजिकों के समक्ष रखी। सिद्ध सरहपाद का दोहाकोश, काण्हपा का दोहाकोश, तिलोपा का दोहाकोश, बीस दोहों से युक्त सरहपा का खंडित दोहाकोश आदि के माध्यम से उन्होंने अपने विचार अभिव्यंजित किए। यह अवश्य देखा जा सकता है कि दोहाकोशों के माध्यम से विचारों को अभिव्यक्त करने का सशक्त उपाय खोजा। गाहा सतसई के दोहों में प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिकों की रसमयी क्रीड़ाएँ, अहीर और अहीरिनों की प्रेमगाथाएँ, ग्रामवधूटियाँ की शृंगार

चेष्टाएँ, विविध ऋतुओं के भावोत्तेजन आदि के चित्र हैं। संस्कृत साहित्य से इस काव्य के कथ्य का भाव पूर्णत: भिन्न है। बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ भी इस प्रकार की रचनाओं से मेल नहीं खाती क्योंकि उनमें लौकिक शृंगारिक रति के स्थान पर अलौकिक भावों की प्रतिस्थापना हुई है। रीतिकाल तक आते-आते इन दोहों का कथ्य बदलकर पुन: लौकिक शृंगार और नायिका के अंगयष्टि का सुंदर वर्णन रह गया है। कहते हैं कि बिहारी का काव्य भी गाहा सतसई से प्रेरित था।[27] पर यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में रीतिकाल के कवियों ने दोहों के प्रयोग की परंपरा का निर्वहण मात्र किया है।

सिद्धों ने काव्य रचना की और मानो स्वत: उनमें छंद की शास्त्रीय वृत्ति का समावेश हो गया अन्यथा इनमें से कितनों को काव्यशास्त्र का ज्ञान था यह विचारणीय विषय है। यहाँ तक आते-आते यह अवश्य मान लेना पड़ेगा कि रीतिकालीन कवियों पर चर्यापदों या बौद्ध साहित्य का कोई विशेष कलापाक्षिक प्रभाव नहीं पड़ा। पद रचना की शैली भारतीय साहित्य में अतीव प्राचीन है उसी शैली का प्रयोग रीति कवियों ने भी किया है। पद रचना की शैली कवियों को विरासत में मिली थी उसमें चर्यापदों (आश्चर्य चर्याचय) का कोई प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता।

किंबहुना यह अवश्य ही मान्य है कि रीतिकालीन काव्य पर चर्यापदों का यत्किंचित भावात्मक प्रभाव पड़ा है, विशेषकर नायिका भेद की परंपरा हालांकि संस्कृत साहित्य में भी थी परंतु मूलत: पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी एवं हस्तिनी के रूप में ही उनका विभेदीकरण हुआ था। संभवत: बौद्ध युग के बाद ही उक्त नायिकाओं का वर्णन किया गया जैसे बाला, मध्या, प्रौढ़ा, शांता, मध्यमा, प्रखरा, प्रोषित पतिका, प्रोषितभर्तृका, शुक्लाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, मानिनी, वामा, दक्षिणा, जल विस्मृता आदि। हालांकि यह कहना गलत होगा कि बौद्ध वाङ्मय में इन समस्त नायिकाओं का उल्लेख हुआ है परंतु बौद्धों ने पहली बार साधनात्मक पक्ष में

गात्रवर्ण के प्रयोग करते हुए देवी या नायिकाओं का वर्णन किया था। संभवत: साधनमाला के लेखन के पहले से ही यह परंपरा शुरू हो गई तब जाकर साधनमाला, हेवज्रतंत्र जैसे ग्रंथों की रचना हुई होगी। उसी के बाद व्यवस्थित साधनाओं एवं अभिषेक आदि के क्रम शुरू हुए होंगे। यदि हम नायिका भेद के क्रम की शुरुआत बौद्धों से मान भी लें तो किसी प्रकार का अन्याय न होगा। बौद्ध काव्यों को तिब्बती या अभारतीय मानने वालों के लिए यह अवश्य कहा जा सकेगा कि तिब्बत में आरंभिक रूप में केवल 'शामा धर्म (Samanism) का प्रचार था। बौद्ध धर्म अपने विकसित रूप में तिब्बत पहुँचा और उस कालांश में बौद्ध देवताओं को तिब्बती लोकदेवताओं के साथ अच्छा खासा युद्ध करना पड़ा।[28] बौद्ध धर्म भारत में विकसित होकर तिब्बत पहुँचा और वहीं के लोकधर्म के साथ सम्मिश्रित होने के बाद एक नव्य रूप में नेपाल के रास्ते भारत पहुँचा। उसी कालांश में भारत में आदिकालीन साहित्य की रचना हो रही थी। यह सहज ही अनुमेय है कि दोनों ही साहित्यों ने एक-दूसरे को गहन से गहनतर रूप में प्रभावान्वित किया होगा। इसी के फलस्वरूप दोनों ही साहित्यों ने एक-दूसरे से अनेक कुछ आदान-प्रदान किया होगा।

रीतिकालीन कवियों में पड़े बौद्ध प्रभाव का अन्वेषण करने के क्रम में अनेकश: कवियों का विश्लेषण किया गया। तत्त्वत: जिन कवियों की कथन भंगिमा बौद्धों के साथ मेल खाती है यहाँ उन्हीं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। भले ही प्रत्यक्ष रूप में इनमें बौद्ध प्रभाव परिलक्षित न हो तथापि एक पूर्वापर परंपरा को मानने के कारण इनमें भी अनायास रूप से ही बौद्धों के लुप्त सूत्र नजर आ ही जाते हैं।

चर्यापदों का मतिराम पर प्रभाव

शृंगार रस को नवरसों में श्रेष्ठ मानकर उसका सम्यक विवेचन करने वाले कवियों में मतिराम का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। इनका जन्म 1604 ई. के आसपास उत्तर प्रदेश के जिला फतेहपुर के बनपुर नामक स्थान में हुआ था तथा इनके पिता का नाम विश्वनाथ त्रिपाठी था।[29] ये सम्राट जहांगीर, बूंदी नरेश राव भावसिंह हाड़ा, कमायूँ-नरेश ज्ञानचंद, बुंलेखंड-स्थित श्रीनगर नरेश स्वरूपसिंह बुंदेला आदि अनेक राजाओं के आश्रय में रहे। इनके द्वारा रचित ये आठ ग्रंथ कहे जाते हैं- फूलमंजरी, लक्षण शृंगार, साहित्यसार, रसराज, ललितललाम, सतसई, अलंकार पंचाशिका और वृत्तकौमुदी।[30] इनमें लक्षणशृंगार और साहित्यसार आज उपलब्ध नहीं।

कतिपय विद्वानों के अनुसार मतिराम का जन्मस्थान तिकवाँपुर है। इसके पीछे किसी प्रकार का कोई ऐतिहासिक तथ्य तो प्राप्त नहीं होता परंतु स्वयं कवि के कुछ अंत: साक्ष्य परक कविता के आधार पर यह विश्वास कर लिया जाता है।[31] ये चिंतामणि और भूषण के भाई थे।[32]

इनका जन्मकाल भी काफी विवादस्पद है शिव सिंह सरोज में उनका जन्मकाल संवत 1783 वि. माना गाया है। मिश्रबंधु हिन्दी नवरत्न में भूषण से छोटे होने के कारण उनका जन्मकाल 1696 वि. माना है। मिश्रबंधुओं ने ही आगे चलकर संवत 1674 वि. को उनका जन्मवर्ष ठहराया। हिन्ही के हस्तलिखित ग्रंथों के संक्षिप्त विवरण में पंडित भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने उनका जन्मकाल 1664 वि. निर्धारित किया है। आगे चलकर दीक्षित जी अपने भूषण संबंधी ग्रंथ भूषण-विमर्श में मतिराम का जन्मकाल सं 1630 वि. के आसपास मानते हैं। केवल यही नहीं उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि मतिराम नामक दो कवि हुए हैं। उनेक अनुसार प्रथम मतिराम, ललितललाम , रसराज आदि ग्रंथ के निर्माता हैं और उनका समय अधिक से अधिक 1635 से लेकर 1725 वि. तक निर्धारित होता है।[33]

कुछ विद्वान मतिराम की अन्य कृतियों के सामने फूलमंजरी को महत्त्वहीन मानते हुए उसे मतिराम की कृति नहीं मानते। उनके अनुसार कवित्वशक्ति की दृष्टि से यह रचना उत्कर्षहीन है और मतिराम की प्रौढ़ कवित्वशक्ति का उसमें अभाव है।[34] पर यह मतिराम की प्रथम कृति मानी जाती है जिसका प्रणयण तब किया जब उनकी आयु 15-16 की रही होगी।[35]

हालांकि रीतिकाल में बौद्ध प्रभाव इतना परिलक्षित नहीं होता, इसका सबसे बड़ा कारण है कि कविगण राजाश्रय ग्रहण करने के कारण अपनी मूल अभिव्यक्ति से हट गए। केवल यही नहीं रीतिकाल वह समय था जब पुरातन भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों की नदी अंत:सलिला बन गई थी। केवल राजाओं के इशारों से ही कविगण अपनी कविताएँ रचते थे। उनका श्रेष्ठत्व, आशु कवि होने या राजाओं को क्षणिक आनंद से परिपूर्ण कर देने के आधार पर निर्धारित किया जाता था। अत: कवियों में अपनी संस्कृति से जुड़े रहने का अवकाश नहीं था।

मतिराम के काव्यों को देखने के बाद वहाँ मुझे सविशेष बौद्ध प्रभाव नजर नहीं आया। मात्र मतिराम के रसराज और सतसई में कुछ सूत्र मिल पाए जिनसे हम उसमें पुरातन बौद्ध प्रभाव की झलक देख सकते हैं।

रसराज के मंगलाचरण में मतिराम ने कहा-

ध्वावैं सुरासुर-सिद्ध समाज महेसहु आदि महामुनि ज्ञानी। जोग में जंत्र मैं मंत्र मैं तंत्र मैं गावैं सदा श्रुति सेष भवानी॥

संकट भाजन आनन की दुति पूरन दंड उदंड सो जानी।

ध्याय सदा पदपंकज को मतिराम तबै रसराज बखानी॥1॥[36]

इस पद में मतिराम ने 'सिद्ध समाज' के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है। उल्लेख्य है कि वह बौद्ध सिद्ध ही थे जिन्होंने अपने समाज का गठन किया था उसके बाद ही सिद्धों के देखा देखी

नाथों ने समाज बनाया था। उसके बाद अन्य हिन्दुओं में संप्रदाय या समाज गठन की परंपरा चल पड़ी। बौद्धों में सर्वप्रथम संघ की स्थापना की और बुद्ध, धम्म (धर्म) और संघ नाम से त्रिरत्न उभरे। बुद्ध ने प्रथम बार धर्म की एकान्तिक प्रवृत्ति को छोड़कर उसे लोकोन्मुखी बनाया।

आगे मतिराम ने योग, यंत्र, मंत्र व तंत्र की अधिष्ठात्री भवानी को स्मरण किया। अर्थात् उस समय तंत्र जैसी क्रिया का प्रभाव लोक में स्पष्ट रूप में पड़ना शुरू हो गया। इस तंत्र की शुरूआत बौद्धों में हुई। कुल मिलाकर इस छंद में बौद्ध प्रभाव तो देखा नहीं जा सकता परंतु बौद्धों के प्रभावयुक्त प्रारंभिक सूत्र अवश्य ही पकड़े जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त मतिराम ने अपने रसराज में ही 'अधम नायिका

लक्षण' के विवेचन में कहा है-

कवि मतिराम कामरूप घनस्याम लाल

तेरी नैनकोर ओर चाहैं इकटक री।

हा हा कै निहारेहूँ न हेरति हरिन नैनी

काहे की करत हठ हारिल की लकरी॥ 235॥[37]

यहाँ पर मतिराम ने कृष्ण को कामरूप कहा है। यहाँ कामरूप के अलग अर्थ लिए जा सकते हैं जैसे कामदेव के समान रूप वाले अपनी कामना के अनुसार रूप धारण करने वाले 'या महासुख के आधार स्वरूप। यहाँ जिस अर्थ में कामरूप का उल्लेख आया है लगभग उसी पर्याय में चर्यापदों में भी कामरूप या कामरू की बात की गई है। चर्याकार के अनुसार दिवस के समय लोकदृष्टि में सुरतबंध की प्रतिज्ञाधारण करने वाले योगी का मन चंचल हो उठा है और रात को उसमें काम की आकांक्षा जागृत हो उठती है-

दिवसइ बहुड़ी काउइ डरे भाअ।

राति भइले कामरु जाअ॥ (चर्या सं-2)

मतिराम ने अपने सतसई में कामदेव के लिए 'मार' शब्द का प्रयोग किया है। उल्लेख्य है कि बौद्ध धर्म में मार की कल्पना साधना के बाधक तत्त्व के रूप में हुई है। यहाँ तक कि बुद्ध को भी पथभ्रष्ट करने के लिए 'मार' ने अपने पुत्र और पुत्रियों के साथ उनपर आक्रमण किया था। गौर से देखें तो मार और उसका परिवार स्थूल होने के स्थान पर मन की दुर्भावना या दुर्बलताओं का प्रतीक अधिक प्रतीत होता है। 'मार' शब्द 'स्मर' से बना है। स्मर शब्द की टूटकर मार बन गया है। मार शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम बौद्धों में ही मिलता है। हालांकि मतिराम में मार शब्द का प्रयोग शुद्ध रूप से कामदेव को चित्रित करने के लिए किया है। चर्यापदों में भी मार शब्द का प्रयोग हुआ है जबकि वहाँ उल्लेखित मार का स्थान इतना अच्छा नहीं है कथन का तात्पर्य यह है कि चर्यापदों में मार के प्रति कोई स्वच्छ

दृष्टि नहीं रखी गई है। मतिराम के द्वारा उल्लेखित मार के चित्र को एकबार देख लें-

क्यों न फिरै सब जग मैं करत दिगबिजै मार।

जाके दृग सावंत सर कुवलय जीतनवार॥ 3238॥[38]

हरिन रूप बिरहीन कौ। जलद जाल बरगाइ।

बाँधि बाँधि बाननि बधत मार बधक सम आइ॥ 634॥[39]

वहीं चर्यापदों में भी मार का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है- तिनिएँ पाटे लागेलि रे अणह कसम घण गाजइ।

ता सुनि मार भयंकर रे सअ मण्डल सएल भाजइ॥

मातेल चीए गअन्दा धाबाइ।

निरन्तर गअण्न्त तुसैँ धोलइ। (चर्या सं. 16)

इस पद में महीधरपा ने मार को भयंकर कहा है क्योंकि मार व्यक्ति को प्रलोभन दिखाकर उसके मूल लक्ष्य से दूर कर देता है। 'मार भयंकर' की घोषणा से संसार के भय स्वरूप स्कंध धातु आदि विकल्पजात दुख क्लेश प्रभृति को समझाया है। बौद्ध सिद्ध प्रेम, आकर्षण जैसे शब्दों को माया मानते थे। इसी कारण वे इस प्रकार के भावों को डोम्बी या चण्डाली प्राणायामों से ध्वस्त कर साधना में अग्रसर होकर शून्यताबोध करते थे।[40] साधना के क्षेत्र में जिस मार को साधक उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे रीतिकाल के कवियों ने उसी को विशद प्रश्रय दिया।

गुरु की महत्ता एक ऐसा विषय रहा है जिसको सभी ने समान रूप से प्रश्रय दिया। बौद्धों और हिन्दुओं ने गुरु के पद को ईश्वरत्व तक पहुँचा दिया। यदि समस्त पूर्वाग्रह छोड़कर देखें तो ज्ञात होगा कि बौद्धों ने ही अपनी साधना को सर्वप्रथम एक निश्चित दिशा दी थी। हिन्दुओं के विविध मतों और संप्रदायों के कारण एक सुनिश्चित दिशा देना काफी परेशानी की बात थी। अत: हिन्दू धर्म बौद्धों के बाद सुस्थिर हुआ होगा। इसी कारण गुरु की महत्ता का विषय बौद्ध मूलीय था जिसे बाद के हिंदुओं ने भी ग्रहण किया। मतिराम ने लिखा-

सुनत सदा गुरुवचन हित रहत बिबुध गन साथ।

भोगनाथ यह जानियत सदा भूमि सुरनाथ।। 692 ॥[41]

यहाँ मतिराम ने गुरु के हित वचनों का पालन करने के लिए राजा भोगनाथ की प्रशंसा की है। यह लगभग स्पष्ट है कि गरु हितवचन ही कहते हैं अत: उसका अनुपालन करना ही श्रेयष्कर है। चर्यापदों में भी बौद्धों ने गुरु की सत्ता को सर्वोपरि मानकर उनका उल्लेख किया है-

थिर करि महा सुह परिमान।

लुइ भणइ गुर पुच्छिअ जान॥ (चर्या सं. 1)

× × ×

तब से मुषा उञ्चल पाञ्चल।

सद्गुरु बोहे करिह सो णिच्चल॥ (चर्या सं. 21)

चर्याकारों का कथन यह है कि गुरु के अनुभवों से ही शिष्य सीखता है अत: गुरु की बात मानना आवश्यक है।

मतिराम ने शृंगार वर्णन से अपने थकित मन को विश्राम देने के लिए भक्ति का आश्रय लिया है। उनकी एकनिष्ठ भक्ति का परिज्ञान उनके दोहों से होता है उन्होंने अपनी सतसई में केवल अपने लिए ही नहीं वरन् राजा भोगनाथ के लिए भी आशीर्वाद की याचना की है। मतिराम ने अपनी आस्था पूरी तरह से कृष्ण या राम के प्रति व्यक्त की है। भक्तिकाल के बाद लोगों में एकेश्वरवादी भावना का प्रसरण होता गया। यह एकेश्वरवादी स्वर भी सम्भवत: बौद्धों की ही देन है। मतिराम ने कहा कि

करौ कोटि अपराध तुम वाके हिय न रोष।

नाह सनेह समुद्र में बूड़ि जात सब दोष॥665॥[42]

× × ×

मेरी मति में राम हैं कबि मेरे मतिराम।

चित मेरो आराम में, चित्त मेरे आराम॥ 702॥[43]

× × ×

सेवक सेवा के सुनैं सेवा देव अनेक।

दीनबंधु हरि जगत है दीन बंधु हर एक ॥ 457 ॥[44]

× × ×

अधम अजामिल आदि जे हाँ तिनको हौं राउ।

मोहू पर कीजै मया कान्ह दया दरियाउ ॥ 535 ॥[45]

इसी प्रकार की भावोच्छल उक्तियाँ चर्यापदों में भी देखी जा सकती है। जहाँ पर सिद्धों ने तथागत और बोधिसत्वों के प्रति अपनी एक निष्ठा व्यक्त की है। उनके अनुसार यदि बोधिसत्वों की कृपा मिल जाए तो और किसी अन्य देवता की आवश्यकता नहीं रह जा सकती।

हेरि से काह्नि णिअड़ी जिनउर बट्टइ।

भणइ काह्न मो हिअहि नपइसइ॥ (चर्या सं. 7)

× × ×

दशबल रअण हरिअ दशदिसैं।

(अ) विद्या करि दमकुँ अकिलेसे॥ (चर्या सं. 9)

× × ×

फीटउ मादेसि रे ठाकुर।

उआरि उएसँ काह्न णिअड़ जिनउर॥ (चर्या सं. 12)

× × ×

तिशरण णावी किअ अठकमारी।

निअ देह करुणा शूनमे हेरी॥.....

पञ्चतथागत किअ केडुआल।

बाहअ काअ काह्निल माआजाल॥ (चर्या सं. 13)

सिद्धों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि त्रिरत्नों के होते हुए अष्ट सिद्धियों की कामना क्यों की जाए। पंचतथागतों के होते हुए दूसरे की क्या आवश्यकता ? मन में व्याप्त मायाजाल को देह की क्रिया कलापों द्वारा ही ध्वंस करना पड़ेगा। इस रूप में यदि सिद्धों को परखें तो पता चलेगा कि उन्होंने अपने भक्ति-सिद्धांतों के माध्यम से एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा कर दी थी। उल्लेख्य है कि बौद्धों में भी देवताओं की बहुलता है परंतु वे जिस देवता के मंत्र में दीक्षित होते हैं मात्र उसी की आराधना करते हैं और सर्वोपरि तथ्य यह है कि उनकी निष्ठा केवल बुद्ध में ही होती है किसी और पर नहीं। उसी की प्रतीती मतिराम के दोहों में होती है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है अत: मतिराम की कृतियों में भी शृंगारेतर व्यंजनाओं में समाज का चित्रण हुआ है। स्त्री का दुख और गरीब का क्रंदनस्वर सदैव ही कला के विषय रहे हैं। कवि मतिराम ने भी इसी प्रकार के कुछ चित्र उभारे हैं जिसमें एक स्त्री की विडम्बना और एक गरीब की पुकार सुनाई देती है। कवि के इन दोहों से रीतिकालीन कवियों पर समाज-विमुख होने का आक्षेप सहज ही दूर हो जाता है-

गुरुजन दूजे ब्याह कौं प्रतिदिन कहत रिसाइ।

पति की पति राखे बहू आपुन बाँझ कहाइ ॥9 ॥[46]

मातृत्व जो स्त्री के जीवन की सबसे बड़ी सफलता मानी जाती है। उसी से वह वंचित है परंतु स्वयं बाँझ कहलाकर भी वह अपने पति के पुरुषत्व की रक्षा को तत्पर रहती है। इसी प्रकार चर्यापदों में भी एक मृतवत्सा स्त्री की कहानी है जो अपने पति से निराश है। उसे प्रतीत होता है कि उसने जो चाहा था उसे जीवन में वह नहीं मिला-

हाँउ निरासी खमण भतारे।

मोहोर बिगोआ कहण नजाइ ॥

फेटलिउ गो मोए अन्तउड़ि चाहि।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥

पहिल बिआण मोर बासन पूड़ा।

नाड़ि बिआरन्ते सेव बापूड़ा॥

जाण जौवण मोर भइलेसि पूरा।

मूल नखलि बाप संघारा॥ (चर्या सं. 20)

मतिराम ने संस्कारहीन बटोहियों के उत्पात को देखा और उसे निषेध करने का प्रयास इस प्रकार किया-

निडर बटोही बाट में ऊखनि लेत उखारि।

अरे गरीब गँवार तैँ काहे करत उजारि॥ 48॥[47]

इस दोहे से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज किस प्रकार से दुर्दशाग्रस्त था। इसी प्रकार के दर्दुशाग्रस्त समाज का चित्रण सिद्धों में भी सम्यक् रूप से किया है-

टालत मोर घर नाहि पड़बेषी।

हड़ीत भात नाँहि निति आवेशी॥

बेग संसार बड्हिल जाअ।

दुहिल दुधु कि बेण्टे षामाअ॥ (चर्या सं. 33)

यहाँ एक ऐसा परिवार है जिसके रहने का स्थान नहीं, घर में चावल का एक दाना नहीं पर आने जाने वाले लगे रहते हैं। संसार भी वेग से बढ़ता जा रहा है। जिस प्रकार दुहा हुआ दूध फिर थन में समा नहीं सकता उसी प्रकार उनके संसार के झमेले भी बढ़ते ही जाते हैं। इसके माध्यम से सिद्ध ढेण्ढणपा ने कुछ और कहने का प्रयास किया है परंतु उन्होंने अपने कथ्य पर एक दुर्दशाग्रस्त

परिवार की स्थिति अवश्य ही स्पष्ट की है। बौद्ध सिद्ध लोकोत्तर चिंतन करते थे। उसी चिंतन को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने लौकिक बिंबों का प्रयोग किया है मूलत: चर्यापदों का उद्देश्य सामाजिक दुर्दशा के स्थान पर शून्यता दर्शन कराने का है अत: उन्होंने इन समाजपरक बिंबों के माध्यम से समाज की भयावहता को चित्रित किया है।

मतिराम और चर्यापदों के वर्णन साम्य की तुलना करने का एकमात्र उद्देश्य यही दिखाना था कि मतिराम में जो तत्त्व विद्यमान है उसकी एक पुरानी परंपरा आदिकाल से चली आ रही है जिसके खोये हुए सूत्र (Missing Link) मतिराम में भी विद्यमान है। हालांकि इसे प्रभाव कहने की अपेक्षा एक पूर्वापर संबंध कहना श्रेयष्कर होगा परंतु यह अवश्य ही माना जा सकता है कि सिद्धों के काव्य वैभव का प्रसरण लुकते छिपाते यत्किंचित रूप में मतिराम में उभर ही आते हैं।

केशवदास पर चर्यापदों का प्रभाव

केशवदास का जन्म 1555 ई. में और मृत्यु 1617 ई. के आसपास हुई थी।[48] हालांकि इनका जन्मकाल भक्तिकाल की अवधि में आता है परंतु केशव का परिगणन रीतिकालीन कवियों में होता है। इन्हीं से रीतिकाल की आलंकारिक या काव्य शास्त्र विवेचन की परंपरा की शुरुआत मानी जाती है। ओरछानरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह की सभा में इनका अपने पाण्डित्य के कारण अत्यधिक सम्मान था।[49] केशवदास पंडित अवश्य थे परंतु उनके काव्य के कतिपय स्थानों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें कवि का प्रवाहमय स्नेहिल हृदय नहीं मिला। कविता उनके लिए साधन नहीं वरन् साध्य बन गई थी। वे पंडित थे इसमें कोई द्विमत नहीं परंतु उनकी सौंदर्यपरक दृष्टि काव्यात्मक नहीं बौद्धिक थी। इनके द्वारा लिखे गए सात ग्रंथ मिलते हैं- कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंह चरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहांगीरजस चंद्रिका।[50]

केशवदास की ग्रंथवाली को देखने के बाद अंतत: ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दो कृतियों रामचंद्रिका और विज्ञानगीता में तंत्र और न्यूनाधिक रूप में चर्यापदों का प्रभाव है। रामचंद्रिका (1601) हिन्दी रामकाव्य के अंतर्गत एक प्रसिद्ध काव्यकृति है। यह प्रबंधकाव्य 39 प्रकाशों में विभक्त है। इसके अनेक प्रसंग प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक, अनर्घराघव, कादम्बरी और नैषधचरित से प्रभावित प्रतीत होते हैं।[51] प्रबंधात्मकता की दृष्टि से इसके अनेक कथा-प्रसंग विशृंखलित प्रतीत होते हैं, उनमें पारस्परिक क्रमबद्धता की कमी है। उन्होंने अनेक काव्योचित मार्मिक अंशों को भी अनदेखा कर दिया है। कवि की अलंकार प्रियता एवं शब्द-चमत्कार की प्रवृत्ति इस कृति में स्पष्टत: दिखाई देती है।[52]

रामचंद्रिका में सीता स्वयंवर के अवसर पर राम-लक्ष्मण के संवादक्रम में लक्ष्मण की उक्ति-

कै श्रोणित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।

यह ललित लाल कै धौं लसत दिग्भामिनी भाल को॥[53]

उक्त छंद में कवि ने रक्ताभ सूर्य की तुलना कापालिक के हाथों में स्थित रक्त रंजित सिर से की है। उल्लेख्य है कि इन कापालिकों की दुर्दान्त साधनाओं के विषय में चर्यापदों में भी उल्लेख मिलता है। प्रसंगक्रम से कापालिकों का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। बौद्धों में बुद्धकपाल की साधना और कापालिक मत का प्रवेश हो चुका था। चर्या संख्या 10 में स्वयं को 'निघिण काह्न कापाली जोई लाङ्ग' में काह्नपा की घोषणा हिन्दू तंत्रों के पूर्व बौद्ध गमों में इस मत के प्रभविष्णुता का संकेत करता है।

रामचंद्रिका में ही सीता स्वयंवर के अवसर पर विश्वामित्र द्वारा जनक का परिचय जिस प्रकार दिया गया वह बौद्ध चर्यागीतों में सविशेष महत्व रखता है-

केवल नामहि के भुवपाल कहावत है, भुव पालि न जाई।

भूपति की तुमहीं धरि देह विदेहन में कल कीरति गाई॥[54]

इस छंद की दूसरी अर्द्धाली को ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि यह तथ्य बौद्ध शून्यवाद के बहुत निकट है। सरहपाद ने कहा है कि इस जगत से ही अपने निर्वाण की सृष्टि करनी है। लोग अकारण ही स्वयं को बंधन में डालते हैं। जन्म जैसा है मृत्यु भी वैसी ही है। जीवितावस्था और मृत में कोई विशेष अंतर नहीं है–

अपणे रचि रचि भव निर्वाण।

मिछेँ लोअ बन्धावए अपणा।.....

..... जइसो जाम मरण बि तइसो।

जीवन्ते मइलेँ नाहि बिशेसो। (चर्या सं. 22)

कहने का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जीवन व मृत्यु में भेद करना छोड़ दे वही शून्यता की प्राप्ति कर सकता है वही देह रहते हुए विदेह बन सकता है। जनक राजा होकर भी उस सुखानुभूति से दूर रहे अर्थात् उन्होंने सहरपाद के वृत्तांतानुसार इस जगत में रहकर भी अपनी मुक्ति या निर्वाण का मार्ग खोज निकाला। जनक और बुद्ध दोनों के लिए ही विदेह शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

रामचंद्रिका के अंत की ओर एक घटना मिलती है जो इस प्रकार है– एक कुत्ते ने राम से एक ब्राह्मण की शिकायत करते हुए कहा कि ''उसने मुझे अकारण ही मारा। ब्राह्मण दरबार की शिकाय गया और कुत्ते को अकारण मारने का कारण पूछा तो ब्राह्मण ने बाताय कि मैं खाना खाने जा रहा था और यह कुत्ता बीच सड़क पर बैठा था इसी को क्षुब्ध होकर मैंने इसे ठोकर मार दी।'' राम के न्याय क्रम से ब्राह्मण दोषी पाया गया। अब अपराधी को दंड देना था पर क्या दंड दें ? किंकर्तव्यविमूढ़ होकर राम ने कुत्ते से ब्राह्मण के योग्य दंड के बारे में पूछा तो उसने बताया कि इसे कालिंजर मठ

का मठाधीश बना दें। मठाधीश बनकर यह इतने पाप करेगा कि इसकी अधोगति निश्चित है। कुत्ते ने आगे बताया कि वह भी उक्त मठ का अधीश था और तत्कालीन पापों के कारण श्वान योनि में आया-

एक कन्नोज हुतो मठधारी। देव चतुर्भुज को अधिकारी।

मंदिर कोउ बड़ो जब आवै। अंग भली रचनानि बनावै।

जा दिन केसव कोउ न आवै। ता दिन पालक तें न उठावै।

भेटनि लै बहुधा धन कीनो। नित्य करै बहु भोग नवीनो।[55]

तुलसी का मानस और मूल रामायण में खोजने पर यह घटना मुझे कहीं भी नहीं मिली। हिन्दी रामायण के संदर्भ में इसे मौलिक उद्‌भावना अवश्य मान सकते हैं परंतु संयोगवश इस प्रकार के एक दृश्यपट का वर्णन चर्यापद में भी मिलता है जिसमें मठ में आने वाले पंडितों की तुलना हिरन से की गई है और उसे दिन रात घेरे रहने वाले लोगों को शिकारी कहा गया है। सत्य यह है कि किसी बड़े साधु के आने पर मठ में दर्शनार्थियों की भीड़ लग जाती है। दर्शनार्थियों से मिलने वाले दान से मठ आर्थिक दृष्टि से सबल हो उठते हैं और उन दिनों मठागतों को अप्यायित करने के लिए विविध व्यंजन भी बनाए जाते हैं। अत: मठवासी योगियों के लिए ऐसे दिन उत्सवपूर्ण होते हैं और वे यह चाहते हैं कि वह पंडित और अधिक दिनों तक मठ में रह जाए। इस पद के माध्यम से भुसुकुपाद ने बौद्ध मठों में व्याप्त अस्वस्थ मानसिकता का चित्रण किया है-

काहैरि घिणि मेलि अच्छहु कीस।

बेढ़िल हाक पड़अ चौदीस॥

अपना मांसे हरिणा बेरी।

खणह नछाड़अ भुसुकु अहेरी।।

तिण न छुपइ हरिणा पिबइ न पाणी।

हरिणा हरिणिर निलअ नजाणी।

हरिणी बोलअ हरिणा सुण हरिआ तो।

ए बण छाड़ि होहु भन्तो॥

तरसन्ते हरिणार खुर न दीसअ।

भुसुकु भणइ मूढ़ा हिअहि ण पइसई॥ (चर्या सं. 6)

इस पद में परिव्राजक सिद्ध से यह कहा गया है किस पर सदय होकर तुम इस स्थान (मठ) में हो ? मठ के नियमों को कड़ाई से मनाने के लिए मठवासियों ने नवागत पर धीरे-धीरे प्रतिबंध लगाना शुरू कर दिया। जिस प्रकार हिरन का मांस ही उसका शत्रु है उसी प्रकार साधक भी अपनी प्रसिद्धि के कारण मठ में फँस जाता है। मठवासी नवागत को शिकारी की तरह घेरे रहते हैं। उसे अपनी साधना संगिनी के वासस्थान का पता नहीं रहता क्योंकि बौद्धमठ में साधक की संगिनी का प्रवेश निषिद्ध होता है, उसे अन्यत्र रखा जाता है जिसका पता साधक को नहीं होता।[56]

चर्याकारों ने मठों में व्याप्त विसंगतियों को जिस प्रकार व्यक्त किया संयोगवश उसी का चित्रण केशव ने भी किया। हालांकि यह कोई आश्चर्यकर संयोग नहीं था संभवत: यह तथ्य केशव को बौद्ध परंपरा से मिली होगी।

केशव कृत रतनबावनी में तत्कालीन पंचायत व्यवस्था के विषय में उल्लेख मिलता है। पंचों की न्यायप्रियता प्रसिद्ध थी और राजा भी उनके विश्वस्त न्याय का परिपालन करते थे। केशव ने कहा-

पंच कहैं सो कहिय पंच के कहत कहिज्जिय।

पंच लहैं तो लहिय पंच के लहत लहिज्जिय।[57]

यहाँ पंचायतन या पंच की संख्या काफी महत्त्व रखता है। पंच की परंपरा उसी समय बौद्धों में प्राप्त होती है। चर्यापदों में पंच तथागतों का उल्लेख मिलता है।

पञ्च तथागत किअ केडुआल।

बाहअ काअ काह्निल माआजाल॥ (चर्या सं. 13)

× × ×

हेरि से काह्नि णिअड़ी जिनउर बट्टइ।- (चर्या सं. 7)

प्रथमत: यह समझ लेना चाहिए कि बौद्धतंत्र के सिद्धार्थ गौतम बुद्ध और बौद्धतंत्र के प्रधान बुद्ध शाक्यमुनि दार्शनिक रूप से एक ही व्यक्ति नहीं है। उसी प्रकार ऐतिहासिक बुद्ध के पुत्र राहुल और बौद्धतंत्र के राहुल भी एक नहीं है। महायोगतंत्र ग्रंथ के अनुसार गौतम बुद्ध ने सिद्धि प्राप्त कर विजयी होने के बाद 'जेता' (जीन) नाम प्राप्त किया था। जीन के पुत्र राहुल बौद्धतंत्र के सर्वोच्च स्थान का अधिकारी है। वही वज्रसत्व या वैरोचन नाम से अभिहीत होता है।[58] वज्रसत्व या वैरोचन ही प्रथम तथागत हैं अन्य तथागतों के नाम हैं- अक्षोभ्य, अमिताभ, अमोघ सिद्धि और रत्नसंभव। इनमें वैरोचन मंडल के मध्य में, अक्षोभ-पूर्व, अमिताभ-पश्चिम, अमोघ सिद्धि-उत्तर और रत्नसंभव मंडल के दक्षिण में स्थित रहते हैं। पंरतु अलग-अलग कर्मों या कुलों के अनुसार इनकी दिशाओं में अंतर आ सकता है।[59] प्रत्येक बोधिसत्व या तथागत बुद्ध के मानस पुत्र होने के कारण एक-एक कुल के अधिपति होते हैं परंतु बुद्ध का औरसजात पुत्र होने के कारण राहुल (वज्रसत्व वैरोचन उच्चतम सिद्धि वज्रसिद्धि देने में सक्षम माने गए हैं।[60]

डॉ. प्रणव ज्योति डेका के अनुसार हिन्दू तंत्र की अपेक्षा बौद्ध तंत्रों में पूजनादिक की क्रिया पहले शुरू हुई थी। (साक्षात्कार) अत: इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यही बौद्ध प्रभाव बाद में शैवों और वैष्णवों ने ग्रहण किया है। शिव के पाँच मुख-तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात,

वामदेव और ईशान पंच तथागतों का ही विकसित रूप लगता है। उसी की छाया नजर आती है। उसी क्रम में सर्वपूजित पंच देवता- 'गणेशंचदिनेशंच वासुदेवंशिवंशिवा' भी इसी का क्रमवर्द्धित संस्करण प्रतीत होता है। संभवत: बौद्धों के पंच तथागतों से ही ग्राम पंचायत का विकास हुआ भी हो तो कोई आश्चर्यकर व्यापार नहीं है। पंचों के निर्माण काल में पंच तथागतों के साधर्म्य रूप को दिखाते हुए उनकी प्रतिष्ठा होना संभव है। उसी से यह विश्वास पनपा होगा कि पंच, परमेश्वर के प्रतिनिधि हैं।

केशव ने रसिक प्रिया में 'सुरति विचित्रा' शीर्षक एक छंद की रचना की थी जो इस प्रकार है-

केसौदास सबिलास मंदहास जुत अवलोकनि अलापनि का आनंद अपार है।

बहिरति सात पुनि अंत रति सात पुनि, रति बिपरीतनि को बिबिध बिचार है।

छूटि जात लाज जहाँ भूषन सुदेस के, टूटि जात हार सब मिटत सिंगार है।

कूजि-कूजि उठै रति कूजितनि सुनि खग, सोई तौ सुरत सखी और व्यवहार है।[61]

यदि लाज का छूटना, भूषण, हार का टूटना, जुड़े का खुलना और श्रृंगार का मिटना विपरीत रति का द्योतक है तो चर्यापदों में इसी प्रकार के एक दृश्य का वर्णन चर्यापद में है जिसमें ना-ना करके भी शबरी हार जाती है और शबर उस पर अपना आधिपत्य जमा लेता है, यथा-

उञ्चा उञ्चा पाबत तँहि बसइ सवरी बाली।

मोरङ्गी पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुञ्जरी माली॥

उमत सवरो पागल शवरो मा कर गुली गुहाड़ा तोहौरी।

णिअ घरिणी नामे सहज सुन्दारी॥.....

..... एकेली सवरी ए बण हिण्डइ कर्ण्ण कुंडल वज्रधारी॥

तिअ धात खात पड़िला सवरो महासुहे सेजि छाइली।

सवरो भुजगं णइरामणि दारी पेह्म रति पोहाइली॥ (चर्या सं. 28)

× × ×

तिअड्डा चापी जोइणि दे अङ्कवाली।

कमल कुलिश घाण्टे करहूँ बिआली॥

जोइणि तँइ बिणु खनहिँ न जीवनि।

तो मुह चुम्बी कमलरस पीबमि॥ (चर्या सं. 4)

यदि इन पंक्तियों को पता चलेगा कि हिन्दी में विपरीत रति का उल्लेख संभवत: सबसे पहले बौद्धों ने ही किया होगा। इसी से विकसित होकर परवर्ती काव्य में विपरीत रति का चित्रण होने लगा। इस प्रकार से ऐसा प्रतीत होता है मानो सिद्धों ने उक्त क्रिया का कोई नामकरण नहीं किया परंतु परवर्ती कवियों ने आचार को ग्रहण करने के साथ-साथ इसका नाम भी स्पष्ट कर दिया। अंतत: केशव की आध्यात्मिक रचना 'विज्ञान गीता' को देखने पर मुझे अत्यधिक संतोष मिला क्योंकि वहाँ न केवल बौद्ध प्रभाव ही परिलक्षित हुआ बल्कि कुछ बौद्ध किंवा हिंदू तांत्रिक आचारों के रूपान्तरण का भी सूक्ष्म रूप सामने आया। इसके विवेचन के लिए सर्वप्रथम हम विज्ञान गीता के मंगलाचरण सूचक पद को देखते हैं, यथा-

ज्योति अनादि अनंत अमित अद्‌भुत अरूप गुनि।

परमानंद पुहुमि प्रसिद्ध पूरन प्रकार पुनि।

निर्गुन सर्बग सर्बज्ञ सर्ब चित चिंतत चिद्‌घन।[62]

बौद्धों ने बुद्ध को शून्य स्वरूप माना है। शून्य ज्योति के रूप में भी उद्‌भासित होता है-

..... in the heart he contemplates a tongue of flame, like a bright and blazing butter lamp and in it he discrens the self Reality.[63]

कुल मिलाकर केशव ने निर्गुण ईश्वर के जिन वैशिष्ट्यों का उद्घाटन किया है उनका अधिकांश तत्त्व बौद्धों के ईश्वर चिंतन से मेल खाता है। हालांकि चर्यापदों में कहीं भी ईश्वर के निर्गुण रूप की व्याख्या नहीं हुई है परंतु जहाँ तक उनमें संकेत मिलते हैं वह शून्य तत्त्व के ही अन्वेषी प्रतीत होते हैं।

पहिलेँ तोड़िआ बड़िआ मराड़िइउ।

गअवरेँ तोलिया पाञ्चजणा घोलिउ।

मतिएँ ठाकुरक परिनिबित्ता।

अवस करिया भवबल जिता।- (चर्या सं. 12)

इस पद में कृष्णपाद ने सर्व प्रथम भृत्य खंड की साधना को तोड़ने का उपदेश दिया है क्योंकि इस प्रकार की साधना व्यक्ति को लोक से जोड़े रखती है। भृत्य खंड से आशय है-

Conscerning the Tantras belonging to the Male and Female Messengers and Servents of the Family, the Mahābala-dhāranī, the Vajraśrnkhala-tantra, the Vajratunda, the Vajralohatunda. The Mahābaladhārnī, While showing some cause for being palced the among the dhāranīs of the Warthful Deities of the Family, was classified by the older authorities in the cycle of the Male and Femal Messengers and Servants of the Family.[64]

कृष्णापाद आगे कहते हैं कि अक्षोभ्य की सहायता से पंचककुल योग पर आघात करो। मंत्र से उपास्य देवता का दमन करो। मैं जागतिक स्पृहाओं को दुर्बल बनाकर ही विजयी हुआ।

कुल मिलाकर देखें तो काह्नपाद समेत अन्य सिद्ध केवल उसी निर्गुण शून्यरूप के उपासक थे। केशव के पद में आए 'निर्वाण' की मूल सत्ता भी इदानीं बौद्धों की ही देन लगती है। परंतु योगाचार तंत्र में साधक देवता के अस्तित्व के साथ अपनी भी इयत्ता को खोकर शून्य की उपलब्धि करता है।[65]अत: योगाचार तंत्र तक आते आते निर्गुण ईश्वर भी शून्यरूप या अनस्तित्व में पर्यवसित हो जाता है। परंतु क्रिया व चर्या तंत्र में प्रदर्शित ईश्वर का रूप अस्तित्वहीन न होकर केशवदास के वर्णन की भाँति बन गया है।

विज्ञान गीता में ही केशव ने कहा है कि विवेक के द्वारा जब व्यक्ति मोह को तोड़ता है तो वह जीवन से मुक्त हो जाता है-

जब बिबेक हति मोह को होय प्रबोध सँजुक।

तबहीं जानौ जीव कों जग मैं जीवनमुक्त॥[66]

जीवन मुक्त होने के लिए मोह माया से मुक्ति का विधान बौद्धों ने भी दिया था। इसके कई उद्धरण चर्यापदों में निहित है-

सुख-दुखेतेँ निचित मरिआइ॥

एड़िएउ छान्दक बान्ध कारणक पाटेर आस।

सुन्नपाख भिड़ि लाहुरे पास॥ (चर्या सं.1)

× × ×

फाड्डिअ मोह तरु पटि जोड़िअ।

आदअ दिढ़ टाङ्गी निबाणे कोड़िअ॥

साङ्कमत चढ़िले दाहिण बाम मा होही। (चर्या सं.5)

ते तिनि ते तिनि तिनि हो भिन्ना।

भणइ काह्न भव परिच्छिन्ना॥ (चर्या सं.7)

× × ×

राग देश मोह लाइअ छार।

परम मोख लवए मुत्तिहार॥

मारिअ सासु ननद घरे साली।

माअ मारिआ काह्न भइअ कबाली॥ (चर्या सं.11)

× × ×

इनके अतिरिक्त भी इतर चर्यापदों में समकक्ष भाव की उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। अत: यह माना जा सकता है कि जीवन मुक्ति का जो विधान बौद्धों में मान्य था वह बाद में सर्वग्राह्य हो गया था। अत: उसे भी चर्यापदों का प्रभाव माना जा सकता है। समय के अंतराल में शब्दावली अवश्य बदल गए परंतु भाव यथावत् रहे।

विज्ञानगीता में केशवदास ने बौद्ध भिक्षुक का परिचय दिया। भिक्षुक स्वयं

भी अपने विषय या धर्म विषयक तथ्यों को उजागर करता है-

शांति

बुद्धागम यह जानियै सजनी भिक्षुक रूप।

सुनि लीजै कछु कहत है पुस्तक-हस्त बिरूप॥

भिक्षुक

हम दिव्य दृष्टि बिलोकहिँ सुख भुक्ति मुक्ति समान।

निज चित्त को मल ईरषा तजि दूरि ताहि सुजान।

कहि कौन को उपदेस है सर्बज्ञ सिद्धिहि जानि।

सरबज्ञबुद्ध कहा कहै बहु ग्रंथ ग्रंथनि मानि॥[67]

ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर हीनयानी

बौद्ध साधक का वर्णन किया गया है क्योंकि

हीनयानी या थेरावादी साधकगण कर्मवादी होते हैं। हालांकि कर्मवाद की स्वीकृति महायानियों में भी देखी जा सकती है पर यहाँ एक सरल साधना-पद्धति के विषय में कहा गया है। यदि वज्रयानी का ब्योरा आता तो निश्चित रूप से तंत्र या लोकोत्तर सिद्धियों की बात की जाती।

अंत : विज्ञान गीता में केशव ने एक रूपान्तरित तांत्रिक क्रिया का वर्णन किया है। हालांकि इसका वर्णन प्रतीक रूप में हुआ है परंतु बौद्धों के अनुत्तर तंत्र में इस क्रिया का विशेष महत्व है। पहले केशवकृत छंदों का उल्लेख करने के बाद तद्विषयक चर्चा करना श्रेयष्कर होगा-

शूद्र

वेद की पुरान पुंज हौ न मानिहौं सही।

राधिका कुमारिकाही नित्य स्याम बंदही।

तत्र कुंड मृत्तिका सु स्याम बंदनी कही॥ 37॥

नारीवेष

जो तू राधाकुंड की माटी मानत इष्ट।

तौ तू मेरो सिष्य ह्वै देखै बस्तु अदृष्ट ॥ 38 ॥

शूद्र

एक अद्‌भुत मंत्र तामहि साधत कोय।

नारीवेष

जो त्रिकोटि जपै सुमंत्रहि नारियै तब होय।

नारि ह्वै तब राधिका कृत कुंड माहिं अन्हाय।

राधिका सखि ह्वै मिलै तब स्यामसुंदर पाय॥ 89 ॥

कान मूंदि यह सुनतहीं भागी कहि कहि त्राहि।

श्रद्धा की आसा बँधी देखति ही उर दाहि॥ 90 ॥

शांति

नित्यबिहारि की मढ़ी त्रियगन देखि सिहाति।

एक पियति चरनोदकनि एक उगारनि खाति॥ 91 ॥

पुत्री दक्षिन की आई तजि कुल-तंत्र।

देउ कृपा करि याहि प्रभु नित्यबिहारी-मंत्र॥ 92 ॥

सेवैगी तुमकों सदन छोड़ि जु सबै विकल्प।

तन धन मन को प्रथमहि करवाए संकल्प॥ 93 ॥

सिखए मंदिर माँझ लै मोहन मंत्र विधान।

उन दीनी गुरु दक्षिना सधर अधर मधुपान॥ 94॥

इहि बिधि पाखंडीन के थलनि बिलोकि प्रकास।

बृंदा देवी पहँ गई बूझन केसवदास॥ 95॥[68]

अब इस पद का सांगोपांग वर्णन करने पर मुझे कुछ और ही रूप नजर आया। सर्वप्रथम 'शूद्र' की बात ली जाए, वह कहता है कि वह वेद या पुराण को नहीं मानता वह केवल राधिका कुमारिका और श्याम की बंदना करता है। प्रश्न यह उठता है कि वैष्णव धर्म क्या वेद बाह्य तत्त्वों से गठित है ? संभवत: नहीं, परंतु बौद्ध और चार्वाक ऐसे थे जो वेदों को नकारते थे। चार्वाकों ने तो यहाँ तक कह दिया था-

''वेदत्रयानां कर्तारौ भण्ड धूर्त निशाचरा:।''

विशेषकर बौद्ध वेदों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हुआ करते थे। स्वयं गौतम ने वैदिक धर्म का खंडन किया था यह तथ्य इतिहास प्रसिद्ध है। सनातन धर्म से उद्भूत वैष्णव धर्मावलम्बी वेदों को अमान्य किस प्रकार कर सकता है ? क्या वैष्णव धर्म में बौद्ध प्रभाव आ गया जिस कारण इस प्रकार का दृश्यपट उभरा होगा। विद्यापति के विश्लेषण क्रम में इस तथ्य का विवेचन किया जा चुका है कि बौद्ध उपाय और प्रज्ञा का पर्यावसान ही कृष्ण-राधा या रस, रति के रूप में हो चुका था। बंगाली सहजिया वैष्णवों में भी बौद्धों के समान ही यौगिक अभ्यास मिलते हैं साथ ही दोनों की मान्यताओं में भी ऐक्य देखा जा सकता है।[69] अत: यह एक प्रकार से निश्चित प्रतीत होता है कि केशव द्वारा वर्णित वैष्णव धर्म बौद्धों की ही स्खलित धारा रही होगी। द्वितीयत: वह व्यक्ति राधिका कुमारिका की आराधना करता है। दरअसल कुमारी पूजन का क्रम शाक्तों से आया है।

कुमारिका = कु + मारिका

अर्थात् 'कु' का नाश करने वाली। उसमें काम का संचरण नहीं होता और वह शुद्ध होती है। चर्यापदों के एक पद में मिलता है-

गङ्गा जउना माझेँरे बहइ नाइ।

तहिँ चुड़िली मातङ्गी पोइआ लीले पार करेइ॥ (चर्या सं -18)

इस पद में डोम्बीपाद कहते हैं कि गंगा (इड़ा) और यमुना (पिंगला) के बीच स्थित अवधूतीका (सुषुम्ना) में कोई स्रोत नहीं है। नियंत्रणहीन चंडाली वायु (मातंगी=जिसका नियंत्रण नहीं किया जा सकता) तू इसे पा कर।

अब सबसे आवश्यक बात यह है कि अवधूतीका नाड़ी से वायु न चलने के कारण उसे कुमारिका भी कहा गया है उसी को गोरखनाथ ने बाल विधवा कहा है।[70] उसी कारण कुमारी को 'स्वाधीन वल्लभा' भी कहा है। संभवत: राधिका कुमारिका की उपासना में सहजिया वैष्णवों का भी कोई तत्त्व-विशेष शामिल हो।

वह 'शूद्र' आगे कहता है कि उस कुण्ड की मृत्तिका राधा स्वरूप है। उल्लेख्य है कि महानिर्वाण तंत्र में देव प्रतिष्ठा क्रम में काम कुंड मृत्तिका के उपयोग की बात की गई है।[71] काम कुंड मृत्तिका, शुक्र को कहते हैं। चर्यापद में भी गुण्डरीपाद स्वयं को 'कुन्दुरे वीरा'[72] कहते हैं अर्थात् कई विद्वानों ने इसे सुरत योग या द्विइन्द्रिय योग बताया है।[73] श्यामारहस्यम् में देवी के पूजार्थ कुंडोद्भव, गोलोद्भव, स्वयंभू इत्यादि पाँच प्रकार के पुष्पों को अभीष्ट प्राप्ति के लिए ग्रहण करने का विधान मिलता है।[74] इन पुष्पों के नाम प्रतीक मात्र हैं दरअसल इसका रहस्य योग सिखोपनिषत् में खुलता है। वहाँ कहा गया है-

योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूक सन्निभम्।

रजो वसति जन्तूनां देवी तत्त्वं सावृतम्।[75]

अत: यह कुण्डोद्भव कुसुम स्त्री रज मात्र है। इसी को देवी तत्त्व कहा गया है। उल्लेख्य है कि कुण्ड, योनि का प्रतीक है और राधाकुण्ड निश्चित ही स्त्रैण शक्ति का प्रतीक होगा। डॉ. शशिभूषण दासगुप्त के अनुसार वैष्णव सहजिया संतों ने परकीया प्रेम के माध्यम से ईश भक्ति की थी। प्रत्येक सहजिया वैष्णव साधना में गति प्राप्त करने के लिए परकीया संबंध रखता है। यहाँ तक कि चैतन्य ने भी अपनी साधना संगिनियों के साथ मिलकर गुप्त साधनाओं के माध्यम से सिद्धि प्राप्ति की थी। श्री दासगुप्त के अनुसार बुद्ध ने भी अपनी साधना संगिनी गोपा के साथ सहज साधना की थी।[76]

यदि इस साधना का उत्स बौद्ध तंत्र रहा तो यह इस प्रकार है-

"Although it is states in the Tantras and authoritative texts that there is an initiation based on the Action seal (karma-Mudrā) of a concerte 'wisdom' (Vidyā), this means the intiation of 'jewel-like' individual among the candiates for the high goal of the Anuttara [tantra]. Here the guru with complete characteristics for recourse to the Action, seal with visualization of all the gods of the mandala, invites them and draws them into own body. Then he unites with the vidyā; and when the substance of drop [? semen] (bindurupabhuts), molten by the fire of great passion, falls into the 'lotus' (padma) of the 'Mother' (yum) and mixes with the red element (dhātu) of the 'Mother', he achieves there what to as "relative bodhichitta" mandala".

The procedure of conferring the initiation is as follows :

the red and and white element of the "Father-Mother' union are taken from the 'lotus' of the Mother with the ring fingers of the Father-Mother' and Placed on the tip of there own tongue (s).[77]

यदि सहजिया वैष्णवों ने बौद्धों की तरह ही क्रियाएँ की होंगी तो निश्चित रूप से साधना संगिनी के साथ मिलकर इसी प्रकार की क्रिया हुई होगी।

उल्लेख्य है कि उत्तर कौलिक तंत्र में भी उपर्युक्त साधना पद्धति पाई जाती है। महानिर्वाणतंत्रम्, वृहद्तंत्र सार, श्यामा रहस्यम्, कामाख्या तंत्रम् इत्यादि में इसे 'लता साधना' कहा गया है। तत्कालीन समस्त संप्रदाय बौद्धों के इस साधनात्मक रहस्य से परिचित और प्रभावित थे, इसी कारण उक्त साधना का प्रवेश वैष्णवों में होना कोई आश्चर्यकर व्यापार नहीं। मेरी अपनी अभिज्ञता रही है कि वृंदावन में चैतन्य के सुदीर्घ निवास के कारण वहाँ सहजिया वैष्णवों का बड़ा प्रभाव रहा होगा और इसी समय राधा के प्रतीक स्वरूप राधाकुंड का उत्खनन हुआ होगा।

राधाकुण्ड को योनिस्वरूप मानने का सबसे बड़ा कारण यह है कि 'नारीवेष' ने 'शुद्र' से त्रिकोटि मंत्र जप करने का उपदेश दिया था। दरअसल तंत्र में अधोमुख त्रिकोण शक्ति या योनि का प्रतीक माना जाता है। यह त्रिकोण ज्ञान, इच्छा और क्रियात्मक बिंदुओं को जोड़ने पर बनता है। इन्हीं तीन बिंदुओं के कारण योन्यात्मक मंत्र त्र्यक्षरात्मक होते हैं और उनके पुरश्चरण का विधान भी त्रिलक्ष या त्रिकोटि होता है।[78]

कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के महा परिनिर्वाण के बाद उनके अस्थ्यावशेषों के पूजन का क्रम शुरू हुआ और उन्हीं को लेकर विविध स्तूप बनाए गए। संभवत: उसी के बाद शाक्तों में भी सती के विष्णुचक्र द्वारा छिन्न अंगों की पूजा का विधान आया होगा क्योंकि जहाँ तक मेरा अनुमान है। पीठों की संकल्पना बौद्धों की है उसके बाद वह हिन्दुओं में आई।

इन तथ्यों की ओर ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि केशव ने एक लुप्त बौद्ध सूत्र को इस प्रकार वैष्णव रंग देकर प्रस्तुत किया कि उसका पूर्वरूप सूक्ष्मता से देखने पर प्रतिभात होने लगता है अत: केशव पर बड़े बौद्ध प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। दरअसल बौद्धों का प्रभाव कहीं भी उसके मूल रूप में नहीं देखा जा सकता पर उसकी झलक या आभास अवश्य ही हो जाता है। इसी लुप्त सूत्र की स्थिति प्राय: अधिकांश कवियों में देखी जा सकती है।

अन्य रीतिबद्ध कवियों पर चर्यापदों का प्रभाव

अन्य रीतिबद्ध कवियों पर स्वतंत्र दृष्टि न डालकर उन्हें एकत्रित रूप से देखने का प्रयास इसलिए किया जाएगा क्योंकि इनको देखने के बाद यह पाया गया कि इनकी कृति के अल्पांश में ही चर्यापदों का मौन प्रभाव देखा जा सकता है। मौन प्रभाव का अर्थ यह है कि केवल चर्यागीतों के भाव इनमें ध्वनित होते हैं। अन्य रीतिबद्ध कवियों में हम सेनापति, देव, भिखारी दास और पद्माकर को लेंगे। प्रथमत: उक्त कवियों के जीवनियों को संक्षेप में देख लें।

सेनापति : कविवर सेनापति विषयक कोई तथ्य नहीं मिल पाए हैं। उन्होंने अपनी कृति 'कवित्त रत्नाकर' में अपना परिचय दिया है जिससे यह ज्ञात होता है कि उनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित और पिता का नाम गंगाधर दीक्षित था। वे गंगा के किनारे बसे अनूप बस्ती के निवासी थे। इनकी एक ही कृति कवित्त रत्नाकर प्राप्त हुई है। कवित्त रत्नाकर में पाँच तरंगें (अध्याय) और तीन सौ चौरानवे छंद हैं। इन छंदों की परंपरा भी रीतिकालीन है।[79]

देव : रीतिकाल में कवि देव की विशिष्ट प्रतिष्ठा रही। इनका जन्म इटावा (उत्तर प्रदेश) के द्योसरिया ब्राह्मण परिवार में 1673 ई. में हुआ था। ये अनेक राजाओं व रईसों के आश्रय में रहे। इनके रचित 72 ग्रंथ बताये गए हैं, किंतु आज केवल 15 ही उपलब्ध हैं। ये हैं- भावविलास, प्रेमतंरग, कुशल विलास, जाति विलास, देवचरित्र, रसविलास, प्रेम चंद्रिका , सुजान विनोद, काव्य रसायन, सुखसागर तरंग, रागरत्नाकर, देवशतक और देवमाया प्रपंच।[80]

भिखारीदास : रीतिकाल के सर्वांग निरूपक आचार्यों में भिखारी दास का नाम प्रसिद्ध है। उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जिला स्थित ट्योंगा नामक ग्राम के कायस्थ वंश में इनका जन्म हुआ था। इनके रचे सात ग्रंथ हैं- रससारांश, काव्यनिर्णय, श्रृंगारनिर्णय, छंदोणर्वपिंगल, शब्द नाम कोश, शतरंजशतिका और विष्णुपुराण भाषा।[81]

पद्माकर : पद्माकर रीतिकाल के अंतिम महाकवि थे। इनका जन्म संवत् 1870 में मध्यप्रदेश के सागर नगर में हुआ था। ये मूलत: तैलंग ब्राह्मण थे। ये कई शासकों के आश्रय में रहे। इन्होंने अलंकार ग्रंथ पद्माभरण के अलावा हिम्मत बहादुर विरुदावली, जगद्विनोद, प्रताप सिंह विरुदावली, आलीजाह प्रकाश, गंगालहरी, ईश्वर पचीसी आदि ग्रंथों की रचना की है।[82]

इन सभी रचनाकारों ने कुछ ऐसे पदों की रचना की जिनके भाव समकक्ष हैं और उनमें चर्यापदों की अस्पष्ट छाया-सी देखी जा सकती है। इस प्रकार के पदों को हम एकत्रित रूप से लेकर विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

सेनापति ने कहा था-

धातु सिला दार निरधार प्रतिमा कौ सार,

सो न करतार तू बिचार बैठि गेह रे।

राखु दीठि अन्तर कछु न सून अन्तर है

जीभ को निरन्तर जपाउ तू हरे हरे॥

मंजन बिमल सेनापति मन रंजन तू

जानि कै निरंजन परम पद लेह रे।

कर न संदेह रे, कही मैं चित देह रे

कहा है बीच देह रे, कहा है बीच देह रे॥[83]

इसी को तिल्लोपाद ने अपने दोहे में कुछ इस प्रकार कहा है-

मारहो चित्तु णिव्वाणें हणिअउं तिहुअण सुण्ण णिरंजने प्रतिअउं।

अमणसिकारु म दूसहो मिच्छहिं अप्पणु बद्धु म करहो रे इच्छहिं॥[84]

अर्थात् निर्वाण के द्वारा मन को मार दो। मन की मृत्यु के बाद तीनों भुवन शून्य हो जाते हैं और वह निरंजन में प्रवेश करता है। मन:शून्यता (अमणसिकार) को मिथ्यात्व से दूषित मत करो, स्वयं को इच्छाओं में मत बाँधो।

सिद्धगण शुरुआत से ही बाह्य आडम्बरों के खिलाफ थे। यहाँ तक कि चर्यागीतों में भी यह भाव ध्वनित होता है। जैसे-

जहि मण इन्दिअ पवण हो णठा।

ण जानमि अपा कँहि गइ पइठा।

अकट करुणा डमरुलि बाजअ।

आजदेव निराले राजइ॥

चान्दरे चान्दकान्ति जिम पड़िभासअ।

चिअ बिकरणे तहि टलि पइसइ॥

छाड़िअ भय घिण लोआचार।

चाहन्ते चाहन्ते सुण बिआर॥

आजदेवँ सअल बिहरिउ।

भय धिण दुर निबारिउ॥ (चर्या सं. 31)

सिद्ध आर्यदेव ने भय, घृणा और लोकाचारों के साथ शून्य-लाभ की आकांक्षा तक को त्याग देने का उपदेश दिया है। क्रिया, चर्या और योगतंत्र या निम्न अनुत्तर तंत्र में इष्ट देवता को चंद्रमंडल में अधिष्ठित या चंद्रमूर्ति के रूप में ध्यान किया जाता है। ध्यात चंद्र जब वज्रसत्व में परिणत होता है तो क्रिया, चर्या और योगतंत्र में सिद्धि की प्राप्ति मान ली जाती है। योगतंत्र में हृदय

से इष्टदेवता की संपूर्ण विलुप्ति के द्वारा प्राप्त सर्व शून्यता को श्रेष्ठ कहा है। इसी के माध्यम से उन्होंने समस्त बाह्याचारों को त्याग दिया।[85]

चर्यापदों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर संसार को ऊल-जुलूल बताया है और धर्मशास्त्र, पोथी, जपमाला को भी अहेतुक बताया है-

जो मणगोएर आलाजाला।

आगम पोथी इष्टामाला॥

भाण कइसैं सहज बोलावा जाअ।

काअ बाक जिअ जासु ण समाअ॥ (चर्या सं. 39)

कवि सेनापति ने आगे यह कहा है कि-

एरे मन मेरे खोए बासर घनेरे करि

जोष अभिलाष अजहूं न उह रत है।

तजि कै विवेक राम-नाम कौम सरस रस

सेनापति महामोह ही मैं बिहरत है।

जद्यपि दुलभ तऊ और अभिलाषा दैव

जोग तै सुलभ ज्यौं छुनच्छर परत है।

कीजियै, कहाँ लौं तेरे मन की बड़ाई जातैं

मरेन के जीवे कौं मनोरथ करत है।[86]

इसी प्रकार के समकक्ष भाव सरहपाद के भी हैं। उन्होंने एकाकी रहकर ही साधना करने का उपदेश दिया है जिससे चंचल मन स्थिर होकर जन्म-मृत्यु के जंजाल से छूट सके। योगतंत्र के

समर्थन में रचित इस गीत में सरह ने जगत को जलबिंदुवत् कहा है और माना है कि अमृत के रहते विषपान करने की आवश्यकता नहीं है-

अदभुअ भव मोहा रे, दिसइ पर अपाणा।

ए जग जलबिम्बाकारे, सहजैं सुण अपणा॥

अमिआ आच्छन्तैं बिस गिलेसि रे चिए पर बस अपा।

घारैं पारैं का बुज्झिल मरे खाइब मइ टुठ कुण्डुवाँ॥ (चर्या सं. 39)

सूक्ष्म अन्वेषण करने पर इस प्रकार के गीत मिल जाएँगे जिनमें संसार की क्षणभंगुरता, मन की चंचलता आदि विषय लिए गए हैं। यहाँ सेनापति पर स्पष्ट रूप से बौद्ध प्रभाव देखा जा सकता है। आश्चर्यकर विषय यह है कि सेनापति कृत द्वितीय पद में यदि 'राम' शब्द के स्थान पर 'बुद्ध' लिख दें तो यह हूबहू क्रिया तंत्र का गीत प्रतीत होगा। प्रथम पद में 'जपाउ' रे हरे-हरे में भी बुद्ध का नाम आने पर क्रियातंत्र का गीत ही प्रतीत होगा। अत इस क्रम में सेनापति में बौद्ध प्रभाव की छाया अवश्य ही देखी जा सकती है।

सेनापति ने 'गंगा के माहात्म्य' का वर्णन करते हुए कलिकाल के विषय में कहकर प्रकारांतर से तत्कालीन समाज में व्याप्त अराजक स्थिति का वर्णन किया है-

यह कलिकाल बढ़्यौं दुरत कराल देखि

आई दुचिताई, सुचिताई सब लूट री।[87]

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म वर्णन के क्रम में समाज में व्याप्त कलुष या अराजकता का वर्णन सर्वप्रथम बौद्धों ने ही किया होगा। इसी को बाद के कवियों ने भी ग्रहण किया। कवि भिखारी दास ने अपने काव्य में कवि-समाज में व्याप्त पाखंड का वर्णन किया है, यथा-

आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई, नातौ।

राधिका-कन्हाई सुमरिन को बहानो हैं।[88]

इसी प्रकार सिद्धों ने भी लोक और साधक समाज में चल रहे यथार्थ का चित्रण चर्यापदों में किया है। सिद्ध सरहपाद ने तत्कालीन बंगाल में व्याप्त अस्थिरावस्था का चित्रण करते हुए कहा है-

बङ्गे जाया निलेसि परे भागेल तोहोर बिणाणा॥ (चर्या सं. 39)

बंगाल के कुछ इलाके विशेषकर गंगा-ब्रह्मपुत्र उपत्याका आदिवासी बहुल था और यहाँ स्त्री को विशेष स्वतंत्रता मिली हुई थी। इन क्षेत्रों में सामाजिक नीति भी शिथिल थी। उसी लिए सरहपाद ने कहा है कि बंग में साधक की प्रेयसी किसी और के साथ भाग गयी, फलत: उसकी साधना की शृंखला टू गई।

कानेट चौरे निल अधराती। (चर्या सं. 2)

से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में चोर का बड़ा उपद्रव हुआ करता था। इस प्रकार यह ज्ञात होता है चर्याकारों ने अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों में समाज में व्याप्त अव्यवस्थाओं को भी उकेरा है

जिसका प्रभाव परवर्ती साहित्यकारों पर पड़ा होगा।

कवि भिखारी दास ने प्रेम की फाँसी के फंदे से तुलना की है-

दुहुँ हिय दास खरी अरी मैनसर-गाँसी

परी द्रिढ़ प्रेम फाँसी दुहुँन के गल मैं।[89]

चर्यापदों में भी कहा गया है कि जो भी एक बार महामुद्रा से आसक्त हो गया उसी के गले में फाँसी का फंदा पड़ जाता है-

भणइ ताड़क एषु नाहि अवकाश।

जो बुझइ ता गलैं गल पास॥ (चर्या सं. 37)

वर्णनातीत यौन सुख की स्मृति साधक के गले में फंदे की तरह लटक जाता है। अविराम यौन स्पृहा साधक के आध्यात्मिक जीवन का अंत फाँसी के फंदे की तरह कर देता है।

कवि देव ने पद रचना के क्रम में लिखा है-

ये अखियाँ सखियाँ न हमारी

जाय मिलीं जल बूँद ज्यौं कूप मैं।

कोटि उपाय न पाइयै फेरि

समाइ गयी रंग-राइ के रूप मैं॥[90]

यह पद एक बौद्ध सिद्धांत से मेल खाता है। बौद्धों के चर्यातंत्र के अनुसार साधक अपने इष्टदेवता से एकात्मबोध करता है। वह बोध उस स्तर तक पहुँच जाता है जब साधक की अपनी इयत्ता लुप्त हो जाती है और वह स्वयं देवता के समकक्ष बन जाता है।[91] उल्लेख्य है कि चर्यापदों में चर्यातंत्र से संबंधित एक भी नहीं मिलता परंतु बौद्धतंत्र में इस प्रकार की भावना अवश्य ही देखी जा सकती है।

देव व भिखारीदास में कुछ अभिव्यक्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिनकी भावना एक समान है, यथा-

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहै,

कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनी कुनारी हौं।

कैसो परलोक नरलोक वर लोकन मैं,

लीन्हीं मैं अलोक लोक-लोकन ते न्यारी हौं।

तन जाहि मन जाहि 'देव' गुरुजन चाहि

जीव किन जाहि टेक टरती न टारी हौं।

वृन्दावन वारी वनवारी की मुकुटवारी

पीत पटवारी वहि मूरत पैं वारी हौं॥ देव- [92]

× × ×

जाति में होति सुजातिकुजाति काननि फोरि करौ अधसाँसी।

केवल कान्ह की आस जियौं जग दास करौ किन कोटिन हाँसी।

नारि कुलीन कुलीननि लै रमै मैं उनमैं चह्यो एक न आँसी।

गोकुलनाथ के हाथ बिकानी हौं वे कुलहीन तौं हौं कुलनासी॥ भिखारी दास - [93]

प्रेम की ऐसी ऐकान्तिक अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ ही लगती है। जिस भाव से रीतिकालीन कवियों ने काव्य सृजन किया। वह भाव अन्य कालों में सहजलभ्य नहीं है। राधा स्वयं को मिटाकर भी अपने प्रेम को सफल बनाना चाहती है। इसी प्रकार के भाव काह्नपाद के गीतों में भी मिलते हैं। जिस डोम्बी युवती का तिरस्कार ब्राह्मणों ने किया काह्न उसी को अपनाना चाहते हैं क्योंकि वे 'निधिन नग्न कालापिक' हैं और उन्हें समाज से कोई सरोकार नहीं है

नगर बाहिर रे डोम्बि तौहोरि कुड़िआ।

छइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥

आलो डोम्बि तोए सम करिबे साङ्ग।

निधिण काह्न कापालि जोइ लाङ्ग॥....

..... तु लो डोम्बि हाऊँ कपाली।

तोहोर अन्तरे मोए घलिलि हाड़ेर माली॥ (चर्या सं. 10)

यहाँ तक कि भुसुकुपाद चण्डाली से विवाह करने के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर दीन-हीन बनने को भी प्रस्तुत हैं-

आजि भुसुकु बङ्गाली भइली।

णिअ घरिणी चण्डाली लेली॥ (चर्या सं. 49)

यहीं पर हम देख सकते हैं कि सिद्धों ने भी अपनी आध्यात्मिक भावनाएँ स्त्री-पुरुष के प्रेम के माध्यम से व्यक्त किया है। बाद में यही प्रतीक भक्त कवियों ने भी ग्रहण किया। कहा ही जा चुका है कि यही उपाय और प्रज्ञा कालान्तर में रस और रति या कृष्ण और राधा में विकसित हो गए। यह अवश्य मान्य है कि जो भाव चर्यागीतों में बीज रूप में वर्तमान थे, वही भाव परवर्ती काव्यों में वृक्ष रूप में देखा जा सकता है।

देव की कुछ अभिव्यक्तियाँ आश्चर्यपरक रूप से बौद्ध सिद्धांतों से मेल खाती हैं।

कथा मैं न कंथा मैं न तीरथ के पंथा मैं न

पोथी मैं न पाथ मैं न साथ की बसीति मैं।

जटा मैं न मुंडन न तिलक त्रिपुंडन न

नदी कूप कुंडन अन्हान दान रीति मैं।

पीठ मठ मंडुल न कुंडल कमंडल न

माला दंड मैं न देव देहरे की भीति मैं।

आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो।

पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं॥[94]

यहाँ जिस प्रकार कवि देव ने बाह्यचारों का खंडन किया उसी प्रकार बौद्धों ने भी किया है। बौद्धों ने सर्वप्रथम क्षपणक जैनों और ब्रह्मणों में व्याप्त बाह्याचारों को खंडित किया। उनका मत था कि-

जाहेर बान चिह्न रूव ण जाणी।

सो कइसे आगम बेएँ बखाणी॥

काहेरे किष भणि मइ दिबि पिरिच्छा।

उदक-चान्द जिम साच न मिच्छा॥ (चर्या सं. 29)

अर्थात् जिसके वर्ग, लक्षण और रूप अज्ञात है उसका आगम वेद आदि किस प्रकार बखान कर सकते हैं? जिस प्रकार जल में प्रतिबिंबित चंद्र न सच होता है न झूठ उसी प्रकार किसी के सम्मुख प्रश्नोत्तर करना भी व्यर्थ है। इसी सिद्धांत के पालन के कारण बौद्धों ने चर्यापदों में ही इस खंडन मंडण को अपनाया है। चर्या सं. 2,6,8,22,28,33,37,39 आदि में इसी प्रकार के खंडन-मंडनात्मक प्रवृत्ति को अपनाया है। विशेषकर सिद्धों द्वारा रचित दोहों में यह प्रवृत्ति अधिक मुखर रूप में देखी जा सकती है-

आगम-वेअ-पुराणे पंडिअ माणु वहंति।

पक्क सिरिफले अलिअ जिवँ वाहिरे भमंती॥ कृष्णपाद - [95]

× × ×

पंडित सअल सत्त बक्खाणइ।

देहहि बुद्ध बसंत ण जाणइ।

अमणागमण ण तेन विखडिण्अ।

तोवि णिलज्जइ भणइ हउँ पण्डिअ॥

× × ×

जइ णग्गा विअ अत्थि सिद्धि ता सुणह णियालह।

लोमुप्पाटने अत्थि मुत्ति ता जुवइ णिअम्बह॥ सरहपाद - [96]

× × ×

प्रतरन्नामणि गंगायां नैव श्वानमशुद्धमर्हति।

तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थस्नानम् तु निष्फलम्॥

पुण्यो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्तानं कृतार्थता।

नक्तं दिव प्रविष्टानां मत्स्यादिनां तु का कथा॥ कुक्कुरीपाद- [97]

कवि देव ने कहा है-

हौं ही ब्रज वृंदावन, मोही में बसत सदा

जमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की। .....

..... बंसी वह तट नटनागर नटत मो मैं

रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।[98]

उल्लेख है कि 'मैं बुद्ध हूँ' की भावना केवल चर्यातंत्र में उपलब्ध है, और चर्यातंत्र से संबंधित एक भी गीत चर्यापदों में सन्निहित नहीं है। परंतु चर्यातंत्र से संबंधित एक दोहे का उदाहरण देने से यह स्पष्ट हो जाएगा-

हउं जगु हउं बुद्ध हउं णिरंजणु हउं अमणसिआरु भव-भंजणु।

मणु भगवंतओ खसमा भगवइ दिवा-रत्तिहिं सहजें रहिअइ॥[99]

कवि भिखारीदास ने अद्वैत चिंतन का विश्लेषण करते हुए कहा था कि-

किल कंचन सी वह अंग कहाँ और कहाँ वह मेघन सों तनु करो।

कहँ सेज अली बिकली वह होई कहाँ तुम सोइ रहो गहि डारो।

नित दास जू ल्यावहि ल्याउ कहौ आपनो वाको न भेद बिचारो।

वह कोमल गोरी किसोरी कहाँ और कहाँ गिरिधारन पानि तिहारो॥[100]

इस छंद में 'कछु आपनो वाको न भेद विचारो' जैसी पंक्ति में अद्वैतवाद का स्वर मुखरित होता है। यही अद्वैतवाद चर्यापदों में योगाचारी सिद्धों का मूल कथ्य रहा है-

करुण मेह निरन्तर फरिआ।

भावाभाव द्वन्द्व दलिआ॥

उइत्ता गअण माझेँ अदभुआ।

पेखेरे भुसुकु सहज सरुअ॥ (चर्या सं. 30)

जहाँ भिखारी दास यह कहते हैं कि 'वह राधा कहाँ, वह कृष्ण है'। इस भाव में बौद्धों का शून्यवाद भी झलकता है।

अत: देखा जा सकता है कि रीति बद्ध काव्यों में बौद्धों की छाया झलकती है। दरअसल बौद्धों का चिंतन बाद के समय में सर्वभारतीय या सर्वधर्मीय दर्शनों का अंग बन गया था। इसी कारण उनका प्रभाव लुप्त रूप में ही सही परवर्ती काव्यों में झलकता है।

रीतिमुक्त कवियों पर चर्यापदों का प्रभाव

जिन रीतिकालीन कवियों ने काव्यशास्त्रीय काव्यांगों का विवेचन न कर स्वतंत्र रूप से काव्य-रचना की उन्हें रीतिमुक्त कवि कहते हैं। इन कवियों को स्वच्छंद काव्यधारा के कवि कहते

हैं।[101] उक्त धारा के कवि तत्कालीन नियमों और रूढ़ियों से मुक्त थे। वे स्वानुभूति के उन्मुक्त उद्‌गाता थे। उन्होंने अनुभूति के आवेगमय सहज अभिव्यक्ति को ही अपने काव्य का उपजीव्य माना है। इस भाग में घनानंद, ठाकुर, आलम और बोधा के काव्य को देखा गया जिनमें थोड़ा बहुत बौद्ध प्रभाव अंकित किया जा सकता है। प्रथमत: उक्त कवियों के जीवनवृत्त का संक्षिप्त परिचय देना उपयुक्त होगा।

घनानंद : घनानंद रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इनकी दो प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनका संबंध लौकिक शृंगार और भगवद्‌भक्ति से है। प्रथम वर्ग की रचनाएँ प्राय: कवित्त और सवैयों में रचित है और दूसरे वर्ग की पदों और दोहे चौपाइयों में।[102] प्रसिद्ध है कि घनानंद सुजान नामक एक वेश्या से प्रेम करते थे पर उसके द्वारा ठुकरा दिए जाने पर वे भक्त बन गए। बाद में वे वृंदावन आकर निम्बार्क संप्रदाय में दीक्षित हुए। इस संप्रदाय में सख्य भाव की उपासना होती थी। इस भाव की उपासना करने वाले महात्माओं के, जो साधना के अनेक सोपान पार कर इस भाव में लीन हो जाते हैं, उनके सिद्ध गुरु उनका सांप्रदायिक नाम रख देते हैं।[103] घनानंद कृत रचना 'वृषभानुपुरसुषमा वर्णन' के अनुसार इनका सांप्रदायिक नाम 'बहुगुनी' था-

नीको नांव बहुगुनी मेरो। बरसाने की सुंदर खेरो।[104]

बहुगुनी सदा राधा के साथ रहती है अथवा श्री राधा बहुगुनी का साथ नहीं छोड़तीं। घनानंद पहले लौकिक प्रेम संबंधों के कवि थे और बाद में सांप्रदायिक साधना की ओर अग्रसर होने पर उस दिशा में बहुत दूर तक बढ़ते चले गए।

आलम : आचार्य शुक्ल के अनुसार आलम नामक दो कवि थे। एक अकबर के समसामयिक और दूसरे औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम के आश्रित।[105] प्रसिद्ध है कि ये मूलत: ब्राह्मण थे पर किसी शेख नामक मुसलमान रंग-रेजिन के प्रेम में आलम नाम से रचित पद पति के और शेख नाम से रचित पद पत्नी शेक के हैं। पर इन दोनों की रचना पद्धतियों में कोई अंतर नहीं मिलता। शेख नाम

के साथ पुल्लिंग क्रिया के प्रयोग पद्यों में मिलते हैं। मुसलमानों में शेख नाम स्त्रियों का होता भी नहीं। अत: डॉ. नगेन्द्र के अनुसार 'शेख आलम' का ही जातीय नाम था। वही अपनी छाप यथावश्यक कभी 'आलम' और कभी 'शेख' रख देता। रंगरेज़िन की कहानी या तो मन गढ़न्त है या फिर उसका कोई और नाम होगा।[106]

ठाकुर : ठाकुर के दो काव्य संग्रहों का उल्लेख मिलता है- ठाकुर ठसक और ठाकुर शतक। अपनी निश्छल अनुभूति और अकृत्रिम अभिव्यक्ति के कारण वे रीतिबद्ध कवियों से पृथक हैं। ठाकुर के काव्य में भक्ति-भावना भी मिलती है। उसके अंतर्गत उन्होंने लीलावर्णन नहीं किया अपितु परमेश्वर संबंधी सममान्य सार्वभौम धारणा को ही अभिव्यक्ति दी। इनकी काव्यानुभूति में वैयक्तिता के साथ-साथ लोकजीवन के सहज सौंदर्य का संस्पर्श है।[107]

बोधा : इनकी दो कृतियाँ 'इश्कनामा' और 'विरहवारीश' उपलब्ध हैं। इनमें पहली तो माधवानल-कामकंदला की प्रसिद्ध प्रेमकथा पर लिखित प्रबंध रचना है और दूसरी प्रेम पर लिखे मुक्तकों का संग्रह है। बोधा नि:संकोच होकर अपनी बात कहते हैं। यही उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होंने अपने प्रत्येक मनोवेगों का विवरण सूक्ष्म रूप से दिया है। इसी कारण उनके वक्तव्य ने कहीं-कहीं मर्यादा के बाँध तोड़ दिए।[108] शाब्दिक प्रपंच इनके काव्य में लक्षित नहीं होता, यही इनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है।

इन रीतिमुक्त कवियों के कुछेक पदों में बौद्धों के समकक्ष भाव मिल जाते हैं या यूँ कहें कि वही आदिकालीन वैचारिकता का आभास इनके काव्य में कदाचित मिल जाता है। यहाँ केवल उन्हीं निश्चित अंशों को देखा जाएगा। उल्लेख्य है कि स्त्री-पुरुष में प्रेम की भावना को भारतीय दृष्टिकोण में अत्यंत उच्च स्थान दिया गया, परंतु प्रेम जहाँ अपनी मर्यादा को तोड़कर वासना की तरफ रुख कर लेता है तो उसे गर्हित माना गया है। इन कवियों में प्रेम के प्रांजल रूप के चित्रण के कारण जो सुषमा व्याप्त है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यदि मूल भारतीय दृष्टिभंगी से प्रेम का

आकलन किया जाए तो वह 'ममत्व' या 'मम' की संकुचित परिधि का त्याग कर एक विस्तृत फलक में प्रतिबिंबित होता है। वहाँ अहम् इदम् और परम् का भेद समाप्त होकर प्रेम ब्रह्ममय रूप धारण करता है। सूफियों के शब्दों में इसे इस प्रकार कहेंगे-

क्या कहूँ कि खिलवते खास में जो हिजाब बीच से उठ गया।

न वो तुम रहे, न वो हम रहे, जो रही सो बेखबरी रही ॥[109]

घनानंद ने अपने विरहजनित उपालम्भ की अभिव्यक्ति के क्रम में कहा-

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बांक नहीं।

तहां सांचे चलै तजि आपुनपौ झझकैं कपटी जो निसांक नहीं।

घनआनंद प्यारे सुजान सुनौ इत एकते दूसरो आंक नहीं।

तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।[110]

चर्यापदों में भी की इसी वंचना के रूप को देखा जा सकता है-

कइसणि हालो डोम्बी तोहोरि भाभरिआली।

अन्ते कुलिणजण माझे काबाली ॥

तँइ लो डोम्बी सअल बिटलिउ।

काज ण कारण ससहर टालिउ ॥ (चर्या सं. 18)

इस पद में कृष्णपाद डोम्बी की प्रवंचना (भाभरि आली) के चलते क्षिप्त हो गए क्योंकि डोम्बी ने उन्हें हर क्षेत्र में ठगा और उसी के कारण कृष्णपाद का मन भी चंचल हो जाता है।

घनानंद ने मौन में प्रिय को पुकारते हुए शिकायत की है कि-

छीन अति दीनन कों मोहन अमोही रच्यौ,

महा निरदई हमैं मिल्यौ करतार है।

तेरे बहरावनि रुई है कान बीच, हाय

बिरही विचारनि की मौन में पुकारं है॥[111]

चर्यापदों में भी एक मृतवत्सा स्त्री का विलाप है जिसका पति उसकी ओर एकदम ध्यान नहीं देता, वह स्पष्ट कहती है कि मैंने जीवन में जो चाहा था वह यह नहीं है-

हाँउ निरासी खमण भतारे।

मोहोर बिगोआ कहण नजाइ॥

फेटलिउ गो मोए अन्तउड़ि चाहे।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥ (चर्या सं. 20)

घनानंद के अनुसार अनुभूति चाहे काव्य की हो या प्रणय की अपने वास्तविक रूप में तो वह मौन के अवगुंठन में ही रह जाता है। वाणी में जो व्यक्त होता है, वह वास्तविक अनुभूति का आभास मात्र होता है-

उर भौन में मौन को घूंघट कै दुरि बैठि विराजति बात बनी।

मृदु मंजु पदारथ-भूषण सों सु लसै हुलसैं रस रूप मनी।[112]

× × ×

आनाकानी-आरसी निहारिबो करौगे कौ लौं

कहा मो चकित दसा-त्यों न दीठि डोलि है।

मौन हूं सौं देखि हौं कितेक पन पालिहौ जू

कूक-भरी मूकता बुलाय आप बोलिहै ॥[113]

इस मौन के महत्त्व को बौद्धों ने बहुत पहले समझा। मौन के कालांश में जो अनुभूति होती है वह निरंतर मनन या विश्लेषण से आती है। एवं प्रत्येक भाव का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर भाव अति सूक्ष्म हो जाते हैं और अति सूक्ष्म भावों के विश्लेषण से मात्र शून्य ही रह जाता है। अत: मौन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए शांतिपाद कहते हैं-

तुला धुणि-धुणि आँसुरे आँसु।

आँसु धुणि-धुणि णिरवर सेसु॥ (चर्या सं. 26)

जिस प्रकार रुई को धुनने पर रेशे बन जाते हैं उन रेशों को धुनने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। वह (प्रक्रिया) मौन की प्रक्रिया है। उल्लेख्य है कि गौतम बुद्ध ने भी मौन के महत्त्व को समझा था और अपने शिष्यों को अल्पभाषी होने का उपदेश दिया था।

घनानंद का मौन भी किसी न किसी दिशा में आध्यात्मिकता का स्पर्श करता ही है जहाँ केवल बौद्धों की पदचाप सुनाई पड़ती है।

घनानंद, विरहिणी के हृद्य आवेग का उद्‌गार कर कहते हैं-

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन, जा मधि सोधि सुधार है लेख्यौ।

ताहि के चारु चरित्र विचित्रनि पचि कै रचि राखि बिसेख्यौ॥[114]

ऐसा प्रेम-पत्र पाकर भी प्रिय उसे टुकड़े-टुकड़े पर फाड़ देता है। यह प्रेम की प्रगाढ़ता है कि इस निर्दयतापूर्ण आचरण के बावजूद विरहिनी उसी पर आसक्त है। प्रेम का यह स्वरूप चर्यागीतों में मिलता है। दरअसल जहाँ घनानंद ने 'प्रेम को मंत्र महा' कहा वहीं पर इसकी दिव्यता झलकती है। चर्यापदों में भी सिद्धों ने डोम्बी, चंडाली के साथ इसी प्रेम-संबंध का उल्लेख किया

है। यह डोम्बी या चंडाली कोई स्त्री न होकर प्राणायाम प्रक्रिया है जिसमें बार-बार असफल होने के बाद भी साधक उससे मुँह नहीं मोड़ता (चर्या सं.18)।

घनानंद ने लौकिक प्रेम का पर्यावसान, पारलौकिक प्रेम में दिखाते हुए कहा है कि प्रेम रूपी महासागर में बुद्धि और विचार अहैतुक होते हैं, जो उसमें सर्वांग रूप से डूब गया या जिसने एकरसता प्राप्त कर ली वही इसके सही रूप

को समझने में सक्षम होता है-

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै, बिचार,

बापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयौ है।

ताहि एक रस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ,

नेह हरि राधा जिन्हैं देखे सरसायौ है।

ताकी कोऊ तरल तरंग-तरंग छूट्यौ कन,

पूरि लोक लोकनि उमंगि उफनायौ है।

सोई घनाआनंद सुजान लगि हेत-होत,

ऐसें मथि मन पै सरूप ठहरायौ है।[115]

घनानंद का शृंगार चाहे जितना ऐंद्रिय रहा हो, इस छंद से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ईश्वरीय प्रेम का अंश है। पहले ही कहा जा चुका है कि चर्यापदों में वर्णित प्रेम भी लौकिक स्पर्श रखते हुए भी अलौकिक धरातल का प्रेम है। यहाँ वासनात्मक प्रेम की निंदा करते हुए इस प्रकार का आचरण करने वाले पुरुष और स्त्रियों को क्रमशः वेश्यागामी और दुश्चरित्रा (छिनाल) कहा है-

शवरो भुजङ्ग णइरामणि दारी पेह्म राति पोहाइली। (चर्या सं. 28)

छिणाल और वेश्यागमन में काम नहीं वासना है। यहाँ अतृप्ति के शमन के बाद क्षणिक सुख प्राप्ति को विषय बनाया गया है। इसी कारण सिद्धों ने इसे हेय दृष्टि से देखा है। वासना काम का कुत्सित रूप है उसी की निंदा यहाँ शबरपाद ने की है।

बुद्ध ने इसी वासनात्मक प्रभाव के डर से अपने जीवितकाल में संघ में स्त्री को स्थान नहीं दिया था। अंततः उनकी विमाता महाप्रजावती के एकतान आग्रह और आनंद के अनुनय विनय के कारण वे अपने मत पर अडिग न रह सके। अंततः बुद्ध को जिसका भय था वही भय मूर्त रूप में संघ में प्रविष्ट हुआ और बौद्धों के चरम पतन का कारण बना। इसी तथ्य को ध्यानगत रखकर योगाचारी बौद्धों ने कठोर ब्रह्मचर्य के साथ कायिक, वाचिक, मानसिक, कार्मिक वैचारिक परिशुद्धता पर बल दिया।

जहाँ वासना की परिधि समाप्त होती है वहाँ काम का उत्तरण होता है। यहाँ शबर को वेश्यागामी और शबरी को चरित्रहीना कहकर उन्होंने अनुत्तर तंत्र की साधना पद्धति और अनुत्तर तंत्र का आधार ग्रंथ 'हेवज्रतंत्र' पर कटाक्ष किया है। यहाँ साधना संगिनी को णइरामणि कहा गया है जिसका अर्थ निर्माण रति या निर्माणरति माया है। अनुत्तर तंत्र के अनुसार दशबुद्धों ने शाक्यमुनि सिद्धार्थ को जब पंच संबोधि दान किया था उस समय अपनी माया से इसकी भी सृष्टि की थी।[116] इसी को अनुत्तर तंत्र के साधक साधना संगिनी या शक्ति कहते हैं। ऐसी पूज्या शक्ति को चर्याकार ने दारी कहा। कथन का तात्पर्य यह है कि- तांत्रिक यौनाचार के नाम पर दोनों ने साधारण स्त्री-पुरुष की भांति रतिज कार्य में रात्रि निर्वाह किया। आगे शबरपाद कहते हैं कि-

हिअ ताँबोला महासुहे कापुर खाइ। (चर्या सं. 18)

कापुर या कर्पुर शुक्र को कहते हैं। यही चर्यापदों में प्रयुक्त एक मात्र संध्या या संधा शब्द है। इस शब्द प्रयोग के द्वारा तांत्रिक यौनाचार का समर्थन करने वाले हेवज्रतंत्र की भी निंदा की गई है। एक बार यदि किसी साधक ने यौन-संगम की अभिज्ञता प्राप्त कर ली तो वह उसके गले

में फाँसी की डोर के समान फँस जाएगी-

भऊणइ ताड़क एसु नाहि अवकास।

जो बुझइ ता गलैं गलपास॥ (चर्या सं. 37)

आलम ने भी अपने काव्य में विरहकातर नायिका का स्वरूप चित्रण योगी की भाँति किया है-

बाँसुरी सबद सिंगीनाद पूरि-पूरि रहे

ताहि को अँदेस सोई तन मन धुनि है।

बिरह की ज्वाल साधैं साधैं जलु नैननि को

निद्रा तन भूख साधैं साधैं उनमुनि है।

आलम सुकवि यदि जुगति जागै सु जोगी,

अलि उपदेस हम सुन्यौ है न सुनि है।

सुमिरन मौन उर उरध उसाँस रूँधे,

जैसे ब्रजवासी ऊधौ ऐसे कहा मुनि है।[117]

यहाँ मुनि के वेश-वर्णन क्रम में सिंगीनाद, धुनि, उन्मनि साधना जैसे तत्त्वों की बात की है इसका मेल नाथ योगियों के साथ है। हालांकि नाथों ने अपने साधनात्मक तत्त्व योगाचारी सिद्धों से ली। इस पद में 'सुमिरन मौन उर उरध उसाँस रूँधे' की बात की गई है जिसका स्वरूप कृष्णपाद रचित गीत में देखा जा सकता है-

आलिएँ कालिएँ बाट रुन्धेला।

ता देखि काह्न बिमण भइला॥ (चर्या सं. 7)

जालंधर बंद, उड्डियान बंध, सहजोली, वज्रोली जैसी श्वसन क्रियाएँ मूलत: बौद्धों की थी जिसे नाथों ने भी ग्रहण किया था। इस पद में उसी का छायाभास मिलता है।

ठाकुर और बोधा में कुछ समकक्ष भाव के पद मिलते हैं जिनमें प्रेमिका अपनी कुलकानी छोड़कर भी स्नेह का निर्वाह करने को प्रस्तुत है। चाहे समाज उसकी बदनामी करे चाहे उसका बहिष्कार, वह अटल है और अपने स्नेह के पक्ष में उसके पास अकाट्य तर्क भी हैं-

चाहौ कहौ कुलटा कलंकिनी कुनारि कहौ,

चाहौ कहौ मानस है चाहौ कहौ पसु री।

ठाकुर कहत तो सो सीखहि सिखायौ कौन,

तैं ही तो बिचारि कछु मेरो रह्यो बसु री।

नाम बस्यो रसना मैं अंतर सरूप बस्यौ,

आँखिन मैं छवि बसी कानन मैं बासुँरी।[118] - ठाकुर

× × ×

अब का समझावती कौ समझै बदनामी के बीजन बोइ चुकी री।

इतनोहूँ बिचार करौ तौ सखी यह लाज की साज तौ धोइ चुकी री।

कबि ठाकुर काम न या सबको करि प्रीति पतिब्रत खोइ चुकी री।

नेकी बदी जो लिखी हुती भाल मैं होनी हुती सु तौ होइ चुकी री॥[119] -ठाकुर

× × ×

लोक की लाज औ सोच अलोक को वारियै प्रीति के ऊपर दोऊ।

गावँ को गेह को देह को नातो, सनेह में हातो करै पुनि खोऊँ।

बोधा सुनीति निबाह करै धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।

लोक की भीति डेरात जौ मीत, तौ प्रीति के पैंड़े जनि कोऊ॥[120] -बोधा

× × ×

हमको वह चाहै कि चाहै नहीं, हम चाहियै वाहि बिथाहर है।.....

..... यह प्रीति की रीतिहिं जानत सो, परतीतिहि मानिकै जो करहै।[121]-बोधा

उल्लेख्य है कि इसी प्रकार के भावों का विवेचन रीतिबद्ध कवियों के अंतर्गत भी किया जा चुका है, जहाँ ब्राह्मणों द्वारा तिरस्कृत युवती से सिद्ध काह्नपाद प्रेम निवेदन करते हैं। काह्नपाद यह नहीं जानते कि वह युवती उनसे प्रेम करती भी है कि नहीं तथापि वे, उसको पाने के बाद अपनी हड्डियों की माला, जिसे उन्होंने साधना के चिह्न स्वरूप पहन रखा है, का त्याग करने को भी प्रस्तुत हैं। शायद उस युवती को यह सब पसंद न हो, जिसके कारण वे स्वयं को बदलने यहाँ तक कि अपनी साधना को भी छोड़ देने को तैयार हैं। जिस साधना के फलस्वरूप वे सिद्ध बने उनके प्रेम के सामने वह भी तुच्छ-सी लगने लगती है (चर्या सं. 10)

इन भावों का विश्लेषण पहले किया जा चुका है। अत: यहाँ उनकी पुनरुक्ति की आवश्यकता महसूस नहीं होती। बोधा ने एक स्थान पर बड़ी अद्‌भुत उक्ति कही जिसकी बोधा तुलना सिद्धों की तथता से की जा सकती है-

पिंड में बोधा ब्रह्मंड लिख्यौ दृग देखें बिना पहिचानता को है।[122]

'पिंड-ब्रह्मांडवाद' की अवधारण मूलत: सिद्धों की होने के कारण ही उन्होंने सर्वप्रथम काया साधना की थी। उसी के माध्यम से उन्होंने शून्यता की प्रतीति की। इस क्रम में लुइपाद कहते हैं-

काआ तरुवर पञ्च वि डाल।

चञ्चल चीए पइठो काल॥ .....

..... भणइ लुइ आम्हे झाणे दिठा।

धमण चमण बेणि पाण्डि बइठा॥ (चर्या सं. 1)

डोम्बीपाद के अनुसार शरीर के अंदर ही गंगा यमुना बहती हैं-

गङ्ग जउना माझेंरे बहइ नाइ।

तहिँ चुड़िली मातङ्गि पोइआ लीले पार करेइ॥.....

..... गअण दुखालेँ सिञ्चहुँ पाणी नपइसइ सान्धी।

चन्द सूज्जन दुइ चका सिठि संहार पुलिन्दा॥ (चर्या सं. 24)

बोधा ने जो बात कही शांतिपाद ने भी वही बात कही कि इंद्रिय चेतना के द्वारा तथता का अन्वेषण करने पर अलक्ष्य की अनुभूति नहीं होती है-

सअ सम्बेअण सरुअ बिआरेँते अलक्ख लक्खण नजाई। (चर्या सं. 15)

बौद्ध दर्शन के अनुसार विश्व का प्रकृत रूप नश्वर है और इस काया में ही ब्रह्माण्ड भी समाहित है, जिसकी अनुभूति स्वत: स्फूर्त रूप से की जानी चाहिए। शास्त्राध्ययन, विचार, बुद्धि, विश्लेषण और इंद्रियानुभूति के द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रकृत ज्ञान नहीं है।[123]

निष्कर्षत : कहा जा सकता है कि जिस स्वच्छंद प्रेम की रचना इन रीतिमुक्त कवियों ने की है वहाँ कदाचित आध्यात्मिक रंग भी परिलक्षित होता है। इसी प्रकार की रचना पूर्ववर्ती सिद्धों ने भी की है जहाँ प्रेम का स्वच्छंद आलाप और विहार है। सिद्धों का प्रेम प्रथम दृष्टया लौकिक लगता है परंतु उनमें एक गहन आध्यात्मिक भाव भी है। लगभग यही भाव उक्त कवियों में भी है।

क्या इसे साहित्यिक संयोग मात्र माना जाए या फिर इन्हें पूर्ववर्ती बौद्धों का प्रभाव स्पृष्ट कहेंगे। यह अवश्य कहना अत्युक्ति प्रतीत न होगा कि जिस प्रेम की चर्चा कबीर, सूर आदियों ने की है उसपर बौद्ध प्रभाव अवश्य है साथ ही उन्हीं राधा-कृष्ण को काव्य का उपजीव्य बनाने वाले रीतिकालीन कवियों में बौद्ध प्रभाव स्वयमेव आ गए। रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में अश्लीलता-श्लीलता की चर्चा करने वालों के लिए तमाम पुरातन भारतीय वाङ्मय हैं जहाँ देवियों के उद्दाम यौवन का वर्णन कवि ने मुक्त कंठ से किया। साथ ही जयदेव कृत 'गीत गोविंदम्' की आध्यात्मिकता की ओर लक्षित कर आज भी जगन्नाथ मंदिर के गर्भगृह में उसका सस्वर पाठ होता है।

रीतिसिद्ध कवि बिहारी पर चर्यागीतों का प्रभाव

बिहारी रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि के रूप में परिगणित होते हैं। बिहारी की प्रसिद्धि का मूल कारण उनकी सतसई है। अतः मुक्तक काव्य परंपरा में बिहारी का स्थान अन्यतम है। उन्होंने लक्षण ग्रंथों की रचना नहीं की है, किन्तु उनकी 'सतसई' रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों का सफल प्रतिनिधित्व करती है। वे न तो पूर्णतः रीतिबद्ध है और न रीतिमुक्त। उनकी सतसई में 'नखशिख' नायिका भेद, शृंगार रस, षट्ऋतु, अलंकार आदि सभी विषयों का वर्णन किया गया है। ये सभी विषय रीति की बँधी परिपाटी के अनुकूल है। रीतिकाल के मर्मज्ञ विद्वान पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र बिहारी को रीतिबद्ध कवियों से अलग रखना चाहते हैं। वे इन्हें स्वकीय विशेषता संपन्न रीतिसिद्ध कवि मानते हैं।[124]

बिहारी के काव्य का मुख्य विषय शृंगार है, शृंगार के उभय पक्ष संयोग और वियोग का जितना विशद, वैविध्यपूर्ण एवं सूक्ष्म चित्रण बिहारी ने किया है, उतना रीतिकाल के अन्य किसी कवि ने नहीं किया है।

इनका जन्म ग्वालियर के पास लसुवा गोविंदपुर में 1595 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था। कालांतर में ये वृंदावन आ गए और वहीं मथुरा के किसी ब्राह्मण-परिवार में इनका विवाह हुआ था। इन्होंने मिर्जा राजा जयसिंह का आश्रय ग्रहण किया था।[125]

बिहारी के काव्य की प्रभावोत्पादकता को देखते हुए कहा जाता है कि-

सतसैया के दोहे ज्यों नाविक के तीर।

देखन में छोटे लगै, घाव करै गंभीर॥

बिहारी के दोहों का विश्लेषण करने पर कतिपय स्थानों में उक्त प्रभाव अवश्य ही देखा जा सकता है। हालांकि बिहारी ने दो ही पंक्ति में अपने पूरे कथ्य को समाप्त कर दिया वहीं बौद्ध सिद्धों को अपना कथ्य स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त स्थान मिला।

बिहारी ने अपनी सतसई में कहा है-

कीनैं हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु।

जो मन मोहन-रूप मिलि पानी मैं कौ लौनु॥ 18॥[126]

इसी प्रकार सिद्ध कृष्णपाद ने कहा है कि -

जिवं लोण विलिज्जइ पाणिअहिं तिवं घरणिअ लइ चित्तु।

सम रसु जाअइ तक्खणें जइ पुणु तहे समु णित्तु॥[127]

बिहारी ने जिस प्रकार मोहन के साथ अद्वैत स्थिति स्थापित करने की बात की है उसी प्रकार सिद्ध कृष्णपाद भी साधक को अपनी साधना संगिनी के साथ अद्वैत स्थिति प्राप्त करने की सलाह दी है।

प्रेम और साधना में जब तक आत्मतत्त्व का विलयन नहीं होता तब तक सफलता नहीं मिलती। बिहारी कहते हैं-

जोग जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।

चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन॥ 13॥[128]

इस दोहे में बिहारी प्रकारांतर रूप से यह कहते हैं कि अद्वैतता चाहने वाले नैन (आचारी या संयमी व्यक्ति) कानन (वन) में जाकर तप करते हैं। बौद्धों ने अद्वैतता के स्थान पर शून्यता शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि 'यदि चित्त शून्यता को नाविक के रूप में ग्रहण करे तो वह महासुख प्राप्त कर सकता है-

चिअ कण्णहार सुणत माङ्गे।

चलिल काह्न महासुख साङ्गे॥ (चर्या सं. 13)

बौद्धों ने घर-बाहर, वन-नगर के पार्थक्य को समाप्त कर यथा इच्छित स्थान में रहकर साधना करने का आग्रह दिखाया है।

बिहारी आगे कहते हैं-

अजौ तर्‌यौना ही रह्‌यो श्रुति सेवत इक-रंग।

नाक बास बेसरि लह्‌यो बसि मुकुतन के संग॥ 20॥[129]

सिद्ध सरह ने भी कहा है कि दुर्जन के साथ समय व्यतीत करने पर साधक का चित्त चंचल हो जाता है-

पार उआरँ सोइ गजिइ।

दुज्जन साङ्गे अवसरि जाइ॥ (चर्या सं. 32)

सरह ने स्पष्ट रूप से कहा है कि दुर्जन के सान्निध्य के फलस्वरूप मन इस पार और उस पार हो जाता है परंतु उसका परित्याग करते ही सारे असमान मार्ग (गड्ढे, खाई आदि) समतल

होकर मार्ग आसान हो जाता है-

बाम दाहिण जो खाल बिखाल।

सरह भणइ बपा उजु बाट भाइला॥ (चर्या सं. 32)

इतने वर्षों तर व्यामोह में पड़े भादेपा भी सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त कर ज्ञानी बन जाते हैं-

एतकाल हाँउ अच्छिलेँस्व मोहे।

एवेँ मइ बुझिल सद्गुरु बोहेँ॥ (चर्या सं. 35)

अत: सिद्धों की तरह बिहारी ने भी मुक्ति पाने के लिए सत्संगति की महिमा प्रस्तुत की है।

बिहारी ने अपने दोहे में मृग के शिकार की बात कही है। उनका कहना है कि-

खेलन सिखए अलि भलेँ चतुर अहेरी मार।

कानन चारी नैन मृग नागर नरनु सिकार॥ 45॥[130]

इसी मृग और शिकार का आख्यान भुसुकुपाद ने भी रचा है जिसमें साधक और उसकी साधना संगिनी को हिरण, हिरणी कहा है जिनका शिकार मठवासी साधक करते हैं -

काहैरी घिणि मेलि अच्छहु कीस।

बेढ़िल हाक पड़अ चौदीस॥

अपणा मांसेँ बरिणा बैरी।

खनह नछाड़अ भुसुकु अहेरी॥ (चर्या सं. 6)

बिहारी ने अपनी सतसई में विविध स्वाद भर दिया है अत: वहाँ समाज सापेक्ष कटुसत्यों का भी उद्घाटन हुआ है, जैसे-

कहति न देवर की कुबत कुल तिय कलह डराति।

पंजर गत मंजार-ढिग सुक ज्यों सूकति जाति॥ 85॥[131]

यहाँ नारि हृदय की वेदना की जो अभिव्यक्ति मिलती है वह चर्यापदों में भी प्राप्त होता है-

हाऊँ निरासी खमण भतारे।

मोहोर बिगोआ कहण नजाइ॥

फेटलिउ गो मोए अन्तउड़ि चाहि।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥

पहिल बिआण मोर बासन पूड़ा।

नाड़ि बिआरन्ते सेव बापूड़ा॥

जाण जौवण मोर भइलेसि पूरा।

मूल नखलि बाप संघारा॥ (चर्या सं. 20)

अपने भिक्षुक पति से उदास स्त्री की करुण वेदना का जो स्वर यहाँ मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

बिहारी अपने भक्त-हृदय का परिचय देते हुए समस्त बाह्याडंबरों का त्याग कर केवल अंतस्साधना पर बल देते हैं। इस क्रम में वे कहते हैं कि-

जपमाला छापै तिलक सरै न एकु कामु।

मनँ काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु॥141॥[132]

उल्लेख्य है कि बौद्ध सिद्धों ने भी समस्त बाह्य आडम्बरों का त्याग कर गुरु के वचनों का आश्रय लेकर अपने मन को प्रबोधित करने का उपदेश दिया है-

जो मणगोएर आलाजाला।

आगम पोथी इष्टामाला॥

भण कइसँ सहज बोलवा जाअ।

काअ बाक चिअ जसु ण समाअ॥

आले गुरु उएसइ सीस।

बाक पथातीत काहिब कीस॥ (चर्या सं. 40)

कतिपय विद्वानों का यह मानना है कि बिहारी के काव्य में भक्ति नहीं वरन् अत्यधिक भोग जनित नैराश्य का स्वर उभरता है। बिहारी में प्राप्त भक्ति नेपथ्य का स्वर मात्र माना गया है जिसका भक्ति द्रवित हृद्य व्यंजना से सविशेष प्रयोजन नहीं। बिहारी मूलत: संयोग के कवि हैं इनके काव्य में वियोग पक्ष अत्यंत दुर्बल है। कुल मिलाकर देखा जाए तो पता चलेगा कि उनकी वियोगिनी नायिकाओं की दशा बड़ी हास्यास्पद बन गई है। उदाहरणार्थ-

औंधाई सीसी सुलखि बिरह वरनी बिललात।

बीच ही सूखी गुलाब गऊ छींटौ छुयो न गात॥

दरअसल इस हास्यास्पद परिस्थिति के पीछे बिहारी की साम्प्रदायिक दृष्टिभंगी कार्यरत थी। निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा का स्वकीया रूप स्वीकार किया गया है और भक्ति के पाँच रूपों में उज्ज्वल भक्ति या दाम्पत्य भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[133] अत: राधा स्वकीया होने के कारण कृष्ण के साथ उनका कभी विरह होता ही नहीं है। केवल विरह की अनुभूति करने के लिए वे प्रपंच की रचना करते हैं या उनके लिए विरह क्रीड़ा तुल्य है। यदि यह दम्पति विरह-वेदना का अनुभव करने का प्रयास करे तो यह हास्यास्पद बन जाता है। तदर्थ बिहारी ने जब भी इस युगल के विरह का मूर्तन करने का प्रयास किया वह हास्यपरक ही बन उठा। इसे रीतिकालीन प्रभाव या

बिहारी की दुर्बलता मान लेने की अपेक्षा उनपर पड़े गहन साम्प्रदायिक प्रभाव के रूप में देखना उचित है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने सम्प्रदाय की रूढ़ व्यवस्था के प्रति निष्ठावान होने के कारण बिहारी ने ऐसा वर्णन किया होगा अन्यथा इतना परिपक्क्व व चिंतनशील कवि भावहीन हास्यास्पद दृश्यावली का सृजन न करता। इस दृष्टि से बिहारी का विश्लेषण करने पर विरहपक्ष की दुर्बलता का स्वत: परिमार्जन हो जाता है।

किमधिकम् कदाचित भक्तार्त हृदय की सजल संवेदनात्मक भावना के परिस्फुरण के बाद बिहारी का भक्त हृदय स्थान-स्थान पर स्वयं को प्रकट कर ही देता है। उन्हें यह प्रतीत होता है कि उनका ईश्वर सचराचर विश्व में व्याप्त है। जिस प्रकार आईने के टूट जाने पर हजारों प्रतिबिंब उसमें लक्षित होते हैं उसी प्रकार वह ईश्वर भी सर्वत्र व्याप्त है-

मैं समुझ्यौ निरधार यह जगु काँच सौ।

एकै रूप अपार प्रतिबिंब लखियतु जहाँ॥ 181॥[134]

हालांकि बौद्ध दर्शन ईश्वरवादी नहीं था। परंतु उसमें शून्यता की बात अवश्य की गई है। लुइपा कहते हैं कि संसार की समस्त वस्तुएँ जल बिंदु में प्रतिफलित चंद्रबिंब के समान है। दर्शकों के लिए जलबिंदु में चंद्र की स्थिति है पर वास्तव में वह जलबिंदु के अलावा और कुछ नहीं है। शून्यता एक ऐसा तत्त्व है जिसका वर्णन कोई वेदादि शास्त्र नहीं कर सकते, क्योंकि उसका कोई वर्ण चिह्न आदि नहीं है-

जाहेर बान चिह्न रूप ण जाणी।

सो कइसे आगम बेएँ बखाणी॥

काहेरे किष भणि मइ पिरिच्छा।

उदक चान्द जिम साच न मिच्छा॥

लुइ भणइ (मइ) भाइब कीष।

जा लइ अच्छम ताहेर उह ण दिस॥ (चर्या सं. 29)

बिहारी ने ईश्वर के इस व्यापक रूप को स्वीकार न करनेवालों के लिए कुछ नहीं कहा परंतु लुइपा कहते हैं कि, जो इस सत्य को ग्रहण करने में अक्षम है उसके लिए यह सोच की दिशा ठीक नहीं है। बिहारी के 'एकै रूप अपार प्रतिबिंब' और सिद्ध लुईपा के 'उदक चान्द जिम' साच न मिच्छा में अपार सामंजस्य है।

बिहारी ने समस्त तीर्थादिकों का त्याग कर केवल हरि राधिका के चरणों की वंदना करने को कहा है-

तजि तीरथ, हरि राधिका तन दुति कर अनुरागु।

जिहिँ ब्रज केलि निकुंज मग पग पग हो पयागु॥ 201॥[135]

यही एक निष्ठ भाव चर्यागीतों में स्थान स्थान पर देखा जा सकता है। जहाँ चर्याकार केवल बुद्ध, धर्म और संघ के अलावा किसी और पर निष्ठा रखने को मना करते हैं, यहाँ तक कि जिन अष्ट सिद्धियों को हिंदू-तंत्रों में महासिद्धि की आख्या दी है बौद्धों ने उन्हें भी अष्ट गौण सिद्धि मानकर उनका परित्याग करने का उपदेश दिया है-

तिशरण णावी किअ अठक मारी।

निअ देह करुणा शूनमे हेरी॥ (चर्या सं. 14)

इसी क्रम में बिहारी कहते हैं कि इष्ट स्मरण की माला को पतवार बनाकर संसार सागर को पार कर सकते हैं-

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ।

तरि संसार पयोधि कौं, हरि नावैं करि नाव॥ 391॥[136]

चर्याकार कृष्णपाद भी केवल पंचतथागतों को ही नाविक बनाकर भव सागर को पार करने का उपदेश देते हैं-

तरित्ता भवजलधि जिम करि माअ सुइना।

मझ बेणी तरङ्गम मुनिआ॥

पञ्च तथागत किअ केडुआल।

बाहअ काअ काह्निल माआजाल॥ (चर्या सं. 13)

सिद्ध सरहपाद ने भी गुरु के वचनों को पतवार बनाकर साधना के सागर के पार जाने का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि इसके अलावा और कोई अन्य विकल्प नहीं बचता-

काअ णावड्ही खाण्टि मन केडुआल।

सद्गुरु बअणे धर पतवाल॥

चीअ थिर करि धरहुरे नाही।

अन उपायँ पार णजाइ॥ (चर्या सं. 38)

बिहारी ने शृंगार वर्णन अवश्य किया परंतु उन्होंने काम और वासना के मध्य एक विभाजक रेखा खींच दी। वासना को काम का अमर्यादित रूप कह सकते हैं। बिहारी ने इसी अमर्यादित आचरण की निंदा करते हुए कहा है कि भव सागर को पार करने को इच्छुक व्यक्तियों के लिए स्त्री की छवि छायाग्रहिनी राक्षसी के समान बीच में अवरोध डालती है-

या भव पारावार कौं उलँघि पार को जाइ।

तिय छबि छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहिँ आइ॥ 433॥[137]

दोहे में बिहारी ने रामायण में वर्णित कथा का सार ग्रहण किया है। इसी प्रकार का वर्णन सिद्धों के 'काकबंध' की प्रतिज्ञा लेने वाले गृहस्थों का किया है जो स्वयं को वासना से दूर नहीं कर पाए। कौवे को कभी किसी ने संगम करते नहीं देखा अत: यह विश्वास किया जाता है कि

कौवे यौन-संगम नहीं करते अत: यौन-संगम न करने की प्रतिज्ञा को काकबंध कहते हैं।[138] इस क्रम में कुक्कुरीपाद कहते हैं-

दुलि दुहि पिटा धरण नजाइ।

रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ॥

आङ्गन घरपण सुन भो बिआती।

कानेट चौरी निल अधराति॥

सुसुरा निद गेल बहुड़ी जागअ।

कानेट चोरे निल का गइ भागअ॥

दिवसइ बहुड़ी काउइ डरे भाअ।

राति भइले कामरु जाअ॥ (चर्या सं. 2)

इस पद में चर्याकार गृहस्थ साधकों से यही चाहते हैं कि वे अपनी गृहस्थी का त्याग भले ही न करे पर साधना में सिद्धि पाने के लिए स्त्री का साथ अवश्य त्याग दें।

जिस प्रकार बिहारी की उक्ति थी, उसी प्रकार सिद्धों की भी सोच रही थी। इस भाव को सार्वकालिक धर्मों में स्थान मिला है। संभवत: बह्मचर्य व्रत की आर्ष कल्पना भारतीय मूल की होने के कारण सर्वत्र व्याप्त है, परंतु समय के वृहद अंतराल में जन्मे दो कवियों में इतना साम्य होना आश्चर्यकर विषय है।

बिहारी ने 'सर्व देवम् नमस्कारम् केशवं प्रतिगच्छति' की भावना को प्रकट करते हुए कहा है कि-

अपने अपने मत लगे बादि मचावत सोरु।

ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नंद किसोरु॥ 581॥[139]

इसी प्रकार बौद्धों ने भी जैनियों व ब्राह्मणों के मतों को खंडित कर अपने मार्ग को प्रशस्त किया। केवल यही नहीं सिद्धों ने अपने तांत्रिक कुल का श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए अन्य बौद्ध मार्गों का भी खंडन किया। इसी क्रम में काह्नपाद ने पूजा-पाठ के समस्त बन्धनों को तोड़कर केवल दश बुद्धों की ही आराधना करने का उपदेश दिया है-

एवंकार दृढ़ बाखोड़ मोडुिउ।

बिबिह बिआपक बान्धन तोड़िउ॥....

..... दशबल रअण हरिअ दशदिसैं।

(अ) विद्या करि दमकुँ अकिलेसे॥ (चर्या सं. 9)

भुसुकुपाद ने कहा है कि अपने कुल में रहकर ही महासुख का अनुभव करना चाहिए रूपध्यान और जप में इतना अधिक बल देना उचित नहीं है।

सोण रुअ मोर किम्पि ण थाकिउ।

निअ परिबारे महासुहे थाकिउ॥ (चर्या सं. 49)

अपने कुल में रहने का तात्पर्य यह है कि बौद्ध तंत्रों की प्रत्येक धारा की कल्पना एक कुल के रूप में की गई है। प्रत्येक कुल एक कुलपति (बोधिसत्व) के अधीन होता है प्रत्येक कुल के अधिपति की उपासना ही उस कुल की साधना का पर्याय माान जाता है। अपने कुल के प्रति एक निष्ठ रहने से ही महासुख की प्राप्ति होती है, ऐसा उनका विश्वास है।[140]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि बिहारी का काव्य, जो अभी भी विद्वानों के शोध का विषय बना है, में तत्कालीन संस्कृति और समाज का अच्छा खासा लेखा-जोखा मिल जाता है। कवि की कथन भंगिमा में जहाँ मौलिकता की छाप देखी जाती है वहीं पर कुछ पारम्परीण भावबोध भी उभरकर आए हैं। विशेषकर जिन दोहों का साम्य चर्यापदों में देखा गया वह आश्चर्यकर विषय है।

हालांकि उस समय चर्यापद लुप्त हो चुके थे परंतु चर्यापदों का जो साहित्यिक और भावनात्मक प्रभाव समाज पर पड़ा वह सार्वकालिक बन गया। इसी परंपरा में यदि बिहारी को भी रखा जाए तो उनके दोहों में भी उन्हीं पूर्ववर्ती चर्यापदों के विलुप्त सूत्र खोजे जा सकते हैं। इसी से चर्यापदों के आविष्कार के बाद उनका साहित्यिक मूल्य भी धीरे-धीरे स्पष्ट हो रहा है।

संदर्भ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास,सं.नगेन्द्र,पृ.27
2. हिन्दी रीति साहित्य,भगीरथ मिश्र,पृ. 9
3. वही, पृ.11
4. मध्ययुग का इतिहास,ईश्वरी प्रसाद,पृ.496
5. हिन्दी रीति साहित्य,भगीरथ मिश्र,पृ.12
6. मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास,ईश्वरी प्रसाद, 504-505
7. मतिराम सतसई,394,पृ.40,मतिराम ग्रंथावली
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास,सं. नगेन्द्र,पृ 278
9. पद्मावत,सं. वासुदेव शरण अग्रवाल,पृ.113
10. गीत गोविंदम्,प्रथम:सर्ग:, **Ed. Barbara stoler Miller,Pg. 129**
11. पद्मावत,सं. वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ.14
12. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं नगेन्द्र, पृ.371-374
13. वही, पृ.376
14. वही, पृ.380
15. वही, पृ.381-383
16. वही, पृ.388-393
17. वही, पृ.394
18. वही, पृ.346
19. हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्विवेदी, पृ.105-107
20. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं नगेन्द्र, पृ.371-374
21. साप्ताहिक वर्तमान, बंगला पाक्षिक पत्रिका, 19 नवंबर 2005, पृ.12-13
22. सूर साहित्य, द्विवेदी, पृ.26
23. बुद्धिस्ट इसोटेरिस्म, विनयतोष भट्टाचार्य, पृ.129-141
24. Tantric Buddhist Iconographic sourcess, Dr. Dip chandra Bhattacharyya, Chapter-3 (Tara and her Menifestations)

25. हिन्दी साहित्य की भूमिका,द्विवेदी,पृ.114
26. हिंदी रीति साहित्य, भगीरथ मिश्र,पृ.199
27. हिन्दी साहित्य की भूमिका द्विवेदी,पृ.106
28. रीलीजन ऑफ टिवेट,पृ.187
29. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेन्द्र, पृ.331
30. वही/पृ.332
31. मतिराम ग्रंथावली/संपा. कृष्णबिहारी मिश्र, ब्रजकिशोर मिश्र, पृ.3
32. वही
33. वही, पृ.4-5
34. वही, पृ.7
35. वही
36. वही, पृ.201
37. वही, पृ.255
38. वही, पृ.388
39. वही, पृ. 420
40. चर्यापद, डॉ. परीक्षित हजारिका, पृ.173
41. मतिराम ग्रंथावली, संपा. कृष्णबिहारी मिश्र, ब्रजकिशोर मिश्र, पृ.425
42. वही, पृ.423
43. वही, पृ.406
44. वही, पृ.426
45. वही, पृ.413
46. वही, पृ.370
47. वही, पृ.374
48. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेन्द्र, पृ.190
49. वही
50. वही
51. वही

52. वही
53. रीतिकाव्यधारा, संपा. डॉ. रामचंद्र तिवारी, डॉ. रामफेर त्रिपाठी, पृ. 18 विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1995.
54. वही, पृ.20
55. सुकवि भारती : केशवदास, संपा. विश्वनाथ प्र. मिश्र, पृ.104
56. चर्यागीत आरू बौद्ध तंत्र, डॉ. प्रणवज्योति डेका, पृ.132
57. सुकवि भारती : केशवदास, संपा. विश्वनाथ प्र. मिश्र, पृ.104
58. चर्यागीत आरू बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणज्योति डेका, पृ.138
59. http : || www.kahandro.net, Tib Bud%2a Vajrayana.htm.
60. चर्यागीत आरू बौद्ध तंत्र, डॉ. प्रणवज्योति डेका, पृ.132
61. सुकवि भारती: केशवदास, विश्वनाथ प्र. मिश्र, पृ.144
62. सुकवि भारती: केशवदास, विश्वनाथ प्र. मिश्र, पृ. 144
63. Introduction to Buddhist tantric system, Lessing & Wayman, Pg. 196
64. वही, पृ.133
65. http : || www.kahandro.net/Tib Bud%2a Vajrayana.htm.
66. सुकवि भारती: केशवदास/संपा. विश्वनाथ मिश्र,पृ. 147
67. वही, पृ.152
68. वही, पृ.152
69. Obscure Religious Cults,Dasgupta,115.
70. नाथ संप्रदाय, आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.111
71. महानिर्वाणतंत्रम्, संपा. जगनोहन तर्कालंकार, पृ. 342. द्वितीय भाग
72. चर्या सं. 4
73. चर्यागीत आरू बौद्धतंत्र डॉ. डेका, पृ.127
74. श्यामारहस्यम्, संपा. जगन्मोहन तर्कालंकार,पृ.126
75. नाथ संप्रदाय, हजारी प्र. द्विवेदी, पृ. 129, पाद टीका
76. Obscure Religious Cults, Dasgupta, पृ.114-115

77. Introduction to Buddhist tantric system, Lessing & Wayman, Pg. 319
78. कामाख्या तंत्रम्, संपा. पंचानन शास्त्री, पृ.117
79. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेन्द्र, पृ.146
80. वही, पृ.312
81. वही, पृ.315
82. हिन्दी साहित्य का नवीन इतिहास, डॉ. लाल साहब सिंह, पृ.109
83. रीतिकाव्य धारा, संपा. डॉ. रामचंद तिवारी, डॉ. रामफेर त्रिपाठी, पृ.92
84. दोहाकोश, एचसी भयानी, पृ.3
85. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. डेका, पृ.249
86. रीतिकाव्य धारा, संपा. तिवारी त्रिपाठी, पृ.92
87. वही
88. वही, पृ.114
89. वही, पृ.116
90. वही, पृ.107
91. http : || www.kahandro.net/Tib Bud%2a Vajrayana.htm.
92. रीतिकाव्य धारा, संपा. तिवारी त्रिपाठी, पृ.107-108
93. वही, पृ.116
94. रीतिकाव्य धारा, संपा. तिवारी त्रिपाठी, पृ.107-108
95. दोहाकोशगीति, संपा. एच.सी. भयाणी, पृ.1
96. आदिकालीन काव्य
97. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ.6
98. रीतिकाव्यधारा, संपा. तिवारी त्रिपाठी, पृ.109
99. दोहाकोषगीति, संपा. एच.सी. भयाणी, पृ.16
100. रीतिकाव्यधारा, संपा. तिवारी त्रिपाठी, पृ.115
101. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेन्द्र, पृ.356
102. वही, पृ.359

103. घनानंद कवित्त, रामदेव शुक्ल, पृ. XXVII(भूमिका)
104. वही
105. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा नगेन्द्र, पृ.361
106. वही, पृ.359
107. वही, पृ.359
108. वही, पृ.359
109. रासलीला रहस्य (कल्याण), वर्ष 38, अंक 10, पृ.1459
110. घनानंद का काव्य, रामदेव शुक्ल, पृ.16
111. वही, पृ.50
112. वही, पृ.112
113. वही, पृ.26
115. वही, पृ.117-118
116. Introduction to Buddhist tantric system, Lessing and wayman, Pg. 35
117. रीतिकाव्य धारा, संपा. तिवारी त्रिपाठी, पृ.137
118. वही, पृ.26
118. वही, पृ.165
119. वही, पृ.166
120. बोधा ग्रंथावली, संपा. विश्वनाथ मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, सं. 2031, पृ.3 (इश्कनामा)
121. वही, पृ.2 (इश्कनामा)
122. वही, पृ.14 (इश्कनामा)
123. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणव ज्योति डेका, पृ.177
124. हिन्दी साहित्य का नवीन इतिहास, डॉ. लाल साहब सिंह, पृ.104
125. वही, पृ.103
128. बिहारी रत्नाकर : जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ.11
129. वही, पृ.16

126. बिहारी रत्नाकर : जगन्नाथ दास रत्नाकर (रत्नाकरी टीका) तारा पब्लिकेशन, वाराणसी (1979)

127. दोहाकोश, संपा. ए. सी. भयाणी, पृ.10

130. वही, पृ.28

132. वही, पृ.46

133. वही, पृ.71

133. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेन्द्र, पृ. 212

134. वही, पृ.96

135. वही, पृ.96

136. वही, पृ.180

137. वही, पृ.200

138. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणव ज्योति डेका, पृ.115

139. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ.270

140. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ. डेका, पृ.329

अध्याय-6

आधुनिक हिंदी साहित्य पर प्रभाव

अध्याय-6

आधुनिक हिंदी साहित्य पर प्रभाव

आधुनिक कविता : सामान्य विवेचन :

साहित्य मानव सभ्यता के मनोविकारों, चित्तवृत्तियों और अनुभूतियों को क्षुब्ध, उद्वेलित और झंकृत कर सकता है। इस द्वन्द्वात्मक भूतल को संतुलित रखने में उसकी भूमिका भी विशिष्ट रही है। शब्दों के यथोचित प्रयोगों से यह काव्य संभव बन पड़ा। साहित्य अकथ्य भावों की पुनर्रचना है, लावण्यमय और नित्यनूतन, चिर पुरातन है। यह समाज के गत्यात्मक परिवर्तनों का साक्षी है। इन्हीं परिवर्तनों की गणना साहित्य के इतिहास में होती है।

इसी क्रम में आधुनिक काल भी हिंदी साहित्येतिहास का अंतिम कालांश है। विद्वानों ने आधुनिक काल के आरंभ की सीमारेखा खींचते हुए, आधुनिक जीवनबोध के परिचायक और उन्नायक भारतेंदु हरिश्चंद्र के जन्म काल 1850 ई. अर्थात् उन्नीसवीं सदी का मध्य भाग निर्धारित किया है।[1] इस काल में काव्य की कोई विशिष्ट प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती।

इस कालांश में सामंतवादी और पूँजीवादी शक्तियों में युद्ध चल रहा था। अंग्रेजों और स्थानीय राजाओं में घोषित-अघोषित, व्यक्त-अव्यक्त द्वन्द्व चलता रहा। धीरे-धीरे स्थानीय राजन्य वर्ग की सामंतीय परिधि भी सिमटती जा रही थी और इसी क्रम में पूँजीवादी अंग्रेजों का भी अग्रासन चलता रहा। फलतः भारत भूमि में अंग्रेजों का उपनिवेश स्थापित हो गया। अंग्रेजों ने अपनी आर्थिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक नीतियों में परिवर्तन किए। इस देश के लोग भी इससे

अनुप्राणित होकर कुछ नया सोचने और समझने के लिए बाध्य हुए। साहित्य पुनः मनुष्य के बृहत्तर भावों के साथ सम्मिलित हुआ। यह प्रक्रिया भारतेंदु के समय में गद्य लेखन के माध्यम से हुई। नया युग अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक सशक्त भाषा खोज रहा था। लालित्यमयी ब्रज भाषा भी इन आधुनिक भावों को वहन करने में अक्षम हुई फलतः खड़ी बोली की नवीन चेतना का विकास होने लगा।

कलकत्ते में पोर्ट विलियम्स कॉलेज की स्थापना के बाद से भारतीय धर्म संस्कृति पर ईसाई मिशनरियों ने कीचड़ उछालना शुरू किया। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हिंदू युवकों ने निषिद्ध गोमांस का भक्षण कर अपने प्रगतिशीलता का परिचय देने का प्रयास किया। उद्धत हिंदू युवकों से एक प्रकार से समाज में व्याप्त विचारधाराओं को झकझोर दिया था।[2] इसी क्रम में अंग्रेजों के नवीन विचारधारा ने देश के पुरातन धर्म संस्कृति को बद्धमूल भाव से उखाड़ फेंकने का पुरजोर प्रयास किया। उन्नीसवीं सदी भारत के लिए सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पुनरुत्थान का काल था। इस समय भारतीय मनीषा में अपने विगत वैभव के प्रति श्रद्धा और अनागत भविष्य के लिए प्रलोभन के भाव भरे थे। इसी नव्य स्फुरत् भाव से उत्प्रेरित होकर कवियों ने लोकमानस में नवीन भाषा के माध्यम से चेतना संचरित करने का सफल प्रयास किया। केवल इतना ही नहीं, विचारों में क्रांति हुई जिसके फलस्वरूप राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और भाषीय आदि सभी क्षेत्रों में आंदोलन हो उठा। देश को स्वतंत्र बनाने के लिए लोग इंकलाबी आंदोलनों में कूद पड़े। सन् सत्तावन में अंग्रेजों के खिलाफ जिस युद्ध का श्रीगणेश हुआ उस पर पूर्ण विराम अंग्रेजों को देश से निष्कासित करने के बाद ही लगा। इस प्रकार के आधुनिक साहित्य के पुरष्कर्ता भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। इसी कालांश में खड़ी बोली गद्य का भी विकास हुआ। इसी समय भारतेंदु का व्यक्तित्व उभरकर आया जिसने साहित्य की प्रत्येक विधा–नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध एवं आलोचना आदि विविध विधाओं का विकास किया।

भारतेंदु युग : भारतेंदु युग में गद्य के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए उसी प्रकार काव्य की धारा को नए-नए क्षेत्रों की ओर मोड़ा, जिसका मूल स्वर देश भक्ति एवं समाज सुधार था। भारतेंदु एक ओर तो भक्ति काल और रीति काल से प्रेरित थे और दूसरी ओर वे समकालीन परिवेश के प्रति भी जागरूक थे। काव्य के क्षेत्र में भारतेंदु ने ही नये विषयों की ओर मोड़ा हो परंतु वे काव्य की भाषा को न बदल सके। काव्य की भाषा ब्रज ही रही। भारतेंदु युग में गद्य के लिए खड़ी बोली और पद्य के लिए ब्रज भाषा का निर्धारण हुआ। वस्तुतः 19वीं शताब्दी के अंत में श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में प्रथम बार कविता लिखकर अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति का परिचय दिया। उनकी कृति 'एकांतवासी योगी' खड़ी बोली का प्रथम मधुर काव्य है।

द्विवेदी युग : कविता के क्षेत्र में द्विवेदी युग का प्रारंभ एक आंदोलन के रूप में सामने आया। सन् 1903 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन के माध्यम से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने गद्य और पद्य दोनों के क्षेत्र में भाषा, व्याकरण एवं काव्य रूप आदि सभी का सर्वांगीन विकास किया। राष्ट्रवाद, मानवीयता, समाज सुधार, सांस्कृतिक जागृति एवं आध्यात्म व नव चिंतना की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गई। सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक अंधविश्वासों पर कुठाराघात किया। भाषा के क्षेत्र में खड़ी बोली को विशिष्ट महत्त्व देकर स्थापित किया गया। काव्यरूप की दृष्टि से प्रबंधकाव्य की शैली में महाकाव्य और खंडकाव्य की प्रभूत रचना हुई।

द्विवेदी युग का वास्तविक वैशिष्ट्य काव्य को बाह्य उपादानों से मुक्त करना था। इसके साथ ही उन कवियों ने खड़ी बोली को आधुनिक भावों के संवहन के स्तर तक उठाया। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का प्रिय प्रवास, गुप्त जी का साकेत, रामनरेश त्रिपाठी के खंडकाव्य 'पथिक', मिलन आदि प्रमुख युगीन काव्यग्रंथ हैं।

इसी समयांश में संस्कृत काव्य के उपेक्षित पात्रों पर भी काव्य लिखे जिनमें यशोधरा और साकेत उल्लेख्य है। साथ ही राष्ट्रीयता की जो ओजस्वी धारा भारतेंदु युग से प्रवाहमान थी, उसका

पल्लवन इस युग में हुआ। माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी जैसे कवियों ने इसका सांगोपांग विकास किया।

द्विवेदी युगीन काव्य की विशिष्टता वास्तव में काव्य को बाह्य आवरणों से सजाने की नहीं थी, वरन् उसकी आत्मा में परिवर्तन लाकर उसे युग सापेक्ष बनाना तथा युग को प्रेरणा देना था। इस वैशिष्ट्य का निदर्शन प्रियप्रवास, साकेत, पथिक, मिलन आदि काव्यों में स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इस काल की कविता की विकास यात्रा अपने विकासक्रम की अवधि में नित्यप्रति परिवर्तन को स्वीकारती हुई चली आ रही है। इसी क्रम में छायावादी काव्यधारा का भी विकास पूर्णांग रूप में हुआ। आधुनिक युग कविता की प्रवृत्ति में इतने सघन परिवर्तन हुए जिसके फलस्वरूप कविता की अनेक भिन्नमुखी धाराएँ चल पड़ी हैं।

छायावाद युग : द्विवेदी युग में ही छायावादी काव्य के लक्षण श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी की कविताओं में दिखाई देने लगे। श्रीधर पाठक की कविताओं में जिस स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण का सूत्रपात हुआ उसी का व्यापक विस्फार छायावादी युग के रूप में उदित हुआ। द्विवेदी युग के आदर्श बोझिल व नीतिपरकता के बंधनों के कारण कवि की अभिव्यक्ति छिप-सी जाती थी। अतः ऐसी परिस्थिति में कवि का हृदय प्रणयानुभूति की ओर आकृष्ट होना सहज है। अतः कवि की लेखनी से हृदय जगत के आर्त स्वर, वैयक्तिक अनुभूति, गहन भावनाएँ, सौंदर्य कल्पनाएँ और लाक्षणिक शब्दावली अभिव्यक्त होने लगे। वास्तवतः छायावाद में वस्तुगत सौंदर्य के सूक्ष्म स्तरों का उद्‌घाटन कर वस्तु के बाह्य आकार की अपेक्षा उसमें निहित भावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहराइयों की पैठ करके हिंदी कविता के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

कुल मिलाकर कहा जाए तो छायावाद व्यक्तिगत अनुभूतियों की काव्यिक अभिव्यक्ति है। इसमें कवि के निजी सुख-दुख की अबाध अभिव्यक्ति, भावुकता का प्रकटन स्वच्छंद रूप से होता है। कविता की इसी आत्मपरक प्रवृत्ति के कारण ही छायावाद मुख्यतः प्रगीत काव्य है।

वैयक्तिक भावों की अभिव्यक्ति के कारण भी छायावादी काव्य की भाषा अधिक सूक्ष्म, लाक्षणिक और चित्रात्मक हो गई जिसमें भाव प्रवणता और अर्थ-गांभीर्य सहजता से आ सके। नवीन आलंकारिक और छांदसिक विधान का मुक्त कंठ से स्वागत किया। हालांकि अतुकांत वर्णकृत और मुक्त छंदों का सूत्रपात द्विवेदी युग में ही हो चुका था। छायावादी कवियों ने इससे और आगे बढ़कर केवल भाव लहरी के आधार पर ही छंद गठन किया। निराला द्वारा प्रयुक्त छंदों का उदाहरण सर्वोत्कृष्ट है।

काव्य की दृष्टि से छायावादी युग सबसे समृद्ध रहा है। इसी युग के कामायनी, तुलसीदास, आँसू, राम की शक्तिपूजा जैसी रचनाओं ने समस्त हिन्दी जगत को आलोड़ित कर दिया। कामायनी, छायावाद के समस्त प्रवृत्तियों से आवृत्त एक कालजयी महाकाव्य है। छायावाद के चार स्तंभों के रूप में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत विख्यात हैं। प्रसादजी छायावाद के प्रर्वतक और उन्नायक के रूप में प्रसिद्ध हैं।

छायावादी काव्य में कवियों ने अंतर्मुखी कल्पना द्वारा सूक्ष्म भावनाओं का चित्रण किया है। वैयक्तिक और ईश्वरोन्मुखी प्रेम, प्रकृति के मानवीकृत स्वरूप का चित्रण, विगत वैभव के प्रति श्रद्धा एवं आनगत के प्रति आकुल जिज्ञासा इस काव्य का वैशिष्ट्य रहा है। इनके क़ाव्य में निहित व्यक्तिगत प्रेम भी साधारणीकृत होकर विश्व-मनुज के प्रति प्रेम का परिचायक बन गया है। इन काव्यों में प्रणयगीतों के साथ ओजस्वी भाषा का भी सूत्र बुना गया।

प्रगतिवादी साहित्य : जिस प्रकार द्विवेदी युगीन नैतिकता और संयमपरकता के बोझ को छायावादी कवियों ने उतार फेंका। वे कवि साकी, मादकता और मांसल प्रणय का स्वच्छंदता से वर्णन करने लगे। इससे समाज का एक विशिष्ट चिंतक वर्ग विक्षुब्ध हो उठा। सम्पूर्ण काव्य साहित्य के परिवर्तनशील प्रतिमानों के मध्य राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ ही सहायक रही हैं। इन्हीं नव्य उपादानों के चलते सन् 1930 में प्रगतिवादी काव्य का उदय हुआ।

सन् 1935 में एम. कार्स्टर की अध्यक्षता में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक अंतर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। सन् 1936 में भारत में सज्जाद जहीर और मूल्कराज आनंद के प्रयासों से इस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। तब ही से हिन्दी साहित्येतिहास में प्रगतिवादी काव्य धारा का विमोचन हुआ।

दरअसल प्रगतिवादी कविता किसी निश्चित वाद पर आश्रित नहीं थी वरन् विचारों की निर्भीक अभिव्यक्ति और प्रगति की दिशा में समाज में साम्यवाद की माँग करना इनके काव्य का वैशिष्ट्य है। साथ ही ये पुरातन कुरीतियों और कुसंस्कारों का परित्याग कर एक स्वच्छ और नवीन समाज गढ़ने का समर्थन करते हैं।

प्रगतिवादी कवियों ने छायावादी कवियों की घोर वैयक्तिकता या आत्मवादी चिंतना को समाज के हित के विरुद्ध मानकर उसका स्पष्ट विरोध किया। समाज के निष्पेषित, शोषित और दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति इस काव्य का मूल कथ्य है। यह कवि मार्क्सवादी विचारधारा से काफी प्रभावान्वित थे। इसी से वे समाज में साम्यवाद और मार्क्स-उपदिष्ट द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। इसी कारण इन कवियों में विरोधी और क्रांतिकारी स्वर श्रुतिगोचर होते हैं। राजनीतिक दासता देश में एक ओर पूँजीवादी और सामंतवाद की पोषक शक्तियों को बढ़ावा दे रही थी तो दूसरी ओर जनसामान्य में अशिक्षा, बेकारी, गरीबी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध (1939), बंगाल का अकाल जैसी भीषण घटनाएँ घटित हो रही थी। ऐसी स्थिति में वर्द्धमान उग्र जनचेतना, रूस में मार्क्सवादी पर आधारित साम्यवाद का प्रभाव कवियों पर पड़ना स्वाभाविक था। प्रगतिवादी काव्य यथार्थवादी भावों का पोषक है। बाद में छायावाद के पृष्ठपोषक कवियों ने भी अपनी धारा यथार्थवाद की ओर मोड़ दिया। पंत ने 1936 में युगवाणी और ग्राम्या (1940) की रचना कर प्रगतिवाद की सूचना दी। निराला कृत कुकुरमुत्ता और भिक्षुक जैसी कविताएँ प्रगतिवाद के सशक्त हस्ताक्षर थे।

इस काव्य धारा का मूल स्वर जनवादी था इसी कारण इनकी भाषा काव्यात्मक होते हुए भी सहजबोध्य और जनमुखी था। इसके शब्द, प्रतीक व मुहावरे आदि सामान्य जनजीवन के बीच से ही लिए गए।

प्रयोगवाद : प्रत्येक काव्य प्रवृत्ति के ह्रास के बाद नवीन प्रयोग होते रहे हैं। सामान्य अर्थ में इसी प्रवृत्ति को प्रयोगवाद कह सकते हैं। प्रयोगवादी काव्य की मूल चेतना फ्रायड के काम सिद्धांत एवं व्यक्ति स्वातंत्र्य को साथ लेकर नए-नए भाव बोधों, अनुभूतियों एवं नव्य शिल्पगत तथ्यों को लेकर सन् 1943 ई. में 'तार-सप्तक' के प्रकाशन के बाद साहित्य जगत में प्रविष्ट हुआ। इस व्यस्त समाज में प्रत्येक व्यक्ति कुंठा, संत्रास और निराशा से जूझते हुए अपनी अस्मिता को खोता जा रहा है। इसी दमित अस्तित्व के कारण व्यक्ति की समस्त वासनाएँ भी अवदमित हो जाती हैं फलतः वह नैराश्य के घेरे में बँध जाता है। इसी व्यक्तित्व के क्षरण के पश्चात उद्‌भूत मानसिकता को प्रयोगवादी कवियों ने पहचाना और उन्होंने पुनर्विश्लेषण एवं स्वाध्याय का मार्ग खोल दिया।

प्रयोगवादी काव्य के व्यक्तिवाद ने व्यक्ति को समाज के बाहर लाकर खड़ा कर दिया और नवीन प्रयोगों की दुर्धर्ष आकांक्षा ने विलक्षण प्रतीकों, प्रयोगों, बिंबों एवं छंद विधान को प्रश्रय दिया जिसके चलते उनकी कविता दुरूह हो गई। अज्ञेय ने इसी व्यक्तिवादी चिंतना को समष्टि चेतना बनाने का प्रयास किया और व्यक्ति को समाज का अविच्छेद्य अंग मानकर उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी की।

नयी कविता : प्रगतिवादी काव्य का पर्यावसान नयी कविता में हो गया। या नयी कविता को प्रयोगवाद का ही विकसित रूप कहा जा सकता है। प्रयोगवादी कविता के प्रवर्तक अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' (1951) के प्रकाशन के माध्यम से नयी कविता की शंखध्वनि की। आगे चलकर सन् 1954 में डॉ. जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी के संपादन में 'नयी कविता' नामक

पत्रिका के प्रकाशन के बाद इस धारा को प्रतिष्ठा मिली। इस काव्यधारा का एकमात्र लक्ष्य समाज की सर्वांग अनुभूतियों की यथावत् अभिव्यक्ति करना है। जीवन में स्थित अभिलाषा के प्रति आशान्वित भाव, व्यक्ति चेतना का विकास, जीवन के प्रति पूर्ण अनुराग, क्षण की अनुभूति और उसे भोगने की लालसा जैसे भाव इस धारा में व्यापक रूप से चित्रित है। इन कवियों ने समाज के बीच में रहकर ही अपनी समस्याओं का समाधान खोजना श्रेयष्कर माना। वे समाज की समष्टि गत शक्ति को व्यष्टि में सन्निविष्ट कर एक नव्य समाज की स्थापना करने को तत्पर हैं। इन्हीं कवियों ने स्वतंत्र भारत के राजनीतियों की अक्षमता को प्रकट किया।

जहाँ तक नयी कविता में अपने समय के प्रति जागरूकता एवं व्यक्तिमात्र के प्रति सहानुभूति है, वहीं दूसरी ओर ये कवि कुछ उच्छृंखल भी हो गये हैं। कम शब्दों में अधिकाधिक अभिव्यक्त करने की अकुलाहट में इनकी कविता में उन्मुक्त एवं नग्न सैक्स तथा अनावश्यक प्रयोग भी हुए हैं। इससे कविता का सौंदर्य और सौकुमार्य विलुप्तप्राय हो गया।

अंतत: कहा जा सकता है कि नयी कविता जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति की सार्थकता ही नयी कविता का लक्ष्य है। इस लक्ष्य के लक्षित कवि मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद, शमशेर, रघुवीर सहाय, गिरिजा कुमार माथुर, केदारनाथ अग्रवाल आदि हैं।

साठोत्तरी कविता : सन् 1960 के बाद ही कविताओं में समय-समय पर नए-नए बदलाव आने लगे हैं। केवल काव्यिक अंश को ही लिया जाए तो मिलेगा कि इस समय की कविता को अकविता, नकविता, अस्वीकृत कविता, युयुत्सुवादी कविता, प्रतिबद्ध कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, कबीर पीढ़ी की कविता आदिक संज्ञाएँ दी गईं। साठोत्तरी कविता में समसामयिक चेतना और यथार्थ की अभिव्यक्ति की चेष्टा की गई साथ ही इसमें स्पष्टवादिता, विद्रोह के स्वर और आक्रोश का प्रकंपन भी है अत: इन कविताओं में कविकर्म की लाक्षणिकता व मानवीय जीवन मूल्यों का प्रभाव लेशमात्र भी नहीं रह गया।

सन् 1965 में अकविता नामक संकलन पत्रिका के रूप में प्रकाशित हुआ। वस्तुतः कविता के संदर्भ में ये अकविता, नकविता आदि विभिन्न नाम यकिंचित प्रवृत्तिगत अंतरों के अलावा एक ही जैसी हैं। इनमें अकविता की धारा सर्वाधिक चल पड़ी।

अकविता की काव्यधारा में असंतोष, अस्वीकृति और विद्रोही स्वर मुखरित हुए। हालांकि नयी कविता में ही यही अलगाववादी स्वर विद्यमान था परंतु साठ के दशक के बाद की कविताओं में यह असंतोष भयानक आक्रोश और विद्रोह में परिवर्तित हो गया। समाज की जटिल समस्याओं के साथ कवि की लेखनी भी तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होती गई। विशेषकर देशीय राजनीतिज्ञों के असभ्य आचरण व स्वजनतोषण के प्रति इन कवियों ने रणहुंकार किया है। इस धारा की कविता में एक नयी काव्य संवेदना का विस्तार है। इन कवियों में दैनन्दिन जीवन में व्याप्त अंतर्विरोधों और जटिल भावों को समझने की शक्ति विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने समान्य जनता के मूक शब्दों को काव्यिक अभिव्यंजना दी और जीवंत परिस्थितियों को उत्पन्न किया। इस दौर में धूमिल, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसे सामाजिक चेतना युक्त कवियों का प्राधान्य था। लेकिन जब ये कवि कुछ और आगे बढ़े तो कवि, कविता और पाठक के परस्पर संबंध को नकारते हुए आगे बड़े और एक प्रकार से एक नए संवेदनशीलता का प्रचार किया। अपने पक्ष के समर्थन के लिए उन्होंने छंद, लय, सौंदर्य दृष्टि और वास्तविकता का नग्न साक्षात्कार, बिंबों, प्रतीकों आलंबनों आदि के माध्यम से उन्होंने ऐसी बातें कहीं जिनसे उनकी नूतनता और प्रबुद्धता सिद्ध हो सकती थी। अकविता पाठकों को नहीं वरन् स्वयं को संबोधित करते हुए आत्ममंथन करता है।

तथ्य यह है कि अगीत, अकविता, अकहानी, अनाटक, अउपन्यास आदिक आंदोलन क्षणिक सिद्ध हुए हैं। उनमें कोई विचारगत नवीनता नहीं था वे जीवन की जटिल परिस्थितियों से प्रेरित होकर कविता लिखते थे और नूतनता के आग्रही थे। परंतु इन्हें नवीन वाद चलाने का कोई

दृढ़ आधार न मिला जिसके कारण ऐसे आंदोलन बीच में ही रुक से गए। अद्यतन कविता के विषय में यही कहा जा सकता है कि आज न कोई आंदोलन है और न किसी नवीन वाद का हुंकार ही है आज की कविता केवल कविता है।

भाव परक प्रभाव :

आधुनिक कविता अपनी सोच और अभिव्यक्ति की शैली के स्तर पर नवीन अवश्य है। हिन्दी में प्रथम बार भाषा के स्तर पर एक वृहद् आंदोलन हुआ और खड़ी बोली हिंदी की प्रतिष्ठा हुई। परिवर्तित परिस्थतियों के साथ हिंदी साहित्य की परिधि नव्य वादों की विचरण स्थली बन गई। परंतु एक विशिष्ट चिंतना आदिकालीन युग की सहस्राब्दियों को भेदती हुई आधुनिक काल तक आई यह थी बौद्धों की चिंतन प्रक्रिया कुछ चिंतन संभवत: कालजयी होते हैं जिन्हें बौद्ध, जैन या ब्राह्मण्य शाखाओं से संपृक्त कर देना उचित नहीं। तथापि उद्भावकों को श्रेय देते हुए उसे वर्गीकृत किया जाता है बौद्धों ने जिस समय अपने भावों को समाज के सम्मुख रखा उसके नावीन्य की चकाचौंध ने एक बार समग्र भारत खंड को हतप्रभ कर दिया। 'जम्बूद्वीपे भारतखंडे' एक ऐसे नवीन सोच की शुरूआत हुई जो प्रचलित धर्म साधनों के विरुद्ध होते हुए भी विनय और करुणा के पक्षपाती थे। इस प्रकार की नूतन भावधारा का स्वागत आधुनिक काल में उदात्त रूप में हुआ। उसी के फलस्वरूप भाव की दृष्टि से केवल आधुनिक काव्य ही नहीं वरन् आधुनिक गद्य भी उससे प्रभावान्वित था।

1. छायावादी काल पर बौद्ध प्रभाव :

हिन्दी का आधुनिक युग भारतेंदु काल से आरंभ होता है। इस युग को साहित्यिक उपलब्धियों के स्थान पर भाषा आंदोलन का युग मानना श्रेयष्कर होगा क्योंकि इस युग के कवि गद्य भाषा के रूप में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा के लिए अधिक सर्तक दिखाई दे रहे थे। साहित्य की

हर विधाओं को समृद्ध करने का अभियान चलाया गया और इस क्रम में साहित्य तो विकसित हुआ पर उसकी गुणवत्ता की स्तरीयता प्राथमिक रूप में ही रही। इसके पश्चात द्विवेदी युग में भाषा का परिष्करण और परिमार्जन हुआ। साहित्यिक क्षेत्र को मर्यादाओं और संयम के बंधन से जकड़कर रखने के कारण कवियों की आत्मिक अभिव्यक्ति खोसी गई थी। इस युग में सूक्ष्म भावों के स्थान पर स्थूल शब्दों का काव्य लिखा गया था। प्रसिद्ध है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने निराला जी की कविता 'जूही की कली' को सरस्वती में प्रकाशित करने से इंकार कर दिया। संभवत: इन्हीं बंधनों को तोड़कर स्वच्छंद अनुभूति के प्राकट्य के प्रयास में छायावाद का आरंभ हुआ। छायावादी काव्य की परंपरा की ओर इंगित करते हुए उसे वैदिक युग के ऊषा या रात्रि के वर्णन क्रम से आरंभ होता है। प्रकृति का मानवीकरण छायावादी युग का वैशिष्ट्य माना जाता है। द्वितीयत: छायावाद स्वच्छंदता-वादी काव्यधारा है। कवि के मन की अभिव्यक्ति यहाँ स्पष्ट रूप से हुई है। यहाँ स्वानुभूति की प्रत्यक्ष विवृत्ति दी गई है जो कवि के वैयक्तिक प्रणय से लेकर करुणा और आनंद की परिणति तक विस्तारित है। छायावादी कवियों ने मूलत: प्रणय की अनुभूति को त्याग किया है। लेकिन उसका चित्रण अभिनव और मार्मिक रूप से हुआ है। छायावादी काव्य में अनुभूति और सौंदर्य के स्वर पर प्राय: मानव और प्रकृति के भावों और रूपों का तादात्म्य दिखाई देता है। यह काव्य गीतों और मुक्त छंदों की कविताओं से परिपूर्ण है वहीं यहाँ कई खंडकाव्य और महाकाव्य थी लिखे गए हैं। छायावादी काव्य को पारंपरिक काव्य के साँचे में नहीं रखा जा सकता है।

इसी प्रकार की स्वच्छंदतावादी दृष्टि चर्यापदों में भी लक्षित की जा सकती है। समस्त चर्याकारों ने अपने मनस् की गहन अनुभूति को जिस प्रकार मुक्त छंद में व्यक्त किया वह उस युग के लिए एक स्वच्छंद प्रयोग के समान था।

चर्याकारों ने स्थान -स्थान पर प्रकृति और शरीर के आंतरिक अंगों का मानवीकरण किया है। इन कवियों ने प्रकृति को अंतस्थ माना इसी कारण यह प्रकृति भौतिक नियमों से मुक्त मानी जाती है।[3] डोम्बी वायु द्वारा अवधूतिका नाड़ी का स्पर्श करने की क्रिया को मानवीकृत रूप में प्रस्तुत किया-

नगर बाहिरि रे डोम्बि तोहोरि कुड़िआ।

छइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥ (चर्या सं.10)

नश्वर देह के अंदर आवृत शक्ति का चित्रण करने के क्रम में बिरूवापाद ने शुंडिनी द्वारा मद्य तैयार करने की प्रक्रिया से तुलना की है-

एक से शुण्डिणी दुई घरे सान्धअ।

चीअण बाकलअ बारुणि बान्धअ॥ (चर्या सं. 3)

सारे चार्यगीत स्वानुभूति के दस्तावेज हैं। वहाँ कवियों की तीव्र अनुभूति का वर्णन स्पर्श रूप से मिलता है। कुक्कुरीपाद अपने गुरु से निराश हैं और जो चाहकर साधना में उतरे थे उन्हें वह नहीं मिला जिसके कारण उनके मन में विकट संघर्ष हो रहा है-

हाँउ निरासी खमण भतारे।

मोहोर बिगोआ कहण नजाई॥

फेटलिउ गो माए अन्तउड़ि चाहि।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि ॥ (चर्या सं. 20)

चर्याकारों का प्रणय निवेदन भी स्वयं में एक उपलब्धि है। यह प्रणय निवेदन चाहे नगर चाहे नगर के बाहर रहने वाली डोम्बि से हो चाहे ऊँचे -ऊँचे पर्वत के शिखर में रहनेवाली शबरी बाला हो।

ऊँञ्चा ऊँञ्चा पाबत तँहि बसइ सवरी बाली।

मोरङि पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुँञ्जरी माली॥

उमत सवेरो पागल शवरो मा कर गुली गुहाड़ा तोहौरी ।

णिअ धरिणी नामे सहज सुन्दारी ॥ (चर्या सं. 28)

काह्नपाद तो विवाह के बाद योगिनी के साथ अहर्निश सुख प्रसंगों में ही बितना चाहते हैं-

अहनिसि सुरअ पसङ्गे जाअ।

जोइणि जाले रएणि पोहाअ॥ (चर्या सं.19)

यह प्रेम मांसल प्रकृति का होते हुए भी इसमें साधनात्मक रहस्यवााद की सूक्ष्मता वर्तमान है। कवि ने अपने आकुल हृदय का खुलकर वर्णन किया है। कामायनी महाकाव्य का उदाहरण लेते हुए हम देख सकते हैं कि कामायनी शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर रचित है। यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन बौद्ध दर्शन के साथ ही विकसित हो रहा था।[4] यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन अद्वैतमत का पोषक है। अनुश्रुति है कि भगवान शिव ने इसके प्रवर्तक वसुगुप्त(नौवीं शताब्दी का प्रारंभ) को स्वप्न में महादेव गिरि की किसी गुहा में उत्कीर्ण शिवसूत्रों का उद्धार करने का आदेश दिया। इन्हीं सूत्रों को एकत्रित कर वसुगुप्त ने स्पंदकारिका की रचना की।[5] इस दर्शन के अनुसार जीव मूल रूप में शिव है केवल अणु, माया और कर्म के मलावरणों के कारण वह स्वयं को शिव से अलग मानता है। स्वयं को शिव के रूप में साक्षात्कार करना ही प्रत्यभिज्ञा है। शिवत्वबोध द्वारा चरम आनंद की प्राप्ति ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन का लक्ष्य है।

यदि ध्यान से देखा जाए तो बौद्ध दर्शन और प्रत्यभिज्ञा दर्शन में काफी समानता नजर आती है। बौद्ध साधना के क्रम में तथता का बोध होना आवश्यक माना गया है। यह तथता ही 'मैं बुद्ध हूँ' की भावना का विस्तार है और बौद्ध तो महासुख के अन्वेषी हैं ही। अत: इन दोनों दर्शनों

में पर्याप्त साम्य है। क्योंकि दोनों ही दर्शन समसामयिक रूप से समानांतर ही विकसित हो रहे थे। अत: उनमें साम्य होना या एक दूसरे को प्रभावित करना सामान्य बात है। इसी कारण कामायनी के दर्शन में भी बौद्ध प्रभाव देखा जा सकता है। मनु की चिंता से आनंद तक की यात्रा में कृष्णाचार्यपाद के स्वर भी मिला हुआ प्रतीत होता है -

तिशरण णावी किअ अठक मारी।

निअ देह करुणा शूनमे हेरी॥

तरित्ता भवजलधि जिम करि माअ सुइना।

मझ बेणी तरंगसम मुनिआ

पंच तथागत किअ केडुआल।

बाहअ काअ काह्निल माआजाल॥

गन्धपरसर जइसौं तइसौं।

निन्द बिहुने सुइना जइसो॥

चिअ कण्णहार सुणत मांगे।

चलिल काह्न महासुख सांगे॥ (चर्या सं.

इस पद में कृष्णपाद ने अष्ट सिद्धियों की चिंता छोड़कर अपने अंदर निहित करुणा और शून्यता को समझकर महासुख की प्राप्ति करने का उपदेश दिया है। कुल मिलाकर देखा जाए तो छायावाद में चर्यापदों के पारंपरिक प्रभाव को अवश्य ही देखा जा सकता है। दरअसल बौद्ध मत कोई वाद नहीं बल्कि यह एक सोच है एक भिन्नमुखी चिंतना है जिसका प्रभाव सुदूरगामी रहा।

छायावाद की महती स्तंभ महादेवी वर्मा पर भी बौद्ध दु:खवाद का प्रभाव माना जाता है। बौद्धों का दु:खवाद कोई अलग दर्शन नहीं वरन् यह शून्यवाद या नैरात्म्य अनुभूति के उपरांत उद्भूत एक भाव है। इस अनुभूति में साधक स्वयं को भी शून्य या अस्तित्वहीन मानता है और ऐसी अवस्था में उसका मन घोर नैराश्य से भर जाता है। यही बौद्धों का दु:खवाद है।[6] महादेवी का दु:खवादी वक्तव्य पूर्णत: बौद्धों से तो मिलता नहीं है पर उनके काव्य या कृतियों में जो दु:ख है उस पर न्यूनाधिक रूप में बौद्ध प्रभाव अवश्य ही लक्षित किया जा सकता है।

कहा जा चुका है कि बौद्ध प्रकृति को अंतस्थ मानते थे अत: 'यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे' की अवधारणा उनमें गहन रूप में थी। इसी कारण उनका प्रकृति चित्रण कदाचित भौतिक नियमों का भी अतिक्रमण करता है। उदाहरणार्थ भुसुकपा कहते हैं कि बत्तीस योगिनियाँ जिसकी पंखुड़ियों पर क्रीड़ा कर रही हैं ऐसा कमल मध्यरात्रि को खिला हुआ है-

अधराति भर कमल विकसउ।

बतिस जोइणी तसु अङ्ग उल्हसिउ॥ (चर्या सं. 27)

दर असल उनके लिए प्रकृति के बाह्य परिदृश्य भ्रम मात्र हैं अनस्तित्व का बोध होते ही यह मायावरण भी छँट जाता है इसी कारण वे प्रकृति या प्राकृतिक उपादानों का प्रयोग यौगिक प्रतीक के रूप में ही करते हैं। भौतिक दृष्टि से मध्यरात्रि को कमल का प्रस्फुटन असंभव है पर बौद्ध तंत्र के अनुसार मानव के देहस्थ चक्र, जिसकी कल्पना पद्म के रूप में की गई है, अर्धरात्रि से सूर्योदय के बीच प्रस्फुटित होते हैं और साधक का उच्च स्तर के लिए गमन संभव हो जाता है।[7] इसी प्रकार भौतिक रूप में कच्छपी का दोहन नहीं हो सकता-

दुलि दुहि पिटा धरण नजाई। (चर्या सं 2)

इसका यथार्थ अर्थ है कि बौद्ध स्तूप कच्छप के आकार के हैं। स्तूपों के नीचे धर्मशास्त्र होते हैं और उनके निरंतर दोहन से जगत की अवधारण स्पष्ट नहीं हो सकती। या अर्थ यह भी है कि इतने अधिक बौद्ध शास्त्र हैं कि उनका अध्ययन करते रहने पर भी वे समाप्त नहीं होंगे। तो यह समस्त क्रिया व्यापार भौतिक जगत के समकक्ष नहीं है बल्कि बौद्धों ने अन्योक्तिपरक शैली में इन पदों की रचना की है।

छायावादी प्रकृति वर्णन में कवि का मनस् और उसमें स्थित विविध संचारी भावों की अभिव्यक्ति होती है। पर कहीं-कहीं भावों की सघनता यहाँ भी भौतिक जगत की परिधि को तोड़कर हिलोरें लेते आगे बढ़ती जाती है-

लहरें व्योम चूमती उठती;
चपलाएँ असंख्य नाचती।
गरल जलद की खड़ी झड़ी में
बूँदें निज संसृति रचती।
चपलाएँ उस जलधि विश्व में
स्वयं चमत्कृत होती थी।
जो विराट बाड़व ज्वालाएँ
खंड खंड हो रोती थीं।
घनीभूत हो उठे पवन, फिर
श्वासों की गति होती रुद्ध
और चेतना थी बिलाखाती,
दृष्टि विकल होती थी क्रुद्ध।

उस विराट आलोड़न में, वह

तारा बुद-बुद से लगते।

प्रखर प्रलय पावस में जगमग

ज्योतिरिंगणों से जगते ॥[8]

इधर यदि निराला जी की 'जुही की कली' को देखा जाए तो उसमें भाव की अधिकता इतनी है कि एक सामान्य बेल में इतने भावों का संगुफन चामत्कारिक प्रयोग लगता है। वह वल्लरी मानुषी बनकर अपने नवयौवन की छटा बिखेरती है। इन गंभीर भावों का समारोपण प्रकृति को कुछ अलग रूप में चित्रित करता है कि यहाँ भौतिक लक्षण कुछ कुछ क्षरित होते हुए नजर आते हैं -

निर्दय उस नायक ने

निपट निठुराई की,

कि झोंकों की झाड़ियों से

सुंदर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,

मसल दिए गोरे कपोल गोल;

चौंक पड़ी युवती,-

चकित चितवन निज चारों ओर फेर,

हेर प्यारे को सेज-पास,

नम्रमुखी हँसी-खिली,

खेल रंग, प्यारे-संग।[9]

छायावादी काव्य में बौद्ध अभिव्यक्तियों का अंश अवश्य है। इसे प्रत्यक्ष प्रभाव कहना बहुत बड़ी भूल होगी क्योंकि दोनों ही कालांशों के बीच शताब्दियों का अंतर था। अत: बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ना असंभव था। तथापि वैचारिक स्तर पर बौद्ध दर्शन का यत्किंचित प्रभाव आधुनिक कवियों पर निश्चित रूप से पड़ा है।

2. प्रगतिवादी काव्य पर प्रभाव

प्रगति का अर्थ है- प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करना, शीघ्रता से अग्रसर होना और सफलतापूर्वक विकास करना। प्रगतिवाद के कारण आज इस प्रवृत्ति को आधुनिक कहा जा रहा है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका मूल उत्स आदिकालीन काव्य है।

छायावादी काल के आत्मवादी विचारधारा के विरुद्ध चलकर कुछ कवियों ने समाज सापेक्ष कविता करना आरंभ किया। मार्क्सवाद से प्रेरित होकर कवियों ने राजा रानी या राजकुमारों की स्वप्न वार्ता कथाओं के स्थान पर निष्पेशित, शोषित और दलित वर्ग के जीवन को लेकर भी कविता लिखी गई। इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों में-

1. ईश्वर, धर्म, स्वर्ग, परलोक आदि का विरोध।
2. सामंत, राजा, पूँजीपति आदि वर्गों का प्रतिरोध।
3. शोषित, दुखित, दलित, पीड़ित मनुष्यों की दीनता एवं कटुता का चित्रण तथा सहानुभूति।
4. नारी के प्रति समवादी दृष्टिकोण।
5. जाति प्रथा एवं कुलीन, सवर्ण आदि मतों का विरोध जैसी तथ्य समाहित हैं।

यदि हम इन प्रवृत्तियों को देखें तो चर्यागीतों में प्रगतिशील काव्य की प्रवृत्ति स्पष्टत: लक्षित होती है। वैसे देखा जाए तो संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। शूद्रक द्वारा कृत 'मृच्छकटिकम्' का नायक चारुदत्त एक गरीब आदमी था जो मानवता की दृष्टि

से कौलिन्य की घोषणा करने वाले राजन्यवर्ग के लोगों से अधिक महान था। उसमें निम्न वर्ग की वेश्या एवं उपेक्षित वर्ग के प्रति सहानुभूति की भावना सन्निहित है।

बौद्ध चर्यापद प्रगतिशील काव्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं। चर्यापदों में उपेक्षित डोम्बि के चित्र हैं जो नगर के बाहर अकेली रहती है। ब्राह्मण युवक उसकी कुटिया को दूर से छू-छू कर जाते हैं परंतु किसी में भी उससे प्रेम करने का साहस नहीं। काह्नपाद समाज द्वारा निर्धारित जाति प्रथा के बंधनों को तोड़कर उस डोम्बि को अपनाना चाहते हैं-वे निघृण कापालिक हैं और वे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की ओर भ्रूक्षेप भी नहीं करते-

नगर बाहिरि रे डोम्बि तोहार कुड़िआ।

छइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥

आलो डोम्बि तोए सम करिबे म साङ्ग।

निधिण काह्न कापालि जोइ लाङ्ग॥ (चर्या सं. 10)

यहाँ तक कि वे उस डोम्बि से विवाह करने भी आते हैं। डोम्बि से विवाह के बाद उन्हें एक विश्वासयोग्य कुलनारी की प्राप्ति हुई। और दहेज के रूप में उन्हें अनंत विश्व मिला। अब तो रात दिन केवल डोम्बि के साथ प्रेमालाप करते ही व्यतीत होता है-

जअ जअ दुन्दुहि सादु उछलिआँ।

काह्न डोम्बि- विवाहे चलिला॥

डोम्बि विवाहिआ अहारिउ जाम।

जउतुके किअ आणुतु धाम॥

अहणिसि सुरअ पसंगे जाअ।

जोइणिजाले रएणि पोहाअ॥ (चर्या सं.18)

वह मद्य विक्रेता शुंडिनी जो चिकने छिलके द्वारा मद्य को बाँधकर ग्राहक के लिए प्रतीक्षारत है उसके भी जीवन वृत्त का चित्रण यहाँ है-

एक से शुण्डिनी दुइ घरे सान्धअ।

चीअण बाकलअ बारुणि बान्धअ॥....

दशमि दुआरत चिह्न देख अइआ।

आइल गराहक अपणे बहिआ॥

चउशठी घड़िये देट पसारा।

पइठेल गराहक नाहि निसारा॥ (चर्या सं. 3)

मिट्टी की झोंपड़ी में रात को अंधेरा हो जाता है क्योंकि लौ जलाने का साधन तक नहीं है और इसी अंधेरे का लाभ लेकर एक मूषक घर में संचित समस्त खाद्य खा जाता है वह काला मूषक चारों ओर विक्षिप्तता ही फैलाता है-

निसिअ अन्धारी मुसा चटारा।

अमिअ भखअं मुसा पवणा॥....

तब से मुषा उञ्चल-पाञ्चल। (चर्या सं. 21)

यहाँ एक ऐसे अकालग्रस्त परिवार का वर्णन है जो स्थानाभाव में पहाड़ी पर रहता है और खाने तक को कुछ नहीं बचता पर हमेशा घर में मेहमान भी भरे रहते हैं। उनका संसार तो बढ़ता जा रहा है पर किसी भी तरह से यह अभावग्रस्तता कम नहीं हो रहा है-

टालत मोर घर नाहि पड़बेषी।

हाड़ित भात नाहि निति आवेशी॥

बेग संसार बडहिल जाअ। - (चर्या सं. 33)

वह सद्य: प्रसवा स्त्री जो प्रसव यंत्रणा से तड़प रही है उसका पति क्षपणक उसकी ओर ध्यान ही नहीं दे रहा है। वह अपनी व्यथा कहे तो भी किससे कहे ? उसकी समस्त इंद्रियाँ मानो फट गई हैं फिर भी उसका पति उसे आश्वस्त करने के लिए उसके पास नहीं है उसे हर क्षण यही लगता है कि उसने जीवन से जो चाहा था वह यह नहीं है। अपनी भूलुंठित आशाओं पर आँसू बहाती हुई वह अत्यंत दु:ख के साथ कहती है-

हाँउ निरासी खमण भतारे।

मोहोर बिगोआ कहण न जाई॥

फेटलिउ गो मात्र अंतउड़ि चाहि।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥

पहिल बिआन मोर बासन पुड़ा।

नाड़ि बिआरन्ते सेव बापुड़ा॥ (चर्या सं. 20)

अपने प्रथम प्रसव के बाद वह स्त्री जब अपने पुत्र की नाड़ी देखती है तो उसे यह पता चलता है कि वह शिशु मृत पैदा हुआ है। ऐसे में उसके मन को और कौन संभाल सकता है ?

इस प्रकार के उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि सिद्धों ने नितांत ही सामान्य, उपेक्षित जन जीवन से अपने चरित्रों का उद्धार किया था। उन्होंने इन बिलखते लोगों की करुण कथा को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया। मात्र यही नहीं उन्होंने इन लोगों के कष्टसाध्य जीवन को निकट से देखा और उसे काव्यिक अभिव्यक्ति दी। इनके काव्य में राजाओं और सामंत वर्ग के धन-धान्य पूर्त समृद्ध जीवन के लिए कोई स्थान नहीं था। यह जनता के लिए और आम जनता के बीच रहकर लिखा गया काव्य था। ये कवि स्वयं भी इन्हीं लोगों के बीच रहकर स्वानुभूति जन्य तथ्यों को एकत्रित करते रहे जिसकी परिणति उनका मार्मिक काव्य था। सिद्धों के काव्य को जनमुखी न

मानने वाले आलोचक संभवत: यह नहीं समझ पाए कि समाज जीवन में निहित जिस आर्त क्रंदन का चित्रण सिद्धों ने किया वह आदिकालीन काव्य में अनुपम था।

इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य के कवियों ने भी निम्न श्रेणी की जनता के आँसू भरी मूक वाणी को स्वर दिया। मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'कफन' की तुलना उपर्युक्त चर्या संख्या 20 से की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कुक्कुरीपाद के स्वर ही नई शताब्दी की शब्दावली के साथ अभिव्यक्त हुए हों। प्रगतिवादी कवि धर्म, समाज, राजनीति, शिक्षा आदि सभी क्षेत्र में कट्टर सुधारवादी और प्रगतिशील थे। इस प्रवृत्ति के सबसे जागरूक चेता और प्रगतिशीलता के पुरस्कर्ता कवि निराला हैं। उनकी अभिव्यक्ति की शैली जीवंत और क्रांतिकारी है। निराला कृत तोड़ती पत्थर, भिक्षुक, कुकुरमुत्ता आदि कविताओं में प्रगतिशील काव्यधारा के स्पष्ट उद्धरण मिल जाते हैं। भिक्षुक के वर्णन क्रम में वे कहते हैं-

वह आता-

दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।

पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,

चल रहा लकुटिया टेक,

मुट्ठी भर दाने की-भूख मिटाने को

मुँहफटी-पुरानी झोली को फैलाता-

दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।[10]

रास्ते में चलता भिक्षुक जो सदैव उपेक्षा और घृणा का पात्र बनता है वह भी कभी कविता का केंद्र बन सकता है यह एक अलग ही विचार लगता है। यहाँ तक कि पत्थर तोड़ती महिला के श्रमसाध्य जीवन पर भी कभी कविता के रंग लगेंगे यह प्रगतिवादी काव्य में ही संभव पर हो पाया

है। इलाहाबाद के पथ पर बैठी उस महिला की छवि को निराला ने समस्त भावों के साथ एक कुशल चित्रकार की तरह अंकित किया-

वह तोड़ती पत्थर :

देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर-

वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार

पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;

श्याम तन, भर बँधा यौवन,

नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,

गुरु हथौड़ा हाथ,

करती बार-बार प्रहार;

सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।[11]

यह मौन आक्रोश, यह गुप्त क्रोध हथौड़े के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। इस ज्वाला का बहिर्प्रकाश कदाचित उपयुक्त न होगा इसी कारण इसे प्रकारांतर से अभिव्यक्त किया है। शोषितों का शोषकों के लिए भाव सदैव ही कटुतापूर्ण रहे जिनका उद्‌गार समयासमय होता रहा है।

बौद्ध कालीन समाज में ब्राह्मण वर्ग आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ था और उनका वर्चस्व पूरे समाज में था। वे अस्पृश्यता के भाव मन में समाए दूसरों को नीच मानते थे। इसी कारण चर्यागीतों में ब्राह्मणों के प्रति कटाक्ष सूचक भाव प्रकट किया है-

नगर बाहिरि रे डोम्बी तोहोरि कुड़िआ।

छइ छोई जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥ (चर्या सं. 10)

अस्पृश्यता के कारण डोम्बी युवती नगर के बाहर रहती है। उसके रूप से मुग्ध होकर ब्राह्मण युवक उसकी कुटिया को छू-छूकर जाते हैं पर उनमें डोम्बी से प्रणय निवेदन करने का यत्किंचित साहस भी नहीं है।

उल्लेख्य है कि बौद्ध युग में जातिगत दमन या शोषण होता था और आज के परिवर्तित युग में आर्थिक शोषण का भार सहते-सहते एक वर्ग बिल्कुल झुक-सा गया है। बौद्ध सिद्ध इसी शोषक वर्ग का कभी खुलकर तो कभी प्रकारांतर से उन पर आक्रमण करते रहे विशेषकर दोहाकोषों में भी विविध सिद्धों ने उनका स्पष्ट विरोध प्रकट किया है-

जै अच्छहिं सोहि-संभावण, मैल्लि

बह्मणु कुक्कुरा चंडालु एक्क-सहावें सज्ज।[12]

सिद्धों का यही विरोधी स्वभाव मानो प्रगतिवादी कवियों में भी परिलक्षित हो रहा है। नरेंद्र शर्मा, भगवती शरण वर्मा, गिरिजा कुमार माथुर, नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र, त्रिलोचन, राम विलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल आदि अन्य कवियों में इस प्रवृत्ति को और भी विस्तार से देखा जा सकता है।

यदि थोड़ा ध्यान से देखा जाए तो मिलेगा कि बौद्ध कवियों का काव्य एक नव्य प्रयोग की भाँति है। उनकी अनसुलझी भाषा उनके रूपक उनकी कथन भंगिमा सभी में एक नूतनता विद्यमान है। अपने इस प्रयोगवादी प्रवृत्ति में बौद्ध सिद्ध पूर्णतया सफल भी कहे जा सकते हैं क्योंकि उन्हीं की शब्दावली और रूपकों का प्रयोग परवर्ती नाथों और भक्तिकालीन संतों ने किया था।

सिद्धों के इसी नवोन्मेषण की प्रवृत्ति ने उनके काव्य को विशेष बना दिया। देह नगर है और उसे परिपुष्ट करने के लिए व्यवहृत खाद्य और वायु बाहर से लिए जाते हैं, इसी कारण डोम्बी वायु की कुटिया देह नगर से बाहर कहा है (चर्या सं.10) इन सारे चर्यापदों में अनेक अभिनव

प्रयोग हुए हैं, तथापि हिंदी साहित्य का प्रयोगवाद एवं बौद्ध साहित्य में कोई प्रत्यक्ष प्रभाव की चर्चा नहीं की जा सकती। यद्यपि इन दोनों प्रकार के साहित्यों में योगसूत्र अवश्य ही जोड़ा जा सकता है। चर्यापदों में नवीन प्रयोग के नाम पर अनेक नव्य अभिव्यक्तियाँ सम्मिलित हुई हैं उदाहरणार्थ उलटबासियों को पूर्णत: नवीन प्रयोग कहा जा सकता है। शरीर की तुलना वृक्ष या घट के साथ, चिकने छिलके के साथ भी की गयी है-

एक से शुण्डिनी दुइ घरे सान्धअ।

चीअण बाकलअ बारुणी बान्धअ॥ (चर्या सं. 3)

प्राणायामों का मानवीकरण कर उनको डोम्बी, चंडाली आदि नाम से अलंकृत किया गया। कृष्णपाद अपनी प्रेमिका डोम्बी की बेवफाई से रुष्ट हैं और उसी से यह प्रश्न पूछते हैं कि आखिर तूने मेरे साथ यह बेवफाई क्यों की-

तँई लो डोम्बी सअल विटलिउ। (चर्या सं.18)

प्राणायाम जैसी क्रिया का सूक्ष्म और सफल रूप में मानवीकृतकर अपने उत्कृष्ट काव्य सृजन क्षमता का श्लाध्य परिचय दिया है।

चर्याकारों के लगभग सभी पदों में प्रयोगात्मक विधि में शब्दों का अवतरण हुआ है। संभवत: कवियों की इसी लेखन शैली के कारण मुनिदत्त ने इन पदों की व्याख्या लिख डाली और अद्यतन व्याख्याकार इन पदों की नवीन व्याख्याएँ रच रहे हैं।

3. उत्तम पुरुष की शैली में अभिव्यक्ति :

यदि संस्कृत साहित्य की ओर ध्यान दिया जाए तो परिलक्षित होगा कि शायद ही किसी कवि या रचनाकार ने उत्तम पुरुष की शैली में समस्त काव्य की अभिव्यक्ति दी हो। नाटक के वार्तालाप क्रम में भले ही पात्रों के मुख से उन्होंने संवाद बुलवाया हो पर अपने स्वतंत्र अभिव्यक्ति के स्तर पर कोई रचना नहीं मिल पाती। अपभ्रंश साहित्य में भी इस प्रकार की शैली का प्रयोग नहीं

हुआ, जहाँ कवि की ऐकांतिक भावनाओं का प्रस्फुरण हुआ हो। यह अवश्य है कि नाटक या काव्य ग्रंथों में निहित पात्र लेखक के ही अंतर्निहित भावों के प्रकट स्वरूप हैं। परंतु इनके माध्यम से लेखक या कवि के आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति नहीं होती। लेखक को सामाजिकों की रुचिबोध का चिंतन कर अपनी लेखनी को गति प्रदान करना पड़ता है। इसी कारण इन काव्य रचनाओं में कवि के आकुल मन की स्फुरत अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। मन के सुख, दुख, रुदन, असफलता की वेगवती निष्ठुर प्रवाह युक्त शब्द इन काव्यों में उपलब्ध नहीं होते। संस्कृत के स्तोत्र साहित्य में देवताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने के क्रम में उत्तम पुरुष के प्रयोग में 'अहम् वन्दे' जैसे शब्द अवश्य आए हैं परंतु यह समस्त स्तोत्र साहित्य व्यक्ति विशेष की कृतज्ञता के स्वर न होकर समस्त भक्तों के भक्ति गद्‌गद् कंठ का सम्मिलित उच्चार है।

संभवत: उत्तम पुरुष की शैली में प्रथम बार सिद्धों ने अपने मन को अभिव्यक्ति दी है। स्वानुभूतियों का आशापरक और निराशाजनक जो तथ्य बौद्धों में प्राप्त होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। आम तौर पर भारतीय वाङ्मय, काव्य-रचना या गीत की परिसमाप्ति आनंद में होती है परंतु बौद्ध सिद्ध इन काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों से सर्वथा मुक्त होकर अपने काव्य की रचना करते रहे। सिद्ध कुक्कुरीपा ने एक मृत वत्सा स्त्री की अपने भिक्षुक पति के लिए आनसक्ति की अभिव्यक्ति उत्तम पुरुष की शैली में की है-

हाँउ निरासी खमण भतारे।
मोहोर बिगोआ कहण न जाई॥
फेटलिउ गो मात्र अन्तउड़ि चाहि।
जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥
पहिल बिआन मोर बासन पुड़ा
नाड़ि बिआरन्ते सेब बापुड़ा॥ (चर्या सं. 20)

उक्त पद में एक स्त्री के प्रथम प्रसव की यंत्रणा, मृत पुत्र की उत्पत्ति और पति की उपेक्षा सर्वथा व्याप्त हो गई है। उसने जीवन में जो चाहा उसे वह न मिल सका।

आसानी से सिद्धि प्राप्त करने के बाद अवतरित प्रसन्नता में कृष्णवज्रपाद ने कहा कि 'मैं आसानी से सिद्ध हो गया हूँ और महासुख के कारण मैं सो गया हूँ।'

तिनि भुअण मइ बाहिअ होलेँ।

हाँउ सुतेलि महासुह लीलेँ॥ चर्या सं-

इस प्रकार की अभिव्यक्तियों का प्रभाव स्पष्टत: भक्तिकालीन संत कवि कबीर पर भी पड़ा था। कबीर ने भी अपने काव्य में स्वानुभूतियों को प्रश्रय दिया। विशेषकर भक्ति विगलित क्षणों में जब कबीर स्वयं को प्रकृति की अंश संभूता स्त्री और परमेश्वर को पुरुष मानकर हृदय निवेदन करते हैं तो उनकी द्रवीभूत भावनाएँ अंत:करण से काव्यिक रूप लेकर प्रस्फुटित होती हैं। इसी समय कबीर के काव्य में 'उत्तम पुरुष की शैली' का समाहार हो जाता है-

मैं कासें बूझौं अपने पिया की बात री।

जान सुजान प्रान-प्रिय पिय बिन, सबै बटाउ जात री।

आसा नदीं अगाध कुमति वहै, रोकि काहू पै न जात री।[13]

जब कबीर को अपने और दूसरों के बीच अंतर को दिखाना पड़ा तो उन्होंने 'मैं' और 'तुम' का प्रयोग किया। 'मैं' के प्रयोग द्वारा वे अपनी तीव्र अनुभूतियों और क्रांतिकारी विचारधाराओं को व्यक्त करते रहे और 'तुम' द्वारा वे पुराणपंथी और शास्त्रजीवी, रूढ़ीवादी कठमुल्लों की ओर संकेत करते हैं। इस मैं के प्रयोग ने कबीर को कबीर बनाया और ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के इस मैं के पीछे सुदूर अतीत की बौद्ध परंपरा छिपी थी जिससे वे भली भाँति अवगत थे-

मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होरे रे।

मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।

मैं कहता सुझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।

मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।

मैं कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोही रे।

जुगन जगन समुझावत हारा, कही न मानत कोई रे।

तू तो रंडी फिर बिहंडी, सब धन डारे खोई रे।

कहत कबीर सुनो भाइ साधो, तब ही वैसा होई रे॥[14]

यही परंपरा आधुनिक काल तक प्रसरित होता गया आधुनिक काल के लगभग सभी प्रवृत्तियों में उत्तम पुरुष की शैली में अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं। प्रत्येक कवियों ने स्वानुभूत भावों को इस प्रकार इसी समानांतर रूप में अभिव्यक्ति दी है। विशेषकर अपने भावों की तीव्रता और नूतनता का परिचय मिलता है। लगभग सभी कवियों ने कतिपय नवीन अभिव्यक्तियों को जन्म दिया। उत्तम पुरुष की शैली में भावों को जितना बल मिलता है वह अन्य रूप में इतना नहीं उभरता। क्योंकि इस प्रकार कवि का अपना मनस् तीव्र रूप में प्रतिबिंबित होता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति के समय कवि के तत्कालीन भावों का सूक्ष्म निर्दशन के साथ एक प्रकार से साधारणीकरण की प्रक्रिया भी लक्षित होती है जिसमें कवि विस्तृत उदात्तता में रमते हुए अंततः समष्टि में विलीन हो जाता है।

हालाँकि आधुनिक कवियों की अभिव्यक्ति आध्यात्मिक क्रिया कलापों के स्थान पर सामायिक,सामाजिक चिंतना का भंडार है। दरअसल आदिकाल में तत्कालीन चिंतना आध्यात्म से जुड़ा हुआ था। इसी कारण उसे भी सामायिक चिंतना ही कह सकते हैं। कुल मिलाकर सामयिक

तीव्र भावों की अनिरुद्ध, अप्रतिहत धारा ही काव्य-रूप ग्रहण करती है। विशेषकर छायावादी काव्य धारा जिसका स्रोत बौद्ध साहित्य में छिपा है उसमें इस प्रकार की शैली सहजलब्ध है।

मैं बल खाता जाता था मोहित बेसुध बलिहारी

अन्तर के तार खिंचे थे तीखी थी तान हमारी। (आँसू-जयशंकर प्रसाद)

xx xx xx

तुम तुंग -हिमालय शृंग

और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।

तुम विमल-हृदय-उच्छवास

और मैं कान्त-कामिनी-कविता ;

तुम प्रेम और मैं शांति,

तुम सुरा-पान-घन अंधकार,

मैं हूँ मतवाली भ्रांति। (तुम और मैं-सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

xx xx xx

मैं अकेला;

देखता हूँ, आ रही

मेरे दिवस की सन्ध्य वेला।

पके आधे बाल मेरे;

हुए निष्प्रभ गाल मेरे,

चाल मेरी मंद होती आ रही,

हट रहा मेला। (मेला अकेला-निराला)

मैं नव मानवता का संदेश सुनाता,

स्वाधीन-लोक की गौरव गाथा गाता,

मैं मन:क्षितिज के पार मौन शाश्वत की

प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाह बन आता। (गीत विगह-सुमित्रानंदन पंत)

xx xx xx

मैं नीर भरी दु:ख की बदली!

स्पंदन में घिर निस्पंद बसा

क्रंदन में आहत विश्व हँसा,

नयनों में दीपक से जलते

पलकों में निर्झरणी मचली! (मैं नीर भरी दु:ख की बदली-महादेवी वर्मा)

xx xx xx

सलिल-कण हूँ कि पारावार हूँ मैं?

स्वयं छाया, स्वयं आधार हूँ मैं।

बँधा हूँ स्वप्न है, लघु वृत्त मैं हूँ,

नहीं तो व्योम का विस्तार हूँ मैं। (परिचय-रामधारी सिंह 'दिनकर')

xx xx xx

अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है,

मैं उसके ढंग नहीं सोचता।

सोची हुई अभिव्यक्ति ने

मुझे कभी व्यक्त नहीं किया;

छुपाता ही हूँ मैं उससे,

अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है,

मैं उसे ढंग नहीं, सोचता। (अभिव्यक्ति-भवानी प्रसाद मिश्र)

xx xx xx

हरी बिछली घास।

दोलती कलगी छरहरी बाजरे की।

अगर मैं तुमको

ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका

अब नहीं कहता,

या शरद के भोर की-नीहार-न्हायी कुँई,

टटकी कली चम्पे की

बगैरह, तो

नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है।

या कि मेरा प्यार मैला है।

बल्कि केवल यही

ये उपमान मैले हो गए हैं।

देवता इन प्रतीकों से कर गए हैं कूच।

कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

(कलगी बाजरे की- सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय')

इन कविताओं में स्पष्ट आभास होता है कि कवियों की स्वतंत्र आत्मिक अनुभूतियाँ यहाँ मुखरित हो रही हैं। उत्तम पुरुष की शैली में कवि स्वयं उपस्थित रहकर अपने गहन भावों को अभिव्यक्ति देता है।

आदिकालीन बौद्ध साहित्य में सिद्धों ने शास्त्रों में उल्लेखित सूत्रों या क्रियाओं के अभ्यास से प्राप्त अनुभूतियों के सार्थक और असफल दोनों ही प्रकार के भावों को प्रकट किया। काव्य की दृष्टि से यह सबसे बड़ा पदक्षेप था। इसी क्रम में उन्होंने कभी-कभी शास्त्रों पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिए थे। यह उस कालांश के परंपरावादी समाज या आध्यात्मिक जीवन जीने वालों के लिए एक नवीन परिवर्तन का सूचक था। शास्त्रों के शाश्वत आर्ष वक्तव्यों को अपनी अभिज्ञता पर तोलने का समय था।

इसी प्रकार की परिस्थितियों का उदय जब आधुनिककाल में हुआ तब कवियों ने अपनी हृद्य आकांक्षा, आशंका, विलाप आदि को अभिव्यक्ति देना शुरू किया। इस प्रकार आदिकाल और आधुनिककाल के कवियों में एक लुप्त योगसूत्र (missing link) का पता चलता है। इन दोनों युगों की परिस्थिति जन्य प्रेक्षापटों में अंतर अवश्य था पर कवियों की मानसिक अवस्थाएँ न्यूनाधिक समान ही प्रतीत होती हैं।

4. प्रबंध काव्य के स्थान पर मुक्तकों की रचना की प्रवृत्ति

आधुनिक काल के कवियों में मुक्तकों की रचना की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। आधुनिक काल में प्रबंध काव्यों की रचना तो हुई परंतु जिस संख्या में मुक्तक काव्य संकलनों का उल्लेख मिलता है उससे कहीं अधिक फुटकर कविताओं की विस्तृत रचनाएँ हुईं। समस्त कवियों ने अपने काव्य संकलनों के माध्यम से ही काव्यिक अभिव्यक्ति दी है। इस तथ्य का सबसे बड़ा उदाहरण है 'तार सप्तक'। प्रथम तार सप्तक का प्रकाशन 1943 में हुआ था और इसमें मुक्तिबोध, नेमिचंद्र

जैन, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा और अज्ञेय की रचनाएँ थीं।[15] इसके प्रकाशन के साथ ही प्रयोगवादी युग की सूचना हुई। द्वितीय 'तार सप्तक' के प्रकाशन (1951) के बाद नयी कविता का आरंभ माना गया। दूसरे सप्तक के कवि है- भावनीप्रसाद मिश्र, शकुंतला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय एवं धर्मवीर भारती।[16] सन् 1959 में साठोत्तरी कविता की शंखध्वनि करते हुए तृतीय तार सप्तक का प्रकाशन हुआ एवं इसमें प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह,कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसे कवि सम्मिलित थे।[17]

इसके पूर्ववर्ती कवियों में भी प्रबंध काव्य की रचना की ओर विशेष ध्यान नहीं गया। हालांकि हिंदी की गोद विश्व साहित्य में श्रेष्ठतम प्रबंध काव्यों से तो भरा ही है परंतु युग सापेक्ष प्रवृत्तियों की ओर देखने पर यह तो अवश्य ही भान होता है कि इस काल के कवियों का मन स्वतंत्र रचनाओं में ही रमा है।

इसे चाहे एक सामान्य संयोग ही कहा जाए या इसे पूर्ववर्त्ती साहित्य की परंपरा ही कहें चर्यापद भी इसी क्रम में लिखित काव्य है। इसमें अन्यान्य कवियों के पचास पदों का संग्रह मिला है। सूक्ष्म रूप से देखें तो मिलेगा कि साहित्यिकों का मन गद्य की अपेक्षा पद्य में रमा है। सुदीर्घ प्रबंध काव्य के लिए यथेष्ट धैर्य और समय की आवश्यकता है। धैर्य तो अवश्य ही है पर समयाभाव के कारण यह कार्य हो नहीं पाता। या फिर क्षण में घनीभूत भावों को पल में अभिव्यक्त करने के प्रयास ने स्वतंत्र मुक्तक रचनाओं को जन्म दिया होगा। यही प्रवृति बौद्ध साहित्यकारों से शुरू होकर सुदीर्घ काल बाद आधुनिक काल में भी दृष्टिगोचर होता है। अपने उन्मुक्त भावों की अभिव्यक्ति को बौद्ध चर्याकार जितना प्रश्रय देते थे वही भाव आधुनिक कवियों में भी लक्षित होता है। इसे कवि मात्र की प्रवृति मानकर छोड़ देना उपयुक्त न होगा परंतु भारतीय काव्य मनीषा में सुषुप्त एक गहन परंपरा का पुनरुत्थान कहना श्रेयष्कर प्रतीत होता है।

रोमानी सौंदर्य दृष्टि :

स्वतंत्रता पूर्व आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ प्रमुखत: सांस्कृतिक पुनर्जागरण, राष्ट्रीय भावना का उत्कर्ष, रोमानी सौंदर्य दृष्टि एवं साम्यवादी सामाजिक चेतना का उदय आदि प्रवृत्तियाँ थोड़े से अंतर से प्राय: सभी भाषाओं में पाई जाती हैं।[18] इस रोमानी सौंदर्य मंडित साहित्य के लक्षण मुक्तिबोध और अज्ञेय में लक्षित होता है। मुक्तिबोध के साहित्य में जिस फैंटसी का उल्लेख मिलता है उसका उत्स भारतीय साहित्य है। संस्कृत साहित्य में संभवत: शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' इस धारा का प्रथम उपन्यास है। बाणभट्ट कृत कादम्बरी भी इसी क्रम का एक मूर्धन्य काव्य है। कादम्बरी में अघोरियों के क्रिया कलापों का वर्णन सिहरन उत्पन्न करने वाला है उसी क्रम में बौद्ध कापालिक कृष्णपाद के चर्यापद भी आते हैं। शबरपाद डोम्बी के प्रेम में अपना हाड़माल भी फेंकने को प्रस्तुत है। शबरपाद डोम्बी से मिलने के बाद फिर जीवन ग्रहण करने को प्रस्तुत है।

तोहोर अन्तरे मोए घलिलि हाड़ेर माली॥

सरबर भाञ्जीअ डोम्बी खाअ मोलाण।

मारमि डोम्बी लेमि पराण॥ (चर्या सं. 10)

याकि बौद्धों की उलट बासियाँ जिसका प्रभाव नाथों और निर्गुणवादी संत कवियों पर पड़ा उसका रोमानी प्रभाव आधुनिक काव्य में भी देखा जा सकता है।

दुलि दुहि पिटा धरण नजाइ।

रुखेर तेन्तेलि कुम्भीरे खाअ॥ (चर्या सं. 2)

मुक्तिबोध की कविता आधुनिक संदर्भ में रचित तो है पर उसमें एक प्रकार से वही पुरातन रोमानी भाव विद्यमान है। चाहे 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' हो या 'ब्रह्मराक्षस' सभी में एक

समपर्याय की अभिव्यक्ति हो जो दुर्बोध्य तो नहीं पर कष्टसाध्य अवश्य है-

चौराहे पर खड़े हुए

भैरो की सिन्दूरी

गेरुई मूरत के पथरीले व्यंग के स्मित पर

टेढ़ा-मुँह चाँद की ऐयारी रोशनी

तिलिस्मी चाँद की राज-भरी झाँइयाँ

तजुर्बों का ताबूत

जिन्दा यह बरगद

जानता कि भैरो यह कौन है॥

कि भैरो की चट्टानी पीठ पर

पैरों की मजबूत

पत्थरी-सिन्दूरी ईंट पर

भभकते वर्णों के लटकते पोस्टर ज्वलंत-अक्षर!!

(चाँद का मुँह टेढ़ा है)

× × ×

अँधियारा खुला बावड़ी का

शून्य अम्बर ताकता है

बावड़ी की उन घनी गहराइयों में शून्य

ब्रह्मराक्षस एक पैठा है

वह भीतर से उमड़ती गूँज की भी गूँज

बड़बड़ाहट शब्द पागल से।

गहन अनुमानिता

तन की मलिनता

दूर करने के लिए प्रतिपल

पाप-छाया दूर करने के लिए, दिन-रात

स्वच्छ करने-

ब्रह्मराक्षस

घिस रहा है देह

हाथ के पंजे, बराबर,

बाँह, छाती-मुँह छपाछप

खूब करते साफ़

फिर भी मैल

फिर भी मैल॥(ब्रह्मराक्षस -मुक्तिबोध)

भले भी सुदीर्घ काल के अंतराल में इस नवीन काव्य की शब्दावली बदल गई हो पर चेतना चर्यापदों के समपर्याय की ही हैं। आदिकालीन समाज में जहाँ बौद्ध सिद्धों ने अपनी अंतर्मुखी रचनाओं के द्वारा साधकों को साधनात्मक विसंगतियों से परिचित कराते हुए उन्हें सजग किया था वहीं इस नव्य कालखंड की ज्वलंत सामाजिक समस्याओं की प्रतिच्छवि यहाँ मिलती है।

उस काल में धर्म और मोक्ष की विशद चिंतना भारतवर्ष में हुई थी इसी कारण वहाँ आध्यात्मिक उन्नति की ओर संकेत किया गया है। आज का समाज भौतिकवादी दौर से गुजरने के कारण व्यक्त रूप में उसी प्रकार की उन्नति युग की साधना और साध्य बन गई है।

यह रोमानी काव्यधारा संस्कृत से भले ही आई हो पर उसका प्रत्यक्ष प्रभाव कदाचित ही अन्यत्र परिलक्षित होता है। उसी प्रकार इस प्रकार की आधुनिक काव्यधारा पर चर्यापदों का प्रत्यक्षीभूत प्रभाव तो नहीं पड़ा परंतु यह मानसिकता एक अंतधारा के रूप में प्रवाहमान अवश्य थी जिसका आधुनिक काल में पुनरुद्घाटन हुआ है।

कामायनी पर बौद्ध प्रभाव

चर्यापदों का प्रतिबिंब तो प्रत्यक्षतः आधुनिक काव्य पर नहीं पड़ा क्योंकि आदिकाल और आधुनिक काल में कालखंड की वृहद अंतर होते हुए भी एक क्षीण स्रोत प्रवाहमान था।

विद्वानों के अनुसार प्रसाद ने कामायनी में शैव दर्शन की अभिव्यक्ति की है।[19] धर्मवीर भारती ने बौद्ध युग में आविर्भूत शैव दर्शन की चर्चा की है, जिस पर बौद्ध प्रभाव अवश्य ही पड़ा होगा। इस क्रम में भारती जी ने प्रत्याभिज्ञा दर्शन का उल्लेख करते हुए कहा है कि-''शुद्ध शैव मत के दो रूप हो गए थे। उत्तर में कश्मीर से स्पंद-शास्त्र, त्रिक् दर्शन या प्रत्यभिज्ञा दर्शन जो कि अद्वैतवाद से प्रभावित था और दक्षिण में वीर शैव जो विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित था। अनुश्रुति है कि भगवान शंकर ने इस मत के आदि प्रवर्तक वसुगुप्त (9 वीं शती प्रारंभ) को स्वप्न दिया कि वे महादेवगिरि में किसी गुहा में उत्कीर्ण शिवसूत्रों का उद्धार करें जिनके आधार पर उन्होंने बाद में 'स्पंदकारिका' लिखी।... स्पंद शास्त्र के अनुसार केवल शिव सत्य है। वह पूर्ण स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान है। जीव मूल रूप में शिव है केवल अणु, माया तथा कर्म इन तीन मलावरणों के

कारण अपने को अलग मानता है। इन मलों का मूल कारण शब्द है। यह शब्द अथवा नाद शिव की शक्ति का स्त्री रूप है। इसको शिव में लीन करने का साधन माया है। परम साक्षात्कार करने वाले को भैरव कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञा में इसी परम साक्षात्कार का एक नया रूप है। लौकिक प्रयोग में 'यह वही व्यक्ति है,' इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। ईश्वर के साक्षात्कार होने पर 'मैं वही ईश्वर हूँ' यह ज्ञान ईश्वर प्रत्यभिज्ञा है। ईश्वर को पाँच शक्तियों से संपन्न बताया गया है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। अद्वैतवाद के समस्त सिद्धातों को लेते हुए भी इसमें ईश्वर को इच्छा-संपन्न बताया गया है।''[20] कामायनी में 'सर्वमखल्विदम् ब्रह्म' का उद्घोष अंततः आनंद सर्ग में होता है। अंत में मनु ने अपने 'स्व' का विस्तार सब ओर देखा। अर्थात् मनु ने अपना अस्तित्व खोकर उसे समस्त चराचर में समाहित होते देखा-

मनु ने कुछ-कुछ मुसक्या कर कैलास ओर दिखलाया;
बोले ''देखो कि यहाँ पर कोई नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नहीं कमी हैं।
शापित न यहाँ है कोई तापिप पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है समरस है जो कि यहाँ है।
चेतन समुद्र में जीवन लहरों-सा बिखर पड़ा है;
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना निर्मित आकर खड़ा है।[21]

इसी प्रकार की साधर्म्य अभिव्यक्ति चर्यागीतों में भी लक्षित होता है-

तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु।
आँसु धुणि धुणि णिखर सेसु॥ (चर्या सं. 26)''

इस चर्या में सिद्ध शांतिपाद ने कहा है कि जिस प्रकार धुनिया रूई को धुनते हुए उसे सूक्ष्म फाहों में बदल देता है। रूई के छोटे-छोट फाहों में रूई का अस्तित्व नहीं रह जाता उसी प्रकार साधक अपने मन में उत्थित भावों का निरंतर विश्लेषण करते रहने पर अनुभूतियों का अस्तित्व लुप्त हो जाएगा और वह शून्यभाव में स्थित होगा। इसी को बौद्ध तांत्रिक 'खसम' मानसिकता कहते हैं।[22] इस समय हृदय आकाश के समान विस्तृत हो जाता है और मन में किसी भी प्रकार का पूर्वाग्रह या मनोग्रंथि नहीं रह जाता। केवल यही नहीं बौद्ध तंत्र के अनुसार जब मन में सर्वशून्यता का उदय होता है उसी समय समस्त शुभ बुद्धियों का भी उदय होता है। इन शुभ चेतनाओं के द्वारा व्यक्ति के हृदय की परिसीमा भी सुविस्तृत हो जाती है-

सुने सुन मिलिआ जबँ।

सअल धाम उइआ तबँ॥ (चर्या सं. 44)

शैवों में वर्तमान आनंदवाद की धारणा भी न्यूनाधिक बौद्धों के साथ मिलती है जिस प्रकार शैव धर्म में शिवत्व की प्राप्ति से मन की सत्ता को विराट सत्ता से मिलाया जाता है उसी प्रकार बौद्धों में भी शून्य या खसम की अनुभूति व्यक्ति के स्वकीयत्व का नाश कर उसे आनंद प्रदान करता है।

कामायनी, चिंता से आरंभ होकर आनंद में समाप्त होता है उसी क्रम में एक चर्या भी उपलब्ध है जो निराशा से आरंभ होकर आनंद प्राप्ति के निष्कर्ष में समाप्त होता है-

हाँउ निरासी खमण भतारे।

मोहोर बिगोआ कहण न जाइ।

फेटलिउ मो माए अन्तउड़ि चाहि।

जा एथु चाहाम सो एथु नाहि॥

पहिल बिआण मोर बासनपूड़ा।

नाड़ि बिआरन्ते सेव बापूड़ा॥

जान जौबण मोर भइलेसि पूरा।

मूल नखलि बाप संघारा॥

भणथि कुक्कुरिपा ए भव थिरा।

जो एथु बुझस सो एथु बीरा॥ (चर्या सं. 20)

इस पद में कुक्कुरीपाद ने कहा है कि वे अपने गुरु से निराश हो गए हैं। उनका मानसिक द्वन्द्व भी अकथ्य। उन्होंने जो सोचकर मातृतंत्र की साधना की थी उन्हें ऐसा कुछ भी नहीं मिला जिसकी उन्होंने कामना की थी। परंतु जब उन्होंने पुनः पितृतंत्र के साधन क्रम में अपने इष्ट देवता के अस्तित्व को नकारते हुए सर्वशून्यता की अनुभूति की तब उन्हें महासुख की प्राप्ति हुई। उन्होंने कहा कि जो यह समझ जाए कि यह जगत स्थिर है वही साधक प्रकृत अर्थ में वीर है। यहाँ भी बौद्ध तंत्र के महासुखवाद या आनन्दवाद की प्रतिध्वनि गूँजित होती है।

उल्लेख्य है कि अनुत्तर तंत्र के साधकों ने योगाचार के शून्यवाद को अविद्या की संज्ञा दी है क्योंकि यह शून्य की भावना साधक को उदासीन, अनुभूतिहीन और कठोर बना देती है।[23] परंतु जब उसे यौन अभिज्ञता होती है वह पुनः करुणामय स्वाभाविक जीवन में लौट आता है।[24] इसी कारण अनुत्तर तंत्र में भग मंडल में दिए गए अभिषेक क्रम में रत्न सदृश साधक को अभिज्ञता प्रदान करते हुए उसे 'कर्म मुद्रा' का क्रम सिखाया जाता है। विद्या के साथ संसर्ग करने के बाद जो बिंदुरूप भूत धातु स्खलित होता है वह विद्या के रक्त धातु के साथ मिश्रित हो जाता है। आचार्य विद्या के पद्म से अनामिका अंगुली द्वारा पितृ-मातृ (Yab-Yum) के संयुक्त धातुओं को साधक के जिह्वाग्र में स्थापित करते हैं इसी को महामुद्रा कहते हैं।[25] एतद् विषयक चर्या भी उपलब्ध है-

नगर बाहिरि रे डोम्बि तोहोरि कुड़िआ।

छई छोई जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥

आलो डोम्बि नोए समकरिबे म साङ्ग।

निधिण काह्न कापालि जोई लाङ्ग॥

..तु लो डोम्बि हाँउ कापाली।

तोहोर अन्तरे मोए घलिलि हाड़ेर माली॥

सरबर भाञ्जीआ डोम्बि खाअ मोलाण।

मारमि डोम्बि लेमि पराण॥ (चर्या सं.10)

कहा गया है कि इसमें योगाचार के प्राणायाम द्वारा सर्व शून्यता का बोध करने के उपरांत साधक यौन अभिज्ञता द्वारा पुनः स्वाभाविक जीवन में लौट आता है।

इसी प्रकार की समान अभिव्यक्ति 'कामायनी' में भी उपलब्ध होती है। जल प्रलय के बाद मनु विभ्रांत होकर शून्य में घूम रहा था

कहा मनु ने, ''नभ धरणी बीच बना जीवन रहस्य निरुपाय।

एक उल्का-सा जलता भ्रांत, शून्य में फिरता हूँ असहाय॥[26]

मनु की इस उदासीन, शून्यवादी मानसिकता से दूर करने के लिए श्रद्धा ने उसकी सहचरी बनाना स्वीकार किया जिससे कि मनु का जीवन करुणापूर्त और कर्ममय हो एवं वह सृष्टि के क्रम को और आगे बढ़ा सके। श्रद्धा मनु को जीवन के स्वाभाविक गति में वापस लाना चाहती है इसलिए वह कहती है कि-

अकेले तुम कैसे असहाय यजन कर सकते? तुच्छ विचार।

तपस्वी! आकर्षण से हीन कर सके नहीं आत्म विस्तार।.

दब रहे हो अपने ही बोझ खोजते भी न कहीं अवलंब;

तुम्हारा सहचर बन कर क्या न उऋण होऊँ मैं बिना विलंब ?[27]

श्रद्धा ने सृष्टि कर्म में निरत् होने के पहले मनु से कहा है कि -

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;

समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाए।[28]

शरीर के अंदर जो चक्रों के रूप में में शक्तिपुंज है उनको समन्वित कर दृढ़ होने पर ही समस्त मानवता विजयी या सफल हो सकते हैं। उसी कथन को चर्या पद में बारम्बार अलग-अलग रूप में कहा है-

काआ तरूवर पञ्च वि डाल।

चञ्चल चीए पइठो काल॥

दिढ़ करिअ महासुख परिमाण।

लुइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण॥ (चर्या सं.1)

× × × ×

एक से शुण्डिणी दुई घरे सान्धअ।

चीअण बाकलअ बारुणि बान्धअ॥

सहजेथिर करी बारुणि सान्धे।

जैं अजरामर होइ दिट कान्धः॥

दुशमि दुआरत चिह्न देख अइआ।

आइल गराहक अपणे बहिआ॥ (चर्या सं.3)

× × × ×

नाड़ी-शक्ति दिढ़ धरिअ खट्टे।

अनहा डमरू बाजए बीरनादे॥

काह्न कापाली योगी पइठ अचारैं।

देह नअरी बिहरए एकारैं॥

चर्यापदों में श्रद्धा और इड़ाः-

चर्यापदों में रूपकाया और धर्मकाया की बात की गई है इसे दो घर या नगर के रूप में चित्रित किया गया है। रूपकाया शरीर है और धर्मकाया मन है।[29] रूपकाया और धर्मकाया दोनों को ही चलायमान रखने के लिए जैवशक्ति की आवश्यकता है जो कि भोजन और प्राणवायु के रूप में शरीर के बाहर से आता है। साधारण व्यक्ति के लिए जहाँ रूपकाया की आवश्यकता अधिक हैं वहीं योगियों या साधकों के लिए धर्मकाया अधिक महत्वपूर्ण त्तत्व है।

रूपकाया को सम्यक् रूप से परिचालित करने के लिए चौंसठ व्यसन तत्पर रहते हैं। भोजन वायु और पानी से बने जैव शक्ति का संपूर्ण हिस्सा रूपकाया में व्यय नहीं होता बल्कि उसका एक संचित भाग मूलाधार तक उतरकर यौन स्पृहा की सृष्टि करता है।

चउशठी घड़िये देट पसारा।

पइठेल गराहक नाहि निसारा॥ (चर्या सं. 3)

शक्ति का एक विशिष्ट अंश ऊपर जाकर अनाहत (धर्म चक्र) में स्थित होकर मानसिक शक्ति का संवर्धन करती है। इसकी मदद से एक-एक भाव का दमन कर शून्यता का बोध किया जाता है। भ्रूमध्य में स्थित उष्णीष कमल (आज्ञाचक्र) तक चेतना पहुँचते ही वह प्रज्ञा में पर्यवसित हो जाता है।

अनुत्तर तंत्र के अनुसार समस्त ज्ञान का स्रोत ही इंद्रियलब्ध ज्ञान (आलेय विज्ञान) है। साधक समाज में प्रचलित अतीन्द्रिय ज्ञान भी आलेय विज्ञान से प्राप्त ज्ञान का भेद मात्र है। साधकगण गर्व के कारण भले ही इसी अतीन्द्रिय ज्ञान कह दे परंतु यह इंद्रिय भूत ही है। संवेदना, अनुभूति, कारण, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि सभी का मूल्ययन अनुभूतियों के आधार पर होता है।[30] अत: कहा जा सकता है कि जहाँ योगाचार के आचार्यगण धर्मकाया को अधिक प्रश्रय देते थे वहीं अनुत्तर साधक रूपकाया पर अधिक बल देते थे। सिद्ध शांतिपा के अनुसार सभी केवल संवेदना ही है-

सँ एँ संबेअण बोलथि सान्ति॥ (चर्या सं. 26)

संवेदना बुद्धिजन्य व्यापार नहीं वरन् यह इंद्रियभूत ज्ञान पर आधृत है।

कामायनी में मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमश: श्रद्धा और इड़ा से लगाया गया है।[31]

बौद्ध तंत्र में यही श्रद्धा और इड़ा क्रमश: रूपकाया और धर्मकाया है। क्योंकि रूपकाया अनुभूतियों का आधार स्तंभ है।

अनुभूतियाँ हृद्य चिंतना की उच्छल उर्मियाँ हैं और हृदय की अधिष्ठात्री श्रद्धा है। दूसरी ओर धर्मकाया न्यूनतम विचारों के स्पंदन से वियुक्त एक ऐसी बुद्धि जन्य काया है जहाँ अनुभूतियाँ समाप्त होकर शून्यराज्य की प्रतिष्ठा करती है। बुद्धि का आलंबन इड़ा है। बुद्धिराज्य पर अधिकृत करने पर इड़ा समस्त अनुभूतियों पर प्रतिबंध लगाती है कि साधक स्वयं अपनी स्वकीय अस्मिता को भी नकार देता है। जहाँ इस प्रकार के द्वन्द्व के लक्षण दृष्टिगोचर हों वह मूलत: मातृतंत्र और पितृतंत्र का दार्शनिक मतभेद है। आगे के अध्याय में उल्लेख किया ही जा चुका है कि मातृतंत्र देहपरक पितृतंत्र सूक्ष्म बुद्धि परक दर्शनों पर आधृत हैं। उन्मुक्त दृष्टि से देखने पर चर्यापदों में इस प्रकार के उद्धरण सहजलभ्य हैं।

मातृतंत्र या शरीर को प्रधानता देनेवाला चर्यागीत -

तिअड्डा चापी जोइणि दे अङ्कवाली।

कमल कुलशि घाण्टे करहूँ बिआली॥

जोइणि तँई बिणु खनहिँ न जीवमि।

तो मुह चुम्बी कमलरस पीबमि॥ (चर्या सं. 4)

पितृतंत्र या मन की सत्ता को महत्त्व देने वाला चर्यागीत-

सोने भरिली करुणा नावी।

रूपा थोई नहिके ठावी॥

बाह तु कामलि गअण उवेसँ।

गेली जाम बहुड़इ कइसँ॥

खुण्टि उपाड़ी मेलिलि काच्छी।

बाहतु कामलि सद्गुरु पुच्छी॥ (चर्या सं.8)

उर्वशी पर चर्यापदों का प्रभाव

दिनकर की उर्वशी स्वयं में एक महती काव्य है। उर्वशी और पुरूरवा जैसे पौराणिक चरित्र यहाँ चिरंतर प्रेमी युगल बन गए हैं। दिनकर की दृष्टि में 'पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी हैं।'[32]

उनके अनुसार 'सृष्टि विकास की जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा में कहा है।'[33]

आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में उर्वशी और पुरूरवा भी पौराणिक नाम की कलगी मात्र धारण किए हुए हैं। यहाँ तो बीसवीं शताब्दी के पुरूरवा और उर्वशी हैं जो क्वन्तम सिद्धांत, लाइजेन्स की थ्योरी ऑव अन्सर्टेनिटी और सापेक्षतावाद द्वारा निर्दिष्ट काल के चतुर्थ आयामिक सत्य पर भी सोच सकते हैं।[34] उर्वशी और पुरूरवा का प्रेम कामाध्यात्म की ओर अधिक अग्रसरित होता परिलक्षित होता है। इस क्षेत्र में कविवर दिनकर ने स्वयं उदात्त कंठ से प्रेम विषयक एक कथन को स्वीकार करते हुए बौद्ध तंत्र की ओर भी संकेत किया है। इस क्रम में वे कहते हैं कि ''देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग योग है, किन्तु, उसकी दूसरी राह नर-नारी प्रेम के भीतर से ही निकलती है, मनुष्य का यह अनुमान अत्यंत प्राचीन है। तंत्र साधना के मूल में ऐसा कोई न कोई विश्वास रहा होगा; सहजमार्गियों के मन में ऐसी कोई न कोई भावना काम करती होगी; अभिनव मनोविज्ञान के भीतर भी ऐसी कोई कोई प्रेरणा क्रियाशील है।[35]

'सहजमार्गियों' शब्द द्वारा उन्होंने बौद्ध सिद्धों की ओर इंगित किया है। स्पष्ट है कि बौद्धों के अनुत्तर तंत्र में साधक कलशाभिषेक के समय योगिनी के साथ संगम करता है जिससे कि उसके मन में व्याप्त शून्यता के स्थान पर करुणा की उत्पत्ति हो और वह अपने सामान्य जीवन में लौट सके।[36]

मूलत: उर्वशी के तृतीय सर्ग में काम विषयक विस्तृत चर्चा है। वहाँ पुरूरवा के मनस् में उत्थित संशय है और उर्वशी के उत्तर हैं। यह एक प्रकार से मनोचेतना और बुद्धि के संघर्ष का वैज्ञानिक चित्रण है। उर्वशी, पुरूरवा को वैराग्य की भावना छोड़कर रक्त या राग की भावना अपनाने का संदेश देती है। परंतु पुरूरवा प्रेम की अंतरात्मा की साधना में लौकिक प्रेम को बाधक मानता है।

उर्वशी काव्य का गहन रूप से अनुधावन करने पर यह ज्ञात होगा कि इसमें अनेक स्थानों पर बौद्ध प्रभाव वर्तमान है। उनकी चर्चा यहाँ स्थूल रूप से तो अवश्य ही का जा सकती है।

पुरूरवा ने एक स्थान पर रात को साधना के लिए श्रेयस्कर और उपयोगी माना है-

निशा योग-जागृति का क्षण है और उदय प्रणय की

ऐकायनिक समाधि; काल के इसी गरुत के नीचे

भूमा के रस पथिक समय का अतिक्रमण करते हैं।

योगी बँधे अपार योग में, प्रणयी आलिंगन में।[37]

संसार के विरक्त योगियों के लिए रात का समय जागरण के लिए उपयुक्त माना गया है। रात्रि के इसी नीरव और तिमिराच्छन्न वातावरण के आश्लेष में आनंद संवर्धक रस का अभिलाषी पथिक समय व्यतीत करता है। आनंदान्वेषी साधक भूत, भविष्य व वर्तमान की परिधि से विनिर्मुक्त होकर अनंत आनंदभूमि में स्वच्छंदता से विचरण करता है।

समस्त साधक दिन के कोलाहल और लोकचक्षु से दूर रहकर रात्रि के समय ही साधना करते हैं। अत: निशाकाल में कृत साधना में साधक की चेतना ऊर्ध्वगामी होती है। जिससे साधना में आशु फल की प्राप्ति होती है। श्रीमद् भागवत गीता में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को नैश साधना के विषय में कहा है कि-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यते मुणे: ॥[38]

इसी प्रकार चर्यापदों में भी निशाकाल को ज्ञानप्राप्ति या सिद्धिलाभ का समय माना गया है। चर्यापदों में निशाकाल को साधना और गाढ़ प्रणय का काल बताया है-

अहनिसि सुरअ पसङ्गे जाअ।

जोइणि जाले रएणि पोहाअ।

डोम्बीएर सङ्गे जो जोइ रत्तो।

खणह न छाड़अ उन्मत्तो॥ (चर्या सं. 19)

सिद्धगण भी रात को रति के लिए उपयुक्त समय मानते हैं। निशा योग में चतुर्थी संध्या का समय प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का समय होता है। इस समय कालाग्नि रूपी धूप अस्त हो जाती है, निर्मल चंद्र या शुक्र रूपी चित्त का उदय होता है।[39]

चर्यापदों में अर्धरात्रि के विषय में माना गया है कि अर्धरात्रि से सूर्योदय के मध्य के काल में देहस्थ पद्म सदृश चक्र खुल जाते हैं जिससे साधक की आशु आध्यात्मिक उन्नति संभव होता है। ललना, रसना इत्यादि बत्तीस नाड़ियाँ भी इसी समय आलोड़ित होती हैं-

अधराति भर कमल बिकसउ।

बतिस जोइणी तसु अङ्ग उह्लसिउ॥ (चर्या सं. 27)

माना जाता है कि गौतम बुद्ध को भी इसी कालांश में बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी। इसी कारण बौद्ध सिद्धों की सारी साधनाएँ इसी समय के अंतराल में होती हैं।

उर्वशीकार के अनुसार ब्रह्म सचराचर विश्व में विद्यमान है। उसने पुरूरवा के मुख से कहलवाया है कि यह समस्त विश्व उसी ईश्वर की इच्छा का प्रसार मात्र है, उसी की इच्छा से असंख्य सूर्य, तारक, ग्रह, नक्षत्रादि आकाश के आँगन में घूम रहे है-

उस अदृश्य के पद पर, जिसकी क्षयासिक्त मृदुस्मित में,

हम दोनों घूमते और क्रीड़ा विहार करते हैं

जिसकी इच्छा का प्रसार भूतल, पाताल गगन है

दौड़ रहे नभ में अनंत कंदुक जिसकी लीला के

अगणित सविता सोम, अपरिमित ग्रह, उडु मंडल बनकर

नारी बन जो स्वयं पुरुष को उद्वेलित करता है।[40]

सिद्धों ने बाह्य प्रकृति को बंधन का कारण माना है। वह धर्म शून्य व भ्रम है।[41] सिद्धों द्वारा चित्रित प्रकृति देहस्थ या अंतस्थ है। उसमें अग्नि है जो निम्नगामी होकर बाड़वाग्नि बनती है और ऊर्ध्वमुखी होकर चंडाग्नि बनती है। उसमें विद्यमान सूर्य,चंद्र, गंगा, यमुना, ललना और रसना नाड़ियाँ हैं। कुल मिलाकर यहाँ प्रकृति का चित्रण योग परक ही है। और यह प्रकृति सर्वथा भौतिक नियमों से मुक्त है।[42] भारती जी के अनुसार "...इन्होंने अपनी साधनाओं के लिए बाह्य प्रकृति के प्रतीक अपनाये थे और अपनी साधना को भौतिकता से मुक्त सिद्ध करने के लिए उन्होंने क्रम और प्रकृति, उनकी भौतिक कार्यकारण शृंखला, उनके स्वरूपादि में संशोधन कर दिया था और ...दार्शनिक दृष्टि से उनका आग्रह था कि उनकी आंतरिक प्रकृति ही सत्य है। यह बाह्य प्रकृति तो सर्वथा मिथ्या और भ्रम जाल है और उसकी तुलना वे काल्पनिक गंधर्व नगरी, या रज्जु में दृश्यमान सर्प.... आदि से करते थे और इस प्रकृति का परित्याग कर आंतरिक हठयोगपरक प्रज्ञोपायात्मक पद्धति को पहचानने का आदेश देते थे।"[43]

आइए अनुअना ए जगरे भान्तिएँ सो पड़िहाइ।

राजसाप देखि जो चमकिइ षोर किँङ्कँ बोड़ो खाइ।

अकट जोइआ रे मा कर हथा लोह्मा।

आइस सहावें जइ जग बुझषि तुट बाषणा तोरा॥

मरुमरीचि गन्ध (ब) नइरी दापति बिम्बु जइसा।

बाताबर्त्तें सो दिढ़ अपैं पाथर जइषा॥ (चर्या सं. 41)

उर्वशी ने प्रकृति के विषय में ये उद्‌गार व्यक्त किए हैं जिसका एक न्यूनतम अंश चर्यापद के उपर्युक्त पद से साम्य रखता है-

प्रकृति नहीं माया, माया है नाम भ्रमित उस धी का,

बीचोंबीच सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है।[44]

उर्वशीकार ने यह मुक्त कंठ से माना है कि प्रकृति चिरपरिवर्तनशील है। इसी को उर्वशीकार ने शून्य माना है-

सब है शून्य, कहीं कोई निश्चित आकार नहीं है,

क्षण-क्षण सब कुछ बदल रहा है परिवर्तन के क्रम में।[45]

× × ×

कवि के अनुसार महाशून्य के भाव की उत्पत्ति व्यक्ति के मन में ही होती है और यह चेतना समस्त भावों का स्पर्श करती हुई जन्म लेती है-

महाशून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्‌गम,

बहती है चेतना काल के आदि-मूल को छूकर। [46]

बौद्धों ने भी प्रकृति की परिवर्तनशीलता को देखते हुए इसे शून्य कहा है। उनके अनुसार यह संसार जलबिंदु में प्रतिबिंबित चंद्र के समान है। दर्शक के लिए जलबिंदु में चंद्र का बिंब है जबकि वह जलबिंदु के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। बौद्ध शून्यता एक ऐसी स्थिति है जो अस्तित्व, नास्तित्व, व्याख्येय या अवर्णनीयता की स्थिति से परे है-

भाव नहोइ अभाव णजाइ।

आइस संबोहँ को पतिआइ॥

लुइ भणइ बट दुर्लक्य बिणाणा।

तिअ धाए बिलसइ उह णा ठाणा॥

जाहेर बान चिह्न रुव ण जाणी।

सो कइसे आगम बेअ बखाणी।

काहेरे किष भणि मइ दिबि पिरिच्छा।

उदक चान्द जिम साच न मिच्छा॥ (चर्या सं.29)

उर्वशीकार का विश्वास है कि कर्मजन्य सुपरिणाम अथवा दुष्परिणाम अगले जन्मों तक अनिवार्य रूप में भोगने पड़ते हैं, इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि वह पुनर्जन्म के सिद्धांत पर विश्वास करता है-

और यहाँ जो कुछ करते हैं, उसकी गंध हवा में,

उड़ते-उड़ते दूर जन्मांतर तक जाती है।[47]

सिद्धगण भी पुनर्जन्म के सिद्धांत पर विश्वास करते हैं परंतु वे इस विषय को नहीं समझ पाते कि जन्म के अनुसार कर्म निर्धारित होता है या कर्म के अनुसार जन्म लेता है-

जामे काम कि कामे जाम।

सरह भणित अचिन्त सो धाम॥ (चर्या सं. 22)

इस प्रकार चर्यापदों के एक दूरगामी प्रभाव की छाया उर्वशी में न्यूनाधिक मात्रा में परिलक्षित होती है। दरअसल चर्यापदों में तत्कालीन भारतीय समाज के समस्त वैचारिक सिद्धांतों का समन्वय है। संभवत: यही प्रभाव यहाँ देखा जा सकता है। यह अवश्य है कि उर्वशी के लेखन क्रम में दिनकर जी ने बौद्ध साहित्य का अध्ययन अवश्य ही किया होगा। क्योंकि बौद्ध साहित्य में काम के आध्यात्मिक पक्ष पर गुप्त रूप से चर्चा की जाती रही है। कलाशाभिषेक जैसे अभिषेकों द्वारा यह तथ्य प्रमाणित होता है।[48]

मधुशाला पर चर्यापदों का प्रभाव

हिन्दी साहित्य में 'हालावाद' नामक एक नवीन वाद का सूत्रपात करने के लिए कवि हरिवंश राय बच्चन ने रुबाई छंद में 'मधुशाला' नामक एक मुक्तक काव्य की रचना की।[49] मधुशाला में कवि ने धार्मिक सांप्रदायिक अंतर को दूर करने का भरसक प्रयास किया है। इनके मुधशाला में उमर खय्याम की रुबाइयों का प्रभाव लक्षित होता है।[50] यहाँ कवि ने मधुशाला की

मादकता के साथ सामाजिक विषमता का भी चित्रण किया है। उन्होंने मधुशाला के माध्यम से ही सामाजिक विषमताओं को सुलझाने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से मधुशाला का विस्तृत योगदान रहा है।

मधुशाला काव्य में आद्यंत साकी, हाला, प्याला का निरंतर उल्लेख मिलता है। काव्य के आरंभ में कवि ने जहाँ मधुशाला के प्रति ऐकांतिक निष्ठा व्यक्त की है वहीं अंत तक आते-आते उनकी निष्ठा स्खलित-सी हो गई है। संभवत: इन रूबाइयों की रचना में एक लम्बे समय का अंतराल रहा हो जिसने कवि की मानसिकता को थोड़ा बदल दिया होगा। काव्य के आरंभ में कवि ने मादक प्याले और मधुशाला के गुणगायन के क्रम में उसे दिव्य आवरणों से विभूषित करने का यथासंभव प्रयत्न किया है-

बने पुजारी प्रेमी साकी,

गंगाजल पावन, हाला

रहे फेरता अविरत गति से

मधु के प्यालों की माला,

'और लिये जा, और पिये जा-

इसी मंत्र का जाप करे,

मैं शिव की प्रतिमा बन बैठूँ,

मंदिर हो यह मधुशाला।'[51]

परंतु अंत तक आते-आते मानो कवि का मधुशाला के लिए मोहभंग हो जाता है और वह पुरातन प्रीति भी नहीं रह जाती है। जिसके फलस्वरूप कवि ने कहा है कि-

बूँद-बूँद के हेतु कभी

तुझको तरसाएगी हाला

कभी हाथ से छिन जाएगा,

तेरा यह मादक प्याला;

पीनेवाले साकी की मीठी

बातों में मत आना;

मेरे भी गुण यों ही गाती

एक दिवस थी मधुशाला।[52]

आरंभ में कवि ने कहा था कि चाहे मंदिर, मस्जिद जैसे उपासना स्थल कहीं न मिल पाए परंतु पीनेवाले और मधुशाला हर स्थान पर सहजलब्ध है

पथिक बना मैं घूम रहा हूँ,

सभी जगह मिलती हाला,

सभी जगह मिल जाता साकी,

सभी जगह मिलता प्याला,

मुझे ठहरने का, हे मित्रों,

कष्ट नहीं कुछ भी होता,

मिले न मंदिर, मिले न मस्जिद,

मिल जाती है मधुशाला।

अंत में कवि मधुशाला की खोज में दर-दर भटकता रहा पर उसका सहलभ्य मुदिरालय कहीं नहीं मिलता कवि उदास होकर बैठ जाता है तो उसे चारों ओर मदिरालय का भी भ्रम होता है-

दर-दर घूम रहा था तब मैं

चिल्लाता-हाला। हाला।

मुझे न मिलता था मदिरालय,

मुझे न मिलता था प्याला;

मिलन हुआ, पर नहीं मिलन सुख

लिखा हुआ था किस्मत में,

मैं अब जमकर बैठ गया हूँ,

घूम रही है मधुशाला।[53]

मधुशाला के प्रति बदले हुए तेवर के पीछे की कहानी जो भी हो पर यह अवश्य ही है कि अंतत: कवि का मधुशाला के प्रति प्रेम अवश्य ही कम हो गया होगा।

मधुशाला और चर्यापदों में तुलना का मुख्य कारण यही है कि बौद्धों के अनुत्तर तंत्र में भी मधु या पंचमकार की साधना का उल्लेख है।[54] चर्यापदों में भी शुण्डिनी द्वारा मद्य प्रस्तुत करने का उल्लेख मिलता है-

एक से शुण्डिनी दुई घरे सान्धअ।

चीअण बाकलअ बारुणि बान्धअ॥

सहजे थिर करि बारुणि सान्धे।

जे अजरामर होइ दिट कान्ध:॥

दशमि दुआरत चिह्न देखअइआ।

आइल गराहक अपणे बहिआ॥ (चर्या सं. 3)

इस पद में बिरुवापाद ने मद्यशाला का स्पष्ट वर्णन मिलता है। परंतु उल्लेख्य है कि यह मदिरालय कोई स्थूल या प्रत्यक्ष मदिरालय न होकर शरीर के आंतरिक या सूक्ष्म क्रियाओं का वर्णन है।

पंचमकार में मद्य,मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन की गणना की जाती है। बौद्ध ग्रंथों में पंचमकार शब्द का प्रत्यक्ष प्रयोग तो नहीं हुआ परंतु विभिन्न तत्वों का वर्णन अवश्य ही मिलता है।[55] डॉ नागेन्द्रनाथ उपाध्याय के अनुसार ''साधनमाला में अनेक प्रकार के साधनाओं में 'मदन' (मद्य-मअण =अपभ्रंश) से अनेक यंत्रों की तथा पुत्तलिकाओं की रचना का विधान मिलता है।... इस प्रकरण में क्रिया और चर्यातंत्र के अंतर्गत निषेध स्वीकार करना चाहिए। हेवज्रतंत्र का निर्देश है कि सुकेशी साधकप्रिया को 'मदन' का पान कराना चाहिए और स्वयं भी पीना चाहिए। तदुपरांत मुद्रा के साथ अनुराग करना चाहिए।[56]

उपर्युक्त विश्लेषण के बाद मधुशाला और चर्यापद में समानताओं के अन्वेषण का प्रयास किया जाएगा। दर असल मधुशाला कोई मद्यविक्रेता की दुकान नहीं यह साधना का मार्ग या सफलता का द्योतन भी करती है। वह ईश्वर के अधरों से स्पृष्ट एक प्याला है। यह ईश्वर को समर्पित काव्य है। बच्चन जी ने भूमिका में कहा है कि -''मेरी मदिरा तेरे चरणों में फिर भी चढ़ गई। मैं संतुष्ट हूँ। भक्त की मदिरा-विनम्र भक्त की मदिरा -भगवान के अधरों पर नहीं चरणों मे ही चढ़नी उचित है।...तेरी मतवाली आँखों की हाला सदा मेरे पलकों के प्याले में छलका करे और जो मुझे देखे वह तेरी मदिरा से मस्त हो उठे।[57]

अत: बच्चन की मधुशाला आध्यात्म की तरफ भी मुड़ता है।[58] वे कहते हैं कि घर से मदिरालय तक जाने के लिए कई मार्ग हैं दूसरों की बात सुनने की अपेक्षा किसी एक मार्ग से चलते रहने पर मधुशाला मिल जाएगी-

मदिरालय जाने को घर से

चलता है पीनेवाला,

''किस पथ से जाऊँ'' असमंजस

में है वह भोलाभाला;

अलग-अलग पथ बतलाते सब

पर मैं यह बतलाता हूँ-

राह पकड़ तू एक चला चल,

पा जाएगा मधुशाला।''[59]

इसी प्रकार सिद्ध चाटिल्लपाद ने कहा है कि साधना में अग्रसर होने पर मातृतंत्र, पितृतंत्र आदिमार्गों का भेद मत करना बल्कि एक ही मार्ग पर चलते रहने से ही बोधि प्राप्ति हो जाएगी। यदि कोई उस पार जाने की आकांक्षा करे जो वह चाटिल्ल से इस विषय में चर्चा कर सकता है-

साङ्कमत चड़िले दाहिण बाम मा होही।

नियड्डी बोहि दूर मा जाहि॥

जई तुम्हे लोअ हे होइब पारगामी।

पुच्छतु चाटिल अनुत्तर सामी॥ (चर्या सं. 5)

एक रुबाई में बच्चन जी ने मधुशाला का वर्णन करते हुए उसका मानवीकरण किया इस क्रम में उन्होंने मधुशाला को मेहँदी रंजित, अवगुंठन डाले स्वर्ण वर्णा कहा है। वहाँ बैंजनी पाग और नीला जामा पहने पीनेवाले डटकर बैठे हैं। मधुशाला का रंग इंद्रधनुष की तरह बन गया है-

मेहँदी-रंजित मृदुल हथेली

पर माणिक मधु का प्याला,

अंगूरी अवगुंठन डाले

स्वर्ण वर्ण साकीबाला,

पाग बैंजनी, जामा नीला

डाट डटे पीनेवाला;

इन्द्रधनुष से होड़ लगाती

आज रँगीली मधुशाला।[60]

हिंदू तंत्र में भी मद्यशोधन के क्रम में तिरस्करिणी नामक एक देवी की पूजा की जाती है जो नीलवर्णा है और नीलांशुक धारिणी है-

नीलं हय समधिरुह्य पुरः प्रयान्ती नीलांशुकाभरण माल्यविलेपनाढ्या। निद्रा पुटेन भुवनानि तिरोदधाना खड्युधा भगवती परिपातु भक्तान्।[61]

तिरस्करिणी की पूजा समस्त पाशविक आचार और व्रात्यों के मन, चक्षु, श्रोत, जिह्वा, नासिका में आवरण डालने के लिए किया जाता है जिससे कि समस्त साधना निर्विघ्न होकर चल सके।[62]

मधुशाला के शृंगार और तिरस्करिणी में एक अदभुत साम्य है। तिरस्करिणी का वर्ण भी नीला है और मधुशाला में बैठे पीनेवाले ने भी बैंगनी पगड़ी और नीला जामा पहने है।

मधुशाला के कवि के अनुसार समाज या धर्म द्वारा बहिष्कृत लोगों के लिए मधुशाला में स्थान अवश्य ही मिला जाएगा। जो समाज को छोड़कर समस्त अहंभाव को त्याग पाएगा उसी को मधुशाला स्वीकार करती है-

धर्मग्रन्थ सब जला चुकी है

जिसके अन्तर की ज्वाला

मंदिर,मस्जिद, गिरजे-सबको

तोड़ चुका जो मतवाला,

पंडित,मोमिन, पादरियों के

फंदों को जो काट चुका,

कर सकती है आज उसी का

स्वागत मेरी मधुशाला।[63]

× × ×

रंक-राव में भेद हुआ है

कभी नहीं मदिरालय में,

साम्यवाद का प्रथम प्रचारक

है यह मेरी मधुशाला।[64]

× × ×

दुतकारा मस्जिद ने मुझको

कहकर है पीनेवाला

ठुकराया ठाकुर द्वारे ने

देख हथेली पर प्याला,

कहाँ ठिकाना मिलता जग में

भला अभागे काफिर को

शरणस्थल बनकर न मुझे यदि

अपना लेती मधुशाला।[65]

चर्यापदों में भी सिद्ध समाज से बहिष्कृत प्रतीत होते हैं। जिसके जीवन में अहं भाव का लेशमात्र भी शेष नहीं रहता उसी को सिद्ध कहते हैं। सिद्धों ने समाज के वर्गीय बंधनों को तोड़कर चरम औदात्य का परिचय दिया है-

नगर बाहिरे रे डोम्बि तोहोरि कुड़िआ।
छइ-छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥
आलो डोम्बि तोए सम करिबे म साङ्ग।
निधिण काह्न कापालि जाइ लाङ्ग॥ (चर्या सं. 10)

सिद्धों के काव्य का भावनात्मक प्रभाव मधुशाला में पड़ा ऐसा प्रतीत होता है। वैसे मधुशाला के कवि ने ऐसा कोई इंगित तो नहीं दिया तथापि सिद्धों के काव्य की प्रकृति और मधुशाला के भावों को देखकर यह प्रतीती अवश्य ही दृढ़ हो जाती है। मधु में मत्त व्यक्ति के मन में जिस प्रकार समस्त भाव शून्य हो जाते हैं एवं वह प्रत्येक बंधन को तोड़ने को प्रस्तुत रहता है। मद्यपान व्यक्ति में अंतर्निहित प्रवृत्तियों को उभार देता है और उसकी समस्त भय, लज्जा, दु:खादिक भावनाएँ उभरकर आती हैं। इसी कारण सिद्धों ने मध को अपनी साधना का अंग बना लिया था। मधुशाला पूर्ण अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि बच्चन जी भी बैर, शत्रुता व हीनता जैसी क्षुद्र भावनाओं को त्याग कर एक ऐसे वृहद् समाज की स्थापना करना चाहते हैं-

रंक-रंक में भेद हुआ है
कभी नहीं मदिरालय में
साम्यवाद का प्रथम प्रचारक
है यह मेरी मधुशाला।
एक तरह से सबका स्वागत
करती है साकी बाला,
अज्ञ विज्ञ में क्या है अंतर
हो जाने पर मतवाला।[66]

'राम की शक्तिपूजा' पर चर्यापदों का प्रभाव

'राम की शक्तिपूजा'(1936) हिन्दी के स्वनाम धन्य कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' द्वारा कृत महाकाव्य के गुणयुक्त काव्य है। हिंदी के विद्वान तारकनाथ बाली के अनुसार "राम की शक्तिपूजा निराला की ही नहीं, सम्पूर्ण छायावादी काव्य की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है। इसमें कवि ने एक ऐतिहासिक प्रसंग के द्वारा धर्म और अधर्म के शाश्वत संघर्ष का चित्रण किया है। राम धर्म के प्रतीक हैं और रावण अधर्म का। इस कविता में अधर्म का चित्रण एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में हुआ है, जिसके सामने एक बार तो राम का साहस भी कुण्ठित होने लगता है। यह स्थिति एक ओर तो कवि के व्यक्तिगत जीवन के भयानक संघर्ष से संबद्ध हो जाती है और दूसरी ओर युगीन यथार्थ की विकरालता को भी व्यक्त करती है। अंत में राम शक्ति की मौलिक कल्पना करते हैं, उसकी आराधना करते हैं और अधर्म के विनाश के लिए सक्षम होते हैं। शक्ति की उपासना में एक ओर तो परम्परागत सत्य को स्वीकृत का संकेत निहित है और दूसरी ओर 'मौलिक कल्पना' इस बात पर बल देती है कि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों का युगानुरूप संशोधन अनिवार्य है। इस कविता में विविध भावों और भाषा के विविध रूपों के दर्शन होते हैं, जो कवि की शक्ति के विविध पक्षों की अन्विति का परिणाम है।"[67]

राम द्वारा कृत शक्ति पूजा का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में भी नहीं मिलता और न ही तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' में ही इसका उल्लेख है, बल्कि यहाँ राम द्वारा शिव की आराधना के साक्ष्य मिलते हैं। रामेश्वरम् में प्रतिष्ठित शिवलिंग इसी विश्वास का प्रतीक है। तुलसीदास के अनुसार-

करिहउँ इहाँ संभु थापना। मोरे हृदयँ परम कलपना॥
सुनि कपीस बहु दूत पठाए। मुनिबर सकल बोलि लै आए॥
लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। शिव समान प्रिय मोहि न दूजा॥[68]

तुलसीदास ने यह राम द्वारा शिवार्चन का ही संकेत दिया है। राम द्वारा कृत शक्ति पूजा के साक्ष्य प्रथम बार 'कालिकापुराण' में मिलता है। कालिकापुराण के 60 वें अध्याय में राम द्वारा कृत पूजा से प्रसन्न होकर दुर्गा का निद्रात्याग कर लंका-गमन का उल्लेख मिलता है। वहाँ स्वयं अंतर्निहित रहकर अंबिका ने राम और रावण का युद्ध देखा था। वहाँ वे सप्ताह भर रहीं और समस्त देवताओं ने उनकी पूजा की-

रामस्यानुग्रहार्थाय रावणस्य वधाय च।

रात्रावेव महादेवी ब्रह्मणा बोधिता पुरा॥

ततन्तु व्यक्तनिद्रा सा नन्दायामाश्विने सिते।

जगाम नगरीम् लंकाम् यत्रासीद्राघवः पुरा॥

तत्र तत्र महादेवी तदा तौ रामरावणौ।

युद्धे नियोजयामास स्वयमन्तर्हिताम्बिका॥

रक्षसाम् वानराणाञ्च जग्ध्वा सा मांसशोणिते।

रामरावणयोर्युद्धम् सप्ताहं सा न्ययोजयत्॥[69]

संभवतः यहीं से शरद्काल में दुर्गापूजा का प्रचलन आरंभ हुआ। लोकविश्वास के अनुसार अष्टमी और नवमी तिथियों के संधिक्षण में राम की परीक्षा लेने के लिए दुर्गा ने 108 से एक कमल का फूल छिपा लिया था। राम के अपने कमल नयन दान के संकल्प से देवी ने प्रसन्न होकर राम का हाथ थाम लिया। तभी से इस संधिक्षण में विशेष पूजा की जाती है और दुर्गा को अष्टोत्तर शत कमल चढ़ाए जाते हैं।

पुण्डरीकन्तु यो दद्यादर्धरात्रौ विशेषतः।

सर्वान कामान्वाप्नोति शतमष्टोत्तरम् तथा॥[70]

संभवत: निरालाजी परयह बंगाल में जन्म का प्रभाव है। निराला जी का जन्म जनवरी सन् 1897 में मेदिनीपुर जिले की महिषादल रियासत में माघ शुक्ल एकादशी को हुआ था।[71] साथ ही वे कुछ दिनों तक कलकत्ता स्थित रामकृष्ण आश्रम द्वारा प्रकाशित समन्वय पत्र में रहे,एवं उन्हें मठ के संन्यासियों का भी साथ मिला।[72] 'राम की शक्तिपूजा' काव्य में निश्चित ही उन्होंने असम और बंगाल में प्रचलित परंपरा का अनुधावन किया होगा। विद्वानों के अनुसार निराला का काव्य विविध दर्शनों से प्रेरित रहा था।[73]

विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि निराला के इस काव्य में बौद्ध कौलिक दर्शन का प्रभाव पड़ा होगा। उदाहरणार्थ राम ने शक्ति की आराधना के क्रम में कुंडलिनी जागरण का मार्ग अवलंबन किया था-

क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पञ्च दिवस
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस;
कर-जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।
चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समहित मन,
प्रति जप से खिंच-खिंच होने लगा महाकर्षण;
सञ्चित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर.....
...आठवाँ दिवस; मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर,...
.....रह गया एक इन्दीवर, मन देखता-पार,
प्राय: करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार...[74]

आधुनिक हिंदी काव्य में दुर्गा के पूजन का यह क्रम अभिनव है। केवल आधुनिक हिन्दी काव्य ही नहीं वरन् साधना का यह प्रकार ही मौलिकता का द्योतन करता है। इस साधना को सिद्धों की साधना प्रवृत्ति की परम्परा से अवश्य जोड़ा जा सकता है। बौद्ध परम्परा में चार ही चक्र मान्य हैं प्रथम चक्र नाभि में निर्माण चक्र है जहाँ तथागत का वासस्थान माना जाता है और अंतिम चक्र की अवस्थिति सहस्रार ही मानी गई है।[75] कदाचित बौद्धों में मूलाधार और स्वाधिष्ठान का भी महत्त्व स्वीकार किया गया है जिसके उद्धरण चर्यापदों में मिल जाते हैं-

छड़गइ सअल सहावे सूध।

भावा भाव बलाग न छुध॥ (चर्या सं 9)

गति युक्त चक्र स्वभाव से ही शुद्ध हैं और अस्तित्व नास्तित्व के मध्य बाल की नोंक के बराबर भी अंतर नहीं हैं।

दिवसइ बहुड़ी का डरे भाअ।

राति भइले कामरु जाअ॥ (चर्या सं.2)

योनि से जाँघ तक के हिस्से को योगिनी तंत्र में कामरूप माना गया है।[76]

यहाँ (चर्यापदों) में स्थान पर चक्रों का उल्लेख प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में मिल जाता है-

तिनिएँ पाटैं लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ।

ता सुनि मार भयंकर रे सअ मण्डल सएल भाजइ॥

मातेल चीए गअन्दा धाबइ।

निरन्तर गअणन्त तुसैं घोलइ॥

पाप पुण्य बेणि तिड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भा ठाणा।

गअण टाकलि लागि रे चित पइठ णिबाणा॥ (चर्या सं. 16)

यहाँ गगन और गगनांतशब्द क्रमश:संभोग चक्र (आज्ञाचक्र) और उष्णीषकमल (सहस्रार) के लिए आया है।

निराला ने राम के गंभीर भाव को देखकर कहा है-

खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध हैं पवन चार;

भारतीय धर्म धारा के अनुसार प्राण,अपान, व्यान, उदान,समान यह पंच वायु हैं पर बौद्ध तंत्र में डोम्बि, चंडाली, शबरी और पुक्कशी यही चार वायु माने गए हैं।[77] यहाँ 'पवन चार' और बौद्धों के चार वायु में अद्‌भुत साम्य लक्षित होता है।

रावण के जीत को लेकर संशय में पड़े राम का मन जब हार चुका था तब अचानक उनके सामने सीता की छवि अचानक आ गई और उनमें पुन: युद्ध करने की शक्ति स्फुरत् रूप में परिवहित होने लगी-

ऐसे क्षण अन्धकार धन में जैसे विद्युत,

जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि अच्युत।...

...सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त..

हर धनुर्भग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त...

...फिर विश्वविजय-भावना हृदय में आधी भर,[78]

सिद्धों ने साधना में नारी का प्रयोग शून्यता भाव को त्यागकर पुन: मन में करुणा का भाव संचरित करने के लिए व्यवस्थित किया था-

तु लो डोम्बी हाँउ कपाली।

तोहोर अन्तरे मोए घलिलि हाड़ेरमाली॥

सरबर भाञ्जीअ डोम्बि खाअ मोलाण।

मारमि डोम्बी लेमि पराण॥ (चर्या सं 10)

निराला ने पवन पुत्र हनुमान के क्रोधवेश का चित्रण करते हुए हनुमान के श्वास और उच्छ्वास क्रम में घूर्णावर्त आने की कल्पना की है-

हो श्वसित पवन उनचास पिता-पक्ष के तुमुल

एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल

शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग, उठते पहाड़,

जल राशि-राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़ [79]

चर्यापदों में भी प्राणायाम की क्रिया पर विशेष बल दिया है। यहाँ एकादि क्रम से साधकों को प्राणायाम करने का निर्देश दिया गया है पुक्कशी और शबरी प्राणायाम के बाद चंडाली प्राणायाम किया जाता है। बौद्ध विश्वास के अनुसार चंडाली प्राणायम देह के ताप की वृद्धि करने के साथ साधक के हृदय में स्थित लोभ, मोह, हिंसा, भ्रांति, क्रोध आदि समस्त भाव जला देता है-

निअ घरिणी चंडाली लेली॥

उहि जो पञ्चपाटन इन्दि बिसआ णठा। (चर्या सं. 49)

× × ×

समता-जोएँ जलिअ चण्डाली। (चर्या सं. 47)

चंडाली प्राणायाम सिद्ध होने पर साधक डोम्बि प्राणायाम कर चंद्र मंडल का शीतलीकरण करता। न ही डोम्बि की ज्वाला तीव्र है और न ही वह मानसिक विक्षिप्ति उत्पन्न करता है-

नउ खर जाला धूम ण दिशई। (चर्या सं. 47)

हनुमान का श्वास और चर्यापदों में चित्रित प्राणायाम के वायु का सामंजस्य है। सिद्धों ने साधना के क्रम में वायु में निहित शक्ति का परिचय भी प्राप्त किया था।

सिद्ध साधकों में देवता का रूप ध्यान और उससे एकात्मता स्थापित करने के सूत्र मिलते हैं यह विशेषकर क्रिया और चर्यातंत्र में उपलब्ध है। अनुत्तर तंत्र के साधक शांतिपा ने कहा है-

सँ एँ सम्बेअण बोलथि सान्ति। (चर्या सं. 26)

अर्थात् सभी का आधार अनुभूति है। साधक यदि कहता है कि ईश्वर है तो और नहीं है कहे तो वह नहीं है। योगाचारी साधक के मन में न ईश्वर दर्शन की आकांक्षा है और न ही महामुद्रा के माध्यम से ईश्वर से एकात्म होने की चाह क्योंकि वह अपने ही अस्तित्व को शून्य मानता है तो ईश्वर कहाँ से आएगा?

अपणे नाहिँ मो काहेरि सङ्का।

ता महामुदेरी टुटि गेलि कङ्का॥ (चर्या सं 37)

उनके अनुसार ईश्वर,साधक का कल्पना प्रसूत है और समस्त जगत् की तरह यह भी मन के द्वारा सृष्ट है-

आइए अणुअना ए जग रे भान्तिएँ सो पड़िहाईं। (चर्या सं. 41)

परंतु चर्या एवं क्रिया तंत्र के साधक यह शिकायत करते हैं कि केवल जप-प्राणायाम द्वारा साधना करने पर इष्ट देवता के रूप धारण के लिए मन में स्थान ही नहीं बचेगा-सोणे भरिलि करुणा नावी।

रूपा थोइ नाही के ठावी॥ (चर्या सं. 8)

क्रिया तंत्र में तथागत, वज्रपाणि, पद्मपाणि आदि देवताओं पर ध्यान केंद्रित करने का निर्देश मिलता है और देवता की आकृति को मंत्र की ध्वनि के साथ मिलाकर शब्द देवता पर ध्यान करने का उपदेश दिया है।[80]

निराला ने भी राम द्वारा देवी के स्वरूप ध्यान और देवी से एकात्मक स्थापित करने का वर्णन किया है।

''होगी जय होगी जय हे पुरूषोत्तम नवीन!''

कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।[81]

निराला ने दुर्गा के जिस रूप का वर्णन इस कविता में किया है उसका प्रत्यक्ष वर्णन कालिकापुरण में मिलता है-

वामपद असुर स्कंध पर रहा दक्षिण हरि पर;

ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध अस्त्र सज्जित,

मन्द-स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित।[82]

कालिकापुराण के अनुसार-

...मृणालायतसंस्पर्श दशबाहु समन्विताम्।

त्रिशूलं दक्षिण ध्येय खड्गचक्र क्रमादधः॥

तीक्षणबाणं तथा शक्तिं दक्षिणे सन्निवेशयेत्।

खेटकं पूर्णचापंच पाशं चाङ्कुशमुर्द्धतः॥

घण्टांच परशुञ्चापि वामेहधःप्रतियोजयेत्।

अधस्तान्महिष तद्वविशिरस्कं प्रदर्शयते॥...

देव्यास्तु दक्षिणं पादं समं सिंहोपरिस्थितम्।

किंञ्चिदूर्ध्वं तथा वाम अंगुष्ठं महिषोपरि॥[83]

हालांकि 'रामकी शक्ति पूजा' और चर्यापदों की रचना दो भिन्नमुखी उद्देश्यों से हुई थी अत: उनमें भावनापरक साम्य पूर्णत: खोज पाना तो दुष्कर है तथापि 'राम की शक्ति पूजा' में वर्णित घटनावली में बौद्ध दर्शन की झलक मिल ही जाती हा। यह प्रभाव अचिंत्य या अनायास ही आ गया है। इस कविता को चर्यापदों की परम्परा से अवश्य ही जोड़ा जा सकता है। परंतु यदि प्रभाव की बात की जाए तो इसे पर चर्यापदों का प्रभाव आँकना लगभग असंभव ही हो जाएगा क्योंकि इन दोनों रचनाओं के रचनाकाल के बीच शताब्दियों का अंतर रहा था। केवल यही नहीं बल्कि आदिकालीन काव्य रचयितागण जिस चेतना का अनुधावन कर रचना कर रहे थे आधुनिक काल में वह चेतना बदलकर नव्य वैचारिक आंदोलनों के अंतर्निहित धारा से प्रभावित होती रही।

असाध्य वीणा पर चर्यापदों का प्रभाव

असाध्य वीणा अज्ञेय की श्रेष्ठतम रचानओं में एक है। इस रचना में एक साधानात्मक कथानक को पद्यात्मक रूप में निबद्ध किया गया है। कथा के अनुसार वज्रकीर्ति नामक एक विषद् संगीत साधक ने किरीटी तरु नामक वृक्ष से एक वीणा बनाई। परंतु वज्रकीर्ति के जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना यही रही कि अपनी वीणा में स्वरसंधान करने के बाद ही उसका जीवनांत हो जाता है और उस वीणा में स्वर निबद्ध करने की क्षमता किसी में नहीं आती। अनेकानेक मदगर्वित संगीत मर्मज्ञाचार्य आए पर उनका गर्व वीणा के समक्ष भूलुंठित हो गया। अतएव जिस राजा के संरक्षण में वह वीणा थी उसने उसे असाध्य मान लिया। इसी वीणा में तारसप्तक की योजना करने एकदा गुहागेहवासी केशकंबली प्रियंवद का आगमन होता है। वीणा के सम्मुख स्वयं को तुच्छ मानकर जब प्रियंवद ने उसे झंकृत किया तो उससे नि: सृत स्वर के आश्लेष में पूरी सभा स्तब्ध हो जाती है। राजा को वीणा के स्वरों में अपनी विगलित महत्त्वाकांक्षाओं का स्वर सुनाई पड़ा। रानी को अपने गहनों की अपेक्षा प्रणय का महत्त्व समझ में आया। इसी प्रकार सभा में विद्यमान

प्रत्येक व्यक्ति ने वीणा के स्वरों में अलग अलग भाष्य सुना जिससे उनकी मनस्थ ग्रंथियों उन्मुक्त हो गईं। वीणा वादन समाप्त होने पर सबको लगा कि वे लंबी समाधि से जगे। राजा ने उसे पुरस्कृत करना चाहा परंतु प्रियंवद ने समस्त श्रेय वीणा को दिया और वह कंबल उठाकर पुनः अपने गुहागेह में चला गया।

इस कथा में कुछ ऐसे तत्त्व मिले हैं जो इसके बौद्धमूलीय तत्त्वों की ओर इंगित करता है। इस अनुक्रम में हम दो व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ ग्रहण करते हैं- वज्रकीर्ति और किरीटी तरु।

वज्रकीर्ति नाम से ही सिद्ध होता है कि यह बौद्धमूलीय नाम है। वज्रकीर्ति नेपाल से तिब्बत जाने वाले प्रथम महासिद्ध माने जाते हैं। वे हेरुक के उपासक थे और साधना के क्रम में उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई।[84] बुद्धत्व की प्राप्ति करने वाले सिद्ध की एकनिष्ठा और अनौपम्यता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

अब किरीटी शब्द को लें- 'मंत्रयान धारा में तंत्र की उत्पत्ति विषयक आख्यान के अनुसार अनंत काल तक पुनर्जन्मों के बाद बोधिसत्व पूर्णबुद्ध होने में सक्षम होकर निरंजना नदी के तट पर निर्विकल्प समाधि में लीन थे। दशों दिशाओं से दश बुद्धों ने आकर उनसे कहा, ''केवल समाधि द्वारा बुद्धत्व प्राप्ति संभवपर नहीं।'' बुद्ध ने जब उनसे बुद्धत्व प्राप्ति का मार्ग पूछा तो दश बुद्धों ने बोधिसत्व को किरीटी अभिषेक में दीक्षित कर पंच अभिसंबोधियों का ज्ञान दिया।''[85]

इस किरीटी अभिषेक का ध्येय यह है कि साधक के मन में करुणा का पूर्ण प्रसरण हो और वह वृक्ष की भाँति अपनी जड़ों को जमाकर अचल रहे। देह की तुलना वृक्ष से करते हुए लुइपा ने प्रथम चर्यापद में कहा है-

काआ तरुवर पञ्च वि डाल।

चञ्चल चीए पइट्ठो काल॥

दिढ़ करि महासुह परिमाण।

लुइ भणइ गुरु पुच्छह जाण॥ (चर्या सं. 1)

अर्थात् यह देह एक वृक्ष के समान है जिसकी पंचेन्द्रिय रूपी पाँच शाखाएँ हैं। जिसका भी चित्त चंचल होता है उसमें मृत्यु-भय संचरित होगा। अत: अपने मन में महासुख की चिंतना कर गुरु से उस तत्त्व को समझ लेना चाहिए। चित्त से काल के भय को उत्क्षिप्त करने वाला साधक ही किरीटी अभिषेक का पात्र होता है।

झारखंड के निभृत कांतार में पल्लवित यह विशाल तरु बौद्ध साधक के हृदगत वैशाल्य का ही परिचायक बिंब है। अपने औदात्य का परिचय देने के लिए बौद्धों ने खसम शब्द का प्रयोग किया। खसम की स्थिति में साधक पूर्णत: मौन हो जाता है।

करुणा मेह निरन्तर फरिआ।

भावाभाव द्वन्द्वल दलिआ॥

उइत्ता गअण माझँ अदभुआ।

पेखरे भुसुक सहज सरुआ॥ (चर्या 30 भुसुकुपाद)

अर्थात् करुणा के मेघों के वर्णन से अस्तित्व अनस्तित्व का द्वन्द्व मिट जाता है। शून्य (गअण) में अपूर्व दीप्ति उदित होता है। भुसुकुपाद कहते हैं सहज का स्वरूप देखो। इस चरम अनुभूति के बाद साधक खसम बनकर अंतत: मौन हो जाता है। प्रियंवद में विस्तीर्ण मौन इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। प्रियंवद केशकंबली किरीटी तरु विषयक चिंतन करते करते स्मृतियात्रा करता है। चिंतन के स्तर पर वह इहलोक में विचरण करते हुए स्वयं को भूल जाता है। वह सुनता तो है पर स्वयं से परे शब्द में लीयमान अनुभव करता है।

वह बोल उठता है-''मैं नहीं हूँ, मैं-कहीं नहीं हूँ। ओ तरु ओ वन! ओ स्वर संसार! ओ नाद मय संस्कृति! ओ रस प्लावन, मुझे क्षमा करो, मेरी अकिंचनता को भूलकर मुझे ओट दे, ढँक ले, छा ले।''[86]

इसी सूक्ष्म विश्लेषण-प्रक्रिया को चर्यापदों में उस प्रकार कहा गया है-

तुला धुणि धुणि आसु रे आसु।

आसु धुणि धुणि णिरवर सेसु॥

चर्या 26 शांतिपादानाम्

रूई की फाह को धुनने पर वह रेशों में बदल जाएगा उन रेशों को और धुनें तो कुछ शेष नहीं रह जाएगा। शांतिपाद आगे कहते हैं- विश्लेषण के द्वारा शून्यता की प्राप्ति होती है। तुला धुणि धुणि सुने अहारिउ।

प्रियंवद मौन मनन के क्रम में इसी प्रक्रिया से होकर गुजरता है। उसके भाव स्थूल से सूक्ष्म हो जाते हैं और परिणामत: वह शून्यता का बोध करता है। उसे अपनी अकिंचनता का अवबोध होता है।

इस भाव के उपरांत वह अपनी उँगलियों को वीणा के तारों में रखता है तो वीणा झंकृत हो उठती है। वीणा प्रथम वाद्य यंत्र माना जाता है जिसकी तुलना विद्वानों ने मानव शरीर से की है। इसकी तंत्रियाँ शरीर की नाड़ियों के तुल्य मानी गई है। वीणा वादन योग की आंत: प्रक्रिया के समकक्ष कहा गया है। चर्यापदों में भी वीणावादक हेरुक का उल्लेख आता है। चर्याकार वीणापाद ने अपने इष्टदेवता हेरुक और करुणा द्वारा वीणा वादन की कल्पना की है। गीत में जिस हेरुक की बात की गई है शैव शास्त्रों में वह शिव का अनुचर माना गया है परंतु बौद्ध तंत्रानुसार हेरुक वज्रधर-वज्रसत्व वज्रपाणि का ही एक रूप है। हेरुक शब्द का मूल हर है और बौद्ध तंत्रों में

उल्लेखित हेरुक का चरित्र हिंदू तंत्र के भैरव के साथ एक ही है। बोधिसत्व त्रैलोक्य विजय को बौद्ध तंत्र से हटाकर कालिकापुराण ने भैरवी पीठ के अर्द्धांश के रूप में प्रतिष्ठित किया।[87] हेरुक के वीणा से संबंधित चर्यागीत इस प्रकार है-

सुज लाउ ससि सागेलि तान्ती।

अणहा दाण्डी चाकि किअत अवधूती॥

बजाइ आलो सहि हेरुअ बीणा।

सुन तान्ति धनि बिलसइ रुणा॥....

आलि कालि बेणि सारि सणेआ।

गअबर समरस सान्धि गुणिआ॥

जबे करहा करहकले विचिउ।

बतिस तान्ति धनि सरएल व्यापिउ॥

नाचन्ति बाजिल गान्ति देवी।

बुद्ध नाटक बिसमा होइ॥ (चर्या सं. 17)

किम् बहुना! राजा प्रजा सब उस अलौकिक स्वर लहरी में डूब जाते हैं-

डूब गए सब एक साथ।

सब अलग अलग एकाकी पार तिरे॥[88]

दरअसल बौद्धों ने दो प्रकार की कायाओं का वर्णन किया है- रूपकाया और धर्मकाया। सभी व्यक्तियों में इसका महत्त्व भिन्न होता है। मन के विचारों से ही धर्मकाया गठित होती है और हमारी स्थूल काया रूप काया है। जहाँ साधक लोग धर्मकाया को महत्त्वपूर्ण मानते हैं वहीं सामान्य

लोग रूप काया को प्रधान मानते हैं। इन कायाओं या नगरों को स्थिर रखने के लिए जैवशक्ति की आवश्यकता होती है जो देह के बाहर से आती है। चर्यापदों में कहा गया है-

एक से शुण्डिनी दुइ घरे सान्धअ।

चीअण बाकलअ बारुणि बान्धअ॥ (चर्या 3 बिरुवापाद)

अर्थात् एक ही जैवशक्ति दोनों ही घरों को परिपुष्ट करती है। चर्यापदों में जो काम शुण्डिनी करती है वही काम यहाँ वीणा की झंकार करती है। वह लोगों के हृत्तंत्री के तारों को झंकृत करती है, सभी लोग अपनी रूपकाया और धर्मकाया के बौद्धिक स्तर के आधार पर इस जैव तत्त्व का आस्वादन करते हैं। इसी कारण वीणा के बजने मात्र में कविता समाप्त नहीं हो जाती बल्कि जैवशक्ति के संचरण और उसकी प्रभावोत्पदकता को भी रक्षित करती है।

वीणा की झंकार को सुनकर सभी आनंदविभोर हो उठते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है प्रियंवद की उक्ति-

श्रेय नहीं कुछ मेरा;

मैं तो डूब गया था

स्वयं शून्य में-

वीणा के माध्यम से अपने को मैंने

सब कुछ को सौंप दिया था-

सुना आपने जो वह मेरा नहीं

न वीणा का था;

वह तो सब कुछ की तथता थी

महाशून्य,

वह महामौन

अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय

जो शब्दहीन

सब में गाता है।[89]

यहाँ के हम दो शब्द उठाते हैं तथता और महाशून्य तथता अर्थात किसी भी तत्व की इयत्ता के मूल कारण को जानना जैसा वह है, महाशून्य का अर्थ नैरात्म्य बोध।

योगाचार तंत्र में महासुख (Irreversible Bliss) की प्राप्ति के लिए इन्हीं दो तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। कुल मिलाकर प्रियंवद ने जब तथता और शून्यता का बोध किया तो उसे आनंद की प्राप्ति हुई। केवल प्रियंवद की नहीं उसके साथ अन्य लोग भी उसी आनंदयात्रा में सम्मिलित हुए। यही महायानी बौद्ध धर्म का चिरंतन लक्ष्य भी है कि अपने साथ अन्य जीवों को भी बुद्धत्व या निर्वाण की प्राप्ति करवाना उल्लेख्य है कि असाध्य वीणा के विश्लेषण क्रम में जिन चर्यागीतियों का उल्लेख किया गया है उनका संबंध योगाचार तंत्र से है अत: यह मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अज्ञेय पर योगतंत्र-दर्शन का प्रभाव पड़ा।

यही योगाचार तंत्र जापान में 'ज़ेन बुद्धिसिम' कहलाता है। गुहागेह निवासी प्रियंवद के आत्म तत्त्व का विलयन या शून्यताबोध ही असाध्य वीणा का मूल कथ्य है। सरहपाद ने कहा था "चिअराअ सहावे मुकल" (चर्या सं. 32) अर्थात् चित्त का राज्य स्वभाव से ही मुक्त है। अत: उसे भावाभावों से विनिर्मुक्त रखना ही बौद्ध तंत्रों का अभीष्ट रहा है। तभी शून्यताबोध होगा अर्थात् असाध्य वीणा बज उठेगी।

संदर्भ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा.नगेन्द्र, पृ. 427
2. साप्ताहिक वर्तमान (बंग्ला पाक्षिक पत्रिका) 23 सितंबर 2006 अंक पृ. 38
3. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ.206.
4. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ. 90
5. वही
6. चर्यागीत आरू बौद्धतंत्र, प्रणवज्योति डेका, पृ.45
7. वही, पृ. 222.
8. कामायनी, प्रसाद, चिंता सर्ग-छंद-49-52.
9. हिन्दी काव्य संग्रह, केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, पृ.127
10. हिन्दी काव्य संग्रह, केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, पृ.127
11. वही, पृ. 128
12. दोहाकोषगीति, एच. सी. भयाणी, पृ. 55.
13. कबीर, द्विवेदी, पृ. 239
14. कबीर, द्विवेदी, पृ. 247
15. हिन्दी काव्य संग्रह, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, पृ.30
16. वही, पृ. 31
17. वही, पृ. 32
18. वही, पृ. 34
19. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. नगेन्द्र, पृ. 545
20. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, पृ. 90-91
21. कामायनी, आनंद सर्ग, जयशंकर प्रसाद, पृ. 156.
22. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ. 132
23. चर्यागीत आरू बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणव ज्योति डेका, पृ. 148
24. वही, पृ. 156
25. Introduction to Buddhist Tantric System, Lessing & way man, Pg no.319-321

26. कामायनी, प्रसाद, श्रद्धा सर्ग
27. वही
28. वही
29. चर्यागीत आरु बौद्धतंत्र, डॉ प्रणव ज्योति डेका पृ. 119
30. वही, पृ. 220-21
31. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, आमुख, पृ.9, राजकाल प्र. प्रा. लि
32. उर्वशी, दिनकर, भूमिका, पृ. ख
33. वही
34. दिनकर, संपा: सावित्री सिन्हा, पृ.204
35. उर्वशी, दिनकर, भूमिका, पृ. ग
36. Introduction to Buddhist Tantric System; Lessing and Wayman, पृ.317
37. उर्वशी, दिनकर, तृतीय सर्ग, पृ.53
38. श्रीमद्भागवतगीता, 2, 09
39. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ.201-202.
40. उर्वशी, दिनकर, तृतीय सर्ग, पृ. 56
41. सिद्ध साहित्य, भारती, पृ. 200
42. वही, पृ.201
43. वही, पृ.201
44. उर्वशी, दिनकर, तृतीय सर्ग, पृ. 61
45. दिनकर और उर्वशी, श्री राकेश, पृ. 117
46. उर्वशी, दिनकर, तृतीय सर्ग, पृ.55.
47. उर्वशी, दिनकर, तृतीय सर्ग, पृ.61
48. Introduction to Buddhist tantric system, Lessing and Wayman, पृ.317
49. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा.नगेन्द्र, पृ.559
50. वही

51. मधुशाला, बच्चन, रूबाई संख्या-19
52. वही, रूबाई सं. 113
53. वही, रूबाई सं. 47.
54. वही, रूबाई सं. 118
55. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ.154
56. Introduction to Tantric Buddhism, Shashi Bhushan Dasgupta, 1950, पृ. 70 (पाद टिप्पणी)
57. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ. 131-132
58. मधुशाला, बच्चन, भूमिका, पृ. 9-10
59. वही
60. मधुशाला, बच्चन रूबाई सं. 6, पृ. 16
61. रहस्य पूजा पद्धति, जगन्मोहन तर्कालंकार, पृ. 47
62. तिरस्करणि- ओट, परदा, वह विद्या जिससे मनुष्य अदृश्य हो सकता है, Sanskrit English Dictionary, V.S Apte, पृ.520
63. मधुशाला, बच्चन, रूबाई सं. 12, पृ.22
64. मधुशाला, बच्चन, रूबाई सं 17, पृ. 27.
65. वही, रूबाई संख्या 46, पृ .56.
66. मधुशाला, बच्चन, रूबाई संख्या-59, पृ. 69.
67. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 547
68. रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, लंकाकांड, पृ. 757-758
69. कालिकापुराण, संपा. आ. पंचानन तर्करत्न, 60, 26-29 श्लोक
70. प्राणातोषिणी तंत्र, संपा. सौन्यानंद नाथ, पृ. 278
71. हिन्दी काव्य संग्रह, केंद्रीय संस्थान, आगरा, पृ. 301.
72. वही
73. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. नगेंद्र, पृ. 546
74. अपरा, निराला, पृ. 51-52.
75. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भाती, पृ. 319.

76. योगिनी तंत्रम, अनुवाद- चक्रेश्वर भट्टाचार्य, पृ. 80 (असमिया)
77. चर्यागीत आरू बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणवज्योति डेका, पृ. 150
78. अपरा, निराला, पृ. 43-44
79. वही, पृ. 45
80. चर्यागीत आरू बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणवज्योति डेका, पृ. 9-10
81. अपरा, निराला, पृ -53.
82. अपरा, निराला, पृ. 53
83. कालिकापुराणम, पंचानन तर्करत्न, अध्याय 59, श्लोक-11-21, पृ. 367-568
84. www.tibetianbuddism.com
85. Introduction to Buddhist tantric system Lessing and wayman, Pg. 29-35
86. आंगन के पार द्वार, पृ. 74-79, भारतीय ज्ञानपीठ
87. चर्यागीत आरू बौद्धतंत्र, डेका, पृ. 187
88. आंगन के पार द्वार, पृ. 81, भारतीय ज्ञानपीठ
89. आंगन के पार द्वार, पृ. 82, भारतीय ज्ञानपीठ

उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबंध 'आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' छह अध्यायों में विभक्त है जिनमें चर्यापदों के परिचय के साथ हिन्दी साहित्य पर पड़े उसके सामग्रिक प्रभाव को दिखाने का प्रयास किया गया हैं।

प्रथम अध्याय 'चर्यापदों का परिचय' के अंतर्गत सर्वप्रथम 'चर्या' शब्द की व्युत्पत्ति विषयक चर्चा की गई। चर्या शब्द चर धातु से बना है जिसका अर्थ है चलना। अत: ऐसा देखा गया है कि यह चर्यापद पूर्ववर्ती साधकों द्वारा रचित एक आचार-संहिता की भाँति है, जो परवर्ती साधकों के लिए दिशाबोधक बन गया है। इसके पश्चात चर्यापदों का रचनाकाल, आविष्कार इत्यादि का सामग्रिक वर्णन किया गया है। दरअसल चर्यापदों के रचनाकार सिद्ध गण किसी एक काल विशेष से बद्ध नहीं थे बल्कि उनका समय सातवीं से नौवीं शताब्दी के बीच का था। इस सुदीर्घ अंतराल में मूल चर्यागीतों की शब्दावली में कई हस्तक्षेप हुए होंगे, परंतु उस रूप को खोज पाना असंभव है। शोध से ज्ञात हुआ कि किसी लिपिकार ने चर्यागीत और उसकी टीका को दो अलग पुस्तकों से उतारा था। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में बौद्धों के विविध संप्रदायों का परिचय दिया गया है। तांत्रिक पद्धति में चर्यापदों का आकलन करते हुए चर्यापदों में संकेतित तांत्रिक आचारों को देखा गया। दरअसल क्रिया, योगाचार और अनुत्तर तंत्र के साधकों ने अन्य मतों की अपेक्षा अपने मत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इस क्रम में उन्होंने बौद्ध एवं बौद्धेतर संप्रदायों पर कटाक्ष किया है। ऐसे गीतों में उलटबासियों का सुंदर संयोजन देखा जा सकता है। वहीं कुछ गीतों में शुद्ध रूप से क्रिया, योगाचार और अनुत्तर तंत्रों की साधनाओं का

भी संगुंफन देखा जा सकता है। इसी आधार पर तांत्रिक पद्धति में चर्यापदों का आकलन किया गया है। बौद्ध पूर्व तंत्र की आवधारणा का विश्लेषण करते हुए तंत्र की लोकजीवन व वैदिक वाङ्मय से होते हुए बौद्धों में उसके प्रवेश के बाद, हिन्दुओं में फैले मातृसत्तात्मक शाक्त तंत्र, वैष्णव पांचरात्र और शैवों के विविध संप्रदायों की भी चर्चा की गई है। तदुपरांत गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ संप्रदाय के साथ सिद्धों का साम्य वैषम्य देखा गया है। उल्लेख्य है कि गोरख के गुरु पहले बौद्ध थे और वे अवलोकितेश्वर के अवतार माने जाते हैं। यहाँ तक कि मत्स्येन्द्र और गोरख की गणना चौरासी सिद्धों में भी की गई है।

सिद्धों की साधना पद्धति के अंतर्गत चर्या, क्रिया योगाचार और अनुत्तर तंत्र का परिचय और उनकी नाना विध् साधना पद्धतियों का वर्णन किया गया। आज सुधि समाज में प्रसिद्ध वज्रयान ही अनुत्तर तंत्र है। बाद में अनुत्तर तंत्र में प्रविष्ट भ्रष्ट साधकों के कारण ही बौद्धों का पतन हो गया।

चर्यापदों के महत्व का आकलन शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से किया गया है। चर्यापदों में व्याप्त कापालिक साधना के सूत्र और मुनिदत्त की टीका में निहित कापालिक साधना का भी उल्लेख किया गया है। अंततः चर्यापदों के रचनाकारों का परिचय दिया गया। हालांकि इनके विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ भी कह पाना असंभव है तथापि इनके साथ जुड़े मिथकों में ही इनका जीवन छिपा है।

द्वितीय अध्याय- 'चर्यापदों का साहित्यिक विवेचन' के अंतर्गत बौद्ध दर्शन का मूल उत्स, चर्यापदों का साहित्यिक विवेचन, चर्यापदों में निहित समाज चिंतन, बौद्ध तंत्र का दर्शन, रस विवेचन, प्रकृति वर्णन, भाषा, शब्द योजना, प्रतीकात्मकता, अलंकार योजना, छंद योजना, रागविचार जैसे बिन्दुओं पर चर्चा की गई।

बौद्धों के पहले चार्वाक, सांख्य जैसे निरीश्वरवादी दर्शन भी भारत में थे। संभवत: गौतम बुद्ध इन्हीं दर्शनों से प्रभावित हुए होंगे। उक्त दर्शनों में व्याप्त तीक्ष्ण व्यंग्य और युक्तियुक्त बातों का प्रभाव बौद्धों पर लक्षित किया जाता है। बुद्ध के निरीश्वरवादी सिद्धांत की व्याख्या करते हुए आर्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित माध्यमिका योग और शून्यता की व्याख्या के क्रम में आए नैरात्म्य सिद्धांत का भी विश्लेषण किया गया है।

चर्यापदों में वर्णित समाज में दरिद्र समाज की निराशा, खाल बिखाला से भरे क्षेत्र, अस्पृश्य डोम्बी युवती, शुंडिनी की दुकान, मृतवत्सा स्त्री, शबर -शबरी का व्याभिचार सब कुछ समाहित हो गया है।

आगे बौद्ध तंत्र के दर्शन की विशद चर्चा करने के बाद यह तथ्य सामने आया कि बौद्धों में सहजयान नाम की कोई शाखा नहीं थी। केवल बंगाली सहजिया वैष्णवों से इनका संबंध स्थापित करने के उद्देश्य से कुछ विद्वानों ने पुस्तकों में इस नवीन यान को जन्म देकर मृत या लुप्त घोषित कर दिया है।

बौद्धों के अनुसार यह जगत अस्तित्वहीन है। इसी बात को केंद्र में रखकर चर्यापदों में वर्णित प्रकृति का विश्लेषण किया गया है। अब तक चर्यापदों की भाषा को संधा भाषा कहा गया था। मेरे शोध से यह ज्ञात हुआ कि चर्यापदों की भाषा प्रहेलिकामय है परन्तु संधा भाषा नहीं। चर्यापदों के केवल पद संख्या 28 में 'कापुर' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो एक मात्र संधा शब्द है।

इसके अतिरिक्त शब्द योजना में चर्यापदों में आगत तत्सम तद्भव व देशज शब्दों को देखा गया है। सिद्धों द्वारा सृजित प्रतीकों का विश्लेषण करने के बाद उसका नाथों और कबीर तक पड़े प्रभाव का आकलन किया गया। अलंकार योजना और छंद योजना के अंतर्गत सिद्धों द्वारा

अनायास प्रयुक्त अलंकारों और छांदसिक लालित्य की चर्चा की गई। अंततः इनके रागों पर विचार किया गया। दरअसल सिद्धों के गीत लोकगीतों के अधिक करीब हैं। अतः आरंभ में इनका शास्त्रीय रागों से कोई सरोकार न रहा होगा परन्तु बाद में इन्हें शास्त्रीय रागों से संयुक्त किया गया होगा। यहाँ पितृ तंत्र और मातृ तंत्र के पार्थक्य पर भी सुविस्तृत रूप से विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय 'आदिकालीन साहित्य पर प्रभाव' के अंतर्गत आदिकालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है। इस क्रम में सिद्धों का नाथों और जैनों पर पड़े प्रभाव या अंतर्संबंधों को स्पष्ट किया गया है। उल्लेख्य है कि जैनों का विकास सिद्धों के समानांतर हुआ और नाथों का उदय सिद्धों की ढहती नींव का सहारा लेकर हुआ। अतः यह पाया गया कि इन दोनों बौद्धेतर संप्रदायों में भी लगभग बौद्धों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ

सिद्ध : मन्त ण तन्त ण धेउ ण धारण, सब्बहि रे बढ़ बिब्भम कारण।

जैन : मन्तु ण तन्तु ण धेउ ण धारणु, ण वि उच्छासइ किज्जुइ कारणु।

पाहुड़ दोहा और बौद्धों के दोहा कोशों में शब्दावली के साथ कथन भंगिमा का भी अद्‌भुत साम्य देखा गया है। सिद्धों के योगाचार तंत्र के दर्शन के साथ नाथ संप्रदाय का मेल है। अतः योगाचारी सिद्धों के साथ नाथ संप्रदाय के साहित्य की समानता भी देखी जा सकती है। सिद्धों से ही नाथों में भी उलटबासियों की परंपरा चली। सिद्धों द्वारा व्यवहृत अनेक प्रतीकों का साधर्म्यमूलक प्रयोग विशेषकर नाथों ने किया है। जैसे बौद्धों के 'खसम' को नाथों ने 'गगनोपम' कहा, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना को दोनों ने गंगा, यमुना और सरस्वती कहा है।

आगे अमीर खुसरो और विद्यापति पर पड़े बौद्ध प्रभाव पर भी चिंतन किया गया है। विशेषकर अमीर खुसरो पर बौद्ध प्रभाव का आकलन करना संभवपर प्रतीत नहीं होता परंतु एक

बड़ा कवि अपने समसामयिक परिस्थितियों और साहित्य से तत्त्व संग्रह करता है। संभवत: इसी क्रम से उन्होंने बौद्धों के उलटबासियों के आधार पर पहेलियाँ रची होंगी। हालांकि इसे प्रभाव कहना खुसरो की प्रतिभा पर प्रश्नचिह्न लगाना होगा, तथापि प्रहेलिकामय काव्य सृजन के उत्स में बौद्धों को अवश्य ही रखा जा सकता है। उड़िसा में सहजिया वैष्णवों का उदय बौद्धों के महाबोधि संप्रदाय की नींव पर हुआ। जयदेव ने अपने राधा-कृष्ण के माध्यम से उसी संप्रदाय के दर्शन को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया था। इसी क्रम में 'अभिनव जयदेव' विद्यापति के गीतों को भी देखा जा सकता है। ऐसा लगता है मानों बौद्धों की शबरी, डोम्बी विद्यापति की राधा के रूप में विकसित हुईं।

इस अध्याय के निष्कर्ष स्वरूप यह ज्ञात हुआ कि आदिकालीन काव्यों पर बौद्ध प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है क्योंकि इस अवधि में जैनों और नाथों के समानांतर विकास के साथ अनुत्तर तंत्र के आधार पर उड़िया के आस-पास के क्षेत्रों में सहजिया वैष्णवों का उदय हुआ। जयदेव, चंडीदास, विद्यपति जैसे कवियों का उससे संलग्न होना इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि तत्कालीन समाज में बौद्धों का प्रभाव काफी था जिसने अज्ञात रूप में साहित्य को प्रभावित किया है।

चतुर्थ अध्याय 'भक्तिकालीन साहित्य पर प्रभाव' के अंश संभूत भक्तिकालीन पारिस्थितिक अवस्थाओं का ब्योरा प्रस्तुत करते हुए भक्त की धारा के विकास से संबद्ध तथ्यों का विश्लेषण किया गया है। भक्तिकालीन काव्य पर पड़े बौद्ध प्रभाव का आकलन करते हुए भाव और कलापाक्षिक प्रभावों की चर्चा की गई। भावपरक पक्ष में वैष्णव पांचरात्र संहिताओं के चतुष्पाद-ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद की समानता बौद्ध क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगाचारतंत्र और अनुत्तरतंत्र से देखी गई। चक्रधर विष्णु और वज्रधर बुद्ध के पूजनादिक की भी समानता

दृष्टिगोचर हुई। देवता के आगमन-निगमन पर भी ध्यान दिया गया है। विशेषकर इस स्थान में राधा के विकास विषयक विस्तृत चर्चा भी की गई है।

कलापाक्षिक प्रभावों के अन्तर्गत मुक्तकों की परंपरा, सूर के कूटपदों के उत्स आदि विषयों पर भी चर्चा की गई। संभवत: सूर के कूटपदों की भंगिमा का विकास प्रहेलिकामय चर्यापदों से ही हुआ होगा, ऐसा मेरा अनुमान है। इस अध्याय से संपृक्त निष्कर्ष यह है कि बौद्ध साहित्य की धारा का प्रत्यक्ष और तीव्र प्रभाव निर्गुणवादी संतों विशेषकर कबीर पर पड़ा। कबीर की कथन भंगिमा उनके प्रतीक और शब्दावली पर पूर्ण रूप से बौद्ध प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। विशेष कर कबीर की खंडन-मंडन की प्रक्रिया और उलटबासियों पर बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। हालांकि अब तक यह माना जाता रहा है कि कबीर पर यह प्रभाव नाथों के माध्यम से आया है पर गौर से देखने से लगता है कि बनारसवासी कबीर और सारनाथ के बौद्ध श्रमणों के बीच अवश्य ही संबंध रहे होंगे। इस दृष्टि से देखने पर कबीर के व्यक्तित्व का एक अन्य लुप्त दिक् भी उन्मोचित होने की आशा की जा सकती है। सूफी प्रेम काव्य की उत्स भूमि भले ही ईरान के आस-पास के प्रांत रहे हो। पर उसे परिपक्क्वता भारत में मिली। सूफियों के अनलहक़ (मैं खुदा हूँ) की भावना का बौद्ध चर्यातंत्र के साथ अद्‌भुत साम्य देखा जा सकता है।

सगुणवादी वैष्णवों साहित्य के कृष्ण काव्य धारा में राधा के विकास पर और राम काव्य में रसिक संप्रदाय के उद्‌भव पर भी बौद्ध प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ तक कि तुलसी के रामचरित्र के गठन में भी त्रिकाय-बुद्ध की अवधारणा देखी जा सकती है। राम का निर्गुण स्वरूप बुद्ध की धर्मकाया, उनका अवतारी रूप बुद्ध की निर्माण काया और उनका महाविष्णुत्व रूप बुद्ध के संभोग काया का प्रतिरूप लगता है। भक्तिकाल में यह बौद्ध प्रभाव यह विशिष्ट रूप से उभरकर आया है।

पंचम अध्याय 'रीतिकालीन साहित्य पर प्रभाव' में रीतिकालीन परिस्थितियों का आकलन करते हुए इस साहित्य पर पड़े बौद्ध प्रभाव का विश्लेषण किया गया। निर्ष्कषत: कहा जा सकता है कि रीतिकाल में बौद्ध प्रभाव तीव्र रूप में तो नहीं मिल पाता क्योंकि इस समय के कविगण राजाश्रय में रहते हुए सौन्दर्य और राजप्रशस्ति पर ही गीत रचने में व्यस्त थे। तथापि केशव, मतिराम, देव, सेनापति, बिहारी, घनानन्द, बोधा जैसे कवियों के वर्णन क्रम में चर्यापदों का प्रभाव देखा जा सकता है। केशव दास जैसे कवि में बौद्ध तंत्रों का प्रभाव पाया जाना अत्यन्त आश्चर्यकर विषय है। परंतु केशव कृत 'विज्ञानगीता' में यह प्रभाव विद्यमान है। उदाहरणार्थ

जो तू राधा कुंड की माटी मानत इष्ट।

तौ तू मेरो सिष्य है देखै बस्तु अदृष्ट॥

एक अद्‌भुत मंत्र तामहि साधत कोय।

जो त्रिकोटि जपै सुमंत्रहि नारियै तब होय॥

इन पंक्तियों में बौद्ध अनुत्तरतंत्र और हिन्दुओं की उत्तरकौलिक साधना के गुप्त बीज छिपे हैं। कवि मतिराम ने भी बौद्ध परिदृश्य में गृहित काम और वासना के पार्थक्य का वर्णन मिलता है। रीतिमुक्त कवि घनानंद, बोधा आदि के स्वच्छन्द प्रेमाभिव्यक्ति में भी यत्किंचित रूप में बौद्धों के प्रेम का पर्यावसान नजर आता है। यहाँ तक कि बिहारी सतसई में भी चर्यापदों के भाव संगुंफित होते नजर आए हैं। आरंभ में यह सरसरी दृष्टि से देखने पर रीतिकालीन कविताओं में बौद्ध प्रभाव तो दृष्टिगत नहीं होता, परन्तु उनमें प्रतीकात्मक और काव्यिक रूप में अंतर्निहित भावों को देखने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

सम्भवत: बौद्धों का चिंतन व्यापक और सर्वभारतीय चिंतन के रूप में उभर चुका था। जिस कारण उनका दूरगामी प्रभाव परवर्ती साहित्य पर भी पड़ा है। उल्लेख्य है कि रीतिकालीन

साहित्य में स्थान-स्थान पर बौद्धों के भावों का भी भावुक काव्यिक विकास नजर आता है। यह प्रभाव अनायास ही हिन्दी साहित्य में परिव्याप्त हो गया है। साथ ही रीतिकालीन नायिका भेद को देखें तो वहाँ भी बौद्धों की डोम्बी, मातंगी, सबरी, शुंडिनी के प्रभाव यत्किंचित रूप में नजर आते हैं। इसे प्रभाव की अपेक्षा विकास कहना श्रेयष्कर है क्योंकि साहित्य के क्षेत्र में भाव, भाषा और अभिव्यंजना का आदान-प्रदान एक स्वयंक्रिय कार्य-व्यापार है।

षष्ठ और अंतिम 'आधुनिक साहित्य पर प्रभाव' शीर्षक के अंतर्गत आधुनिक काल की विविध परिस्थितियों और वादों की चर्चा की गई है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य में बौद्धों दर्शन देखा जा सकता है। बौद्धों जिस प्रकार प्राणायाम की क्रियाओं का मानवीकरण किया, उसी प्रकार छायावादियों के प्रकृति चित्रण को लिया जा सकता है। बौद्धों ने समाज के उपेक्षित पात्रों को अपने काव्य-कर्म के अंगीभूत किया जिस कारण उन्हें प्रथम स्तर के प्रगतिवाद का पुरष्कर्ता माना जा सकता है। साथ ही अपने काव्यों में नव्य प्रयोग व प्रतीक योजना करने की दृष्टि से वे प्रयोगवादी ठहरते हैं। तथ्य यह है कि आदिकाल और आधुनिक काल के बीच एक सुदीर्घ अंतराल अवश्य है। परंतु आधुनिक काल में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भावना उभरी जिससे कि कवि और लेखकगण अपनी पुरातन संस्कृति की ओर मुड़े। एतदर्थ आधुनिक काल में यह लुप्त बौद्ध धारा स्पष्ट रूप से सामने उभरकर आई। इस काल की कई रचनाएँ जैसे प्रसाद कृत 'कामायनी', निराला कृत 'राम की शक्ति पूजा', दिनकर कृत 'उर्वशी', बच्चन कृत 'मधुशाला' और अज्ञेय कृत 'असाध्य वीणा' पर बौद्ध प्रभाव देखे गए। कामायनी की श्रद्धा और इड़ा, बौद्धों की रूप काया और धर्म काया है। राम की शक्ति पूजा में राम के द्वारा की गई शक्ति की 'मौलिक कल्पना' में बौद्ध प्रभाव विद्यमान है। दिनकर के पुरुरवा की अवस्था शून्यता की उपलब्धि के बाद बौद्ध-साधक की अवस्था-सी है। उर्वशी के आगमन से वह विलासमय जीवन में पुन: प्रविष्ट हो तथागत बनता है। असाध्य वीणा का वज्रकीर्ति, किरीटि

तरु स्वयं सिद्ध रूप से बौद्ध नाम है। असाध्य वीणा और चर्यापदों के हेरुक के वीणा में भी अथाह साम्य है और अंत: वहाँ महामौन की परिव्याप्ति भी बौद्ध विपासना के माध्यम से आगत मौन की ओर इंगित करता है।

आधुनिक काल में बौद्धों का जो प्रभाव लक्षित हुआ। उसके पीछे कारण यह था कि समग्र भारतीय मनीषा अपने विगत हिरण्याभ वैभव के प्रति जागरूक हुआ। जिसके चलते उन्होंने अपनी पुरातन संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का भरपूर प्रयास किया।

अंतत: उपसंहार के अंतर्गत विविध कालों में पड़े बौद्ध प्रभाव की चर्चा करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया।

बौद्ध धर्म का आरंभ भारत में हुआ और भारत में ही यह लुप्तप्राय हो गया। परंतु इसके अवशेष और प्रभाव यत्किंचित रूप में इतस्तत: प्रसरित हो गए। इस बौद्ध प्रभाव पर विस्तृत विवेचन बौद्ध साहित्य व हिन्दी काव्य में अदृष्ट योगसूत्र को समझने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

हिन्दी ग्रंथ :

1. अपभ्रंश और अवहट्ठ : एक अंतर्यात्रा : डॉ. शंभूनाथ पांडेय, चौखंभा ओरिएंटालिया; दिल्ली : 1979
2. अपभ्रंश आदिकाल एवं भक्तिकाल के सामाजिक सांस्कृतिक आयाम : डॉ. शंभूनाथ पांडेय, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1998
3. अपरा; सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'
4. आंगन के पार द्वार; सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय; भारतीय ज्ञान पीठ
5. आदिकालीन काव्य संग्रह : संपा. वासुदेव सिंह; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 2008
6. आदिकालीन हिन्दी साहित्य: डॉ. शंभूनाथ पांडेय, विश्वविद्यालय प्रकाशन; वाराणसी; प्रथम संस्करण;1970 ई.
7. इतिहास कथा; अरविंद मोहन, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण
8. उर्वशी, रामधारी सिंह 'दिनकर' लोकभारती प्रकाशन, 1996 ई.
9. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तेरहवीं आवृत्ति, 2006
10. कालचक्र, वीरेन्द्र कुमार सिंह चौधरी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण
11. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, राजकमल प्र. प्रा. लिमिटेड, 1994.
12. कृष्णलीला विमर्श, डॉ. जगदीश भारद्वाज, नचिकेता प्रकाशन, दिल्ली, 1987-88
13. केशवदास (सुकवि भारती), संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रसाद परिषद वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् 2016 वि.
14. खुसरो की हिंदी कविता, संपा. ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, संवत, 2030 वि.
15. ग्वाल कवि कृत भक्तभावन, डॉ. प्रेमलता बाफना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1991 ई.
16. घनानंद कवित्त : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस, मकर संक्रांति, संवत्, 2016 वि.
17. घनानंद कवित्त, संपा. रामदेव शुक्ल
18. चौरासी सिद्धों का वृत्तांत, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, प्रथम संस्करण।

19. तंत्र और संत, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1975
20. बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
21. बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, संपा. पी. वी. बापट, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, फरवरी 2008
22. दिनकर, सावित्री सिन्हा, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., चौथी आवृत्ति-1998
23. नवीन साहित्यिक निबंध, डॉ. गोविंद त्रिगुणायत, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, नवीनतम संस्करण
24. नाथ संप्रदाय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, 2000 ई.
25. निर्गुण साहित्य: सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, डॉ. मोतीसिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2019 वि. प्रथम संस्करण
26. पद्मावत, संपा: वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन, तलैया, झाँसी, संवत 2012 वि.
27. पवित्र बाइबल, बाइबिल सोसायटी ऑफ इंडिया, बैंगलोर।
28. पाहुड़ दोहा, संपा: हीरालाल जैन
29. पुरातत्त्व निबंधावली, राहुल सांस्कृत्यायन, इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1967 ई.
30. पौराणिक कोश, राणा प्रसाद शर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, फरवरी 2008
31. ब्राह्मण, लीलाधर दु:खी, भारत भारती, दिल्ली, 2001
32. बाणभट्ट की आत्मकथा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तेरहवाँ संस्करण, 1981
33. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर (रत्नाकरी टीका), पब्लिकेशन, वाराणसी, 1979 ई.
34. बोधा ग्रंथावली, संपा. विश्वनाथ मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, 2031 संवत्।
35. बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, डॉ. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, केंद्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 2001
36. भूषण ग्रंथावली, प्रधान संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, साहित्य सेवक कार्यालय, शरत् पूर्णिमा, 1993
37. भारतीय संस्कृति कोष, भाग IV
38. भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन. डॉ. सत्यदेव चौधरी, डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली 1995

39. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय

40. मतिराम ग्रंथावली, संपा. कृष्णबिहारी मिश्र, ब्रजकिशोर मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण

41. मधुशाला, हरिवंश राय बच्चन, हिन्दी पॉकेट बुक्स, चौदहवाँ रिप्रिंट, अक्टूबर 2006, श्रद्धांजलि संस्करण - रामचरितमानस, संपा. हनुमान प्रसाद पोछार, गीताप्रेस, गोरखपुर, बानबेवाँ संस्करण, संवत : 2049 वि.

42. रीतिकालीन रसशास्त्र, डॉ. सच्चिदानंद चौधरी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, संवत् 2026 वि.

43. रीतिकाव्य धारा, संपा. डॉ. रामचंद तिवारी, डॉ. रामफेर त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1995

44. विद्यापति पदावली, डॉ. देशराजसिंह भाटी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, नवीनतम संस्करण

45. विद्यापति विवेचन, शेखरज्योति शील, विजय भारती प्रकाशन, गुवाहाटी, द्वितीय प्रकाशन, जनवरी 2009

46. विनय पत्रिका, संपा. वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 1991

47. श्री विष्णु और उनके अवतार, कृष्णनारायण प्रसाद मागध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981

48. संस्कृति के चार अध्याय, राम सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009 ई.

49. संत साहित्य में प्रतीक विधान, डॉ. मुहम्मद अहसन, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, 1983

50. सेनापति कृत कवित्त रत्नाकर, संपा. पं. उभाशंकर शुक्ल, हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, सप्तम संस्करण, 1993

51. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण, 1988 ई.

52. सूफीमत : साधना और साहित्य, राजपूजन तिवारी, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, नवंबर 2002

53. सूरसागर, संपा. डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड : प्रथम संस्करण, अगस्त 1988

54. सूर साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, 2000

55. सूरदास, खंड-2 नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

56. हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1945 ई.

57. हिन्दी काव्य संग्रह, संपा. रामवीर सिंह, हेमा उप्रेती, मीरा सरीन, केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, तृतीय संस्करण, 2001

58. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971
59. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2067 वि.
60. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक्स, दिल्ली, 1997
61. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998
62. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, छठा संस्करण, 1990
63. हिन्दी साहित्य का नवीन इतिहास, डॉ. लालसाहब सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 2008 ई.
64. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तेइसवाँ संस्करण, 2010
65. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1998
66. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (तृतीय भाग) आदिकाल, संपा. पं. करुणापति त्रिपाठी, डॉ. वासुदेव सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2040 वि.
67. हिन्दी रीति साहित्य, भागीरथ मिश्र

संस्कृत ग्रंथ :

1. आगमतत्त्व विलास : संपा. पंचानन शास्त्री, नवभारत पब्लिशर्स, मार्च 2000
2. कामाख्या तंत्रम् : संपा. राधेश्याम चतुर्वेदी, चौधमभासुर भारती प्रकाशन, वाराणसी, 2004
3. कालिकापुराणम्, संपा पंचानन तर्क रत्न, नवभारत पब्लिशर्स, 1884 बंगाब्द
4. कंकालमालिनी तंत्रम्, अयोध्यानाथ शास्त्री, नवभारत पब्लिशर्स, 1386 बंगाब्द
5. गीतगोविन्दम्, संपा. बारबारा स्टोलर मिलर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1998
6. तारारहस्यम्, श्रीमत् तारानंदगिरितीर्थ अवधूत, नवभारत पब्लिशर्स,1409 बंगाब्द
7. नीलतंत्रम्, ज्योतिलाल दास, नवभारत पब्लिशर्स, वैशाख, 1388 बंगाब्द
8. प्राणतोषिणी तंत्रम्, संपा. सौम्यानंदनाथ, नवभारत प्रथम सं. जनवरी 1991
9. पुरोहित दर्पण, श्रीकृष्णचंद्र स्मृतितीर्थ, पी. एम बक्शी एंड कं.प्रा.लि. 1406 बंगाब्द

10. बगलामुखी तंत्रम्, संपा. श्रीमत् क्रियानंद महाभारती, नवभारत नवभारत पब्लिशर्स, कोलकाता, 1411 बंगाब्द
11. ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य), संपा. स्वामी विश्वेश्वरानंद, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 1982
12. ब्रह्मवैवर्त पुराण, संपा. मलय भट्टाचार्य, नवपत्र प्रकाशन, कोलकाता, फरवरी 1992
13. वृहद् तंत्रसार, संपा. उपेंद्रनाथ मुखोपाध्याय, वसुमती साहित्य मंदिर, कोलकाता, एकादश संस्करण
14. महानिर्वाण तंत्रम्. संपा. जगन्मोहन तर्कालंकार, प्रकाशक-मिहिर किरण भट्टाचार्य, 1348 बंगाब्द
15. योगिनीतंत्रम्, संपा. चक्रेश्वर भट्टाचार्य, दत्तबरुवा प्रकाशन, गुवाहाटी 2000
16. रुद्राष्टाध्यायी, गीताप्रेस गोरखपुर, पाँचवाँ पुनर्मुद्रण, सं. 2063
17. रहस्यपूजा पद्धति, मिहिर किरण भट्टाचार्य, 1886 बंगाब्द
18. श्रीललिता सहस्रनाम स्तोत्रम्, गीताप्रेस गोरखपुर
19. श्रीमद्भागवतगीता, अनुवादक- रघुदेव गोस्वामी,विवेकानंद केंद्र प्रकाशन, गुवाहाटी, प्रथम संस्करण, 1983
20. श्रीश्रीचंडी, संकलक, स्वामी जगदीश्वरानंद, उद्बोधन कार्यलय, कलकता, 2004
21. शारदातिलक तंत्रम्, संपा. पंचानन शास्त्री, नवभारत पब्लिशर्स, 1389 बंगाब्द
22. श्यामारहस्यम्, संपा, श्यामानंद तीर्थनाथ, नवभारत पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1389 बंगाब्द
23. सिद्ध नागार्जुन कक्षपुटम्, पंचानन शास्त्री, नवभारत पब्लिशर्स, कोलकाता, 1401 बंगाब्द
24. सौंदर्यलहरी, संपा. स्वामी तपस्यानंद, रामकृष्ण मठ. मद्रास, मार्च 1987
25. स्पंदकारिका, संपा. जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1980

असमिया ग्रंथ :

1. असमत शक्तिसाधना आरू शक्तिसाहित्य, हरिनाथ शर्मा दलै, पद्मप्रिया लाईब्रेरी, 1992
2. कुमारिल भट्ट आरू आचार्य धर्मकीर्ति, श्री मनोरंजन शास्त्री, वाणी प्रकाश, अगस्त 1986
3. चर्यापद, परीक्षित हाजोरिका, डालिमी प्रकाशन, गुवाहाटी, 1999 (चतुर्थ संस्करण)
4. चर्यापद, दिलीप बोरा, लयार्स बुकस्टॉल, गुवाहाटी, दिसंबर, 1996
5. चर्यागीत आरू बौद्धतंत्र, डॉ. प्रणव ज्योति डेका
6. देवी, डॉ. निर्मलप्रभा बरदैल, साहित्य प्रकाशन, गुवाहाटी, द्वितीय संस्करण, 1989

7. धम्मपद, डॉ. सत्येन्द्र नारायण गोस्वामी, चंद्रप्रकाश, गुवाहाटी, मई, 2005
8. शिव, निर्मल प्रभा बरदलै, साहित्य प्रकाश, गुवाहाटी, द्वितीय संस्करण, जुलाई 2007
9. बेजबरुवा ग्रंथावली, साहित्य प्रकाश, गुवाहाटी, 1988

बंगला ग्रंथ :

1. चर्यागीतिकोष, सौम्येन्द्रनाथ सरकार, मॉडर्न बुक एजेंसी प्रा.लि., कलकत्ता 1978
2. चर्यागीतिकोष, नीलरतन सेन, प्रकाशक-दीपाली सेन, 1978
3. चर्यागीति पदावली, सुकुमार सेन, इर्स्टन पब्लिशर्स, 1966
4. चर्यागीति परिचय, डॉ. सत्यव्रत डे, जिज्ञासा एजेंसी लिमिटेड, कलकत्ता, चतुर्थ संस्करण, जनवरी, 1997
5. चर्यापद, अर्तीद्र मुजमदार, नया प्रकाश, कलकत्ता, 1999
6. रहस्ये घेरा पुरीर जगन्नाथ, सुशील मुखोपाध्याय, न्यू बेंगल प्रेस प्रा.लि., जनवरी 1994
7. श्री श्री दशमहाविद्यातत्व रहस्य, परमात्मानंद नाथ भैरव, नवभारत पब्लिशर्स, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, 2007
8. हाजार बत्सरेर पुरानो बांग्लाय बौद्धगान ओ दोहा, महामोपाध्याय, हरप्रसाद शास्त्री, बंगीय साहित्य परिषद, कलकत्ता, भाद्र 1358 बंगाब्द

अंग्रेजी ग्रंथ :

1. A cultural History of Assam, Birinchi kumar Baruah, Lawyer's Book Stall 1969
2. A History of Sanskrit Literature : A.A. Macdonell, Motilal Banarsidass
3. A Social Cultural Economic history of India (Mac Milan Company of India; P.N Chopra, B.N Puri, M.N Das, New Delhi 1974
4. Aghora, Robert E. Svoboda, Rupa & Co., Delhi, 2009
5. An introduction to Indian Philosophy, Satishchandra Chatterjee & Dhirendra Mohan Datta, University of Culcutta, 1960
6. An introduction to Tantric Buddhism, Sashi Bhushan Dasgupta, Calcutta, 1950
7. An introducation to Budhhist Esoterism— Dr. Benoytosh Bhattacharya; Motilal Banarsidass, Delhi, 1989
8. An introduction to social Anthropology, Lucy Mair
9. Buddhism, T.W. Rhys, Davis, Indological Book House, Varanasi, 1973

10. Brahmapala Sutta of Digha Nikaya, Ed. J. Kashyap, Nalanda, 1958
11. Budhist Philosophy : Prof M. Hiriyana
12. Buddhist hybrid Sanskrit Grammer & Dictionary-Franklin Edgerton - Motilal Banarasidass, 1970, Delhi.
13. Buddhism in Tibet - E Schlagintwett, Book faith, India
14. Buddhist Iconography. Benoytosh Bhattacharyya, Motilal Banarsidass, Delhi, 1984
15. Catalogue de fonde Tibetion de la Bibliotheque Nationals, P. Cordeir, Paris, 1906
16. Cryp to Buddhism in Kamrup; Pragjyotika
17. Chinese Religion through Hindu Eyes, Benoy Kumar Sarkar
18. Dohakosh, Prabodhchandra Bagchi, Calcutta Sanskrit Series, 1934
19. Encyclopaedia of Religion and Ethies : Ed. James Hatiangs, Calcutta, 1967
20. Encyclopaedia of Buddhism, Vol.III, Ed. G.D. Malasekara, Colombo-1967
21. Entering the stream - Editor : Samuel Bercholz & Sherab Chedzin kohn - Random House London, 1994
22. Guhyasamajtantra and age of tantra, Winternitz, Vol- 19, Part 1
23. Hevajra Tantra, Ed. D.L. Snellgrove, Oxford University Press-1976
24. Introduction to Buddhist Tantric System, F.D Lessing, Alex Wayman, Motilal Bnarasidass, Delhi, Fifth Edition, 2008
25. Indian philosophy : Dr. S. Radhakrishran
26. Janasiddhi, Two Vajrayana Works Gacwads Oriental Series, Baroda 1970
27. Mahayana Sutralankara, Translated by Surekha Vijay Limaye, Sri Satguru Pub. 1992 1 st Edn.
28. Materials for a criticaì of the old Bengali caryapada — Journal of Deptt. Letters Vol xxx. Calcutta University. 1938
29. Manuscript Remains of Buddhist Literature, A.F. Ruddf Hoernle, A.D. Orientem Ltd Amsterdam, 1970
30. Mystic Tales of Lama Taranath, Ed. Bhupendranath Datta, 1944
31. Nava Nalanda : Ed. Dr. Mukharjee

32. Origin and Development of Bengali Language, Suniti Kumar Chetterjee, Culcutta , 1926
33. Obscure Religious Cults, Sashi Bhushan Dasgupta, FIRMA K.L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1963
34. Origin & Development of Vishnu Cult, Muralidhar Mohanty, Orissa
35. Prajnyopayavinischay Siddhi, Two Vajrayana Works Gayakwads Oriental Series, Baroda 1970.
36. Sadhanmala, Binoytosh Bhattacharjee, Gaekwads Oriental Series, Oriental Institute, Baroda 1968, VOI- I; No- 26
37. Sanskrit English Dictionary, V.S. Apte, Motilal Banarasidass, 1965
38. Sahajyana : Ram Prasad Mishra, Orissa
40. The Comprehensive History of Assam, H.K. Barpujari, Publication Board Assam, Guwahati, 1990
41. The age of Imperial Unity : Ed. Dr. R.C Majumdar
42. The Cultural Heritage of India : Ed. Dr. S S. Radhakrishnan, Vol-I
43. The Background of Assamese Culture, Raj Mohan Nath, 1939
44. The Majjhima Nikaya,Ed J. Kashyap, The Vinaya Nalanda,**1958**
45. The Indian Buddhist Iconography,Binoytosh Bhattacharya - Firma KLM
46. Thanka published. Tibetan medical and Astro-Patryl Rinpoche-1994.
47. The Buddhist Tantras, Alex Wayman, Motilal Banarsidass, Delhi, First Edition
48. The Indian Buddhist Iconography-B. Bhattacharya
49. The Da-Vinci Code, Dan Brown, Reader's Digest, Selected Edition, 2010
50. Tantric Buddhist Iconographic sourcess, Dr. Dip chandra
51. Bhattacharyya, Motilal Banarsidass, Delhi, First Edition

अनुसंधित्सु का विवरण

नाम	: **शेखरज्योति शील**
शिक्षा	: एम.ए. (हिन्दी)
शोध प्रबंध का विषय	: आदिकालीन चर्यापदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव
प्रवेश शुल्क की भुगतान तिथि	: 16.4.2007

शोध प्रस्ताव की संस्तुति

(i) बी.पी.जी.एस. : 10.8.2007

(ii) स्कूल बोर्ड पंजीयन संख्या एवं तिथि : 1301 दिनांक : 5.9.2007

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग